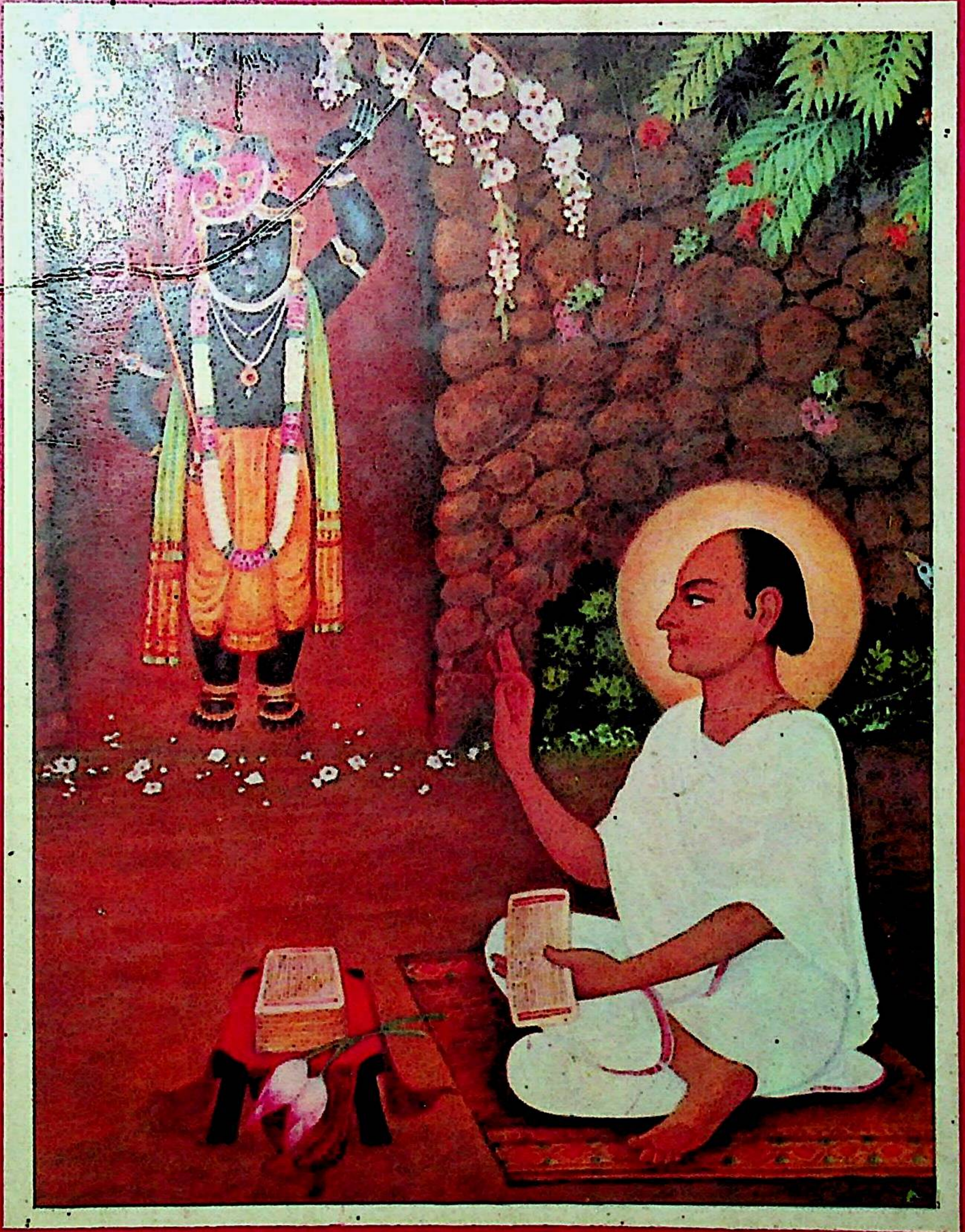
महाप्रभु-श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण-प्रकटितः

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः

(भागवतार्थप्रकरणम् १-५)



ागमें संकलित ग्रन्थ :

ृका

ाम्

टिप्पणी

पुस्तकालय
मुमुक्षु भवन वाराणसी को
भेंट

भक्तिवर्त्मवर्तिविघ्नध्वान्तविदारकभगवद्वदनानलावतार

महाप्रभु-श्रीमद्-वल्लभाचार्यचरण-प्रकटितः

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः

(सप्रकाशः)

तत्र

भागवतार्थप्रकरणम्

(प्रथमस्कन्धादारभ्य पञ्चमस्कन्धस्य विंशतितमाध्यायं यावत्)



गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतेन

आवरणभंगाख्येन व्याख्यानेन

सहितम्



द्वितीयो भागः



१. श्रीघनश्यामभट्टकृतया प्रकरणविभागसूचिकया

२. श्रीगोकुलरायकृतेन प्रकरणाध्यायार्थेन च

विभूषितः

ग्रन्थप्राप्तिस्थल

प्रस्तुत द्वितीय संस्करणके प्रकाशनमें सहयोगी महानुभावों तथा संस्थाओं की सूची :

(१) गोस्वामितिलकायित श्रीगोविन्दरायजी महाराज
नाथद्वारा, राजस्थान।

(२) तृतीयपीठाधीश गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज
तृतीयपीठ, कांकरोली, राजस्थान।

(३) चतुर्थपीठाधीश गोस्वामी श्रीदेवकीनन्दनाचार्य द्वारा
श्रीपार्वती वहुजी ए. ट्रस्ट, चतुर्थपीठ, गोकुल, मथुरा, उत्तर प्रदेश।

(४) पञ्चमपीठाधीशात्मज गोस्वामी श्रीगिरधर गोविन्दरायजी,
पञ्चमपीठ, कामां, भरतपूर, राजस्थान।

(५) गोस्वामी श्रीराजकुमार गोपीनाथजी महाराज, बडामन्दिर,
श्रीजीवनजी महाराज लेन, भुलेश्वर, बम्बई-४०० ००२।

(६) श्रीवल्लभविद्यापीठ–श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ह्ो. ट्रस्ट
वैभव कोओपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, पूना बेंगलोर रोड़,
कोल्हापुर-४१६ ००१।

(७) गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी महाराज बडामन्दिर ट्रस्ट
श्रीजीवनजी महाराज लेन, भुलेश्वर बम्बई-४०० ००२।

प्रथम संस्करण: वि. सं. १९९१

प्रस्तुत द्वितीय संस्करण: वि. सं. २०४०

मुद्रक :
वी. वरदराजन
एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिंटर्स
५०५ तारदेव, आर्थर रोड,
बम्बई, ४०० ०३४.

आमुख

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विठ्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ।।

आत्मरमणशील सच्चिदानन्द ब्रह्मकी आनन्दमयी अखण्ड अद्वैत सत्ता तथा चेतना ही इन अनन्तविध नाम-रूपोंके द्वैतमें अभिव्यक्त हुई हैं। नाम-रूपकी तथा नामरूपविहीन व्यक्तिचेतनाकी यह विविधता या द्वैत स्वयं पारमार्थिक होनेपर भी ब्रह्मके तात्विक अद्वैतसे विरुद्ध नहीं है। उदाहरणतया सच्चिदानन्द ब्रह्मके धर्मभूत सत्ता चेतना तथा आनन्द ये तीनों पृथक्-पृथक् होनेपर भी सच्चिदानन्द धर्मी ब्रह्ममें अखण्डाद्वैतात्मना अवस्थित रहते हैं। इसी तरह उत्पत्ति-स्थिति-लय रूप क्रियायें भी एक अनादि-अविकारी-अनन्त उपादान-कारण तथा कर्ता रूप ब्रह्ममें अविरोधेन ही रहती हैं। इसे ही नाम-रूपका आविर्भाव-तिरोभाव भी कहा जाता है। जैसे लहरें सागरमें आविर्भूत-तिरोहित होती रहती हैं। कार्य-कारणके बीच आत्यन्तिक द्वैतकी कल्पना उपादान-कारणके स्वरूपके अज्ञानसे जैसे प्रयुक्त होती है, वैसे ही जड-जीवात्मक जगत तथा ब्रह्म के बीच मायिक द्वैतकी कल्पना भी ब्रह्मके स्वरूपके अज्ञानसे ही प्रयुक्त होती है।

ब्रह्मके अखण्डाद्वैतमें माया यदि ब्रह्मसे भिन्न होनेपर पारमार्थिक नहीं हो सकती, तो वह निश्चय ही सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत्ता चेतना या आनन्द मेंसे किसी एक धर्मकी अन्तःपातिनी सहज शक्ति ही होनी चाहिए सर्वभवन-सामर्थ्यरूपा।

इस सर्वभवनसामर्थ्यके कारण तथा अप्रतिहत संकल्पशक्तिके कारण एकमेवाद्वितीय तत्त्व भी अनेकविध मूर्त नाम-रूपोंमें तथा अमूर्त व्यक्तिचेतनाओं-में अपने-आपको परिणत कर सकता है, तत्त्वतः अपने स्वरूपसे प्रच्युत हुए बिना। जैसे विविध आभूषणोंमें परिणत होनेपर सुवर्णके सुवर्णत्वका नाश नहीं होता,

इसी तरह नामरूपात्मना परिणत सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत्ता अथवा अंशात्मना उद्गत इस ब्रह्मकी चेतना या आनन्दका भी नाश नहीं होता है। अतएव उपनिषद्में कहा गया है : "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म, ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति.....ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति......ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति, तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयमात्मा, आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्". (बृहद्. उप. १-६-३)।

नामरूप तथा उत्पत्ति-स्थिति-लयरूप कर्म तीन होनेपर भी एकात्मक हैं अर्थात् ब्रह्मात्मक हैं; तथा ब्रह्म एकमेवाद्वितीय होनेपर भी त्रितयात्मक है अर्थात् नाम-रूप-कर्मात्मिक बन जाता है, सर्वभवनसामर्थ्यके कारण। फिरभी इन अनन्तविधि नाम रूप-कर्मोंको धारण करनेवाला ब्रह्म एकमेवाद्वितीय ही रहता है। श्रोत दर्शनमें, अतएव, माया आदि कोई भी पदार्थ ब्रह्मसे भिन्न नहीं हो सकते : "ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि बिभर्ति।"

अव ब्रह्म यदि आनन्दात्मक हो तो सिद्ध हो जाता है कि यह नाम-रूपात्मक जगत् भी आनन्दमें से प्रकट हुआ है, आनन्दमें ही स्थित है तथा लीन भी पुनः आनन्दमें ही होनेवाला है : "आनन्दाद्धयेव खल्विमानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" (तैत्ति. उप. ३-६)।

ब्रह्म परमात्मा भगवान् या श्रीकृष्णके अस्तित्वमें किसीको विश्वास हो सकता है अथवा नहीं भी। कोई आस्तिक हो या नास्तिक; अथवा मानव हो या मानवेतर चेतन प्राणी, सभीके लिये जिज्ञास्य काम्य तथा प्राप्य तो केवल वही आनन्द होता है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

चेतनामें आनन्दको खोजनेकी वृत्ति कूट-कूट कर भरी हुई है। आनन्दके सर्वथा अनुभूत या सर्वथा अननुभूत होनेपर यह शक्य नहीं है। सभीको अतः आनन्दकी कुछ अव्यक्त अनुभूति है यह भी स्वीकारना पड़ता है : "को ह्येवान्यात्। कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तैत्ति. उप.-२-७)

जगतके जिन नाम-रूप-कर्मोंमें सच्चिदानन्द ब्रह्मकी केवल सत्ता ही अनुभूत होती है, अर्थात् चेतना भी जहाँ तिरोहित सी लगती है, ऐसे रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द आदि विषयोंमें हमारी चेतना जब आनन्दको खोजनेकी उलझनमें फंस जाती है, तो वह प्रयास सफल नहीं हो पाता। बच्चे, उदाहरणतया, माताके स्तन्यकी खोजमें अपने अंगूठेको चूसने लग जाते हैं। इस मोहमें कुछ देरके लिये अपनी भूखको भूलकर रोना-धोना भी वन्द कर देते हैं। फिर भी स्तन्यकी भूख तो मिट नहीं पाती। जिस आकारसाम्यके कारण भ्रान्तिवश बालक अपना अंगूठा चूसना शुरू कर देता है, उसे वहाँसे दूध तो मिल सकता नहीं। फलतः पुनः-पुनः निराश होनेपर कभी न कभी वह भ्रान्ति टूट जाती है। यही हमारी गति रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादि विषयोंमें आनन्दके खोजकी भी होती है। विषयभोगके अतिरेकसे विषयवितृष्णा पनपती ही है। एक बालक जब निराश होकर अंगूठा चूसना छोड़ देता है तो वह शनैः-शनैः विकसित हो रही बुद्धि तथा व्यवहार की एक सहजता है। परन्तु स्तनभ्रान्तिसे उभरनेके प्रयासमें कभी कोई वालक यदि निजके अंगूठेसे घृणा करने लग जाये, या फिर कहीं ज्ञानी वनकर उसे मिथ्या ही मानने लग जाये, तो ऐसी धारणाको अस्वस्थ कुण्ठातिरेक ही कहना पड़ेगा। इसी तरह ब्रह्मके सदंश-नाम-रूप-कर्मोंमें आनन्दांशके तिरोधानवश आनन्दकी अनुपलब्धिके कारण पनपी निराशा या कुण्ठा के अतिरेकमें नाम-रूप-कर्मोंको मिथ्या मान लेना भी एक आध्यात्मिक असहजता तथा अस्वस्थता ही है। यह ठीक उतनी ही असहजता तथा अस्वस्थता है, जितनी कि स्तन्यके मोहातिरेकवश किसी बालकको अंगूठा चूसनेका ऐसा व्यसन हो जाये कि वह स्तनपानकी वयके व्यतीत हो जानेपर भी इस लतसे छुटकारा न पा सके।

ऐसे मोहातिरेकवश लगी लतको छुड़ानेके लिये मातापिताको अनेक उपाय अपनाने पड़ते हैं बालकके उपहास-निन्दा-भर्त्सना-प्रताडन आदिके। ठीक इसी तरह शास्त्रोंमें भी कभी-कभी रूप-रसादिमें हमारे मोहातिरेकको तोडनेके लिये उनकी उन्हें 'मायिक' या 'असत्' कह कर निन्दा की गई है। इस मनोवैज्ञानिक सुझाव या उपाय का लाभ लेकर मोहभ्रमसे उभर जाना

एक अच्छी बात है। परन्तु इसकी प्रतिक्रियाके रूपमें सदंशके बजाय केवल चिदंशमें अर्थात् निजचेतनामें या जीवात्मामें ही पुनः आनन्दको खोजने लग जाना तो और भी एक गहरी भ्रान्ति है। भागवतमें कहा गया है : "येन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततो पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः" (भाग. १०-२-३२)। अतः आनन्द तो चेतनामें भी तिरोहित ही रहता है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो यह आनन्दको खोजनेकी वृत्ति ही हमारी चेतनामें क्यों प्रकट हो पाती ?

विषयासक्तिकी पीड़ा घटानी हो तो अफीमके जैसे मादक तत्त्वोंसे बनी ओषधीके जैसा जगतके मायिक होनेका सिद्धान्त समुचित निदान हो सकता है। परन्तु अनुपातकी सावधानीके बिना ऐसी ओषधियोंका सेवन बहुधा इनके व्यसनमें दुष्परिणत हो जाता है। फलतः भाषणबाज साधक गुरु-शिष्य या श्रोता-वक्ता के द्वैतसे तो छुटकारा पा नहीं सकता, परन्तु भक्त-भगवानके द्वैतको मिथ्या-मायिक मान कर भगवानकी भक्तिसे कतराने लग जाता है। कभी भक्तिको अज्ञानियोंका कृत्य मानकर, तो कभी ज्ञानोत्तर दशामें अवशिष्ट द्वैतवासना मानकर, अथवा कभी लोकसंग्रहार्थं आहार्यवृत्ति मान कर भी। परिणामतः आनन्दकी वास्तविक खोजके मार्गपरसे वह साधक भटक जाता है।

जगत यदि भगवत्कृति है तो उसमें उसके नश्वर दुःखरूप मिथ्या या मायिक आदि होनेके दोषदर्शनकी मनोवृत्ति अन्ततः जगत्कर्ताकी निन्दामें पर्यवसित हो जाती है। भगवन्निन्दा तो कभी भगवद्भक्तिमें फलित हो नहीं सकती। मुक्तिकी तो कथा कुछ और भी हो सकती है। भागवतके अनुसार मुक्ति तो कंस-शिशुपाल आदिको भी भगवान् दे देते हैं, भय-द्वेष आदिकी वृत्तिके एकाग्र बन जानेपर। परंतु अपनी भक्ति तो नहीं देते !

भगवद्भक्तिकी एक प्रमुख आवश्यकता यह है कि जगतको भगवत्कार्य-भगवत्कृति अर्थात् भगवान्के अनन्तविध नाम-रूपोंका विस्तार माना जाये। इसे भगवान्का माहात्म्य माना जाये। मायाके सांनिध्यमें ब्रह्मकी दुःखद विवशता नहीं।

वैसे 'माया' कहो या 'लीला' दोनों ही शब्द अद्भुतरसका भाव प्रकट करते हैं। परंतु नाक-भों सिकोड कर विस्मित होना तो अद्भुतरसको बीभत्स-रसमें रूपान्तरित कर देता है। तब विस्मयका स्थान जुगुप्सा ले लेती है। ठीक इसी तरह ब्रह्मकी दिव्यसामर्थ्यके वाचक 'माया' पदका निन्दाके अर्थमें प्रयोग जगत्कर्ताके सर्वभवनसामर्थ्यपर विस्मित होनेके बजाय जुगुप्साका भाव प्रकट करता है।

अधुनाप्रचलित अर्थमें जगतको भगवानकी 'माया' कहना अवश्य ही भगवन्निन्दा है। 'पिताकी पत्नी' कहो अथवा 'माता' कहो तथ्यमें कोई अन्तर न होनेपर भी वक्ताके भावमें तो अनादर या आदर का अन्तर झलक ही जाता है। वही बात जगतको 'माया' अथवा 'लीला' कहने-मानने पर भी बनती है।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार, अतएव, श्रीमद्भागवतका वर्ण्य-विषय सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध मुक्ति एवम् आश्रय यों भगवानकी दशविध लीला हैं। यदि भगवद्वर्णन प्रसंगमें इन्हें कहीं 'माया' भी कहा गया हो तो वह भगवानके सर्वभवनसामर्थ्यरूप माहात्म्यके द्योतनार्थ है। तथा इसी सर्वभवनसामर्थ्यवश परिगृहीत अनेक रूपोंके आकर्षणवश, यदि रूपधारण करनेवाले भगवानको कोई द्रष्टा भूल जाता है, तो रूपमोहके निरसनार्थ उसे निन्दाके रूपमें भी कहीं 'माया' 'असत्' या 'दु:ख' कहा गया है। आशय इसमें यह नहीं कि माया ब्रह्मसे कोइ भिन्न पदार्थ है। अर्थात् ब्रह्म सत्य है और माया मिथ्या। किन्तु माया स्वयं ब्रह्मका ही कोई दिव्य पारमार्थिक सामर्थ्य है। भगवद्विस्मृति होनेपर भगवन्माया निन्द्य बन जाती है। अन्यथा ब्रह्मज्ञानी या भगवद्भक्त के लिये माया भगवानका एक सर्वथा पारमार्थिक दिव्य सामर्थ्य ही है। "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति" (छांदो. उप. ६-२-३) "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृह, उप. २-५-१५) सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाके द्वारा परिगृहीत अनेकविध रूप, भक्तके लिये, भगवल्लीला रूप ही होते हैं। वह उसे भगवानका असाधारण माहात्म्य मानता है। भक्त भगवानका गुणज्ञ है। चाहे वह विद्वान् हो या न हो, भक्त परन्तु दोषज्ञ नहीं होता!

श्रीमद्भागवत भक्तिप्रधान शास्त्र है अतएव यह भागवतका असाधारण माहात्म्य है कि ज्ञान-वैराग्य, यहाँ भक्तिके वृद्ध पुत्र माने गये हैं। अर्थात् भक्ति सिद्ध हो तो ये अकिंचित्कर बन जाते हैं और भक्ति न हो तो ये पैदा ही नहीं हो पाते, सच्चे अर्थोंमें! यह तो श्रीमद्भागवतका ही माहात्म्य है कि कलि-युगमें प्रवल शिष्यैषणा (जिसमें लोक-वित्त-पुत्रैषणायें तीनों ही छीपी रहती हैं के) वश भलभले विरक्त-ज्ञानियोंके भी ज्ञान-वैराग्य जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं। फिरभी श्रीमद्भागवतके कारण भगवद्भक्ति चिरयुवतीका सा नित्य तथा दिव्य यौवन धारण किये हुए है।

मूलतः ब्रह्मज्ञानकी तंन्मयताके कारण जो वैराग्य पनपता है ऐसा वैराग्य ज्ञानका अनुज होनेके कारण स्वस्थ वैराग्य है। परंतु विषयभोगकी कुण्ठासे किये गये विषयत्याग, ऐसे दोषदर्शनमूलक त्यक्त विषयोंमें वैराग्य और अन्तमें अगतिकतया प्रकट हुआ ज्ञान केवल दोषज्ञताका ही रंग पकडेगा। ऐसे त्याग, वैराग्य और ज्ञान तीनों ही शुष्क असहज अस्वस्थ मनोवृत्तिके द्योतक होते हैं। विरक्तकी त्यागसाधना तथा त्यागीकी वैराग्यसाधनामें महान् अन्तर पड़ जाता है। इसी तरह ब्रह्मज्ञानकी तन्मयतासे पनपे विषयवैराग्य और विषय-वैराग्यवश अपनी बुद्धिपर हठात् थोपे गये ब्रह्मज्ञानमें भी महान् अन्तर स्वीकारना पड़ता है। सोहम्की साधनाके सच्चे प्रकारके वारेमें उपनिषद्में एक सुन्दर वचन आता है "योहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा" (म. नारा. उप. ५/१०)। सच्चा ज्ञानी अपने अहम्की आहूति ब्रह्माग्निमें देता है। परंतु विफल साधक अपने अहम्की धधकती ज्वालामें ब्रह्मकी आहूति देना चाहता है! दोषज्ञ ज्ञानीकी सोहम्साधनामें प्रायः यही गडबड हो जाती है।

भक्तिसे प्रसूत ज्ञानमें परन्तु ऐसी गडबड संभव नहीं। सन्ततिके युवा होते-होते माताका वृद्धा होना एक सहज नियम है। परन्तु ज्ञानभक्तिके परस्पर पुत्रमातृभावमें ज्ञानके वृद्ध होनेपर भी उसकी जननी भक्ति युवती ही वनी रहती है। यह श्रीमद्भागवतकी भक्तिका माहात्म्य है कि ज्ञानके प्रसवके बाद भागवती भक्ति युवती हो जानेसे ज्ञानपर निर्भर नहीं रहती। "तस्मा-

न्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" (भाग. ११-२०-३१)।

भागवती भक्तिसे प्रसूत ज्ञान जिस साधकमें प्रकट होता है वह या तो अपने अहम्का होम ब्रह्माग्निमें कर देता है, या फिर अपने 'सोहम्' को पुनः 'दासोहम्' के रूपमें संवार लेता है।

कर्म ज्ञान तथा भक्ति की त्रयीमें जबतक देहाभिमान बना हुआ हो, तब तक न तो ज्ञानमार्गीय साधक और न भक्तिमार्गीय साधक ही, तत्तद् देहाभिमानोंको लक्ष्यमें रखकर दिये गये कर्मोपदेशका उल्लंघन कर सकते हैं। किन्तु ज्ञान या भक्ति की तन्मयतामें देहाभिमानके शिथिल हो जानेपर ज्ञानीसे भी और भक्तसे भी देहाभिमानमूलक कर्म छूट जायें तो कोई आपत्तिजनक बात नहीं मानी जाती।

विषय-संसारसे भयभीत ज्ञानी तो स्वयम्को ज्ञेय-परमात्मामें लीन कर देना चाहता है अभयार्थ। जबकि परमानन्दके सागर भगवानमें अपने चित्तको तल्लीन कर देनेके बाद भक्त तो न स्वर्गकी चाहना रखता है न नरकका भय ही। न उसे अपवर्गकी लालसा सताती है और न जन्म-मरणके चक्रसे वितृष्णा ही। यही तो भागवती भक्तिका प्रमुख स्वरूप है।

"नारायणपरा सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः"। (भाग. ६-२७-२८)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका यह परमाग्रह है कि ऐसे भगवत्प्रेमवश गायी गयी भगवल्लीलारूप भागवतका श्रवण-स्मरण-कीर्तन केवल भगवत्प्रेमके उद्बोधनार्थ अथवा भगवत्प्रेमके अभिवृद्ध्यर्थ ही करना चाहिये। यह भगवत्प्रेमका ही प्रभाव है कि उपनिषद-ब्रह्मसूत्रमें वर्णित अभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूप ब्रह्मका वर्णन जगतके जन्म-स्थिति-लय कर्ताके रूपमें केवल त्रिधा करना भक्तकेलिये सन्तोषप्रद नहीं हो पाता। भगवद्भक्त तो भागवतके बारह स्कन्धोंमें उन्हें चतुर्गुणित कर इन लीलाओंका गान करना चाहता है।

महाप्रभु कहते हैं "आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा। अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः" (निब. भा. प्र. १/३-४)।

भागवतका भक्त उत्पत्तिके वर्णनसे नहीं किन्तु सर्ग-विसर्गलीलाओंके कर्ता भगवानकी लीलाके गानसे ही सन्तुष्ट हो सकता है। भागवत भक्तकेलिये शुष्क स्थितिवर्णन पर्याप्त नहीं किन्तु स्थान-पोषण-ऊति-मन्वन्तर-ईशानुकथा-निरोधलीलाका वह भगवानके षड्विध ऐश्वर्यके रूपमें गान करना चाहता है। भागवत भक्त केवल लयके वर्णनसे सन्तुष्ट नहीं होता वह तो लयका भी वर्णन मुक्ति-आश्रय लीलाके रूपमें ही करना चाहता है। भगवान्से जगतकी उत्पत्ति भक्तको समझमें आता भगवान्का माहात्म्य है। भगवान्में पुनः व्यष्टिका लय अथवा समष्टीका प्रलय, भक्तोंके साथ क्रीडा करनेवाले भगवान्का आत्मरमण हो सकता है। भक्ति उत्पति-लयरूपा लीलामें शक्य नहीं। भक्ति तो विष्णुद्वारा की जाती स्थिति लीलामें प्रासंगिक बनती है। अतएव भगवद्-लीलाके अन्तर्गत स्थिति लीलाका विस्तार भागवतमें सर्वाधिक है। भक्त भगवन्माहात्म्यके ज्ञानको उत्पत्तिलीलाके श्रवण-कीर्तनद्वारा प्राप्त करके अटक नहीं जाता। और न सच्चे भक्तको कभी मुक्ति-आश्रय लीलाके प्रवचन द्वारा भक्तिमार्गपर से मुक्तिमार्गकी ओर भटकाया ही जा सकता है। अतएव उत्पति-लयलीलाओंके वर्णनार्थ चार स्कन्ध हैं जबकि भगवद् भक्त्युपयोगी स्थितिलीलाके वर्णनार्थ भागवतमें छह स्कन्ध हैं। ऐश्वर्यादि छह गुणों सहित परमात्माको 'भगवान्' कहा जाता है। भगवद्भक्ति भगवन्माहात्म्यके ज्ञानके बाद प्रकट हुआ भगवत्प्रेम है। प्रियतमकी चर्चामें संक्षेपकी मनोवृत्ति प्रेमीका तो स्वभाव नहीं हो सकता!

महाप्रभु भी 'श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशनपरायण' होकर अतएव श्रीभागवत-पीयूषसमुद्रका मन्थन सप्तधा करना चाहते हैं:

शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेक्षरे।
एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते॥

(श्री भागवतार्थप्रकरण १/३-४)

समग्र शास्त्रके रूपमें भागवतार्थ क्या है? पृथक्-पृथक् वारह स्कन्धोंके अर्थ क्या हैं? तत्तत् स्कन्धोंके अन्तर्गत आते तत्तत् प्रकरणोंके अर्थ क्या हैं? उन प्रकरणोंके अन्तर्गत तत्तत् अध्यायोंके क्या अर्थ हैं? इन जिज्ञासाओंका समाधान निवन्धके इस भागवतार्थप्रकरणमें महाप्रभु करना चाहते हैं। भागवतके वाक्य-पद-अक्षरोंकी विवेचनाके लिये सूक्ष्मटीका, सम्भवतः, आद्योपान्त लिखी गयी थी। यह किन्तु महाप्रभुके समक्ष ही कहीं—कभी लुप्त हो गयी, कुछ पत्रोंको छोड़कर। वादमें प्रथमस्कन्धसे तृतीयस्कन्ध पर्यन्त तथा दशमस्कन्ध सम्पूर्ण कर चुकनेके वाद एकादश स्कन्धके कुछ अध्यायों तक सुबोधिनी लिखी जा सकी, परन्तु भगवदिच्छावश सम्पूर्णतया नहीं। इस तरह एकार्थ ज्ञानमें सहायकीभूत सप्तधा अर्थोंमें से चार अर्थोंकी यहाँ विवेचना की गयी है। निवन्धकारिकायें स्वयं महाप्रभुकी लिखी हुयी हैं। किन्तु महाप्रभुविरचित प्रकाश चतुर्थस्कन्धके प्रथमाध्याय पर्यन्त ही उपलब्ध होता है। उसके वाद गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणविरचित प्रकाश पञ्चमस्कन्धके बीसवें अध्याय तक ही उपलब्ध होता है। जहाँ महाप्रभु अथवा प्रभुचरणका प्रकाश है वहाँ गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीके व्याख्यानका नाम आवरणभंग है। जहाँसे मूल कारिकाओंका व्याख्यान स्वयं गो. श्रीपुरूषोत्तमजीने किया है उसका वे 'योजना' नाम धरते हैं। श्रीपुरुषोत्तमजीसे पूर्व भी गो. श्रीकल्याणरायजी तथा श्रीलालुभट्टजीकी व्याख्या भी इस भागवतार्थप्रकरणपर थी। परन्तु वह आजसे चालीस वर्ष पूर्व मुद्रित न हो पायी और आज वे या तो तिरोहित हो गयी हैं या हस्तलिखित ग्रन्थोंके संग्राहकोंकी उदारता तिरोहित हो गयी है। अतः हमें खेद है कि यहाँ उन्हें हम दे नहीं पाये हैं। केवल मुद्रितांशके पुनःप्रकाशनसे हमें हठात् सन्तुष्ट होना पड रहा है।

पूर्वमें गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजकी उदारतासे उनकी विद्यासभाके विद्वान् श्री चीमन ह. शास्त्री द्वारा संपादित श्रीघनश्याम भट्ट विरचित अध्याय-प्रकरणार्थविभागसूचिका तथा जेठानन्द आसनमल ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित श्रीहरिशंकर ओंकारजी शास्त्री द्वारा सम्पादित श्रीभागवतार्थ निवन्धानुसारी अध्यायार्थ जो अलग-अलग छपे थे, हमने उन्हें यहां संकलित कर पुनःप्रकाशित

कर दिया है। विश्वास है कि जिज्ञासु अध्येताओंका इससे समुचित उपकार होगा। इनके अवलोकनसे भागवतार्थनिबन्ध ग्रन्थमें प्रवेश सुलभ हो जाता है। ये विषयानुक्रमणिका जैसे ही ग्रन्थ है अतः पृथक्तया विषयानुक्रमणिका देना भी हम यहाँ अनावश्यक समझते हैं। परिशिष्टमें श्रीकल्याणरायजीकी तृतीयस्कन्धार्थटिप्पणीका श्रीहरिशंकरजी शास्त्री द्वारा संपादित संस्करण भी समायोजित कर दिया है। तथा इस ग्रन्थके द्वितीय भागमें मुद्रित एक अज्ञातकर्तृक व्याख्यानका वह अंश जो इस प्रथम भागसे सम्बद्ध था उसे पुनः यहीं समायोजित कर दिया है।

इन सभी ग्रन्थोंके सम्पादक-प्रकाशक महानुभावोंके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत द्वितीय संस्करण उन्हीं पूर्वप्रकाशित संस्करणोंका ऑफसेट प्रोसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है। यह द्वितीय संस्करण अनेक महानुभावोंके अभिनन्दनीय सहयोग तथा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके अनुग्रहयोग से ही प्रकाशित हो पाया है। अन्यथा महाप्रभुके नामपर चलते सम्प्रदायके अनुयाईओंकी श्रद्धाके कारण सम्पन्न बनी संस्थाओंके वणिकवृत्तिवाले अधिकारिगण हमसे पूछते हैं कि आज इन ग्रन्थोंकी उपयोगिता क्या है? हम भी पूछना चाहते हैं कि वल्लभसंप्रदायमें ऐसे निष्ठाविहीन व्यक्तियोंकी उपयोगिता क्या है? बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु! किमधिकम्?

माघकृष्ण द्वितीया

गोस्वामी श्याम मनोहर

दि. सं. २०४०

तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

द्वितीय भाग में संकलित ग्रन्थोंकी

अनुक्रमणिका

શ્રીમદ્ભાગવત.

ભક્તિમાર્ગમાં પ્રમાણમૂર્ધન્ય-શ્રીમદ્ભાગવત છે. ભક્તિમાર્ગમાં સર્વ સન્દેહ દૂર કરનારૂં શાસ્ત્ર છે. પ્રસ્થાન ચતુષ્ટયમાં તેની ચતુર્થ પ્રમાણ તરીખે ગણના કરવામાં આવે છે. વેદમાં સન્દેહ થાય તો ગીતાજી દૂર કરે, ગીતાજીનો સંદેહ વ્યાસસૂત્રથી દૂર થાય, વ્યાસસૂત્રના સન્દેહો શ્રીમદ્ભાગવત દૂર કરે છે. આ પ્રમાણે ચાર પ્રસ્થાનમાં અગ્રસ્થાન શ્રીમદ્ભાગવતને આપવામાં આવ્યું છે.

આ ભાગવતમાં ત્રણ ભાષા છે. પરમતભાષા, લૌકિકભાષા, સમાધિભાષા છે. આ ત્રણે ભાષામાં સમાધિભાષા, સર્વોત્કૃષ્ટ પ્રમાણ છે. બાકીની બે આ સમાધિભાષાને (પોષિકા) મદદગાર ગણાય છે.

ભક્તિમાર્ગમાં-પ્રમેયસ્વરૂપે આ શ્રીમદ્ભાગવત છે. આ ભાગવતમાં બારસ્કંધ છે, તે પરમાત્માનાં બાર અંગ છે. તે અંગ આ ગ્રન્થના આરંભમાં દર્શાવ્યાં છે. અર્થાત્ પરમાત્મસ્વરૂપ આ ભાગવત છે. એવું સૂચવનારી બારસ્કંધની સંખ્યા બાર છે. द्वादशांगो वै पुरुषः । इतीदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः । पुराणं हरेः स्वरूपं शब्दतोऽर्थतश्च ।

પરમાત્મા દ્વાદશ અંગવાળા છે. માટે આ ભાગવત પણ દ્વાદશસ્કંધાત્મક છે. હરિરૂપ છે. શબ્દથી અને અર્થથી પણ ભાગવત પુરાણ હરિસ્વરૂપ છે.

अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं यावन्मनो धारणयावतिष्ठते । २–२–१२

સર્ગ વિગેરે દશ લીલાત્મક ભાગવતનાં અંગોથી ઉપપન્ન અંગી શ્રીમદ્ભગવત્સ્વરૂપ છે. શ્રીમદ્ભાગવતમાં દશ લીલાનું વર્ણન છે. જેમ કે સર્ગ-વિસર્ગ-સ્થાન-પોષણ-વાસના-સદ્ધર્મ-ઈશાનુકથા-નિરોધ-મુક્તિ અને આશ્રય. આ દશ લીલા તૃતીય સ્કંધથી આરંભી દ્વાદશ સ્કંધ પર્યન્તમાં વર્ણવી છે. આ દશે લીલાત્મક પ્રભુ છે.

પ્રભુમાં* અદીનત્વ (સર્ગ) છે. વસ્તુ ન હોવાથી દીન થાય છે. પ્રભુ પોતે સર્વ વસ્તુરૂપે પ્રકટ થઈ શકે છે. અભિલષિત વસ્તુ મળતાં દીન-કંગાળપણું જાય છે. એટલે પ્રભુમાં અદીન લીલા છે એમ સર્ગ કરવાથી સ્પષ્ટ સમજાયા. લીલાત્વ (વિસર્ગ) હસિતત્વ (સ્થાન) છે. હાસ્ય એ સ્થાનરૂપ છે. તે તે મર્યાદામાં સર્વને બેસાડી પ્રભુ હસે છે. સ્વહાસ્ય માટે જ તે તે મર્યાદામાં સ્થાપે છે. સર્વ જ્યારે ભગવાન્‌માં એકત્રિત થાય ત્યારે કંઈ મર્યાદાથી સ્થાપવાનું હોતુ નથી. ઈક્ષણત્વ (પુષ્ટિ) ભગવાન્‌થી દેખાયલા જીવો જ પુષ્ટ-કૃપાપાત્ર છે. ઉલ્લસત્વ (વાસના) ભ્રૂત્વ (સદ્ધર્મ) ભઙ્ગત્વ (ઈશાનુકથા) સંસૂચિતત્વ (નિરોધ) ભૂરિત્વ (મુક્તિ) અનુગ્રહત્વ (આશ્રય)

સાધન સ્વરૂપે શ્રીમદ્ભાગવત-પૂર્વસ્કંધ ઉત્તરસ્કંધનું કારણ અથવા સાધન છે. બારેસ્કંધમાં જુદી જુદી વાતો કહી છે. તેને પરસ્પર અંગોની માફક સંબંધ છે.

---

* સુબોધિની ૨-૭-૨૬

બારેસ્કંધને બરાબર કાર્યકારણ સંબંધ છે. आधिकारिकाणां साधनानि, (प्रथमस्कंधे)। साधनयुक्तानां श्रवणम् (द्वितीयस्कंधे)। तत्रादौ सर्गलीला (तृतीयस्कन्धे) सृष्टानां धर्मादिपुरुषार्थसाधनम् (चतुर्थस्कन्धे)। सिद्धपुरुषार्थानां तत्तन्मर्यादया संस्थापनम् (पञ्चमस्कन्धे) ततस्तन्मध्ये केषाञ्चिदनुग्रहः (षष्ठस्कन्धे) पुष्टौ प्राप्तस्य वैषम्यदोषस्य निवृत्यर्थं वासनाः (सप्तमस्कन्धे)। ततो वासनानिवृत्त्यर्थं सद्धर्माः। (अष्टमस्कन्धे)। ततो निवृत्तदोषाणां भक्तिः (नवमस्कन्धे)। ततो भक्तानामासक्तिः (दशमस्कन्धे)। आसक्तानां स्वरूपेण व्यवस्थितिः (एकादशस्कन्धे)। तथाव्यवस्थितानां भगवदाश्रयः। (द्वादशस्कन्धे)।

(૧) અધિકારી-દૈવી-જીવોને શું સાધન છે. (૨) સાધન સમ્પત્તિવાળાએ શું શ્રવણ કરવું? (૩) શ્રવણ કરવામાં પ્રથમ ભગવન્માહાત્મ્ય દર્શાવનાર સર્ગ લીલા છે. (૪) સર્ગમાં ઉત્પન્નોને ધર્માદિ પુરુષાર્થ દર્શાવ્યો છે. (૫) પુરુષાર્થ સિદ્ધ કરેલાઓને તે તે સ્થલે તે તે મર્યાદામાં સ્થાપવા; (૬) તે જીવો પૈકી કેટલાક ઉપર અનુગ્રહ કરવો. (૭) સર્વ જીવોમાં કેટલાકને અનુગ્રહ કર્યો કેટલાકને નહિ એવો વૈષમ્ય દોષ દૂર કરવાને વાસનાનું વર્ણન છે. જેવી જેની વાસના તેને તેવું ફલ આપીશ. એવી મર્યાદાનું રક્ષણ કર્યું. (૮) વાસનાથી બંધન ન થવા પામે તે માટે સદ્‌ધર્મનું નિરૂપણ છે. (૯) સદ્‌ધર્મનું પાલન કરવાથી દોષનિવૃત્ત થતાં ભક્તિ થાય છે. (૧૦) ભક્તિવાળાને પ્રેમ-આસક્તિ-અને વ્યસન સુધીનો નિરોધ થાય છે. (૧૧) આસક્ત ભક્તોને સ્વરૂપમાં વ્યવસ્થિતિ કરાવી છે. (૧૨) આવા સુવ્યસ્થિત ભક્તોને જ ભગવદાશ્રયરૂપી મહત્ફલ પ્રાપ્ત થાય છે. આવું ઉત્તમ ફલ ભાગવતદ્વારા જ મળે છે તે જ તેની બલીહારી છે.

ભક્તિમાર્ગમાં ફલ સ્વરૂપે—શ્રીમદ્‌ભાગવત છે. ભાગવત એ ઉત્તમોત્તમ ફલ છે. શ્રીમદાચાર્યચરણ. एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः। अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्तिं प्रयच्छति। धारणं पाठतः। तस्य भगवद्रूपत्वात्तेन रूपेण भगवान् एव धृतः। हृदि स्थितः भगवान् यत्कार्यं करिष्यति तदनेनापि करिष्यति। अर्थतश्चेत्परितः ज्ञातः तदा इदमित्थतया ज्ञानं भक्त्यङ्गमिति ज्ञातः सन् भक्तिं प्रयच्छति।

આ ભાગવતના સ્વરૂપને ધારણ કરવાથી સાક્ષાત્ ભગવાન્ હૃદયમાં પધારે છે. ભાગવતનું ધારણ પાઠથી થઇ શકે છે. ભાગવત ભગવદ્રૂપ હોવાથી ભાગવતસ્વરૂપે પ્રભુ જ પધારે છે. હૃદયમાં બિરાજેલા પ્રભુ જે કાર્ય કરે તે કાર્ય આ ભાગવત કરે છે. આ જ પરમફલ છે. જો બરોબર ભાગવતના અર્થને સમજે તો ભગવત્સ્વરૂપનો બરોબર નિશ્ચય થતાં ભક્તિના અંગભૂત આ જ્ઞાન હોવાથી ભક્તિરૂપી ફલનું દાન કરે છે.

ભાવના-उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषः भक्तमाकारयत्युत આ ભાગવતનું સ્વરૂપ શ્રીગોવર્ધનધર શ્રીનાથજીના જેવું છે. શ્રી નાથજીનો વામહસ્ત ઉંચો છે. વામહસ્ત દ્વાદશ સ્કંધરૂપ હોઇ આશ્રયનું નિરૂપણ કરનારો છે. તે આશ્રયરૂપ હસ્ત ઉંચો કરી આ ભગવાન્ પોતાના ભક્તોને સ્વાશ્રયાર્થ બોલાવે છે. ભક્તો તમે મારે શરણે આવો, ભાગવતાશ્રય કરો, ઉત્તમ ફલ મળશે

શ્રીમનશાસ્ત્રી,

उदाहारः ।

श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमो विजयते ।

प्रेम्णोन्यत् साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत् ।
श्रीभागवतमेवात्र परं तस्य हि साधनम् ।
अधिकारमभिप्राय ज्ञात्वा भक्तमुखेन हि ।
सकृच्छ्रवणमात्रेण कृष्णप्रेम भवेद् ध्रुवम् ।

श्रीमद्भागवतं किलाष्टादशपुराणचक्रवर्त्ति महापुराणं चतुर्थप्रस्थानत्वेन प्रथितं, पूर्वप्रस्थानस्वरसेनाप्यायितं, श्रुत्यगोचराणामर्थे निगमरसभरितप्रपेव, विहितसाधनविरहनिरालम्बानां हृदि स्वतन्त्रतया मुख्यस्य महतः प्रेमाख्यस्य साधनस्य समुत्पादकं कल्पतरुवद् भुवि विजयते। तथा हि "रुच्यादिना जातं प्रेम दोषदर्शनान्निवर्त्तते, दोषश्च शास्त्राभावे लोकदृष्ट्या भवति। अतः श्रीमद्भागवतमेव सर्वशास्त्रार्थनिर्धारकं सर्वमाहात्म्यज्ञापकं प्रेमोत्पादकं भवति" इति श्रीमदाचार्यवचनादध्यवसीयते।

तदिदं भागवतं निरस्तसमस्तहार्दतमसोऽधिकारिणो हृदि कर्णरन्ध्रेण प्रविष्टं सत् सत्वरं फलति, अतः श्रवणप्रणाड्या विचार आवश्यकः। "श्रवणस्याङ्गत्रयम, (१) भागवतस्य सम्यक्तात्पर्यज्ञानम, (२) भक्तमुखाच्छ्रवणम (३) श्रोतुश्च वैराग्यम" "इति त्रीण्यङ्गानि श्रवणेऽपेक्ष्यन्ते। तदभावे न फलति। इतोप्युत्तमाधिकारिणस्तु भागवतस्यैकदेशेनाप्ययं कल्पतरुः फलति, स च सर्वथा लोकेषु विरक्तः भागवतोक्ते असम्भावनाविपरीतभावनारहितः तीर्थादिना शुद्धान्तःकरणो विदुरतुल्यः" (अपेक्षितः) "ततोपि अधिकः श्रवणे वा उद्धवतुल्यः। तस्य लीलामात्रश्रुतावपि भक्तिर्भवति। अतो मुख्याधिकारसम्पन्ने भागवतश्रवणे भक्तौ न कोपि सन्देहः"

अधिकारे जातेऽर्थस्याप्यवगते तत्त्वार्थदीपस्य किं प्रयोजनम् ?

सर्वास्तिकवादिसम्मतत्वाद् भागवतस्य यथालब्धबुद्ध्या तद्विविधविवरणप्रणेतारोऽभवन्। ते स्वस्वराद्धान्तानुरोधिनमन्यथार्थं दर्शयामासुः। परं तत्तद्विवरणकृतां समये नीरक्षीरविवेकिनो हंसा इव ब्रह्मवादमायावादयोर्निर्गुणसगुणभक्त्योर्निष्कामसकाममार्गयोश्च तरतमभावभावने विचक्षणाः सिद्धान्तापराद्धान्तविवेकिनो भगवदनुकम्पाभाजो भावुका भुवमलञ्चक्रुः। ते तु पात्रपूरितपीयूषे पतितं

तृणशकलमिव विपरीतार्थांश्च अपाकृत्य याथार्थिकार्थानां ग्रहणे विप्रतिपत्तिरहिताः सन्तः सन्तो भागवतपाठफलमापादयन्तिस्म। परन्तु—कलिकालस्य करालत्वाद् आसुरप्रज्ञाजुषां सन्मार्गदूषकाणां प्राबल्येभिव्याप्ते "कोर्थः श्रेयान्" इति निर्णये विप्रतिपन्नाः सन्तः स्वकीया अपि स्वधर्ममनुष्ठातुं न पारयामासुः। अर्थात्मकोपि भगवान् एवेति स्वस्वरूपात्मकस्य भागवतार्थस्य विसंवादमविषह्य मत्वा "दयया निजमाहात्म्यं करिष्यन् प्रकटं हरिः। वाण्या यदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि" इति प्रभूक्तिरेव प्रमाणं तद्वचनोपजीविनामस्माकम्। एवं मानुषतनुं स्वीकृत्य प्रादुर्भूतैः श्रीमदाचार्यचरणैरुक्तम्,—"भागवतार्थे अज्ञाते अन्यथाज्ञाते च भक्तिर्न भवति, अधिकारेऽपि जाते फलं न भविष्यति इति मयोपायः क्रियते, तत्त्वार्थो विविच्योच्यते, यस्मिन् ज्ञाते सर्वथा भक्तिर्भवत्येव। नापि जाता भक्तिस्तूष्णीं तिष्ठति तादृशी भविष्यति या लतावत् प्रत्यहं वृद्धिमायान्ती शीघ्रं कृष्णाख्यं फलिष्यति। अतो भक्तीच्छायां सर्वथैतदनुसन्धेयम्" इति च प्रतिश्रुतम्। श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशनपरायणाः श्रीमदाचार्यचरणा भागवतार्थं सप्तधा व्याचिख्यासवः 'शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे, एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते" इति प्रथमचतुष्टयस्य निबन्धेऽन्तिमत्रयाणामर्थं सुबोधिन्यामूचुः। "अर्थत्रयं तु वक्ष्यामि निबन्धेस्ति चतुष्टयम्" इति सुबोधिनीपद्यादवगम्यते। तत्र शास्त्रं त्वखिलं भगवत्प्रेमजनकं भागवतम्। स्कन्धा द्वादशाः। यथा "अधिकारिणां साधनानि प्रथमस्कन्धे, साधनयुक्तानां श्रवणं द्वितीयस्कन्धे। तत्रादौ सर्गलीला तृतीयस्कन्धे। सृष्टानां धर्मादिपुरुषार्थसाधनं चतुर्थस्कन्धे। सिद्धपुरुषार्थानां तज्जन्ममर्यादया संस्थापनं पञ्चमस्कन्धे। तन्मध्ये केषाञ्चिदनुग्रहः षष्ठस्कन्धे। पुष्टौ प्राप्तस्य वैषम्यदोषस्य निवृत्त्यर्थं वासनाः सप्तमस्कन्धे। ततो वासनानिवृत्त्यर्थं सद्धर्मा अष्टमस्कन्धे। ततो निवृत्तदोषाणां भक्तिः नवमस्कन्धे। ततो भक्तानामासक्तिः दशमस्कन्धे। आसक्तानां स्वरूपेण व्यवस्थितिरेकादशस्कन्धे। तथा व्यवस्थितानां भगवदाश्रयः द्वादशस्कन्धे, इति भक्तिमार्गीया स्कन्धव्यवस्था व्याहृता। प्रकरणानि कति वर्तन्ते इतिविशयवद्भिरस्मत्प्रकटीकृता श्रीभागवतप्रकरणविभागसूचिकात्रानुसन्धेया। तथापि प्रकरणनाम्नां प्रदर्शनमत्र साम्प्रतं मन्यामहे। प्रथमे हीन—मध्यमोत्तमाधिकारभेदेन त्रीणि प्रकरणानि। द्वितीये तत्त्वध्यान—हृत्प्रसाद-मननभेदेन प्रकरणानि त्रीणि। तृतीये गुणातीतसृष्टिः, सगुणसृष्टिः, कालसृष्टिः, तत्त्वसृष्टिः, जीवसृष्टिः,इति पञ्चप्रकरणात्मकसर्गस्य बन्धमोक्षभेदेन द्विविधत्वाद् दशप्रकरणानि। चतुर्थे धर्मार्थकाममोक्षभेदेन चत्वारि प्रकरणानि। पञ्चमे स्वरूपदेशस्थित्यात्मकं

प्रकरणद्वयम्। स्वरूपस्थितौ तु १ भगवतः २ योगतः ३ ज्ञानतः स्थितिः इत्यवान्तरप्रकरणत्रयम्। देशस्थितौ अपि भूः भुवः स्वः इति त्रितयात्मकत्वात्रीणि अवान्तरप्रकराणानि सन्ति। षष्ठे नामध्यानार्चनभेदेन प्रकरणत्रयम्। सप्तमे प्रकरणत्रयम्, असद्वासनासद्वासनामिश्रवासनेति। अष्टमे हरिस्मरणं सर्वदानं स्वोक्तनिर्वाहो मत्स्यावतारश्चेतिप्रकरणचतुष्टयम्। नवमे सूर्यचन्द्रवंशप्रकरणे उच्येते। दशमे–प्रथमं जन्मप्रकरणम्। प्रमाण-प्रमेय–साधन-फलानि तामसप्रकरणस्थानि। प्रमाण–प्रमेय–साधन-फलानि राजसस्थानि। प्रमेयसाधनफलानि सात्विकस्थानि। ततो गुणप्रकरणमिति त्रयोदशप्रकरणानि सम्भूय भवन्ति। एकादशे च जीवन्मुक्तिब्रह्ममुक्तिनामभ्यां प्रकरणद्वयम्। द्वादशे च कृष्णाश्रय-जगदाश्रय-वेदाश्रय-भक्तिमार्गाश्रय–भागवताश्रयेतिपञ्चप्रकरणानि विजयन्ते। अथात्राध्यायस्वारस्यं प्रकटीकर्तुं समीहासीत्। परन्तु श्रीमुरलीधरदासभगवदीयैर्भक्तिचिन्तामणौ द्वादशस्कन्धानां तात्पर्यार्थौ निबन्धसुबोधिनीत उद्धृत्य सम्यक् विनिरुपित आस्ते एव। एवञ्चाध्यायार्थसङ्ग्रहनामान्यो ग्रन्थस्तु मदभ्यर्णे वर्तते। तौ चाचिरात् सम्मुद्य प्रकटीकरिष्यामः।

एवं भागवतस्य चतुर्विधार्थानां निरूपणे श्रीमदाचार्यचरणाः १९२० विंशत्युत्तरैकोनविंशतिशतकारिका रचयाञ्चक्रुः। तासामतिगभीरत्वात्तदध्येतृणामर्थावगमो न भवतीति श्रीमाधवभट्टगङ्गाधरभट्टपद्मनाभहरिहरब्रह्मानन्दकृष्णचन्द्रश्रीदामोदरदासप्रभृतयो भागवताः श्रीमदाचार्यचरणान् व्यजिज्ञपन्। अत एव कृपापारावाराः कारिकार्थाववोधप्रत्यूहतिमिरप्रत्याख्यानप्रवलं प्रकाशमाविश्चक्रुः।

निबन्धस्य टीकास्तिस्रः समुपलभ्यन्ते। गो० श्रीकल्याणरायै रचिता टिप्पणी। गो०श्रीपुरुषोत्तमचरणैः प्रणीत आवरणभङ्गः। स च अस्मिन् विभागे प्रकटीकृतः प्रकाशावधिको वर्तते। तदुत्तरं तु प्रकाशाभावाद्योजनेतिनाम्ना व्यवह्रीयते। तृतीया तु लालुभट्टोपनामकैः श्रीबालकृष्णभट्टैः संयोजिता निबन्धयोजनेति। एवं तासु शारदराकादयितप्रभाप्रचारप्रतीपकमेघावरणवारणे मारुतमिव प्रकाशार्थावरणभङ्गं विस्तृतमतीवोपयुक्तमनुमाय तमेव निबन्धेन साकं युञ्ज्महे। श्रीमदाचार्यकृत्यवशिष्टस्याणुभाष्यस्येवात्रापि प्रकाशस्यावशिष्टभागपूर्त्तये श्रीप्रभुचरणाश्चतुर्थस्कन्धस्य त्रयस्त्रिंशत्कारिकातः प्रकाशं विरचयन्तिस्म, परन्तु पञ्चमस्कन्धस्य पञ्चत्रिंशदुत्तरैकशतकारिकापर्यन्तं विरचय्य विरेमुः। श्रीपुरुषोतमचरणा आवरणभङ्गे एतन्निगूढोदन्तं सञ्ज्ञापयन्तिस्म यद् 'एतदन्तं श्रीमदाचार्यैः कृता व्याख्या एतदग्रे प्राभवीया' इति।

अन्या अपि बहून्य उपपत्तयो विद्यन्ते। प्रभवः पञ्चमस्कन्धस्य अशीतितमकारिकाप्रकाशे "निगूढाशयैराचार्यैरुक्तम्" इति आचार्यशब्दमाचख्युः। एवं "आसक्त्यभावाय आचार्याः कालस्तत्त्वेषु प्रविष्टः इति" इति पञ्चमस्य षष्ठकारिकाप्रकाशे आचार्यशब्दं पुनरुचुः। एवमन्तिमभागे द्वात्रिंशदुत्तरैकशतकारिकायामपि "तर्ह्याचार्यैरधोलोकमानं कुतो नोक्तम्' इति श्रीप्रभुचरणैरत्रापि आचार्यशब्दं चाख्याय स्वकृतिर्विशदीकृता। अस्मिन् हायने विद्याविलासिगोस्वामिश्रीद्द्श्रीव्रजरत्नलालचरणैर्भूरिश्रमेण मद्रपुर्यां मद्रासे ग्रन्थान्वेषणकार्यमासादितम्। तदानीन्ते साम्प्रदायिकानेकाप्रसिद्धग्रन्थान्नाददुः। तेषां नामानि पश्चाद्वक्ष्यन्ते। "संस्कृत–तामिल–हस्तलिखितग्रन्थसंशोधनकार्यविवरणे निबन्धसम्बन्धी उल्लेखो वर्तते। तथाहि–

(Sanskrit–Tamil Manuscript Research Report of the year 1896–97 Vol. I)

Bhagavatatattvadipika – also called Tattvadipanibandha or Tattavadipa written by Vallabhacharya who wrote the commentary on the first three Skandhas, while the remaining part of the work was taken up by his son Vitthalacharya, as we see from the colophon of the fourth Skandha.

इति श्रीवल्लभात्मजविट्ठलदीक्षितविरचितायां श्रीभागवततत्त्वदीपिकायां श्रीभागवतीयचतुर्थस्कन्धप्रकरणम्॥

The manuscript ends with a portion of the fifth Skandha. Bhagavatatattvadipaprakashavaranabhanga -is a commentary on the above by Pitambara, son of Yadupati, who pays homage to Vallabhacharya. The manuscript was transcribed by Vitthaldas, a pupil of Murlidhardas in the year of Raudri, in the month of kumbha, on the first day of the month, and in the town of Salivatapuri.

हा हन्त कथं प्रचुरपुस्तकप्रचयो दक्षिणदेशे ताञ्जोरप्रान्ते गतः। कथं च वैष्णवेतराणां हस्ते अगमत्। परेषां हस्तेषु पतितमस्माकं साहित्यं दृष्ट्वा कस्य भगवदीयस्य मनो न तुद्यात्। केचन ग्रन्था दक्षिणदेशे प्रचलिततामिललिप्या लिखिता वर्तन्ते। तेषां नामानि वैष्णवानां कर्णरन्ध्रे पतेयुश्चेत् साहित्यैतिह्यान्वेषणार्थं तेपि समुत्सुकाः स्युरित्यधः प्रदर्श्यन्तेऽस्माभिः।

परमतत्त्वाञ्जनम्	अङ्कः ४०	मुरलीधरदासाः	परतत्त्वविलासः	मुरलीधरदासाः
भगवन्नामदर्पणः	,, ३८	,,	ब्रह्मविद्याभरणम्	(अतीवोपयुक्तमिदम्)
भक्तिसिद्धान्तमणिः	,,	,,	सम्प्रदायकुलदीपिका	अङ्कः ३५
सेवाकल्पतरुः	,, २९	,,	प्रेमभक्तिरसायनम्	,, ३९
भक्तिचिन्तामणिः	,, ३४	,,	भक्तिमीमांसा	
भगवन्नामविभवः	,, २७	,,		

एते तु ग्रन्था न प्रसिद्धिमिताः। अन्ये प्रसिद्धा अप्यनेके लिखिता ग्रन्था भौमकारागृहनिगडितभूमिनाथा इव तत्पुस्तकालयस्य कपाटे पिनद्धा वर्त्तन्ते। भक्तिहंसः, भक्तिहेतुनिर्णयस्य विवृतिः श्रीरघुनाथानाम् अं० ३६। श्रीमदणुभाष्यम् अं० ३८। सुवर्णसूत्रम्, विद्वन्मण्डनस्योपरि अं० २८। संन्यासनिर्णयः अं० ३०। पुष्टिप्रवाहमर्यादाः अं० ३१। बालबोधः अं० ३२। प्रदर्शिताङ्कास्तत्रत्यसूचिपत्रस्यावगन्तव्याः। कतिपयग्रन्थानां प्रतिकृतयो गो०श्रीव्रजरत्नलालजीचरणैरासादिताः।

साहित्यप्रकाशने त्रिविधं साहाय्यमपेक्ष्यते। उपयुक्तप्राचीनशुद्धतमलिखितग्रन्थानां दानम्। एतत्साहाय्यं केचिदेवोदारचेतसो वितरन्ति न सर्वेऽतः प्रभूतायाससाध्यम्। द्वितीयं साहाय्यं द्रव्यात्मकं साहित्यशरीरे प्राणार्पणसमानम्। तृतीयन्तु अनेकस्खलिताक्षरैर्दुर्वाच्यैः प्रतिफलकैः साकं संवादनरूपम्। तत्तु विदुषां सौहार्देनाधिगम्यते। तत्र प्रथमसाहाय्यविधौ श्रीमदाचार्यचरणवंशविभूषणैर्विद्याविलासिभिः श्रीव्रजरत्नलालचरणैरितस्ततः पुस्तकानि आनीय स्वकीयान्यपि वितरितानि। अन्यान्यप्यन्यतः प्रभुकृपावशादुपलब्धानि। द्वितीयं श्रीव्रजरत्नलालजीमहाराजानां निर्देशवशंवदेन परमवदान्येन भगवदीयेन "वैरागीवाळा" इत्युपसञ्ज्ञकेन डाह्याभाइनाम्ना श्रेष्ठिना सोत्साहं ग्रन्थप्रकाशनेपेक्षितो व्ययो मया देय इति भागवतनिबन्धप्रकाशप्रकाशनोत्सुको भागवतः स मुद्रासहस्रत्रयार्पणप्रतिज्ञामकरोत्। परं प्रकाशनात् पूर्वमेव भगवच्चरणमधिगतवान्। ततः तत्सूनुना श्रीयुतचीमनलालेन पितृप्रतिज्ञापूर्त्तिः सम्पाद्यते। आशास्महे च तथैवानुपालयिष्यति।

तृतीयमविच्छिन्नसाहाय्यं सौहार्दावच्छिन्नैः श्रीयुतपरमभगवदीयै'रीश्वरलालमग्नलालशाह''प्रभुदास''रतिलाल'प्रभृतिभिः सततं नियतकालं समुपस्थाय अन्यकार्यातिपातान् अविगणय्य आदर्शसंवादनकर्मणि महर्घं साहाय्यं वितरितम्। तेषां साम्प्रदायिकसाहित्यनिष्ठां पुनः पुनः प्रशंसामहे। भागवतनिबन्धस्य विंशतिपरैकोनविंशति-

शतकारिकासु पञ्चचत्वारिंशदुत्तरसप्तशतकारिकाः प्रथमभागे आविर्भाविताः । पञ्चसप्ततिपरैकादशशतकारिकाः श्रीपुरुषोत्तमाचार्यैः प्रणीतया योजनया साकं द्वितीयभागे प्रादुर्भावमेष्यन्ति ।

प्राकट्यविलम्बहेतोरावेदने निर्विद्यते खलु मच्चेतः । ततोप्यधिकं मां दुःखाकरोति यदविभाज्यग्रन्थो विभागेनाविष्क्रियते इति । विपश्चितामाश्रयनिधानैः सुनामधेयश्रीव्रजरत्नलालजीमहाराजचरणैः साकं भारतेऽविरतं पर्यटनस्थेनानेन जनेनासाद्यते यावत्स्थैर्यं तावदेवैतद्विधातुं शक्यते इति तत्कार्यक्रुतां सङ्कचावत्तां विदितचरमेव । परमकठिनेस्मिन् श्रीमदाचार्यवचनामृतवारिधिसंशोधने मत्प्रवृत्तिं डिम्भसाहससरूपां मन्ये । तथापि प्रभुश्रीवल्लभनखचन्द्रछटयाधिगतबुद्धिबलः पारमेष्यामि इत्युदारविश्वासभरेण प्रवृत्तोस्मि । शतकृत्वः संशोधितमपि जीवशेमुषीसहजं स्खलितं भवत्येवेति प्रमादजातव्यत्यासं निराकृत्य शुद्धिग्राहयालवो दयालवो मनीषिणः कृपावनीयकं क्षमां दास्यन्ति भवन्तो विपश्चिद्वराः । समुलब्धं-शुद्धिपत्रकं द्वितीयभागे एकीकृत्य दित्सामि । आशासे च भगवल्लीलामृताकूपारसमं पुस्तकमिदं भागवतपीयूषपिपासावतो विपश्चित्सार्थस्य तृषोपशमं करिष्यतीति । श्रीमदाचार्यचरणाश्रयाशंसुरहं भागवतस्य भगवत्स्वरूपत्वात् तदीयमिदं तत्पादपद्मेषु निवेदयामि ।

सं० १९९१
कार्तिकशुक्लप्रतिपद्

शास्त्री-चीमनलालः ।
'साहित्यभूषण'' शुद्धाद्वैतरत्ने 'ति ।



श्रीकृष्णः ॥

પ્રાસ્તાવિક.

શ્રીમદ્ગોસ્વામિકુલકૌસ્તુભ વિદ્યાનિધિ શ્રી. ૬. શ્રીવ્રજરત્નલાલજી મહારાજે સામ્પ્રદાયક પ્રાચીન સાહિત્યોદ્ધાર કરવા માટે બા. શુદ્ધાદ્વૈત મહાસભામાં એક સાહિત્ય સંશોધન અને ગ્રન્થમુદ્રણ વિભાગ ખોલ્યો, આપશ્રીએ પોતાના અનન્ય સેવક વેરાગીવાળા શેઠજી ચીમનલાલ ડાહ્યાભાઇને આજ્ઞા આપી ચાર હજારના ખર્ચે ભાગવતાર્થ નિબંધ પ્રકટ કરવાની યોજના કરી આપી. જેનો એક ભાગ થોડા જ વખતમાં પ્રકટ થનાર છે. આ ભાગવતાર્થ નિબંધ પ્રકટ થતાં પહેલાં અથવા તે સાથે અમારે તેનું આનુષંગિક સાહિત્ય પ્રકટ કરવુ જ જોઇએ, એ અમારી ફરજ હતી અને છે. તેવા ગ્રન્થો પૈકી અન્ય નહિ તો આ પ્રકરણવિભાગસૂચિકા, ગો૦ શ્રીગોકુલરાયજીકૃત અધ્યાયાર્થ, (આ ગ્રન્થની પ્રેસ કોપી અમારી પાસે તૈયાર છે.) ત્રિવિધ નામાવલિ, શ્રીમદાચાર્યચરણકૃત અનુક્રમણિકા, આટલા ગ્રન્થો તો સાથે છાપવા જોઇએ. તે પૈકી આ ગ્રન્થ ભાગવતાર્થ નિબંધને અધિક સંબંધ ધરાવનારો છે. વસ્તુતસ્તુ નિબંધની જ પંક્તિઓ કે તટ્ટીકા આવરણભંગ-યોજના-માંથી ઉદ્ધત કરેલી પંક્તિઓનો કે તેના આશયથી રચાયેલો આ "પ્રકરણવિભાગ" છે. અને તેથી તે ઘણો જ ઉપયુક્ત છે.; મૂલ નિબંધમાં શ્રીપુરુષોત્તમજીના સાહાય્ય વિના પ્રકરણ વિભાગ સમજવા કઠિનતમ છે. તે બન્ને સાથે હોય તો પણ ટુંકામાં પ્રકરણનું નામ પ્રકરણમાં અધ્યાયસંખ્યા આટલી કેમ? તેનું સબલ કારણ વિગેરે જાણવાનું સુગમ સાધન આ પ્રકરણ વિભાગ છે. આ ગ્રન્થ જેટલો ભાગવતાર્થનિબંધ વાંચનારને મદદગાર છે તેથી વધારે ઉપયોગી ભાગવતના પાઠ કરનારને છે. ભાગવતનો પાઠ કે પારાયણ-કે કથા-વાચન-કરનારા ભટ્ટ-વ્યાસ-પુરાણીઓને આ ગ્રન્થને ઉત્સંગમાં (ખોળામાં) રાખી વાચનારંભ કરવો જોઇએ, એવું કહીએ તો જરાય અતિશયોક્તિ નથી.

દાખલા તરીકે દ્વાદશસ્કંધ ચાલતો હોય તેમાં પાંચ પ્રકારના આશ્રય છે. ૧-કૃષ્ણાશ્રય ૨-જગદાશ્રય ૩-વેદાશ્રય ૪-ભક્તિમાર્ગાશ્રય ૫-ભાગવતાશ્રય આવા પાંચ પ્રકારે અમુક અમુક અધ્યાયમાં આશ્રયનાં પાંચ પ્રકરણ કહ્યાં છે. તે અધ્યાય આવતાં જ પાઠકે સમજવું જોઇએ અને કથવું જોઇએ કે હવે કૃષ્ણાશ્રય પ્રકરણ ચાલ્યું કે જગદાશ્રય કે વેદાશ્રય પ્રકરણ ચાલ્યું. તે પ્રમાણે સમજી શ્રીમદ્ભાગવતનો પાઠ થાય તો કંઈ ઓરજ પાઠક અને શ્રોતાને આનંદ આપે એવો આ ઉપયોગી ગ્રન્થ છે.

આ ગ્રન્થમાં પ્રકરણ વિભાગ એકદમ પકડાય તે માટે નવી પ્રણાલ્યનુસાર કોષ્ટક સંકલના કરી છે. ગ્રન્થના કેટલાંક પ્રકરણમાં અધ્યાય સંખ્યાના હેતુઓ દર્શાવતાં ગ્રન્થકારે ટુંકામાં પતાવી દીધું છે. તેને માટે અનુવાદ વખતે મૂલનિબંધ-આવરણભંગ-યોજનાનો આશ્રય લેઈ તેને વધારે સુસ્પષ્ટ કર્યું છે. તે ઉપરાન્ત પણ જ્યાં જ્યાં ફૂટનોટદ્વારા વિશદ કરવાની જરૂર પડી ત્યાં ફૂટનોટ મુકી ભગવલ્લીલા સ્વાદમાં વૃદ્ધિ કરી છે.

આ ગ્રન્થના કર્તા ગોપીશાલ શ્રીઘનશ્યામભટ્ટજી છે. તેમ અમારી પાસે એક પ્રાચીન પ્રતિ ઉપરથી માલૂમ પડે છે. તેમના પિતૃચરણનું નામ રામચન્દ્રભટ્ટ છે, તે શ્રીયુત-તેલીવાળાએ મુદ્રિત તામસફલપ્રકરણ સુબોધિનીજીમાં આ ગ્રન્થની તદ્વિભાગની દશ બાર પંક્તિ મુદ્રિત કરી છે.

તે ઉપરથી પિતૃનામ જણાય છે. આ ગ્રન્થકાર ક્યારે થઇ ગયા તે માટે હું જાતે અમદાવાદના શ્રીગોવર્ધનલાલજી કે જેઓ ગોષ્ઠીશાલ અવટંકના છે, તેમને મળ્યો, પરંતુ તેમને પણ સ્વવંશની નામાવલી યથાસ્થિત ઉપસ્થિત નહિ હોવાથી નિશ્ચય ન કરી શક્યા, મારી પાસે પ્રાચીન પુસ્તક છે. તે સંવત્ ૧૮૯૩ની શાલનું ઉતરાવેલું છે. તેથી પણ લગભગ શત વર્ષ કે તે ઉપરાંતનો કાલ શ્રીઘનશ્યામભટ્ટજીનો હશે, એમ અનુમાય છે, તે ઉપરાન્ત સાધારણ રીતે આ ભટ્ટજી શ્રીતિલકાયિતશ્રીના આશ્રિત હતા એમ શ્રવણાસ્પદ થયું છે. તેથી યદિ શ્રીનાથદ્વારથી કંઇ ઐતિહ્ય હસ્તગત થાય તો નવાઈ નહિ.

ગ્રન્થ મુદ્રણ વખતે ચાર પ્રતિ અમારી પાસે હતી. તેમાં ગ્રન્થદાનપ્રણાલીપ્રમુખ ગો૦ શ્રી ૬ શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજની બે પ્રતિ હતી, એક પ્રતિ આ ગ્રન્થોદ્ધારક ગો૦ શ્રી ૬ શ્રીવ્રજરત્નલાલજી મહારાજની, અને એક પ્રતિ કોટાસ્થની હતી. આ ચાર પ્રતિમાં મુંબઇની એક પ્રતિ અપૂર્ણ હતી, બાકી ત્રણે પૂર્ણ પણ અશુદ્ધ હતી. પરંતુ ચારે પ્રતિ ભેગી થતી ત્યારે એક શુદ્ધ પ્રતિનું કામ કરે છે. ગ્રન્થદાતાનો હું ઋણી છું.

આ ગ્રન્થનો સર્વ વ્યય આપનાર અત્રેના સુરતના પરમભગવદીય શ્રીયુત શેઠ પ્રાણજીવનદાસ ઇચ્છારામ શા. વેરમાવાળાના સ્મરણાર્થે તેમના ચિ. શા. ચુનીલાલ પ્રાણજીવનદાસ. તથા વિઠ્ઠલદાસ પ્રાણજીવનદાસના આર્થિક સાહાય્યથી પ્રકટ થયું છે. આ ગ્રન્થમાં આવી રીતે સોત્સાહ મદદ કરનાર સદ્‌ગૃહસ્થને વૈષ્ણવો અનુસરતાં શીખે તો મહાસભા તરફથી ઉત્તરોત્તર આવું અમોલું સાહિત્ય અવિલંબે પ્રકટ થાય.

આ શુદ્ધાદ્વૈતમહાસભાના કાર્યાલયમાં ગ્રન્થના સંશોધન સમયે અત્રત્ય શ્રીયુત પ્રભુલાલભાઈ હેડમાસ્તર (મ્યુ. પા. નં. ૧) તથા શ્રીયુત ઈશ્વરલાલ મગનલાલ શાહ તથા શ્રીયુત રતિલાલભાઈ અનેક પ્રતિની સહ સંવાદ કરવા વિગેરેમાં આત્મભોગ આપી સાહાય્ય કરે છે. આવી નિઃસ્વાર્થ સેવા બજાવનારનું અનુકરણ સુરતના યુવકો કરે અને સામ્પ્રદાયિક સાહિત્યમાં રસ લેતા થાય એમ અમે ઇચ્છીએ છીએ.

આ ગ્રન્થ નાજુક છે પણ અત્યુપયોગી છે. અશુદ્ધ રહ્યું હોય તો તે જીવદોષ સહજ માની ક્ષમા કરશો.

આવા ભક્તિરસ–લીલાસ્વાદના રહસ્યથી ભરેલા ગ્રન્થો મારે હાથે પ્રકટ કરાવનાર વિદ્યાવિલાસી–ગો૦ શ્રીવ્રજરત્નલાલજીની કૃપાનું મર્મ વિચારી આયાસ શ્રીબાલકૃષ્ણપ્રભુના ચરણકમલમાં અર્પણ કરૂં છું.

શ્રીમદાચાર્યચરણકમલરેણુ–અનુરાગી
ચીમનશાસ્ત્રી
"સાહિત્યભૂષણ" "શુદ્ધાદ્વૈતરત્ન"

વર્ષારંભ,
સંવત્ ૧૯૮૫

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ निबन्धोक्तरीत्या श्रीभागवतशास्त्रस्कन्धार्थप्रकरणाध्याय-विभागसूचिका ।



(श्रीघनश्यामभट्टकृता)

उपक्रमः ।

अथ निबन्धोक्तरीत्या श्रीभागवतीयद्वादशस्कन्धानां प्रकरणाध्यायत्रिभागसूचिका क्रियते । तत्र 'श्रोतव्यः कीर्त्तितव्य' इत्यादिना श्रीभागवते श्रवणादिविषयत्वेन भगवानुक्तः । श्रवणादि तु शब्दस्य सम्भवति, न स्वरूपस्येति भगवल्लीलानां शब्दात्मकत्वात्प्रकाशाश्रयन्यायेन भवद्रूपत्वाच्च तासां श्रवणादि कर्त्तव्यमिति निर्द्धारितं सुबोधिन्यां निबन्धे च । तथा च, लीलानां सर्गादिभेदेन दशविधत्वात्तच्छ्रवणं चाधिकारसाधनापेक्षमिति तृतीयादिदशस्कन्धानां सर्गादिदशलीलानिरूपकत्वम् । तदङ्गत्वेनाधिकारसाधनानां निरूपणीयत्वात्तन्निरूपकत्वेन प्रथमद्वितीययोराधिकारसाधननिरूपकत्वाच्चदुपयोगे लीलानिरूपकत्वम्, तथा च प्रथमस्कन्धेऽधिकारनिरूपणं क्रियते ।

स्कन्धः प्रथमः ।

(प्रथमं प्रकरणम् अ० १—२—३)

तत्रैवं प्रकरणविभागः । अधिकारस्य हीनमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधत्वात्प्रकरणत्रयम् । तत्र हीनाधिकारस्य जिज्ञासुत्वामात्सर्यश्रवणादरत्वरूपश्रोतृगुणश्रुतभागवततत्त्वचातुर्यगुह्यज्ञानवत्त्वरूपवक्तृगुणसापेक्षत्वात्प्रत्यध्यायं श्रोतृवक्त्रेकैकगुणस्य निरूपितत्वाद् अध्यायत्रयेण हीनाधिकारप्रकरणनिरूपणम् ।

(द्वितीयं प्रकरणम्, अ० ४—५—६)

एवं मध्यमाधिकारस्य भगवत्कृपाभगवदीयत्वभगवदेकत्वरूपश्रोतृवक्तृगुणत्रयसापेक्षत्वात्प्रत्यध्यायमेकैकगुणस्य निरूपितत्वादध्यायत्रयेण मध्यमाधिकारप्रकरणनिरूपणम् ।

(प्र० तृतीयम्, सप्तमाध्यायादारभ्य एकोनविंशाध्यायपर्यन्तम् ।)

एवं उत्तमाधिकारस्य दृढवैराग्यापेक्षत्वाद् वैराग्यस्य भगवदेकतानत्वरूपस्यैव दृढत्वाद्भगवतश्च पुरुषोत्तमरूपत्वात्तदेकतानताद्योतकद्वादशाङ्गपुरुषाधेक्यज्ञातनार्थं त्रयोदशाध्यायेनोत्तमाधिकारप्रकरणनिरूपणम् । एवं प्रथमस्कन्धनिरूपणे एकोनविंशत्यध्यायाः ।

स्कन्धो द्वितीयः ।

(प्र० प्रथमम्, अ० १—२)

अतः परं द्वितीयस्कन्धे साधननिरूपणं क्रियते । तत्र एवं प्रकरणविभागः । तत्र साधनस्य तत्त्वध्यानहृत्प्रसादमननभेदेन त्रिविधत्वात्प्रकरणत्रयम् । तत्र तत्त्वध्यानस्य स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधत्वादध्यायद्वयेन निरूपणम् ।

(प्र० द्वितीयम्, अ० ३–४)

हृत्प्रसादस्यापि श्रद्धारूपत्वात् श्रद्धायाः श्रोतृवक्तृभेदेन द्विविधत्वादध्यायद्वयेन हृत्प्रसादप्रकरणनिरूपणम् ।

(प्र० तृतीयम्, अ० ५–६–७–८–९–१०)

मननस्योत्पत्त्युपपत्तिभेदेन द्विविधत्वादुत्पत्त्या अपि "अनित्ये जननमि"तिवाक्योक्तरीत्या त्रिविधत्वादुपपत्त्या अपि आशङ्कोत्तरफलभेदेन त्रिविधत्वात् षड्भिरध्यायैर्मननप्रकरणनिरूपणम् । एवं द्वितीयस्कन्धनिरूपणे दशाध्यायाः ।

स्कन्धस्तृतीयः ।

(प्र० प्रथमम्, अ० १–२–३–४–५–६)

अतः परं साधने श्रवणाधिकारे सिद्धे श्रवणादिरूपाणां लीलानां तृतीयादिदशस्कन्धैर्निरूपणं क्रियते । तत्र तृतीयस्कन्धे सर्गनिरूपणं क्रियते । सर्गस्य द्विविधत्वाल्लौकिकालौकिकभेदेन उभयरूपस्यापि त्रयस्त्रिंशत्प्रकारकत्वात् त्रयस्त्रिंशाध्यायैर्निरूपणम् । अलौकिकसर्गस्य त्रयस्त्रिंशद्विधत्वं वेदे बृहदारण्ये उक्तम् । 'त्रयस्त्रिंशद्देवाः, अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशास्ते एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशावि'ति । (बृ. ३–९–२) लौकिकसर्गस्यापि अष्टाविंशतितत्त्वानि चतुर्विधभूतबीजानि कालश्चेत्येवं त्रयस्त्रिंशद्विधत्वम् । तत्रैवं प्रकरणविभागः शुकमतानुसारेण । गुणातीतसृष्टिः सगुणसृष्टिः कालसृष्टिः तत्त्वसृष्टिः जीवसृष्टिः, एवं (नामाभिन्नतत्त्वसृष्टिभेदेन) पञ्चप्रकारस्य सर्गस्य बन्धमोक्षभेदेन द्विविधत्वाद्दशप्रकरणानि । तत्र गुणातीतप्रकारेण षडध्यायाः गुणातीतसर्गस्य तत्त्वकार्यभेदेन द्विविधत्वात्तस्य चात्र साधिकारनिरूपणेनोत्तमोत्तमाधिकारस्य प्रतिबन्धनिवृत्तिशुद्धितीर्थाटनश्रवणासक्तिभेदेन चतुर्विधत्वात् ।

(प्र० द्वितीयम्, अ० ७–८–९)

सगुणसृष्टिप्रकरणेऽध्यायत्रयम्, तस्य सात्विकादिभेदेन त्रिविधत्वात् ।

(प्र० ३, अ० १०-११)

कालसृष्टिप्रकरणेऽध्यायद्वयं, स्थूलसूक्ष्मभेदेन कालस्य द्विविधत्वात् । तत्र तत्त्वानाम् अमुक्तजीवानां कालाधीनत्वात् कालप्रकरणान्तर्गतत्वेनैव निरूपणम् ।

(प्र० ४, अ० १२)

ततो मुक्तजीवसृष्टिनिरूपणम् एकेनाध्यायेन ।

(प्र० ५ अ० १३-१४-१५-१६-१७-१८-१९)

ततो मुक्तजीवसृष्ट्युपोद्धातनिरूपणम् सप्तभिरध्यायैः क्रियते । एवं एकोनविंशाध्यायैः पञ्चधा बन्धप्रकारेण सृष्टिनिरूपणम् ।

प्र० ६ अ० २०-२१-२२-२३-२४

तत एकेन मोक्षोपोद्धातः, चतुर्भिः पुम्मुक्तिः । एवं पञ्चभिस्तत्त्वमुक्तिप्रकरणम् । त्यक्तानां तत्त्वानां स्वस्वरूपापादकत्वात्तेषां मुक्तिरूपा ।

(प्र० ७, अ० २५)

तत एकेन मुख्यभक्तिनिरूपणम् । सा कालस्य मुक्तिलीलाप्रकरणम् । (गुणातीतस्य) तदधीनस्य वा भक्त्यैव मोक्ष इतिबोधिका ।

(प्र० ८, अ० २६-२७)

ततोऽध्यायद्वयेन ज्ञाननिरूपणम् । सा गुणातीतमुक्तिलीलाप्रकरणम् । " मेनेऽसन्तामिवात्मानमि"त्याकारकाज्ञाननिवृत्तिरूपा ।

(प्र० ९, अ० २८)

तत एकेन योगनिरूपणम् । सगुणस्य मुक्तिलीलाप्रकरणम् । सगुणो हि तेन तेन भावेन सृजन् भयादि प्राप्नोति, तद्भावत्यागे स्वरूपेऽवतिष्ठते । तत्र चित्तवृत्तिनिरोधस्यैव कारणत्वाद्योगनिरूपणरूपात्तस्य मुक्तिलीलेति ।

(प्र० १०, अ० २९-३०-३१-३२-३३)

तत एकेन योगशेषभूतभक्तिनिरूपणम् । ततो द्वाभ्यां वैराग्यं, जीवस्य मुक्तिलीलाप्रकरणम् । ततो द्वाभ्यां स्त्रीमुक्तिः, तस्याः पूर्वाङ्गत्वात् पूर्वप्रकारेण जीवमुक्तिप्रकरणे अन्तर्भावः ।

एवं चतुर्दशभिर्मोक्षप्रकारेण सर्गनिरूपणम् । एवं दशप्रकरणानि भवन्ति ।

---

१ " प्रकरणे " पाठः ।

मैत्रेयमतानुसारेणैवं प्रकरणविभागः। अधिकारप्रकरणं, सृष्टिप्रकरणं, उपपत्तिप्रकरणं, फलप्रकरणम्। तत्र सृष्टेः पञ्चविधत्वं गुणातीतसगुणकालतत्त्वजीवभेदेन। उपपत्तिर्द्विधा, बन्धमोक्षभेदेन। फलं मुक्तिः। सा त्रिधा, भक्तिसाङ्ख्ययोगभेदेन। एवं दशधा विभागः। अधिकारेण सह सृष्टिनिरूपणे पूर्ववदेवाध्यायनिरूपणम्। द्वादशाध्यायपर्यन्तं पञ्चधा सृष्टिनिरूपणम्। एवमेकेन मोक्षोपपत्तिः। ततः सप्तभिर्बन्धोपपत्तिः। एवं अष्टभिर्द्विधा उपपत्तिः। ततश्चतुर्भिः पुम्मुक्तिः, साङ्ख्यफलरूपभक्त्यङ्गभूता। तत एकेन सफला मुक्तिः। ततो द्वाभ्यां साङ्ख्यं, ततो द्वाभ्यां योगः, ततश्चतुर्भिर्वैराग्यसर्वनिर्द्धारौ सर्वशेषौ योगफलभूता देवहूतिमुक्तिश्चेति प्रकरणत्रयं, दशभेदाः। शुकाभिप्रायेण स्थूलविचारे पञ्च प्रकरणानि। सूक्ष्मविचारे दश। मैत्रेयाभिप्रायेण स्थूले चतुष्टयं, सूक्ष्मे दश, एवं द्विभेदः। एवं तृतीयस्कन्धे प्रकरणविभागो निरूपितः।

स्कन्धश्चतुर्थः।

अतः परं चतुर्थस्कन्धे विसर्गनिरूपणं क्रियते।

तत्रालौकिकविसर्गस्यैकत्रिंशद्देवतात्मकत्वात् तन्निरूपणे एकत्रिंशदध्यायाः। द्वादशादित्यैकादशरुद्राष्टवसूनां निरूपकत्वात्। तत्र भगवन्माहात्म्यज्ञापकत्वस्य विसर्गलक्षणत्वा"द्विसर्गः पौरुषः स्मृत" इतिवाक्यात्। माहात्म्यज्ञापनं च पुरुषार्थचतुष्टयदानेन सम्यग्भवतीतिधर्मार्थकाममोक्षरूपपुमर्थचतुष्टयनिरूपणेन चत्वारि प्रकरणानि।

प्र० १ अ० १. २. ३. ४. ५. ६. ७.

तत्र दक्षस्य धर्मसिद्धिः। धर्मस्याग्निष्टोमउक्थषोडश्यतिरात्राप्तोर्यामवाजपेयभेदेन सप्तसंस्थत्वात् सप्तभिरध्यायैर्धर्मप्रकरणनिरूपणम्।

प्र० २ अ० ८. ९. १०. ११. १२.

ध्रुवस्यार्थसिद्धिः, साधनेन साध्येन राज्याङ्गयक्षादिवधरूपदोषेण मनूपदेशेन तन्निवृत्त्या फलप्राप्त्या चेति पञ्चप्रकारेण जातेति पञ्चभिरध्यायैरर्थप्रकरणनिरूपणम्।

प्र० ३ अ० १३ आरभ्य अ० २३ पर्यन्तम्

पृथोः कामसिद्धिः, कामस्यैकादशेन्द्रियजन्यत्वसूचनायैकादशभिरध्यायैः कामप्रकरणनिरूपणम्। तत्र कामेन पृथ्व्याविर्भावसर्वकामस्वकामरूपाणि कामप्रकरणावान्तरप्रकरणानि।

---

१ "मुख्यभक्तिः" पाठः।

प्र० ४ अ० २४ आरभ्य अ० ३१ पर्यन्तम्

प्रचेतसां मोक्षसिद्धिः। मोक्षस्य ब्रह्मभावसायुज्यभेदेन मोक्षस्य द्विविधत्वात्। ब्रह्मभावस्य विद्याकारणकत्वाद् एतस्याः पञ्चपर्वात्मकत्वसूचकाध्यायपञ्चकं ब्रह्मभावनिरूपणे। तत्सिद्धिः प्राचीनबर्हिषदः प्रचेतसां मोक्षाङ्गभूता। सायुज्यस्य साधनप्रसादफलभेदेन प्रचेतसः सुसिद्धत्वात्सायुज्यनिरूपणे अध्यायत्रयम्। एवं अष्टभिरध्यायैर्मोक्षप्रकरणनिरूपणम्। एवं विसर्गनिरूपणे एकत्रिंशदध्याया भवन्ति, प्रकरणचतुष्टयं च।

स्कन्धः पञ्चमः।

अतः परं पञ्चमस्कन्धे स्थानलीलानिरूपणम्।

(पक्षः १) प्र० १ अ० १ आरभ्य २४ पर्यन्तम्

तत्र 'स्थितिर्वैकुण्ठविजय' इतिवाक्याद् विजयस्य स्वाधीनीकरणरूपत्वात्तत्तत्पदार्थमर्यादयैव तत्तत्पदार्थस्थापनं स्थानमित्यर्थो भवति। तथा च, प्राकृतेषु चतुर्विंशतिधा जयः, प्राकृतानां चतुर्विंशतितत्त्वात्मकत्वात्।

(पक्ष. १) प्रकरणम् २ अ० २५. २६

आत्मनि च द्वेधा जीवब्रह्मभेदेन द्विविधत्वात्। एवं स्थाननिरूपणे षड्विंशत्यध्याया भवन्ति।

(प्र० १ अ० १ आरभ्य ६ पर्यन्तम्)

स्थीयतेऽस्मिन्निति योगेन स्थानपदार्थग्रहणेपि देशस्य लोकत्रयात्मकत्वेन त्रिविधत्वम्। द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असौ आदित्यश्चेत्येकविंशः काल इति आत्मा द्विविध इति षड्विंशाध्यायैर्निरूपणम्। अस्मिन्पक्षे त्रिष्वपि युगपत् स्थितिर्भगवतैव कर्तुं शक्येति स्थानस्य भगवल्लीलात्वम्। तत्रैवं प्रकरणविभागः। स्थूलविचारे प्रकरणद्वयम्। स्वरूपस्थितिदेशस्थित्यात्मकम्। तत्रः कृष्णेन स्वरूपस्थितिनिरूपणे षडध्यायाः। कृष्णस्य षड्गुणयुतत्वबोधकयोगेन।

प्र० २ अ. ७ आरभ्य १४ पर्यन्तम्

स्वरूपस्थितिनिरूपणे अष्टाध्यायाः, योगस्याष्टाङ्गत्वबोधकाः।

प्र० ३ अ० १५

ज्ञानेन स्वरूपस्थितिनिरूपणे एकोऽध्यायः। एवं स्वरूपस्थितेः त्रिविधत्वात्पञ्चदशाध्याया भवन्ति स्वरूपस्थितौ।

प्र० ४ अ० १६ आरभ्य २० पर्यन्तम्

देशस्य भूर्भुवःस्वरितित्रिविधभेदेन त्रिविधत्वात्तत्रावान्तरप्रकरणत्रयम् । तत्र भूमौ पञ्चभूतप्राधान्यात्तन्निरूपणे पञ्चाध्यायाः ।

प्र० ६ अ० २१. २२. २३

भुवर्लोके त्रिगुणप्राधान्यात्तन्निरूपणेध्यायत्रयम् ।

प्र० ६ अ० २४. २५. २६

स्वर्लोकेपि त्रिगुणप्राधान्याद् अध्यायत्रयम् । एवं देशस्थितौ एकादशाध्याया भवन्ति । एवं स्वरूपस्थितिदेशस्थित्योः प्रत्येकं त्रिविधत्वात्सूक्ष्मविचारे षट्प्रकरणानि भवन्ति । एवं षड्विंशतिभिरध्यायैः स्थानलीलानिरूपणम् ।

———

स्कन्धः षष्ठः

प्र० १	प्र० २	प्र० ३
अ० ३	अ० १४	अ० २
नाम	ध्यानम्	अर्चनम्

अतःपरं षष्ठस्कन्धे पुष्टिलीलानिरूपणम् ।

"तत्र पोषणं तदनुग्रह" इतिवाक्यात् । कालादिबाधकोनुग्रहापरनामा (वीर्यविशेषरूपो) भगवद्धर्मः पुष्टिरिति सिद्धम् । तत्रैवं प्रकरणविभागः । नामध्यानार्चनभेदेन प्रकरणत्रयम्, नामादीनां तत्र व्यापाररूपत्वात् । तत्र श्रवणकीर्त्तनस्मरणभेदेन नाम्नस्त्रिविधत्वान्नामप्रकरणे अध्यायत्रयम् । ध्याने रूपस्यैव मुख्यत्वात्, रूपस्य चतुर्दशगुणत्वात् । तत्त्वं तु "रूपेण मोक्षद" (भा० नि०) इत्यादिकारिकाभिर्निबन्धे उक्तत्वात् ज्ञेयम् । तस्माच्चतुर्दशभिरध्यायैः ध्यानप्रकरणनिरूपणम् । अर्चनस्य बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधत्वादध्यायद्वयेन तदर्चनप्रकरणनिरूपणम् । एवमेकोनविंशत्यध्यायाः पुष्टिलीलानिरूपणे भवन्ति । पुष्टेः कर्मकालस्वभावबाधकत्वात्, कर्मण 'अधिष्ठानं तथा कर्त्ते'तिवाक्यात्पञ्चविधत्वात्, कालस्य द्वादशमासात्मकत्वात् स्वभावस्य देवासुरभेदेन द्विविधत्वात्तद्बाधकत्वद्योतकत्वात्पुष्टेरेकोनविंशप्रकारकत्वादेकोनविंशत्या निरूपणम् । एवं स्कन्धार्थविचारे एकोनविंशत्यध्यायाः । प्रकरणार्थविचारे नामादिभेदेन एकोनविंशत्यध्यायाः ।

———

स्कन्धः सप्तमः ।

प्र० १	प्र० २	प्र० ३
अ० ५	अ० ५	अ० ५
असद्वासना	सद्वासना	मिश्रवासना

अतः परं सप्तमस्कन्धे ऊतिलीलानिरूपणं क्रियते। 'तत्र ऊतयः कर्मवासना' इतिवाक्यात्कर्मवासना निरूप्यन्ते । पुष्टौ पक्षपातकरणरूपं वैषम्यदोषपरिहाराय स्वकृत-मर्यादानुसारेण वासनानुरूपफलदानमिति बोधनाय कर्मवासनानिरूपणम्। तत्र कर्मण आध्यात्मिकादिभेदेन त्रिविधत्वात्पुनः प्रत्येकं कर्मणोऽविद्याजन्यत्वात्तस्याः पञ्चपर्वरूप-त्वात्पञ्चविधत्वम्, अथवा 'अधिष्ठानं तथा कर्त्ते'तिवाक्यात्पञ्चविधत्वम् । एवं आध्या-त्मिकादित्रिष्वपि पक्षेषु प्रत्येकं पञ्चविधत्वात्पञ्चदशविधत्वम् । वासनानामपि कर्मजन्य-त्वात्पञ्चदशविधत्वम् । एवं वासनानिरूपणे पञ्चदशाध्याया भवन्ति स्कन्धार्थविचारे ।

तत्रैवं प्रकरणविभागः । अध्यायपञ्चकेन असद्वासनाप्रकरणनिरूपणम् । पञ्चभि-रेवाध्यायैः सद्वासनाप्रकरणनिरूपणम् । पञ्चभिरेव मिश्रवासनाप्रकरणनिरूपणम् । एवं प्रकरणार्थविचारे पञ्चदशाध्याया भवन्ति। ऊतिलीलानिरूपणं प्रकरणत्रयं च।

स्कन्धोष्टमः ।

अतःपरमष्टमस्कन्धे मन्वन्तरलीला निरूप्यते। तत्र "मन्वन्तराणि सद्धर्म" इतिवाक्यात् मन्वन्तरधर्मप्रवर्त्तकत्वेन सद्धर्मनिरूपकत्वम् । पूर्वं निरूपितवासनादाहार्थं सद्धर्मनिरूपणम् । प्राकृतो गणश्चतुर्विंशतिक इति तत्रोत्पन्नास्ते तत्रत्यां वासनां सर्वथा नाशयन्त्येवेति द्योतनाय सद्धर्मनिरूपणे चतुर्विंशत्यध्याया भवन्ति स्कन्धार्थविचारे ।

तत्रैवं प्रकरणविभागः । त्रयाणां महद्धर्मत्वादापत्सु हरिसंस्मरणम् । सम्पत्सु सर्वदानानि स्वोक्तनिर्वाहश्चेति त्रयाणां मुख्यत्वात्प्रकरणत्रयम् । त्रितयधर्मवक्तृत्वेन भगवतो मत्स्यावतारचरित्रनिरूपणमिति प्रकरणचतुष्टयं भवति । तत्र हरिसंस्मर-णस्य पुमर्थचतुष्टयदातृत्वात्तन्निरूपणं चतुर्भिरध्यायैः क्रियते । दानस्य कर्त्तुः पात्रस्य च त्रिगुणत्वात् गुणानां मिश्रणेन नवविधत्वाद् गुणातीतस्य एकविधत्वात् स-गुणनिर्गुणभेदेन दानस्य दशविधत्वात्तन्निरूपणं दशभिरध्यायैः क्रियते। स्वोक्तनि-र्वाहप्रकरणेपि बलिप्रकरणे दानस्य साधनत्वेन प्रविष्टत्वाद्दानस्य सगुणस्य नवविधत्वात् स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणनिरूपणं नवभिरध्यायैः क्रियते। पूर्वप्रकरणे दानस्यैव मुख्य-त्वेन निरूपणादत्र च साधनत्वेन दानस्य निरूपणान्मुख्यत्वेन सत्यवाक्यस्य निरूपणात्

प्रतिपाद्यभेदात् प्रकरणभेद इति बोध्यम् । धर्मवक्तुर्भगवतो मत्स्यस्यैकविधत्वाच्च-चरित्रनिरूपणमेकेनाध्यायेन क्रियते ।

स्कन्धोष्टमः ।

प्र० १	प्र० १	प्र० ३	प्र० ४
अ० ४	अ० १०	अ० ९	अ० १
हरिस्मरणम्	दाता	स्वोक्तनिर्वाहः	मत्स्यावतारः

एवं सद्धर्मनिरूपणे चतुर्विंशत्यध्याया भवन्ति । प्रकरणचतुष्टयं च ।

स्कन्धो नवमः ।

एवं सद्धर्मैर्वासनादाढ्ये भगवति शुद्धायां वासनायां स्वतो जातायां भक्तिः कर्त्तव्येति नवमे ईशानुकथारूपा भक्तिर्निरूप्यते । तत्र अवतारानुचरितं 'हरेरस्यानुवर्तिनामि'त्यस्मिन्वाक्ये 'हरि'तिपदेन दुःखदूरीकरणस्याभिप्रेतत्वाद् दुःखदूरीकरणं सुखप्रापणम् चाभिप्रेतम् । तत्र दुःखस्य नवधा गुणभेदेन भिन्नस्य निवारणाय तदनुवर्त्तिनो गुणैर्नवविधाः अविद्यालक्षणदुःखनिवारकाः ज्ञानेनैकविधाः । चरित्रं ज्ञान-कर्मभक्तिभेदेन[1] त्रिविधम् । एवं दुःखनिवारणे त्रयोदशाध्यायाः । सुखप्रापणे दशेन्द्रिय-सुखदत्वादनुवर्तिनो दशविधा एकश्च भगवानित्येकादशाध्यायाः । एवमीशानुकथायां चतुर्विंशत्यध्यायाः भवन्ति स्कन्धार्थविचारे ।

तत्रैवं प्रकरणविभागः । अत्र प्रकरणद्वयम्, सूर्यवंशप्रकरणं चन्द्रवंशप्रकरणं चेति । सूर्यवंशे द्वादशात्मनो भगवतः प्राकट्याद्वंशबीजभूतसूर्यस्यापि द्वादशात्मकत्वाद् द्वादशाध्यायैः सूर्यवंशनिरूपणम् । चन्द्रवंशस्यापि ततो जघन्यत्वाभावबोधनाय द्वादशभिरेवाध्यायैस्तन्निरूपणम् । स्कन्धप्रथमाध्याये चन्द्रवंशबीजभूतपुरूरवसो निरूपितत्वात्तस्याध्यायस्य मुख्यतया चन्द्रवंशाङ्गत्वाद् द्वादशाध्याया भवन्ति चन्द्रवंशनिरूपणे । अथवा, पूर्वोक्तप्रकारेण सूर्यवंशनिरूपणे त्रयोदशाः, चन्द्रवंशनिरूपणे एकादशेति स्फुटम् ।

एवम् ईशानुकथानिरूपणे चतुर्विंशत्यध्यायाः प्रकरणद्वयञ्च ।

स्कन्धो नवमः ।

प्र० १	प्र० २
अ० १३ अथवा, १२	अ० ११ अथवा, १२
(सूर्यवंशः)	(चंद्रवंशः)

१ "कर्मभक्तिज्ञानभेदेन" पाठः ।

स्कन्धो दशमः ।

प्रक० १ अ० १. २. ३. ४.

अथ निबन्धोक्तदशमस्कन्धीयप्रकरणाध्यायविभागो लिख्यते । तत्र 'प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका कृष्णासक्तिः निरोध' इति सिद्धान्तितमिति. निरोधे कारणं भगवत्प्राकट्यम् । तस्मात्प्रथमं जन्मप्रकरणम् । तत्राध्यायचतुष्टयात्मकं चतुर्मूर्त्तेर्भगवतः प्राकट्यकथनात्, वासुदेवादिव्यूहानां प्रत्यध्यायं प्रादुर्भावकथनात् । भक्तदुःखस्य भगवत्प्राकट्ये हेतुत्वात् हेतुता प्रथमाध्यायार्थः । उद्यमो द्वितीयाध्यायार्थः । रूपान्तरस्वीकरणं तृतीयाध्यायार्थः । मायया नाट्यं चतुर्थाध्यायार्थः । एवमध्यायचतुष्टयार्थस्य जन्माङ्गत्वात् प्रकरणार्थे जन्मन्यनुस्यूतत्वं भविष्यति । एवमध्यायचतुष्टयेन जन्मप्रकरणं निरूपितम् ।

प्रक० २ अ० ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११.

अतः परं व्यूहत्रयसहितपुरुषोत्तमप्राकट्यस्य मथुरायां साधितत्वात् केवलस्य वासुदेवमायासाहित्येन प्राकट्यस्य श्रीगोकुले साधितत्वात् प्रादुर्भावानन्तरं निरोधः कर्त्तव्य इति निरोध्यभक्तानां तामसादिभेदेन त्रिविधत्वात्तामसानां निरोधः प्रमाणप्रमेयसाधनफलद्वारा कार्यः । तत्र प्रमाणेन निरोधे सप्ताध्यायाः । अत्र प्रत्यध्यायं भगवच्चरित्रे श्रीनन्दादिभिः प्रमाणान्वेषणमेव कृतमिति प्रमाणस्यैव मुख्यत्वादस्य प्रकरणस्य प्रमाणाख्या । तत्रैश्वर्यादिषट्धर्मान्यतमधर्माधिक्यप्रकटनेन यत्र निरोधः स एव तस्यार्थ इत्यध्यायषट्के ऐश्वर्यादिधर्मनिरूपणम् । सप्तमाध्याये ऐश्वर्यादिषट्धर्मसहितधर्मिणैव निरोध इति तन्निरूपणमेवाध्यायार्थः । तत्र प्रथमाध्याये ऐश्वर्यं स्पष्टम् । द्वितीयाध्याये पूतनामारणरूपं वीर्यं स्पष्टम् । तृतीयाध्याये शकटादीनां निवर्त्तकत्वं यश एव । आधारोत्कर्षाधायकसर्वजनाह्लादकत्वस्य यशोरूपत्वात्, तत्तृतीये स्पष्टम् । चतुर्थे श्रीः स्पष्टैव, नामलीलाया रिङ्गणलीलायाश्च सर्वापन्निवारकत्वात् । तत्तु गर्गवाक्ये 'अनेन सर्वदुर्गाणी'त्यादौ स्पष्टमेवोक्तम् । पञ्चमेऽध्याये ज्ञानं स्पष्टमेव । 'न चान्तर्न बहिर्यस्ये'तिदामोदरलीलायां बन्धनेन बोधितं ब्रह्मत्वज्ञानम् । षष्ठे वैराग्यं, यमलार्जुनयोर्मुक्तिदानेन स्वेतरः विषयानासक्त्युत्पादनस्यैव वैराग्यकार्यत्वात् । सप्तमे षट्धर्मसहितधर्मिनिरूपणं स्पष्टमेव । एवं प्रमाणप्रकरणे प्रमाणद्वारा पुरुषाणां श्रीनन्दादीनां निरोधः सिद्धः स्नेहरूपः सर्वतोधिकः ।

अतः प्रमाणद्वारासिद्धे प्रमेये बालरूपे भगवति नन्दपुत्रे तत्तदमानुषलीलाकर्त्तृत्वं निश्चितमिति सकलदुःखनिवारणमाहात्म्यद्वारा भगवति स्नेहो जातः ।

प्र० ३ अ० १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८.

अधुना प्रमेयमाहात्म्यद्वारैव श्रीमातृचरणादीनामासक्तिरूपो निरोधः सिद्धो भविष्यतीति प्रमेयत्वमस्य प्रकरणस्य । अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः षडध्यायाः षट्धर्मनिरूपकाः, सप्तमाध्यायश्च धर्मिनिरूपकः । तत्र प्रथमेऽध्याये ऐश्वर्यनिरूपणं 'तं गोरजश्छुरिते'ति श्लोकद्वयेन स्फुटम् । ततो द्वितीये कालीयदमने वीर्यं स्फुटम् । ततस्तृतीये 'कृष्णं ह्रदाद्विनिष्क्रान्तमि'ति अत्राभीष्टदानेन यशः स्फुटमेव । ततश्चतुर्थे प्रलम्बवधेन कालदुःखनिवारणात् श्रीरेव । ततः पञ्चमे दावाग्निपानमाहात्म्यद्वारा स्वरूपज्ञानसम्पादनं ज्ञानकार्यम् । ततः षष्ठे वर्षाशरदृतुवर्णने कालस्यैव मुख्यत्वबोधनात् स्वस्य ताटस्थ्याद्वैराग्यभावः । सप्तमेध्याये 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इति श्रुतिनिरूपितब्रह्मत्वस्य स्फुटीकरणाद्वेणुगीतनिरूपणेन धर्मिनिरूपणं स्फुटमेव । एवं सप्तभिरध्यायैः प्रमेयप्रकरणनिरूपणं कृतम्, प्रमेयद्वारा आसक्तिरूपो निरोधः सिद्धोत्र स्त्रीणां तत्तदधिकारानुसारेण ।

प्र० ४ अ० १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५

अतः परं व्यसनसिद्ध्यर्थं साधनकृतिद्वारा कुमारिकादीनां निरोधसिद्धिं वक्तुं साधनप्रकरणारम्भः । साधनकृतिद्वारा निरोधसिद्ध्याऽस्य प्रकरणस्य साधनत्वम् । दैहिकसकलधर्मत्यागपूर्वकभगवत्प्राप्त्यर्थं लौकिकवैदिककरणं व्यसनम् । अत्रापि पूर्ववदेव सप्ताध्यायाः । तत्र प्रथमे कुमारिकाभ्यो व्रतवरदानम् ईश्वरधर्म इति ऐश्वर्यनिरूपणं स्पष्टमेव । द्वितीये यज्ञपत्नीप्रसङ्गे च माहात्म्यनिरूपणं वीर्यकार्यमेवेति वीर्यनिरूपणं स्पष्टमेव । बोधनादिना वीर्येण लीला बोध्या । तृतीये वैष्णवयागकरणाद्यशोनिरूपणं स्पष्टमेव । चतुर्थे गोवर्धनोद्धरणं श्रीकार्यम्, सर्वापन्निवारकत्वात् । पञ्चमे आशङ्कानिवारणं 'गर्गो मे यदुवाच ह' (१०-२३-१५) इत्यादिना कृतं स्पष्टमेव ज्ञानकार्यम् । षष्ठे इन्द्रमदत्याजनं स्पष्टमेव वैराग्यकार्यम् । सप्तमे गोकुलनिवासिनां वैकुण्ठप्राप्तिस्तत उद्धृतिश्च भजनानन्ददानार्थमिति स्फुटमेव धर्मिकार्यम् । एवं साधनप्रकरणे साधनप्रकरणद्वारा कुमारिकादीनां व्यसनरूपो निरोधः सिद्धः ।

अतः परं साधने कृते भक्त्युद्रेकानन्तरं प्राप्यषड्गुणयुतपूर्णभगवद्रूपकफलनिरूपणादस्य फलप्रकरणत्वम् ।

प्र० ५ अ० २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२.

अत्रापि सप्तभिरध्यायैर्निरूपणम् । क्रमस्तु ऐश्वर्यादीनां न विवक्षितः, पुष्टिफलत्वात् क्रमातिक्रमो न दोषाय । किन्तु, मध्ये भोगे सुखविशेषोपि । अत्र रमणरूपं फलं

देयमिति रमणस्य रूपनामविभेदेन द्विरूपत्वात्। रूपेण रमणे पञ्चाध्यायाः। आत्ममन-इन्द्रियप्राणशरीरात्मकत्वाद् रूपस्य। नाम्ना रमणेध्यायद्वयम्, शब्दस्य प्रवृत्तिनिवृत्ति-भेदेन द्विरूपत्वात्। तत्र प्रथमेध्याये ऐश्वर्यनिरूपणम्, ऐश्वर्यं नाम स्वातन्त्र्यम्। कर्तुमकर्तु-मन्यथाकर्तुं सामर्थ्यमिति यावत्। तत्र नादद्वाराऽऽह्वानं कृत्वा वाक्यद्वारा गृहगमनाय प्रेरणं कर्तुं सामर्थ्यरूपमैश्वर्यम्। भगवद्वाक्येन गृहगमनं न कृतमित्यपि भगवतोऽकर्तुं सामर्थ्यरूपमैश्वर्यम्। तदनन्तरं गर्वे अन्तर्धानम् इति अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यरूपमैश्वर्यम्। एवं प्रथमे विविधमैश्वर्यं स्फुटम्। द्वितीये 'परोक्षेपि रतिं चक्रे' इतिवीर्यम्। तृतीये स्तुतिवचनैर्यशः स्फुटमेव। चतुर्थे प्रादुर्भावनिरूपणेन श्रीः स्पष्टैव। तदनन्तरं धर्मिनिरूपणं पञ्चमे। अत्र प्रादुर्भावरूपश्रीनिरूपणानन्तरं रमणस्यावश्यकत्वाद्वैराग्यज्ञानयोस्तु रमण-प्रतिबन्धकत्वात्पूर्वमनिरूपणम्। पुष्टिमार्गीयवैराग्यस्य भगवदितरत्यागरूपत्वाद् भगवत्स्व-रूपफलप्राप्त्यनन्तरमेव भगवत्गुणमहत्वज्ञानेन भगवदितरत्यागसम्भवात्। पुष्टिमार्गीयज्ञा-नस्यापि गुणगानरूपत्वात् प्रादुर्भावदशायां तस्यासम्भवात्। संयोगान्तरायविरहदशायामेव सम्भवात् पूर्वमनिरूपणम्। षष्ठे वैराग्यनिरूपणं स्पष्टमेवान्याश्रयनिवृत्तिरूपम्। ततो ज्ञान-निरूपणं सप्तमे स्पष्टमेव विरहदशायाम्। एवं सप्तभिरध्यायैः फलप्रकरणं निरूपि-तम्। एवं अष्टाविंशतिभिरध्यायैः प्रमाणप्रमेयसाधनफलनिरूपणद्वारा तामसभक्तानां गोकुलस्थानां फलपर्यन्तं निरोधः सिद्धः।

प्र० ६ अ० ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९.

अतः परं राजसभक्तानां निरोधकरणार्थं राजसप्रकरणारम्भः।

अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः। प्रमाणप्रमेयसाधनफलद्वारा निरोधः कर्त्तव्य इति सप्त-भिरध्यायैः प्रमाणप्रकरणमुच्यते। अत्रापि षडध्यायाः षड्धर्मनिरूपकाः सप्तमश्च धर्मि-निरूपकः। प्रमाणान्वेषणद्वारा भगवच्चरित्रे भगवति च बुद्धिः सिद्धाऽतोस्य प्रमाणत्वम्। तत्र प्रथमेध्याये भगवतः स्वतन्त्रतानिरूपणादैश्वर्यं स्पष्टमेव। द्वितीये दुष्टमारणाद् वीर्यं स्फुटमेव। तृतीयेऽक्रूरस्य व्रजगमने भगवन्माहात्म्यज्ञानाद्यशःकार्यं स्पष्टमेव। चतुर्थे भक्तानां विरहोद्बोधकत्वात्तत्रान्तःकरणे भगवत्प्रादुर्भावरूपं श्रीकार्यं स्फुटमेव। प्राणगमनरू-पापन्निवारकत्वात् पञ्चमे ज्ञानकार्यं स्फुटमेव। षष्ठे अक्रूरस्य गृहप्रेषणेनोपेक्षारूपत्वाद्वै-राग्यकार्यं स्फुटमेव। सप्तमे धनुर्भङ्गकरणादिना धर्मिकार्यं स्फुटम्। एवं प्रमाणद्वारा-वसुदेवपुत्रत्वब्रह्मत्वादिकं यादवानां प्रमितिविषयीकृतम्।

प्र० ७ अ० ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६.

अतः परं प्रमाणैः प्रमितिविषयीभूतप्रमेयरूपभगवद्बलबोधकत्वात् प्रमेयप्रकरणत्व-मस्य। अत्रापि सप्तभिरध्यायैर्निरूपणम्। षडध्याया धर्मनिरूपकाः सप्तमश्च धर्मिनिरू-

पकः। तत्र प्रथमे कुवलयापीडवधरूपमैश्वर्यम्। द्वितीये चाणूरादिवधकंसवधरूपं वीर्यम्। तृतीये उग्रसेनाय राज्यदानं यशः। चतुर्थे गोकुलस्थापन्निवारकोद्योगरूपं श्रीकार्यम्। पञ्चमे 'भवतीनां वियोगो मे' इत्यादिना ज्ञानकार्यम्। षष्ठे कुब्जाक्रूरादिगृहगमनं भक्तकृपालुत्वरूपं तदतिरिक्तासक्त्यभावरूपं वैराग्यम्। सप्तमे धृतराष्ट्रोऽक्रूरोपदिष्टोऽपि पाण्डवरक्षणं न कृतवान्। इदं भूभारहरणमूलत्वाद् धर्मिकार्यम्।

अत्र पूर्वार्द्धं प्रमेयप्रकरणं च समाप्तम्।

प्र० ८ अ० ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३.

अतः परं दुःखनिवारकत्वेन भगवत्यैकतानत्वमेव साधनम्, तद्द्वारा निरोधः सिद्ध इति साधनत्वमस्य प्रकरणस्य। अत्रापि सप्तभिरध्यायैः पूर्ववदेव निरूपणम्।

तत्र प्रथमे, जरासन्धपलायनादिकमैश्वर्यकार्यमेव द्वारकानिर्माणादि च। द्वितीये, मुचुकुन्दद्वारा यवनहननं साधनमात्रोपदेशद्वारा मुचुकुन्दोद्धारकरणं च वीर्यमेव। तृतीये यशःकार्यं स्फुटमेव, 'श्रुत्वा गुणानि'त्यादिरुक्मिणीस्तुत्या यशोनिरूपकत्वात्। चतुर्थे, रुक्मिण्याहरणेन अन्यसम्बन्धरूपापन्निवारकत्वात् श्रीकार्यम्। पञ्चमे, रुक्मिविरूपकरणानन्तरं श्रीबलदेवद्वारा रुक्मिणीं प्रति ज्ञानोपदेशवाक्यानि ज्ञानकार्यरूपाणि। षष्ठे; प्रद्युम्नदर्शनानन्तरं तत्रैव मनो लग्नं, संसारे च विरक्तं जातमिति वैराग्यम्। सप्तमे; जाम्बुवता युद्धं, मणिदानं, धर्मिकार्यनिरूपणम्, अग्रे स्पष्टम्।

प्र० ९ अ० ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०.

अतः परं फलप्रकरणं तदधिकारिभेदेन तत्तत्फलनिरूपकत्वात् फलत्वमस्य प्रकरणस्य। अत्रापि पूर्ववदेव सप्ताध्यायाः। तत्र प्रथमे, ऐश्वर्यं शतधन्ववधादिकार्यम्। द्वितीये, विश्वकर्मणा नगरनिर्माणं मित्रविन्दाहरणादिकं वीर्यम्। तृतीये, भौमवधानन्तरं भूमिस्तुत्या अभयदानं यश एव। चतुर्थे, भगवतो रुक्मिणीं प्रति परिहासोक्त्यनन्तरं सान्त्वनम्, प्रियत्यागभयरूपापन्निवारकत्वात्। (प्रियत्यागभयेन प्राणगमनरूपापदो निवारकं श्रीकार्यम्)। पञ्चमे, भगवत्पत्न्यः रमणकर्तुर्भगवतो मनो वशीकर्तुं न समर्था इति निरूपणेन ज्ञानम्। षष्ठे, अनिरुद्धबन्धने (नयने) प्रतीकाराकरणं वैराग्यम्। सप्तमे, धर्मिनिरूपणं बाणभुजकृन्तनं वरदानादिना स्पष्टम्। एवमष्टाविंशतिभिरध्यायैः राजसप्रकरणं निरूपितम्।

१ प्रद्युम्नदर्शनानन्तरं शम्बरेण ततोऽपि नीत्वा समुद्रे प्रक्षिप्तेऽपि कामरूपेण सर्वलोकव्यसनहेतुत्वात् सूनोरपि विस्मरणं, तदानयनार्थमुद्यमाभावश्च वैराग्यकार्यम्। (इत्यधिकम्)

प्र० १० अ० ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७.

अतः परं सात्त्विकभक्तानां निरोधार्थं सात्त्विकप्रकरणम्। सात्विकानां प्रमेयसाधनफलद्वारा निरोधः सिद्धः। प्रमाणज्ञानं तु स्वाभाविकमेव। सात्विकानां 'सत्वात्सञ्जायते ज्ञानम्' इतिवाक्यात्। प्रमेयनिरूपणं सप्तभिरध्यायैः क्रियते। अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः। तत्र प्रथमे, नृगमोक्षादिकं ऐश्वर्यकार्यं स्पष्टमेव। द्वितीये, यमुनाकर्षणादिना आवेशितत्वात् स्पष्टमेव वीर्यम्। तृतीये, यशःकार्यं पौण्ड्रकस्य स्ववेशधारकस्यापि मुक्तिदानात् फलकथनात्। चतुर्थे, बलदेवक्रीडा श्रीकार्यम्, रमणेन भक्तानां द्विविदवधेन रूपीणां चापन्निवारकत्वात्। पञ्चमे, गुरूणां स्वरूपज्ञानसम्पादनद्वारा ज्ञानकार्यम्। अग्रे स्पष्टम्। षष्ठे, नारदस्य निर्लिप्ततया लोकशिक्षार्थं गृहस्थधर्माचरणप्रदर्शनं वैराग्यम्। सप्तमें, प्रातरुत्थानादि, स्नानादि, दानादि, सभाप्रवेशराजकार्यकरणादिकं धर्मिकार्यं स्फुटमेव।

प्र० ११ अ० ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४.

अधुना, साधनप्रकरणम्। अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः। साधनमर्यादाबोधकत्वात्साधनत्वमस्य प्रकरणस्य। प्रथमे, सर्वसैन्यसाहित्येन हस्तिनापुरगमनम्, तत्र गतस्य युधिष्ठिरादिभिःपूजादिकरणम् ऐश्वर्यम्। द्वितीये, युधिष्ठिरस्य दिग्विजयादिकम्, भीमद्वारा जरासन्धवधादिकं वीर्यम्। तृतीये, जरासन्धरुद्धराज्ञां मोचनं, तत्कृतस्तुत्या च यशःकार्यम्। चतुर्थे, शिशुपालवधेन तस्य शापरूपापन्निवारकत्वान्मुक्तिदानात् श्रीकार्यम्। पञ्चमे, दुर्योधनस्य जलस्थलभ्रमे भीमादिहास्यं दृष्ट्वा भूभारहरणं भविष्यतीति ज्ञात्वा भगवतस्तूष्णींभावो ज्ञानकार्यम्। षष्ठे, शाल्वयुद्धे प्रद्युम्नस्य सारथिनाऽपसर्पणे कृते युद्धे मरणमधिकं मन्यमानस्य युद्धापसर्पणस्य शरीररक्षाहेतुत्वात्तन्निन्दनेन शरीरादौ विचिकित्सा एव वैराग्यकार्यम्। सप्तमे, शाल्ववधादिना धर्मिकार्यं स्फुटमेव।

प्र० १२ अ० ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१.

अतः परं सात्त्विकानां फलप्रकरणं सप्तभिरध्यायैर्निरूप्यते। अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः। प्रथमे दन्तवक्त्रवधादिचरित्रमैश्वर्यम्। बलदेवेन सूतवधादि, पुनस्तस्य स्थापनं च ब्रह्मशापान्मोचनम् अन्यथाकर्त्तुं सामर्थ्यम्। द्वितीये बल्वलवधादिकं वीर्यम्, आवेशकार्यत्वात्। तृतीये, सुदाम्नो दरिद्रस्य लक्ष्मीसहितेन सत्कारकरणं यश एव। चतुर्थे, एकमुष्टितन्दुलादनमात्रेण सर्वसम्पद्दानं मुक्तिदानं च श्रीकार्यम्। पञ्चमे, कुरुक्षेत्रयात्रायां भक्तान् प्रति रहसि भगवतो ज्ञानोपदेशवा-

क्यानि ज्ञानकार्यम्। षष्ठे, भगवन्महिषीवाक्ये भगवद्दास्यप्रार्थनायां संसारे वैराग्यबोधनं भगवत एव वैराग्यकार्यम्। सप्तमे, भगवद्दर्शनार्थे द्वैपायनादीनाम् ऋषीणामागमनम्, तान्प्रति भगवद्ध्यानादिकं धर्मिकार्यम्।

प्र० १३ अ० ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७.

अतः परं येनैतादृशं चरितं कृतं स कृष्णः परो भगवानिति निरूपयितुं षड्भिरध्यायैर्गुणनिरूपणं क्रियते। तत्र प्रथमे, वसुदेवस्तुतिः, उपदेशदेवकीपुत्रानयनादि ऐश्वर्यम्। द्वितीये वीर्यं द्विविधम्, बुद्धिक्रियाभेदेन। तत्रार्जुनेन सुभद्राहरणादिकं कृतम्, तत्र प्रतिबन्धाभावोऽनिन्द्यत्वं च भगवद्बुद्धिवीर्यम्। श्रुतदेवजनकयोर्भक्तिदानमेककालावच्छेदेनैकस्वरूप एव 'तद्दिदृक्ष्या द्विरूपोऽभूदि'ति क्रिया वीर्यम्, तृतीये श्रुतिगीतायां यशः स्फुटमेव। चतुर्थे श्रीकार्यं शङ्करापन्निवारकत्वात्। पञ्चमे भृगुपरीक्षायां लत्ताप्रहारानन्तरं क्षमैव ज्ञानकार्यम्। षष्ठे, वैराग्यकार्यं स्फुटमेव, स्त्रीभिः सह जलक्रीडायां मनस्तिरोधानं लोकशिक्षार्थमेतावद्गृहस्य धर्माचरणं च वैराग्यम्।

एवं ससाशीतिभिरध्यायैर्दशमस्कन्धप्रकरणविभागः॥

स्कन्ध एकादशः।

अतः परं भक्तिसिद्ध्यनन्तरं स्वरूपाप्तिरूपा मुक्तिर्निरूपणीया, सा चैकादशे निरूप्यते। तत्र प्रकरणविभागः। जीवमुक्तिप्रकरणं ब्रह्ममुक्तिप्रकरणं च। अत्र जीवमुक्तिः ब्रह्ममुक्तिश्च निरूपणीया।

अ० १. २. ३. ४. ५.

जीवन्मुक्तिप्रकरणे ब्रह्मभावप्रकरणम्। तत्र जीवमुक्तिर्द्विविधा, ब्रह्मभावसायुज्यभेदेन, तत्र पूर्वं ब्रह्मभावप्रकरणम्, तस्य पञ्चभिरध्यायैर्निरूपणम्। विद्यया ब्रह्मभाव इति विद्यायाः कारणत्वात्, विद्यायाः पञ्चपर्वाणि निरूपितानि पञ्चस्वध्यायेषु तस्मात्पञ्चैवाध्यायाः ब्रह्मभावप्रकरणे। तत्र प्रथमे, वैराग्यनिरूपणम्, ब्राह्मणशापस्य वैराग्योत्पादकत्वात्। द्वितीये, साङ्ख्यनिरूपणम्, कविवाक्येन 'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्याद् ११-२-३' इत्यादिवाक्येन निराकरणद्वारा भगवद्धर्मबोधनस्य तत्त्वातत्त्वविवेकरूपसाङ्ख्यत्वात्। तृतीये, योगनिरूपणम्, प्रबुद्धवाक्ये गुरूपसत्तिद्वारा भगवद्धर्मशिक्षणं 'सर्वतो मनसोसङ्गमि'त्यादिना . ११-३-२३ चित्तवृत्तिनिरोधरूपयोगस्योक्त-

---

१ "क्षीणा भगवद्विरहे मानसेऽतिविह्वले रूपम्" इत्यधिकम्।

त्वात्। चतुर्थे, नारायणतपोनिरूपणेन अन्यावतारचरित्रनिरूपणेनापि चित्तकषायशोषकरूपतपसो निरूपणम्। पञ्चमे, भगवद्भजनाकर्तृनिन्दयाग्रे भगवद्भजनकरणनिरूपणं भक्तिः। एवं पञ्चपर्वाविद्यासिद्ध्या पञ्चपर्वाऽविद्यानिवृत्त्या ब्रह्मभावरूपमुक्तिसिद्धिः।

सायुज्यप्रकरणम्, अ० ६ मारभ्य २९ पर्यन्तम्।

जीवन्मुक्तिप्रकरणे सायुज्यप्रकरणम्, सायुज्यस्य भक्तिकारणकत्वाद् भक्तिसिद्धौ च तत्त्वातिक्रमस्य कारणत्वात्, तत्त्वानां चतुर्विंशतिसङ्ख्याकत्वात्तदतिक्रमबोधनार्थं चतुर्विंशतिभिरध्यायैः सायुज्यप्रकरणनिरूपणम्। तत्र सायुज्यप्रकरणे प्रथमेऽध्याये मूलप्रकृतिनाशो निरूपितः। ब्रह्माणं प्रति यादवान् प्रति भगवद्वाक्योक्तौ यदुकुलसंहारबोधनेन मनुष्यनाट्यत्यागबोधनेन प्रकृतिनाशस्य प्रतीतत्वात्। द्वितीये 'यदिदमनसे'त्यादिना उद्धवं प्रति निरूपितं पुंसो (युक्तस्य) नानार्थं इत्यादिना भेदस्य भ्रमत्वमुक्तम्। अग्रे 'तस्माद्युक्तेन्द्रियग्राम' इत्यादिनास्माधिकरणकजगदीक्षणनिरूपणेन भेदस्य निराकृतत्वान्महत्तत्त्वस्य भेदमूलत्वात् तन्नाशो निरूपितः। अत्र तत्त्वातिक्रमे क्रमो न विवक्षित इति यस्मिन्यस्मिन्नध्याये यस्य यस्य तत्त्वस्य नाशः प्रतीयते तस्मिन् तस्मिन् अध्याये तत्तत्त्वातिक्रम एवाध्यायार्थो वाच्यः। एवं चतुर्विंशत्यध्यायैः सायुज्यप्रकरणं निरूपितम्।

अग्रे अध्यायद्वयेन ब्रह्ममुक्तिनिरूपणम्। तत्राऽहन्ताममतारूपमनुष्यनाट्यत्यागस्य मोचनरूपत्वान्मुक्तिरूपत्वम्। अहन्ताममतानाशकत्वादस्य प्रकरणस्याध्यायद्वयेन निरूपणम्। एवमेकत्रिंशद्भिरध्यायैरेकादशस्कन्धस्य प्रकरणविभागः कृतः। एकोनत्रिंशद्भिर्जीवन्मुक्तिनिरूपणम्। द्वयेन ब्रह्ममुक्तिनिरूपणं पूर्वोक्तरीत्येति।

स्कन्धो द्वादशः।

प्र० १	प्र० २	प्र० ३	प्र० ४	प्र० ५
अ० ३	अ० २½	अ० १½	अ० ३	अ० ३
कृष्णाश्रयः	जगदाश्रयः	वेदाश्रयः	भक्तिमार्गाश्रयः	भागवताश्रयः

अतः परं मुक्तानामाश्रयः कृष्ण इति मुक्त्यनन्तरमाश्रयनिरूपणं द्वादशस्कन्धे क्रियते। तत्रैवं प्रकरणविभागः। आश्रयस्य पञ्चविधत्वात्पञ्चप्रकरणानि, कृष्णाश्रयजगदाश्रयवेदाश्रयभक्तिमार्गाश्रयभागवताश्रयाख्यानि। आश्रयस्य पञ्चविधत्वं द्वितीयस्कन्धे उक्तम्। तथा हि, 'दशमस्य विशुद्ध्यर्थमि'त्यत्र २-१०-२

१ "अन्येन" पाठः।

निरूपितं नवलक्षणलक्ष्यत्वमेकम्, तत्रैवा "भासश्च निरोधश्च" २-१०-७ इत्यादिश्लोके जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयकर्तृत्वरूपं द्वितीयम् । तत्रैवाग्रे त्रितयं तृतीयं तत्र यो वेदेति । २-१०-९ आध्यात्मिकादित्रितयज्ञातृत्वं तृतीयम् । अग्रे स आत्मा 'स्वाश्रयाश्रय' २-१०-९ इत्यत्राश्रयपदद्वयेन लक्षणद्वयं प्राप्यते, स्वस्य पुरुषोत्तमस्याश्रयोऽक्षरं ब्रह्म । नवलक्षणाश्रयत्वेनाक्षररूपं तुरीयम् । तस्याप्याश्रयः कृष्ण इति पञ्चविधत्वम् । एवं च नवलक्षणलक्ष्यत्वं अक्षरे दशलीलायुतत्वं च पुरुषोत्तमे अक्षररूपेण भवनमपि लीलेति आश्रयपदवाच्यस्याक्षरस्यापि लीलात्वमुच्यते । अन्यथा 'स्वाश्रय' इत्यनेनैव चारितार्थ्ये द्वितीयमाश्रयपदं लक्षणेऽनर्थकं स्यात् । 'नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्ण' इत्यत्राक्षरस्य पुरुषोत्तमाभिन्नत्वेन तथानिरूपणम् । एवं पञ्चविधत्वमाश्रयस्य ।

तत्र त्रिभिरध्यायैः कृष्णाश्रयप्रकरणं निरूप्यते । तत्र प्रथमं अन्यनिषेधमुखेनाश्रयस्य निरूपणीयत्वात् । लोकनाशधर्मनाशनिरूपणमुखेन स्वतन्त्रतया निरूपणेन च त्रिभिर्निरूपणम् । अग्रे विधिमुखेन निरूपणाज्जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वनिरूपणमुखेन निरूपणम् । तत्र रूपनामविभेदेन जगतो द्विविधत्वाज्जगदाश्रयनिरूपणेऽध्यायद्वयम् । षष्ठाध्यायपूर्वार्द्धस्य ज्ञानाङ्गत्वाद्देहलीदीपन्यायेन जगदाश्रयवेदाश्रयप्रकरणोभयाङ्गत्वादुभयत्रान्वेति । तस्माज्जगदाश्रये सार्द्धाध्यायद्वयम् । अग्रे वेदशाखाविभागकथनेन वेदाश्रयनिरूपणम् । तत्र वेदस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदेन द्विविधत्वाद्देहलीदीपन्यायेन अङ्गत्वात् षष्ठाध्यायपूर्वार्द्धस्य तत्सहितसार्द्धाध्यायेन निरूपणम् । तथा च, त्रिभिः कृष्णाश्रयनिरूपणम् । सार्द्धाध्यायद्वयेन जगदाश्रयस्य निरूपणम् । सार्द्धेन वेदाश्रयस्य निरूपणम् । एवं सप्तभिरध्यायैर्नवलक्षणलक्ष्यत्वजगदुत्पत्त्यादिकर्तृत्वोभयलक्षणकाश्रयो निरूपितः । अतः परं त्रिभिर्भक्तिमार्गकथनेन भक्तिमार्गाश्रय आश्रयो निरूपितः, कर्ममार्गीयोपासनमार्गीयभक्तिमार्गीयभेदेन तस्य त्रिविधत्वात् । अग्रे त्रिभिर्भागवतमार्गनिरूपणेन भागवताश्रयकथनम् । भौतिकादिभेदेन तस्य त्रिविधत्वात् । एवं षड्भिस्त्रितयज्ञातृत्वाक्षरपुरुषोत्तमरूपाश्रयनिरूपणम् । एवं त्रयोदशाध्यायैराश्रयलीलाया निरूपणं द्वादशस्कन्धे कृतम् ॥

इति गोष्ठीशालरामचन्द्रभट्टात्मजघनश्यामभट्टकृता श्रीभागवतार्थ-
निबन्धानुसारिणी श्रीभागवतशास्त्रस्कन्धप्रकरणाध्यायानां

विभागसूचिका

समाप्ता ।

---

१ संवत् १८९२ तमे प्राचीनादर्शपुस्तके " घासीभट्टजी "कृतेतिनामनिर्देशः कृतः । घनश्याम-भट्टनाम्नोपभ्रंशोयं घासीभट्टेति भाति । अथवा व्यवहारयोग्यं इदं लघु नाम स्यादित्यनुमीयते ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीभागवतार्थनिबन्धानुसारी श्रीगोकुलरायकृतोऽध्यायार्थः ।

श्रीकृष्णाय नमः । अथ श्रीभागवते निबन्धानुसारेण प्रथमादिस्कन्धानामध्यायार्था लिख्यन्ते । प्रथमस्कन्धे । हीनाधिकारप्रकरणे प्रश्ननिरूपणमुखेन श्रोतुर्जिज्ञासुत्वस्य वक्तुः सम्प्रदायेन सन्मुखाच्छ्रुतभागवतत्वस्य च निरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

हीनाधिकारप्रकरणे कर्मज्ञानप्रश्नयोरुत्तरेण भगवदवतारप्रयोजनलीलाप्रश्नयोश्चोत्तरेण श्रोतुरमात्सर्यस्य वक्तुश्चातुर्यस्य च निरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

हीनाधिकारप्रकरणे रूपात्मकानां भगवदवताराणां निरूपणेन च श्रोतुः श्रवणादरवत्त्वस्य वक्तुर्गुह्यज्ञानस्य निरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

मध्याधिकारप्रकरणे प्रेरणहेतुभूतप्रसङ्गनिरूपणेन व्यासे भगवन्मनोविचारितभगवदीयत्वनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

मध्याधिकारप्रकरणे उत्तरस्य कृतेश्च निरूपणेन व्यास-नारदयोः साधनरूपभगवच्छरीरसम्पादितभगवदीयत्वनिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

मध्याधिकारप्रकरणे नारदस्य फलनिरूपणेन नारदे भगव-द्वाचिकभगवदीयत्वनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणेऽर्जुने परतो दुःखनिवारणेन भगवतः परमकृपानिरूपणेन परीक्षित्यधिकारिणि पुरुषपारम्पर्यकृतदोषा-भावनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे कुन्तीस्तुतिनिरूपणेन कुन्त्यां ब्रह्म-स्वरूपाज्ञानजदुःखनिवृत्त्या भगवतः परमकृपानिरूपणेन स्त्रीपारम्पर्यकृतदोषाभावनिरूपणमष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे युधिष्ठिरे भीष्मोपदेशेन जीवस्वरूपा-ज्ञानजनितदुःखनिवृत्त्या भगवतः परमकृपानिरूपणेन पोषकान्न-शुद्धिनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे सम्बन्धिनां भीमादीनां भगवत्परता-पुरःसरमध्यायारम्भे सामान्यतः सुखप्राप्तिनिरूपणेन भगवतः परमकृपानिरूपणेन सांसर्गिकदोषाभावनिरूपणं दशमेऽध्याये १०

उत्तमाधिकारप्रकरणे भगवतः कार्यसमाप्त्या सुखस्थित्या पार्थेष्वपि भगवत्सुखेनैव सुखप्राप्त्याऽऽगन्तुकदोषाभावनिरू-पणमेकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे भगवद्रक्षितपुत्रसम्पत्त्या पार्थेषु विशे-षेण सुखप्राप्त्याऽधिकारिणि स्वतः कालतश्च परमकृपानिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे धृतराष्ट्रमुक्त्या बीजमुक्तिनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे बीजमुक्तिकार्यभूतपाण्डवनिर्गमहेतुभूतवैराग्यनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे वैराग्यनिर्गमनफलीभूतपाण्डवमुक्तिनिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये, अधिकारिणः पूर्वजकृतप्रतिबन्धाभावाय तन्मुक्तिनिरूपणम् ॥ १५ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे परीक्षिद्राज्यनिरूपणे सर्वपृथ्वीजयेन लौकिकसामर्थ्यनिरूपणं षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे परीक्षिद्राज्यनिरूपणे धरणीधर्मयोरर्थे कलिनिग्रहकथनेनालौकिकसामर्थ्यनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये, लौकिकालौकिकसामर्थ्येन कालप्रतिबन्धनिवृत्तिः ॥ १७ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे त्यागनिरूपणे त्यागकारणीभूतवैराग्यहेतुभूतशापनिरूपणेन धर्मोन्नतिनिरूपणमष्टादशेऽध्याये ॥१८॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे त्यागनिरूपणे त्यागसत्सङ्गसम्पत्तौ प्रशान्ताधिकारनिरूपणमेकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

इति अधिकारनिरूपणे प्रथमस्कन्धः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयस्कन्धे तत्त्वध्यानप्रकरणे स्थूलध्याननिरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

तत्त्वध्यानप्रकरणे सूक्ष्मध्याननिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥२॥

हृत्प्रसादप्रकरणे श्रोतृश्रद्धानिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

हृत्प्रसादप्रकरणे वक्तृश्रद्धानिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

उत्पत्तितो विमर्शप्रकरणे चतुर्दशलोकरचनार्थं अनित्यानां महदादिब्रह्माण्डहेतुरूपाणां जननिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

उत्पत्तितो विमर्शप्रकरणे परिच्छिन्नानां जीवानां नित्यानां ब्रह्माण्डे तत्तत्स्थानेषु समागमनिरूपणं पुरुषसूक्तार्थकथनेन जीवानां सर्वफलसाधकभगवद्भजननिरूपणं च षष्ठेऽध्याये ॥६॥

उत्पत्तितो विमर्शप्रकरणे मूलभक्त्या भजनसिद्ध्यर्थं नित्यापरिच्छिन्नस्य भगवतः प्राकट्यनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

उपपत्तितो विमर्शप्रकरणे उक्तेऽर्थे अनुपपत्तिरूपाऽऽशङ्कानिरूपणमष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

उपपत्तितो विमर्शप्रकरणे जीवब्रह्मणोर्देहसम्बन्धे जातशङ्कापरिहारकथनेन उत्तरनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

उपपत्तितो विमर्शप्रकरणे शङ्कोत्तराभ्यां सिद्धस्य फलस्य श्रीभागवतश्रवणकर्तव्यतारूपस्य निरूपणं दशमेऽध्याये ॥१०॥

इति श्रवणाङ्गनिरूपणे द्वितीयस्कन्धः ॥ २ ॥

अथ तृतीयस्कन्धे । अधिकारप्रकरणे प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं तीर्थसेवया बाह्यशुद्धिनिरूपणं सत्सङ्गप्रीत्या भगवत्प्रश्नत्रयकरणनिरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

अधिकारप्रकरणे भगवत्कथाश्रुत्या कृताऽऽर्थिकभगवन्माहात्म्यज्ञानेन आभ्यन्तरशुद्धिनिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

अधिकारप्रकरणे केवलचरित्रश्रवणेनान्तरज्ञानरूपभगवद्गुणप्रादुर्भावनिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

अधिकारप्रकरणे भगवत्प्रयाणसमयेऽधिकारिणि उद्धवे विद्यमाने अविद्यमाने विदुरे च भगवत्प्रसादनिरूपणं विदुरमैत्रेयसमागमनिरूपणं च चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतगुणातीतसृष्टिप्रकरणे ब्रह्माण्डकारणीभूतमहदादितत्त्वोत्पत्तिस्तुतिनिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतगुणातीतसृष्टिप्रकरणे तत्त्वकार्यभूतब्रह्माण्डशरीरोत्पत्तिवर्णिनां कर्मनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतसगुणसृष्टिप्रकरणे शङ्कोत्तरनिरूपणेन सृष्टिभगवतोर्मध्ये मतान्तरभाषया गुणप्रवेशनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतसगुणसृष्टिप्रकरणे सगुणाद् ब्रह्मणो जगत्कारणरूपहृदिजातभगवद्दर्शनचतुर्मुखब्रह्मोत्पत्तिनिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतसगुणसृष्टिप्रकरणेऽवश्यंभाविजगदुत्पत्तिफलकब्रह्मस्तोत्रनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतकालसृष्टिप्रकरणे दशविधसर्गरूपकार्यतः कालजन्मनिरूपणं दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतकालसृष्टिप्रकरणे परमाण्वादिद्विपरार्धान्तकालोपाधिवशात् कालजन्मनिरूपणं एकादशेऽध्याये ।११।

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे लोकातीतलौकिकमुक्तजीवसृष्टिनिरूपणं तच्छेषभूतनामसृष्टिनिरूपणं च द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे सर्वतत्त्वाधारभूत-भूम्युद्धारार्थं वराहकल्पकथनेन मुक्तजीवोत्पत्तौ सङ्क्षेपत उपपत्तिनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

अग्रिमैः षड्भिः विस्तरेणोपपत्तिकथनं जन्ममरणात्मक-संसारकथनं च ।

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानामुत्पत्तौ विस्तरेणोपपत्तिकथनप्रस्तावे सन्ध्यायां कामेन आसुरबीजजनन-निरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानामुत्पत्तौ विस्तरेणोपपत्तिकथनप्रस्तावे ब्रह्मशापेन वैकुण्ठस्थयोरासुरबीजे समागमनिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानामुत्पत्तौ विस्तरेणोपपत्तिकथनप्रस्तावे भगवद्वाक्येन ब्राह्मणसान्त्वनजय-विजयपातनेन तत्र भगवद्विभूत्यावेशनिरूपणं षोडशेऽध्याये।१६।

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानामुत्पत्तौ विस्तरेणोपपत्तिकथनप्रस्तावे अतिशयितोत्कर्षकथनेन नाश-बीजनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानामुत्पत्तौ विस्तरेणोपपत्तिकथनप्रस्तावे दैत्यस्य भगवता सह युद्धकथनेन विनश्यत्तानिरूपणं अष्टादशेऽध्याये ॥ १८ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानामुत्पत्तौ विस्तरेणोपपत्तिकथनप्रस्तावे दैत्यविनाशनिरूपणं एकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

इति बन्धसृष्टिप्रकरणम् ।

मोक्षसृष्टिप्रकरणे नवभेदाभिन्नत्रैगुण्यनिर्गुण्यवस्थारूपज्ञान-भगवच्चिन्तनात्मकस्वभावभेदद्वयनिरूपणेन मोक्षोपपत्तिनिरूपणं विंशेऽध्याये ॥ २० ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गततत्त्वमुक्तिप्रकरणे भोगादिसंयुतमुक्ति-कथनप्रस्तावे कर्दमस्य मनोश्च धर्मसिद्धिनिरूपणं एकविंशेऽध्याये ॥ २१ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गततत्त्वमुक्तिप्रकरणे भोगादिसंयुतमुक्ति-कथनप्रस्तावे ऐहिकामुष्मिकोत्कर्षयुक्तस्य मनोः कन्यालाभेन कर्दमस्यार्थसिद्धिनिरूपणं द्वाविंशेऽध्याये ॥ २२ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गततत्त्वमुक्तिप्रकरणे भोगादिसंयुतमुक्ति-कथनप्रस्तावे कर्दमस्य कामसिद्धिनिरूपणं त्रयोविंशेऽध्याये।२३।

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गततत्त्वमुक्तिप्रकरणे भोगादिसंयुतमुक्ति-कथनप्रस्तावे कर्दमस्य साङ्ख्यफलरूपमोक्षनिरूपणं चतुर्विंशेऽध्याये ॥ २४ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणे कालस्य मुक्तिलीलारूपमुख्यभक्तिनिरूपणं पञ्चविंशेऽध्याये ॥ २५ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गतगुणातीतमुक्तिप्रकरणे साङ्ख्येन उत्पपत्त्या उपपत्त्या चात्मनः सर्वभिन्नत्वनिरूपणं षड्विंशेऽध्याये ॥ २६ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गतगुणातीतमुक्तिलीलाप्रकरणे साङ्ख्येन ज्ञानतत्साधनोपपत्तीनां निरूपणं सप्तविंशेऽध्याये ॥ २७ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणे सगुणमुक्तिलीलारूपससाधनाष्टाङ्गयोग-निरूपणं अष्टाविंशेऽध्याये ॥ २८ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवन्मुक्तिप्रकरणे सर्वसाधनरूप-चतुर्विधभक्तिवैराग्यहेतुभयहेतोः कालस्य माहात्म्यनिरूपणं ऊनत्रिंशेऽध्याये ॥ २९ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवन्मुक्तिप्रकरणे भयहेतुकवैराग्य-बोधकमृत्युना दोषनिरूपणं त्रिंशेऽध्याये ॥ ३० ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवन्मुक्तिप्रकरणे भयहेतुकवैराग्य-बोधकजन्मना दोषनिरूपणं एकत्रिंशेऽध्याये ॥ ३१ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणे सर्वशेषसर्वनिर्धारणं द्वात्रिंशेऽध्याये ॥३२॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणे सर्गफलबोधकयोगफलात्मकदेवहूतिमोक्ष-निरूपणं त्रयस्त्रिंशेऽध्याये ॥ ३३ ॥

॥ इति सर्गनिरूपणे तृतीयस्कन्धः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थस्कन्धः । धर्मप्रकरणे सतीसम्बन्धरूपानर्थप्रसङ्ग-निरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

धर्मप्रकरणे प्रसङ्गस्य कार्यभूतशापकथारूपानर्थहेतुनिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

धर्मप्रकरणे द्वेषस्थिरीकरणरूपानर्थसम्भूतिनिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

धर्मप्रकरणे सतीमरणरूपद्वेषावान्तरव्यापारनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

धर्मप्रकरणेऽनर्थफलरूपयज्ञनाशनिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥५॥

धर्मप्रकरणे रुद्रभागकल्पनेन रुद्रानुनयरूपयज्ञसिद्धिपूर्वाङ्ग-निरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

धर्मप्रकरणे प्रभुरूपेण प्रकटस्य विष्णोः स्तोत्रेण भगवतैव यज्ञसंसिद्धिनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

अर्थप्रकरणे ध्रुवस्य अत्युग्रतपोभगवत्परिचर्यादिसाधननिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

अर्थप्रकरणे भगवत्प्रादुर्भाववरादिसाध्यनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

अर्थप्रकरणे क्रोधावेशयुद्धादिराज्यदोषनिरूपणं दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

अर्थप्रकरणे मनुवाक्ये दोषहानिनिरूपणं एकादशेऽध्याये ॥ ॥ ११ ॥

अर्थप्रकरणे ध्रुवस्य भगवत्पदप्राप्तिरूपफलनिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

कामप्रकरणे सर्वेषां कामेन जात इति प्रस्तावे रक्षकाभावरूपकामहेतुनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

कामप्रकरणे सर्वेषां कामेन जात इति प्रस्तावे रक्षकाभावरूपहेतोरधर्मस्थापनलोकोपद्रवरूपकार्यनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

कामप्रकरणे सर्वेषां कामेन जात इति प्रस्तावे पृथोः राज्यात्मकगुणनिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

कामप्रकरणे सर्वेषां कामेन जात इति प्रस्तावे पृथौ आविष्टभगवद्गुणनिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

कामप्रकरणे सर्वेषां कामस्य साधक इति प्रस्तावे शरसन्धानेन भूमित्रासतत्स्तुतिरूपसर्वकामपूरणार्थक्रियानिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

कामप्रकरणे सर्वेषां कामस्य साधक इति प्रस्तावे भूमिदोहनेन सर्वकामपूरणरूपफलनिरूपणं अष्टादशेऽध्याये ॥ १८ ॥

कामप्रकरणे स्वकामसम्पादनप्रस्तावे शताश्वमेधजशुद्धिनिरूपणं एकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

कामप्रकरणे स्वकामसम्पादनप्रस्तावे पृथौ कृष्णप्रसादनिरूपणं विंशेऽध्याये ॥ २० ॥

कामप्रकरणे स्वकामसम्पादनप्रस्तावे यज्ञरक्षोपदेशरूपस्वधर्मनिरूपणं एकविंशेऽध्याये ॥ २१ ॥

कामप्रकरणे स्वकामसम्पादनप्रस्तावे सप्रसादज्ञाननिरूपणं द्वाविंशेऽध्याये ॥ २२ ॥

कामप्रकरणे स्वकामसम्पादनप्रस्तावे योगेन वैकुण्ठोद्घाटनरूपमोक्षनिरूपणं त्रयोविंशेऽध्याये ॥ २३ ॥

मोक्षप्रकरणे रुद्रगीतस्तोत्रात्मकसायुज्यसाधननिरूपणं चतुर्विंशेऽध्याये ॥ २४ ॥

मोक्षप्रकरणे सायुज्यप्रकरणान्तर्गतब्रह्मभावप्रकरणे जाग्रदवस्थया सर्ववस्तुविवेककथनेन जीवस्य संसारमार्गे गमनसामग्रीनिरूपणं पञ्चविंशेऽध्याये ॥ २५ ॥

मोक्षप्रकरणे सायुज्यान्तर्गतब्रह्मभावप्रकरणे स्वप्नावस्थया सर्ववस्तुविवेककथनेन जीवस्य संसारमार्गे गमनसामग्रीनिरूपणं षड्विंशेऽध्याये ॥ २६ ॥

मोक्षप्रकरणे सायुज्यान्तर्गतब्रह्मभावप्रकरणे विनश्यत्तया सर्ववस्तुविवेककथनेन जीवस्य संसारमार्गे गमनसामग्रीनिरूपणं सप्तविंशेऽध्याये ॥ २७ ॥

मोक्षप्रकरणे सायुज्यान्तर्गतब्रह्मभावप्रकरणे सार्थकविनाशेन सर्ववस्तुविवेककथनेन जीवस्य मुक्तिमार्गे गमनसामग्रीनिरूपणं अष्टाविंशेऽध्याये ॥ २८ ॥

मोक्षप्रकरणे सायुज्यान्तर्गतब्रह्मभावप्रकरणे सर्वसन्देहराहित्यपूर्वकफलनिरूपणं ऊनत्रिंशेऽध्याये ॥ २९ ॥

मोक्षप्रकरणे परममोक्षरूपकृष्णसायुज्यकथने प्रचेतसां भगवत्प्रसादनिरूपणं त्रिंशेऽध्याये ॥ ३० ॥

मोक्षप्रकरणे परममोक्षरूपकृष्णसायुज्यकथने प्रचेतसां परमफलनिरूपणं एकत्रिंशेऽध्याये ॥ ३१ ॥

इति विसर्गनिरूपणे चतुर्थस्कन्धः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमस्कन्धः । कृष्णेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे प्रियव्रतस्य स्वरूपे स्थापकऐश्वर्यवीर्यनिरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

कृष्णेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे आग्नीध्रस्य स्वरूपे स्थापकश्रीनिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

कृष्णेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे नाभेः स्वरूपे स्थापकयशोनिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

कृष्णेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे प्रजानां स्वरूपे स्थापकधर्मिरूपऋषभावतारनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

कृष्णेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे ऋषभपुत्राणां स्वरूपे स्थापकज्ञाननिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

कृष्णेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे योगिप्रभृतिसर्वलोकानां स्वरूपे स्थापकवैराग्यनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे भरतस्य प्रजापालनादिधर्मयोगसाधनभक्तिनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे प्रारब्धादिवशात् योगविघाते मुमुक्षोरितरसर्वसाधनसम्पन्नस्यापि भरतस्य मनसश्चाञ्चल्यप्रवाहपतितत्वहरिभक्तेर्ज्ञानदातृत्वनिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे मनःस्थैर्यभगवत्प्राप्तियोग्यब्राह्मणदेहेपि तत्प्रतिबन्धकाध्यापनवृषलहस्तमरणादितो हरिभक्तेर्मोचकत्वनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे मर्यादायां कर्मादीनां सर्वथा बलिष्ठत्वज्ञापनाय ज्ञानवतोपि भरतस्य जन्मान्तरं जातमितिज्ञापनार्थं राजजन्मनि जातज्ञानबोधकोपदेशनिरूपणप्रस्तावे रहूगणस्य गुरौ शिष्यप्रकारेण नतिप्रश्ननिरूपणं दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे पूर्वजन्मनि जातज्ञानबोधकोपदेशनिरूपणप्रस्तावे योगानुसारिविज्ञानमनोनिग्रहनिरूपणं एकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे पूर्वजन्मनि जातज्ञानबोधकोपदेशनिरूपणप्रस्तावे भगवदतिरिक्तपदार्थानामवस्तुत्वकथनेनोत्कृष्टवैराग्यनिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे पूर्वजन्मनि जातज्ञानबोधकोपदेशनिरूपणप्रस्तावे अधिकारिपरीक्षकपरोक्षकथने भगवदन्यपदार्थानां दुःखदत्वकथनेनोत्कृष्टवैराग्यनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

ज्ञानेन स्वरूपस्थितिकथने ज्ञानमार्गीयपरोक्षकथनाबोधेन परीक्षिति भक्तिमार्गीयोत्कर्षनिरूपणं स्वरूपकपरोक्षकथाव्याख्यानरूपज्ञाननिरूपणं भरतपूर्वजन्मद्वयसार्थत्वनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे भरतवंशस्योत्तमत्वनिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

देशस्थितिप्रकरणे भूमिस्थाननिरूपणप्रस्तावे भूमेः परिमाणस्वरूपनिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

देशस्थितिप्रकरणे भूमिस्थाननिरूपणप्रस्तावे खण्डेषु गङ्गाजलसम्बन्धेनागन्तुकधर्मकृतोत्कर्षनिरूपणं हरिपूजया इलावृतोत्कर्षनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

देशस्थितिप्रकरणे भूमिस्थाननिरूपणप्रस्तावे हरिपूजया भद्राश्वादिषड्वर्षोत्कर्षनिरूपणं अष्टादशेऽध्याये ॥ १८ ॥

देशस्थितिप्रकरणे भूमिस्थाननिरूपणप्रस्तावे गुणमार्गेण हरिपूजायामुत्तरोत्तरोत्कर्षनिरूपणाद् वर्षद्वये हरिपूजया पर्वतोद्भूतनद्यादिजलेन च कर्मभूमित्वेन सर्वोपजीव्यतया देवस्तुत्या च भरतखण्डे परमोत्कर्षनिरूपणं एकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

देशस्थितिप्रकरणे भूमिस्थाननिरूपणप्रस्तावे प्लक्षद्वीपादीनां प्रमाणलक्षणादिनिरूपणं विंशेऽध्याये ॥ २० ॥

देशस्थितिप्रकरणे द्युमर्यादानिरूपणप्रस्तावे सूर्यमर्यादानिरूपणं एकविंशेऽध्याये ॥ २१ ॥

देशस्थितिप्रकरणे द्युमर्यादानिरूपणं द्वाविंशेऽध्याये ॥ २२ ॥

देशस्थितिप्रकरणे द्युमर्यादानिरूपणप्रस्तावे शिशुमारसंस्थाननिरूपणं त्रयोविंशेऽध्याये ॥ २३ ॥

देशस्थितिप्रकरणे अधोमर्यादानिरूपणं चतुर्विंशेऽध्याये। २४।

देशस्थितिप्रकरणे अधोमर्यादानिरूपणप्रस्तावेऽधःस्थानां सुखहेतुशेषनिरूपणं पञ्चविंशेऽध्याये ॥ २५ ॥

देशस्थितिप्रकरणे अधोमर्यादानिरूपणप्रस्तावे प्रतिषिद्धकर्मफलभूतनरकमर्यादानिरूपणं षड्विंशेऽध्याये ॥ २६ ॥

इति स्थाननिरूपणे पञ्चमस्कन्धः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः स्कन्धः । नामप्रकरणे सङ्केतितनामोच्चारणमाहिम्ना अजामिलस्य यमदूतादिमुखेन वृत्तान्तश्रवणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

नामप्रकरणे विष्णुदूतमुखेन कीर्तनशंसनतत्फलनिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

नामप्रकरणे सर्वेषां नामस्मरणकारणाय यमोक्तसिद्धान्तनिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

रूपप्रकरणे दक्षे तपसा भौतिककेवलसात्त्विकप्रसादनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

रूपप्रकरणे ज्ञानेन दक्षपुत्रेषु तमोमिश्रसात्त्विकभौतिकप्रसादनिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

रूपप्रकरणे दक्षकन्यासु जगद्धृत्यै रजोमिश्रसात्त्विकभौतिकप्रसादनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

रूपप्रकरणे इन्द्रप्रसादार्थं विश्वरूपे पौरोहित्ये तदेव भावबृहस्पतिसमज्ञानतपस्यारूपाऽऽध्यात्मिकप्रसादनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

रूपप्रकरणे इन्द्रप्रसादार्थं कवचोपदेशेन विश्वरूपे वैष्णवत्वरूपाऽऽध्यात्मिकप्रसादनिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

रूपप्रकरणे इन्द्रप्रसादार्थं कर्मिणो विश्वरूपस्य अन्यथायज्ञकरणेन दैत्यभावादिन्द्रप्रसादप्रतिबन्धकत्वाद् वधनिरूपणं भाक्तस्यापि वृत्रस्य देवद्रोहेण वर्तमानस्य दैत्यभावादिन्द्रप्रसादप्रतिबन्धकत्वाद् वधत्वनिरूपणं ज्ञानिनोपि दधीचेर्दैत्यत्वाभावेपि तज्जीवनस्येन्द्रप्रसादप्रतिबन्धकत्वनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

इन्द्रप्रसादप्रतिबन्धकानां कर्मिज्ञानिभक्तानां वधवध्यत्वनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

रूपप्रकरणे वृत्रे आधिदैविकप्रसादरूपज्ञाननिरूपणं दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

सेनापलायनरूपे विषादकारणे उपस्थितेप्यविषण्णत्वेन श्लोकद्वयेन सैनिकान् प्रति उपदेशकथनेनाप्रतिरुद्धं ज्ञानम् ।१०।

रूपप्रकरणे वृत्रे आधिदैविकप्रसादरूपभक्तिनिरूपणं एकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

स्वपराक्रमदर्शनेन विषण्णेपीन्द्रे स्ववधोपायज्ञापनेन भगवदतिरिक्ते रागाभाव अतिदैन्येन स्तुतिश्च तत्र माहात्म्यज्ञानस्नेहयोर्लक्षणम् ॥ ११ ॥

रूपप्रकरणे वृत्रे आधिदैविकप्रसादरूपबलनिरूपणं इन्द्रप्रसादज्ञापकवृत्रवधनिरूपणं च द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

च्युतवज्रस्य विलज्जितस्येन्द्रस्य ज्ञाननीत्युपदेशेन वज्रग्राहणं तेन युद्धं क्षीणायुधेन कृत्तबाहुनापि सवाहेनेन्द्रनिगरणं बललक्षणम् ॥ १२ ॥

रूपप्रकरणे वृत्रहत्याया अपि आधिदैविकत्वेन रूपिणीत्वात् तत्कृतेन्द्रक्लेशनिरूपणं ऋतम्भरभगवद्ध्यानेन तत्पापनिवृत्तिनिरूपणं रुद्रेण तत्पापपराभवनिरूपणं लक्ष्म्येन्द्ररक्षया ध्यानप्रतिवन्धाभावनिरूपणं अश्वमेधेन महेन्द्रत्वनिरूपणं च त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

रूपप्रकरणे इन्द्रे प्रदानार्थं भक्तिमार्गीयभक्तानुपयोगिमतान्तरसिद्धवैराग्यनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

रूपप्रकरणे इन्द्रे प्रदानार्थं भक्तिमार्गीयभक्तानुपयोगिमतान्तरसिद्धज्ञाननिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

रूपप्रकरणे इन्द्रे प्रदानार्थं भक्तिमार्गीयभक्तानुपयोगिमतान्तरसिद्धभक्तिप्रसादनिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

रूपप्रकरणे मुख्यभक्तेर्दोषयुतत्वाभावाय दोषस्य शापकृतत्वेन आगन्तुकत्वज्ञापनाय भक्तिमार्गीयभक्तेऽसम्भावितमतान्तरसिद्धशापनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

क्रियाप्रकरणे बाह्यपूजया बाह्यासुरत्वनिवृत्तिनिरूपणं अष्टादशेऽध्याये ॥ १८ ॥

क्रियाप्रकरणे आन्तरपूजया आन्तरासुरत्वनिवृत्तिनिरूपणं एकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

॥ इति पुष्टिनिरूपणे षष्ठस्कन्धः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमस्कन्धे । असद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यरूपवैकुण्ठे सनकाद्यतिक्रमरूपौद्धत्यनिरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

असद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यभूतसर्वलोकपीडानिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

असद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यभूततपोरूपस्वपीडानिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

असद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यरूपाऽत्यन्तभोगसम्पत्तावपि अतृप्तिरूपाऽनिर्वृतिनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

असद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यरूपभगवद्भक्तपीडानिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

सद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यरूपसर्वमोचकज्ञानहेतुदयानिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

सद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यरूपसर्वमोचकक्रियाहेतुसानुभावमहत्कृपानिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

सद्वासनाप्रकरणे अतिदुःखहेतुनाशकभगवत्प्रादुर्भावानुकूलक्रियानिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

सद्वासनाप्रकरणे जीवस्य सर्वथा भगवत्साम्मुख्यनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

सद्वासनाप्रकरणे सप्रसादसफलकायवाङ्मनोभावनिरूपणं सद्वासनामूलस्य हरेर्दुर्वासनामूलत्रिपुरनाशकत्वनिरूपणं च दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

मिश्रवासनावतो जीवस्यासद्वासनानिवर्तककर्मप्रकरणे साधारणसर्वधर्मनिरूपणं एकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

मिश्रवासनावतो जीवस्यासद्वासनानिवर्तककर्मप्रकरणे ब्रह्मचारिवनस्थधर्मनिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

मिश्रवासनावतो जीवस्यासद्वासनानिवर्तककर्मप्रकरणे संन्यासिधर्मनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

मिश्रवासनावतो जीवस्यासद्वासनानिवर्तककर्मप्रकरणे गृहस्थ-धर्मनिरूपणप्रस्तावे देशकालादिनिर्णयपूर्वकबाह्यदोषनिवर्तक-धर्मनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

मिश्रवासनावतो जीवस्यासद्वासनानिवर्तककर्मप्रकरणे गृहस्थ-धर्मनिरूपणप्रस्तावे अन्तःकरणदोषनाशकनिर्णीतसाधननिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

इति ऊतिनिरूपणे सप्तमस्कन्धः ॥ ७ ॥

अथ अष्टमस्कन्धे । आपत्सु हरिसंस्मरणप्रकरणे मनोरुप-निषदर्थानुसन्धानरूपभगवत्स्मृत्यैव भगवत्कृतेन प्रतिबन्ध-निवारणेन तपोरूपधर्मसिद्धिनिरूपणं धर्मबाधे क्लेशः स्यादिति ज्ञापनार्थं गजेन्द्रकथाप्रक्षेपतत्प्रश्ननिरूपणं च प्रथमेऽध्याये ॥१॥

आपत्सु हरिसंस्मरणप्रकरणे गजेन्द्रस्य पूर्वजन्मधर्महेतुक-हरिस्मृतिसाधनक्लेशकारणीभूतसकामार्थसिद्धिनिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

आपत्सु हरिसंस्मरणप्रकरणे गजेन्द्रस्य पूर्वजन्माशिक्षित-स्तोत्रेण भगवत्प्रपत्तिरूपरक्षाफलकमुख्यकामसिद्धिनिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

आपत्सु हरिसंस्मरणप्रकरणे स्मृतिप्रपत्तिरूपभक्त्या तुष्टेन हरिणा गजेन्द्रस्य मोक्षसिद्धिनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानहेतुनिरूपणप्रस्तावे हेतुत्वेन साधनभगवन्निरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानहेतुनिरूपणप्रस्तावे हेतुत्वेन साधनवर्गदेवासुरनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानहेतुनिरूपणप्रस्तावे हेतुत्वेन प्रतिबन्धनिवर्तकशिवनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानरूपनिरूपणप्रस्तावे सर्वरत्नात्मकदेयोत्पत्तिनिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानरूपनिरूपणप्रस्तावे भगवता अपात्रदैत्यवञ्चनेन पात्रदेवेभ्योऽमृतदानकर्मनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानरूपनिरूपणप्रस्तावे मोक्षाध्यात्मिकरूपस्य चेतनस्यामृतस्य देवोपकारकजीर्णतानिरूपणं दशमेऽध्याये । भगवदुपकारास्मरणात् स्वाहङ्कारेण युद्धप्रवृत्तौ अमृतस्य चेतनत्वाद देवेषु कृतघ्नताशङ्कोत्पत्त्याऽजीर्णत्वेन देवानां पराजये जातेऽहङ्कारनिवृत्त्या भगवदुपकारस्मरणाद् दैन्येन भगवद्ध्याने प्रादुर्भूय भगवता दैत्यहननेऽमृतस्यापि कृतघ्नताशङ्कानिवृत्त्या जीर्णत्वं देवजयहेतुः ॥ १० ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानफलनिरूपणप्रस्तावेऽमृतपातृदेवसाधितदैत्यहननस्वर्गप्राप्तिरूपफलनिरूपणं एकादशेऽध्याये। ११।

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानफलनिरूपणप्रस्तावे स्वाश्रितदैत्येषूपायान्तरोपदेशेन देवानां पुनरुपद्रवाभावायामृतदातृभगवत्कृतमहादेवसम्मोहनरूपफलनिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानफलनिरूपणप्रस्तावे सप्तमाद्यष्टमन्वन्तरनिरूपणेन पीतामृतानां देवानां सर्वमन्वन्तरेष्वावेशादमृतकृताक्षयत्वरूपफलनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे मनुमनुपुत्राद्धीषणकर्मनिरूपणेन पञ्चानां भगवदधीनत्वकथनात् भगवतैव सर्वदानादिधर्मसिद्धिनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे सत्यवाक्यहेतुनिरूपणप्रस्तावे विप्रप्रसादेन कारणेन बलेर्दातुः पुनः स्वर्गजयरूपदानसामर्थ्यनिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे सत्यवाक्यहेतुनिरूपणप्रस्तावे भगवतो याचनार्थं प्रसङ्गनिरूपणप्रस्तावे च अदित्या भगवत्तोषहेतुपयोव्रतरूपकर्मप्रसादनिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे सत्यवाक्यहेतुनिरूपणप्रस्तावे भगवतो याचनार्थं प्रसङ्गनिरूपणप्रस्तावे च अदित्यां व्रतसन्तुष्टस्य भगवतः प्रसादनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे भगवतो याचनार्थं प्रसङ्गनिरूपणप्रस्तावे दाननिरूपणप्रस्तावे च प्रसन्नस्य भगवतोऽदित्यामवतीर्य छलेन बटुवामनरूपं गृहीत्वा बलियज्ञे गमननिरूपणं बलेर्वामनं भगवत्त्वाज्ञाननिरूपणं च अष्टादशेऽध्याये ॥ १८ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे दाननिरूपणप्रस्तावे भगवतो दातुः प्रशंसापूर्वकयाचननिरूपणं भृगुवाक्यैर्वामने बलेर्भगवत्त्वज्ञाननिरूपणं च एकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे दाननिरूपणप्रस्तावे भृगुणा दैत्यवैरित्वेन सर्वस्वहारकभगवत्त्वज्ञापनेपि धैर्यमवलम्ब्य गुरुवाक्यमतिक्रम्य तच्छापमप्यङ्गीकृत्य स्वविचारेण सत्यवाक्यानिर्वाहार्थं विश्वरूपवपुषा भगवताङ्गीकारान्तस्य बलिकृतस्य दानस्य निरूपणं विंशेऽध्याये ॥ २० ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे दानफलनिरूपणप्रस्तावे अन्यथाकरणाद् बलेर्बन्धनिरूपणं एकविंशेऽध्याये ॥ २१ ॥

साक्षात्कृते भगवति आत्मादिसर्वपदार्थस्य भगवदीयत्वेन तस्मिन् समर्पणस्यैवोचितत्वेपि तदकृत्वा आत्मादिसर्ववस्तुषु अहन्तां ममतां च स्थाप्य स्वाहङ्कारेण सत्यवाक्यनिर्वाहार्थं भगवत्त्वे ज्ञातेपि तस्मै दानमन्यथाकरणं, भगवांस्तु तत्सैनिककृतोपद्रवं लोकसिद्धमपराधं निमित्तीकृत्य तस्मिन् दैन्येन भगवदीयत्वसम्पादनायाहङ्कारादिनिवर्तकं दण्डात्मकानुग्रहरूपं बन्धनं चकार, दानादिलौकिकधर्मैः स्वर्गादिप्राप्तिरूपं फलमपि बन्धरूपमेवेतिज्ञापनायापि दानफलत्वेन बन्धनमेव चकार, इदमेव फलम् ॥ २२ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे दानफलनिरूपणप्रस्तावे यथार्थकरणात् बलेर्मोचनसुदुर्लभवरप्राप्तिनिरूपणं द्वाविंशेऽध्याये ॥ २२ ॥

भगवति असूयामकृत्वा दण्डमनुग्रहं मत्वा दैन्येनात्मसमर्पणं शरणागतिश्च यथार्थकरणं, संसारादपि मोचनं, आधिव्याधि-

राहित्यं उपसर्गाभावः सुखं लोकेशकृतपराभवाभावः चक्रेण आज्ञोल्लङ्घिदैत्यनाशनं भगवत्कृता रक्षा सदा भगवद्दर्शनं आसुरभावनिवृत्तिश्च सुदुर्लभा वराः ॥ २२ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे दानफलनिरूपणप्रस्तावे सावर्णिमन्वन्तरे अभीप्सितार्थस्वर्गसिद्ध्यर्थं बलेः सुतलस्थापननिरूपणं यज्ञरूपस्य पूर्वार्थस्यापि संसिद्धिनिरूपणं त्रयोविंशेऽध्याये । २३ ।

धर्मवक्तृप्रकरणे त्रिविधधर्मवक्तृमत्स्यावतारनिरूपणं चतुर्विंशेऽध्याये ॥ २४ ॥

॥ इति सद्धर्मनिरूपणे अष्टमस्कन्धः ॥ ८ ॥

अथ नवमस्कन्धे ॥ सूर्यसोमवंशप्रकरणे आद्यकक्षानिरूपणप्रस्तावे सुद्युम्ने ब्रह्मविष्णुशिवकृतस्त्रीपुंस्त्वोभयत्वनिरूपणेन देवप्रसादयुक्तभक्तनिरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे आद्यकक्षानिरूपणप्रस्तावे पृषध्रादिसप्तमनुपुत्रचरित्रवंशनिरूपणमुखेन भगशब्दवाच्यानां धर्माणां धर्मिणश्च भगवतो निरूपणात् लब्धुपादेय्या भजननिरूपणेन च देवरूपभक्तनिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे आद्यकक्षानिरूपणप्रस्तावे शर्यातेः अङ्गिरसां सत्रे द्वितीयदिनकार्यप्रवक्तृत्वेन स्वतो यज्ञप्रवर्तकत्वाद् यज्ञप्रवर्तकानां च्यवनादीनामिन्द्रभुजस्तम्भनं कृत्वा लुप्तस्याश्विनग्रहस्य प्रवर्तनसमर्थानां सुकन्यादानादिना सर्वकामप्रपूरकत्वात् ब्रह्मवाक्येन तद्वंशीयकन्याया बलदेवे दानाच्च च देवपोषकभक्तनिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे मध्यकक्षानिरूपणप्रस्तावे नाभागे मन्त्रद्रष्टृत्वेन सत्यपरत्वेन च शम्भुपरितोषणात् शम्भुसमभक्तनिरूपणं अम्बरीषे च सर्वात्मभावेन सर्वेन्द्रियैर्भगवद्भजनात् तदितरत्रारागात् तद्भक्तेः सानुभावत्वज्ञापनार्थं कायिकब्रह्मशापास्पर्शाद् भगवतो भक्तवश्यत्वेन तादृशभक्ते कृतापराधस्य भगवताप्यरक्षणाद् भगवत्समभक्तनिरूपणं सर्वत्र भक्तेषु बन्धमोक्षव्यवस्थाज्ञापनाय मध्यमानां मध्यमेऽम्बरीषे बन्धरूपगृहस्थितिनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे मध्यमकक्षानिरूपणप्रस्तावे दुर्वाससाम्बरीषपादग्रहणे अम्बरीषस्य लज्जितत्वेन स्वयं पादग्रहणेन दुर्वाससः प्रसादनेन ब्रह्मण्यतानिरूपणात् चक्रस्तुत्या गर्वाभावनिरूपणात् कृतापराधस्य भगवताप्यरक्षितस्य रक्षानिरूपणाच्च च भक्तौ भगवतोऽमृग्यत्वेन भक्तस्यैव मृग्यत्वेन ब्रह्मभावाद् भक्तेः श्रेष्ठत्वनिरूपणं बन्धमोक्षव्यवस्थाज्ञापनायाम्बरीषस्य गृहत्यागरूपमोक्षनिरूपणं च पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे मध्यमकक्षानिरूपणप्रस्तावे शशादपितुरिक्ष्वाकोः गुरुवाक्यात् कर्मणि पुत्रापराधज्ञाने तत्त्यागेन संसारनिरपेक्षत्वकथनात् याजकेन सह संवादेन तद्भक्तेः कर्मतः श्रैष्ठ्यकथनात्, शशादपुत्रस्येन्द्रारूढस्य देवकार्यकारिणो भगवत्तेजसा व्यापितत्वेन हरेर्निवेदनकथनात्,तद्वंशे उत्पन्नस्य कुवलयाश्वस्यातिदुःसहपुत्रमरणमप्यङ्गीकृत्य ऋषिकार्यकारित्वेन विप्रपरत्वकथनात्, युवनाश्वभार्याणां वन्ध्यात्वेपि पुंसवनजलपानतः

स्वस्यैव पुत्रलाभेन ऋषिप्रसादकथनात्, स्वस्य पुत्रस्य च जीवनेन देवप्रसादकथनादैहिकामुष्मिकोत्कर्षवति सौभरिब्राह्मणे प्राप्तप्रतिष्ठस्य मान्धातुश्च कथनात्, शशादे सर्वगुणज्ञापनाद् ब्रह्मसमभक्तनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे भक्त्यैव निवृत्त्यर्थं प्राक्तनदोषेण जातचाण्डालत्वस्य ज्ञापयितुं हरिश्चन्द्रद्वारा मोचनेन हरिश्चन्द्रभक्तेरन्योद्धारकत्वेन प्रशस्तत्वाल् लोकापवादशान्त्यर्थं ऋणत्रयनिवृत्त्यर्थं च वरुणप्रार्थनाप्राप्तस्य पुत्रस्य मरणाभ्यनुज्ञायामपि भगवता पुत्ररक्षया तत्कृपाद्योतनाद् धर्मपरीक्षकचाण्डालदासत्वदशायां स्वामिकार्यार्थमतिसाहसकर्तृत्वाद् धैर्यमवलम्ब्य सत्येन विश्वामित्रप्रसादनाच् च धैर्ययुक्तलोकोद्धारप्रयत्नभक्तनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे सगरेण मर्यादाविरोधितालजङ्घादिहननेन तत्पुत्रैः सागरकरणेन मर्यादारक्षणात् कर्मज्ञानादिना महत्त्वख्यापनाच् च स्थिरकार्यकर्तृलोकोद्धारप्रयत्नभक्तनिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे भगीरथेन सर्वलोकोद्धारकगङ्गानयननिरूपणात् तद्वंशीये सौदासे स्त्रीप्राधान्येन भक्तिमुख्यत्वकथनाद् ब्रह्मबीजाद् वंशकथया ज्ञानयुक्तत्वकथनात् खट्वाङ्गे तदुभयस्य फलितत्वात् क्षणात् कृष्णस्मृतौ अनपायिन्या मुक्तेः कथनाच् च भक्तिमार्गस्य परमकाष्ठापन्नलोकोद्धारप्रयत्नभक्तनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे ईशकथाप्रस्तावे माहात्म्यज्ञापकवीर्यप्रकाशकचरित्रनिरूपणेन ईशस्य क्रियाशक्तिनिरूपणं दशमेऽध्याये ॥१०॥

सूर्यवंशप्रकरणे ईशकथाप्रस्तावे ईशेन रामेण सर्ववेदयज्ञे सर्वस्वज्ञानदानादिना वैदिकेषु ब्राह्मणेषु प्रीतिजननात् निरपराधसीतानिःसारणप्रयोजकलोकवार्ताश्रवणेन लौकिकधर्माङ्गीकारेण लौकिकेषु प्रीतिजननात् कपिसख्येन स्वामिधर्मस्य सुकृतज्ञत्वस्य ज्ञापनेन तिर्यग्योनिष्वपि प्रीतिजननात् कोशलोद्धारेण अलौकिकमाहात्म्यबोधनात् भ्रातृसौख्येन सर्वलोकसन्माननेन लौकिकमाहात्म्यबोधनाच्च च भक्तिनिष्ठानिरूपणं एकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे ईशकथाप्रस्तावे ईशस्य ज्ञानशक्तिरूपवंशनिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे ज्ञानमिश्रभक्तेर्मुख्यत्वबोधने निमेर्गुरुशापेन ज्ञानमुख्यत्वबोधनात् गुरोर्निमिशापेन निमेर्भक्तिमुख्यत्वबोधनाद् देवप्रसादकथनादग्रेपि तादृशस्यैव तद्वंशस्य कथनात् ज्ञाननिष्ठभक्तनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

सोमवंशप्रकरणे आद्यकक्षानिरूपणप्रस्तावे चन्द्रमसोऽत्रिनेत्रसम्भूतस्य ज्ञानांशत्वेन यज्ञरूपत्वेन च जन्मकर्मशुद्धत्वात् पुत्रस्य बुधस्य लोकदृष्ट्या जारजातत्वेपि सर्वदेवसम्मत्या गुरुस्पृहया विष्णुरूपत्वबुद्धिसम्पन्नत्वनिर्व्यलीकत्वरूपानुभावज्ञापनात् वंशस्य सरसकरणार्थं तारायां लक्ष्म्यावेशस्य चन्द्रे भगवदावेशस्यानुभावस्य बोधनात् ऐले च लोकदृष्ट्या स्त्रैणत्वेपि

नारायणादुत्पन्नायामुर्वश्यां मित्रावरुणशापेन भोगरहितायां भक्तिरूपायामासक्तहृदयत्वेन भक्तिसामर्थ्यादेव वेदोद्गमहेतुभूत-ब्रह्मावेशरूपानुभावबोधनाच्च सानुभावपुष्टभक्तनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

सोमवंशप्रकरणे ईशकथाप्रस्तावे हविर्नाशेन निमित्तेन सदोषत्रिगुणहननिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

सोमवंशप्रकरणे ईशकथाप्रस्तावे मन्त्रनाशेन निमित्तेन सदोषत्रिगुणहननिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

सोमवंशप्रकरणे आद्यकक्षानिरूपणप्रस्तावे अवैदिकानां त्रिगुणानां रामेण हननादुर्वरितानां वैदिकत्वान् निर्गुणत्वात् धन्वन्तरिजन्मना शुद्धत्वबोधनादलर्कस्य भोगयुक्तस्यापि मोक्ष-प्रयोजकत्वाद् रजेश्च दैत्यैरपराभूतत्वेन देवकार्यसाधकत्वात् रजिपुत्राणां सामर्थ्यवत्त्वेपि वेदबाह्यत्वे इन्द्रेण हननात् भोग-युक्तवैदिकभक्तनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

सोमवंशप्रकरणे मध्यमकक्षानिरूपणप्रस्तावे पुष्टिभक्तेन्द्रपद-स्थिते सर्ववस्तुषु प्रमाणभूतशुद्धान्तःकरणपित्राज्ञापरायणभक्त-निरूपणं सर्वत्र भक्तेषु बन्धमोक्षव्यवस्थाज्ञापनाय मध्यमानां मध्यमस्य ययातेर्बन्धरूपगृहस्थितिनिरूपणं च अष्टादशेऽ-ध्याये ॥ १८ ॥

सोमवंशप्रकरणे मध्यमकक्षानिरूपणप्रस्तावे मध्यमानां मध्यमस्य ययातेर्जातवैराग्यस्य मोक्षरूपगृहत्यागनिरूपणं एकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

सोमवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे दौष्यन्तेर्भरतस्य कथाया अतिसामर्थ्यवद्भक्तनिरूपणं विंशेऽध्याये ॥ २० ॥

सोमवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे रन्तिदेवादि-कथया अतिधैर्ययुक्तभक्तिनिरूपणं एकविंशेऽध्याये ॥ २१ ॥

सोमवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे सामर्थ्यधैर्यो-भययुक्तभक्तनिरूपणं द्वाविंशेऽध्याये ॥ २२ ॥

सोमवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे यदुवंशकथया परमकाष्ठापन्नभक्तिमद्भक्तनिरूपणं त्रयोविंशेऽध्याये ॥ २३ ॥

सोमवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे भक्तिफलरूप-भगवत्प्रादुर्भावनिरूपणं चतुर्विंशेऽध्याये ॥ २४ ॥

इति ईशानुकथानिरूपणे नवमस्कन्धः ॥ ९ ॥

अथ दशमस्कन्धे । जन्मप्रकरणे भक्तानां भूम्यादीनां कालादिभ्यस्त्रिधा दुःखस्य कथनात् तस्यैव भगवदवतारहेतु-त्वात् प्रश्नस्य कथनहेतुत्वाच् चतुर्धा हेतुनिरूपणं देवक्यादि-मृत्युवारणसामर्थ्यस्य वासुदेवस्य वसुदेवहृदि प्राकट्यनिरूपणं च प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

जन्मप्रकरणे बलमायारूपाणां विहारसामग्रीभूतानां कथ-नात् सर्वदेवस्तुत्या भयाभावस्य च सामग्रीरूपस्य कथनाच् चतुर्धा भगवत उद्यमनिरूपणं गर्भसङ्कर्षणेन दैत्यघातकसङ्कर्षण-प्राकट्यनिरूपणं च द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

लौकिककाले मूलकालप्रादुर्भावेन वसुदेवस्तुत्या देवकीस्तुत्या भगवद्वचनैश्च रूपबोधनादग्रे शिशुत्वभवनाच् चतुर्धा रूपान्तरस्वीकरणनिरूपणं तस्यैव वंशसम्बन्धित्वात् प्रद्युम्नप्राकट्यनिरूपणं च तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

जन्मप्रकरणे देवक्या उपगूहनरोदनयाचनैरन्यकन्यात्वगोपनात् माययापि स्फुटं अकथनात् कंसभये विद्यमानेपि वसुदेवेन मथुरायां स्थित्या कंसवञ्चनात् कंसकर्मण एव कंसवधहेतुत्वार्थं ब्रह्महिंसाया हितत्वज्ञापनेन भगवतापि कंसवञ्चनाच् चतुर्धा कापट्यनिरूपणं सर्वमोचकानिरुद्धप्राकट्यनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे पितृगेहादन्यत्र गतस्यापि कृष्णस्य उत्सवकर्तृत्वकथनादैश्वर्यनिरूपणं वसुदेवप्रमाणप्रमिते नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे उत्सवसहकृतेन स्वमार्गे बाधकबाहुल्यनिर्णयेन अतिमानुषलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारणमाहात्म्यद्वारा तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥५॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे पूतनामारणरूपवीर्यनिरूपणं नन्दप्रमाणप्रमिते नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे भयसहकृतेन भगवत एव बाधकबाहुल्यनिवारकत्वनिर्णयेन अतिमानुषलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारणमाहात्म्यद्वारा तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे शकटतृणावर्तभङ्गेन यशोदया पुत्रभावेन लालनेन यशोदामोहनेन च आधारोत्कर्षा-

धायकसर्वजनाह्लादकगुणवत्त्वात् यशोनिरूपणं बालकैः स्त्रीभिश्च प्रमाणैः प्रमिते नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे कौतुकसहकृतेन सकलजनार्थसाधकत्वनिर्णयेन अतिमानुषलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारणमाहात्म्यद्वारा तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे नामकरणलीलया सर्वापत्तिनिवारकत्वात् श्रीनिरूपणं गर्गप्रमाणप्रमिते नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे गर्गवाक्यमुग्धभावसहकृतेन भक्तिप्रदत्वनिर्णयेन अतिमानुषलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारणमाहात्म्यद्वारा तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे रज्जुन्यूनतया व्यापकत्वकथनेन च ब्रह्मत्वबोधनात्मकज्ञाननिरूपणं यशोदाप्रमाणप्रमिते नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे अत्याश्चर्यसहकृतेन भक्तवश्यत्वनिर्णयेन अतिमानुषलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारणमाहात्म्यद्वारा तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं नवमेऽध्याये॥९॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे यमुलार्जुनयोर्मुक्तिदानेन लीलायामस्थापनात् भक्तेतरेष्वनासक्तिरूपवैराग्यनिरूपणं नलकूबरमणिग्रीवप्रमाणप्रमिते नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे यमुलार्जुनभङ्गसहकृतेन सर्वोद्धारप्रयत्नत्वसर्वेषांसर्वदोषनिवारकत्वनिर्णयेन अतिमानुषलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारणमाहात्म्यद्वारा तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं दशमेऽध्याये ॥१०॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे मोचनादिलीलाभिः षड्गुणयुक्तस्वरूपबोधनात् धर्मिनिरूपणं उपनन्दप्रमाणप्रमिते

नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे बकघातादिसहकृतेन परमानन्ददायित्व-निर्णयेन अतिमानुपलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारण-माहात्म्यद्वारा तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं एकादशेऽ-ध्याये ॥ ११ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे सौन्दर्यानुभवेन स्त्रीष्वास-क्त्युत्पादकस्य स्वरूपस्य पुमर्थचतुष्टयदशरसात्मकचतुर्दशगुण-वत्त्वकथनात् वचनद्वारा बलभद्रे स्वधर्मस्थापनात् लोकेषु ज्ञापनार्थं बलभद्रेणैव धेनुकमारणात् प्रमेयान्तर्गतैश्वर्यनिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिपरीक्षार्थं कालिय-दमनक्रियया स्त्रीगोबालवशीकरणात् प्रमेयान्तर्गतवीर्यनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे बहिरागत्य मिलनेन सर्वेष्ट-दानेन सर्ववशीकरणात् दावाग्नेर्मोचनेन माहात्म्यबोधनात् प्रमेयान्तर्गतयशोनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे कालदुःखनिवारणेन क्री-डायां परिवृढत्वेन प्रलम्बघातनेन च बालानां दृढासक्त्युत्पाद-नात् प्रमेयान्तर्गतश्रीनिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे दावाग्निपानजमाहात्म्य-द्वारा स्वरूपज्ञानसम्पादनेन गवां दृढासक्त्युत्पादनात् प्रमेया-न्तर्गतज्ञाननिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे वर्षाशरद्दृतुवर्णनेन कालगुणैरेव सर्वेषां दुःखनिवारणेन दृढासक्त्युत्पादनात् स्वस्य ताटस्थ्यात् प्रमेयान्तर्गतवैराग्यनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे वेणुनादेन गोपीनां दृढासक्तेः स्थिरीकरणात् गोपीभिश्च रसरूपषड्गुणयुक्तस्वरूपनिरूपणाच्च च धर्मिनिरूपणं अष्टादशेऽध्याये ॥ १८ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे कुमारिकाभिर्हरिप्राप्त्यै व्यसनबोधकव्रतकरणात् ततो भगवदाज्ञया लौकिकभावपरित्यागेन यथोक्तकरणात् तुष्टेन भगवता ताभ्यो वरदानस्येश्वरधर्मत्वादीश्वरे मत्सरादेरनर्थहेतुत्वेन तरुस्तुत्या ज्ञानोपदेशेन गोपेषु मात्सर्यनिवारणस्याप्यैश्वर्यबोधकत्वादैश्वर्यनिरूपणं एकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे भगवतेऽन्नदानार्थमागतानां यज्ञपत्नीनां तत्पत्यादिभिरन्यपरत्वे ज्ञातेपि भगवद्वाक्येन देवानुमत्या पत्यादीनामसूयाद्यभावस्य वीर्यबोधकत्वात् पत्नीद्वारा विप्रबोधनस्यापि वीर्यकार्यत्वाद् वीर्यनिरूपणं विंशेऽध्याये ॥ २० ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे हेतुनिराकरणेन पारम्पर्यागतस्येन्द्रयागस्य त्याजनाद् वैष्णवयागकारणाच्च च स्वधर्मयोजनात्मकयशोनिरूपणं एकविंशेऽध्याये ॥ २१ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे गोवर्धनधारणेनेन्द्रकृतोपद्रवरूपापत्तिनिवारकत्वात् श्रीनिरूपणं द्वाविंशेऽध्याये ॥ २२ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे पुनर्वर्षान्तरेपीन्द्रयागाभावार्थं वैष्णवयागकारणार्थं गर्गवाक्यैर्भगवद्विषयकाशङ्कानिवारणात् ज्ञाननिरूपणं त्रयोविंशेऽध्याये ॥ २३ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे कृतापराधेपीन्द्रे प्रसादात् मद्‌त्याजनेन दोपस्यैव दूरीकरणात् वैराग्यनिरूपणं चतुर्विंशेऽध्याये ॥ २४ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे गोकुलवासिनां वैकुण्ठप्राणात् भजनानन्ददानार्थं तत उद्धरणाच् च धर्मिनिरूपणं पञ्चविंशेऽध्याये ॥ २५ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे ध्वनिना आह्वानं कर्तुं समर्थत्वात् गमनबोधकवाक्यैर्गमनं अकर्तुं समर्थत्वात् प्रभुवाक्योल्लङ्घनदोपं गुणं कर्तुं समर्थत्वात् गर्वेऽन्तर्धानेनापि अन्यथाकर्तुं समर्थत्वादैश्वर्यनिरूपणं षड्विंशेऽध्याये ॥ २६ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे बाह्याभ्यन्तरभेदेन भगवत्सम्बन्धानां भक्तानां दोषेपि भगवता परित्यागाभावस्य सर्वोत्कृष्टस्य भगवन्मार्गस्य ज्ञापनार्थं कायेन रमणाभावे मनसा वाचा वापि रमयेदिति ज्ञापनार्थं परोक्षेणापि रतिकरणात् वीर्यनिरूपणं सप्तविंशेऽध्याये ॥ २७ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे वचसा रमणज्ञापकगोपिकावचनैर्यशोनिरूपणं अष्टाविंशेऽध्याये ॥ २८ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सकृद्भोगनिवारणार्थं आविर्भावकरणाद् भक्तान्तःकरणसन्तोषार्थं वाक्यकथनाच् च तत एव मरणरूपापत्तिनिवारणात् श्रीनिरूपणं ऊनत्रिंशेऽध्याये।२९।

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे षड्गुणरूपाभिः स्वामिनीभी रसरूपेण स्वरूपेण रमणात् धर्मिनिरूपणं त्रिंशेऽध्याये ॥ ३० ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे कौतुकेनापि कृतानां अवैष्णवकर्मणां दुःखहेतुत्वेन तत्र भगवत औदासीन्यभावबोधनात् तत्रापि भक्तवत्सलेन भगवतैव मोचने भक्तैस्तत्कर्मपरित्यागात् मर्यादारमणेपि शङ्खचूडसम्बन्धकथनेन भगवत औदासीन्यभावबोधनाद् वैराग्यनिरूपणं एकत्रिंशेऽध्याये ॥ ३१ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे विरहे गुणगानस्य ज्ञानरूपत्वात् ज्ञाननिरूपणं द्वात्रिंशेऽध्याये ॥ ३२ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे गोकुलस्थानां विरहे जीवनसम्पादकभगवदाविर्भावहेतुभक्तिप्रतिबन्धकस्यारिष्टस्य वधं कर्तुं शक्तत्वात् नारदेन भगवति वसुदेवपुत्रत्वे ज्ञापिते वसुदेववधाय कंसे उद्युक्तेपि वसुदेववध अशक्तत्वाद् भगवदर्थं कंसचिन्तितानां उपायानां कंसवधहेतुत्वकरणेन अन्यथाकर्तुं शक्तत्वादैश्वर्यनिरूपणं त्रयस्त्रिंशेऽध्याये ॥ ३३ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे गोकुलस्थानां राजसत्वभवने हेतुज्ञानप्रतिबन्धकस्य केशिनः परोक्षे सुखहेतुलीलाप्रतिबन्धकस्य फलहेतुकर्मप्रतिबन्धकस्य च व्योमासुरस्य हननात् भक्तदुःखे हेतुकर्तृत्वेन भीतेन नारदेन भगवत्प्रबोधनस्यापि वीर्यकार्यत्वात् वीर्यनिरूपणं चतुस्त्रिंशेऽध्याये ॥ ३४ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे भगवता भक्तिज्ञानकर्मप्रतिबन्धकनिवारणेऽक्रूरे वैकुण्ठे स्थापनाय त्रितयसिद्ध्यर्थं मध्ये

मार्गे भक्तिज्ञानकर्मोपयोगिभिर्माहात्म्यविज्ञानस्वरूपबोधमनोरथैः कृष्णरामनन्दानां प्रसादकथनाद् यशोनिरूपणं पञ्चत्रिंशेऽध्याये ॥ ३५ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे विरहे भक्तानां हृदि प्रादुर्भावेन प्राणगमनापन्निवारकत्वात् अक्रूरे वैकुण्ठप्रदर्शनेन सर्वसम्पत्त्या सर्वभक्तापन्निवारकत्वबोधनात् श्रीनिरूपणं षट्त्रिंशेऽध्याये ॥ ३६ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे भगवद्धानेनैवाक्रूरेण स्तुतिकरणात् ज्ञाननिरूपणं सप्तत्रिंशेऽध्याये ॥ ३७ ॥

यत्र तात्कालिकज्ञानेन स्तुतिस्तत्र ज्ञानं अध्यायार्थः । यत्र पूर्वसिद्धज्ञानेन स्तुतिस्तत्र यशोऽध्यायार्थ इतिविभेदः ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे अक्रूरस्य गृहे प्रेपणेनौदासीन्यबोधनात् रजके वायके मालाकरे च कर्महेतुकदण्डप्रसादाभ्यां स्वस्यौदासीन्यबोधनाच् च वैराग्यनिरूपणं अष्टत्रिंशेऽध्याये ॥ ३८॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे कुब्जारूपकरणेन स्त्रीपुकृपावत्त्वस्य स्वरूपधर्मस्य बोधनात् धनुर्भङ्गस्य स्थावरनिग्रहस्य रक्षकवधस्य जङ्गमनिग्रहस्य कर्महेतुकत्वाभावेन भक्तानां दुःखनिवारकमाहात्म्यबोधनार्थकत्वेन धर्मिकार्यत्वात् धर्मिनिरूपणं एकोनचत्वारिंशेऽध्याये ॥ ३९ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे भक्तानामासक्तिप्रतिबन्धकत्वाद्भयनिवारणार्थं कृतस्य कुवलयापीडवधस्य गजदन्तवरायु-

धार्थकत्वेनैश्वर्यबोधकत्वात् दशविधरसविशिष्टस्वरूपप्रदर्शनस्यापि ऐश्वर्यबोधकत्वाद् दर्शनमात्रेण प्रबुद्धसंस्कारैः लोकैः परस्परतद्गुणप्रकाशकवार्ताकरणस्यापि ऐश्वर्यबोधकत्वादैश्वर्यनिरूपणं चत्वारिंशेऽध्याये ॥ ४० ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे भक्तानामासक्तिप्रतिबन्धक-आन्तरभयनिवारणार्थं कृतस्य मल्लकंसादिवधस्य केवलवीर्यबोधकत्वाद्वीर्यनिरूपणमेकचत्वारिंशेऽध्याये ॥ ४१ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे मातापित्रोर्विमोचनस्य उग्रसेनराज्यदानस्य सर्वयादवप्रत्यानयनस्य नन्दादिप्रतियापनस्य लब्धसंस्कारत्वस्य यशोबोधकत्वात् कालभयस्य भगवदासक्तिहेतुत्वेन आसक्तेषु यादवेषु कालगुणजरानिवृत्तेर्गुरोर्मृतपुत्रानयनेन साक्षात्कालनिवृत्तेश्च यशोबोधकत्वाद् यशोनिरूपणं द्विचत्वारिंशेऽध्याये ॥ ४२ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिप्रतिबन्धाभावाय स्निग्धानां सान्त्वननिरूपणप्रस्तावे भगवतो व्रजस्थप्राणगमनरूपापत्तिनिवारणोद्योगकथनाद् व्रजं गतस्योद्धवस्यापि श्रीमत्त्वकथनाद् व्रजवर्णनस्यापि श्रीनिरूपकत्वादुद्धवसमागमे नन्देन दावाग्न्यादिमृत्युभ्यो रक्षितत्वस्य स्मरणात्, उद्धवेनापि अन्तर्मुखत्वे भगवत्स्थितिबोधनात्, लौकिकसम्बन्धनिराकरणाद् भगवतः सर्वरूपत्वकथनाच्चान्ते भगवच्छ्रीरूपाणां गोपिकानां निरूपणाच्च श्रीनिरूपणं त्रिचत्वारिंशेऽध्याये ॥ ४३ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिप्रतिबन्धाभावाय स्निग्धानां सान्त्वननिरूपणप्रस्तावे भगवति मानासूयादि-

दोषाणां ज्ञाननिवर्त्यत्वेन पूर्वं दोषनिरूपणस्य ज्ञानोपयोगित्वाद् उद्धवे भगवदुपदिष्टज्ञानस्य विद्यमानत्वेन गोपिकोक्तदोषाणां गुणत्वेनैव ज्ञानाद् उद्धवेनोपदेशे वियोगाभावसर्वाश्रयत्वज्ञान-मयात्मत्वबोधनाद् 'यत्त्वह' मित्यादिना विरहसामयिक-भगवदभिप्रायबोधनाच्च निरन्तरं व्रजभक्तसङ्गेन तादृग्भक्ति-कारणस्य भक्तभावज्ञानस्य उद्धवेपि जातस्य उद्धवोक्तवचनै-र्गोपीनमस्कारान्तैरवगमाज् ज्ञाननिरूपणं चतुश्चत्वारिंशेध्याये ॥ ॥ ४४ ॥ एवं तामसानां सान्त्वनम् ।

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिप्रतिबन्धाभावाय स्निग्धानां सान्त्वननिरूपणप्रस्तावे कुब्जासमागमस्य कामहेतु-कत्वेन तस्यै कामवरप्रदानेन औदासीन्यबोधनात्, अक्रूरसमा-गमस्यापि अन्यत्र प्रेषणार्थकत्वेन औदासीन्यबोधकत्वात्, अक्रूरस्तुतौ मायानिवृत्तेर्वैराग्यकार्यस्य प्रार्थनाच्च वैराग्यनिरू-पणं पञ्चचत्वारिंशेध्याये ॥ ४५ ॥ एवं राजसानां सान्त्वनम् ।

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिप्रतिबन्धाभावाय स्निग्धानां सान्त्वननिरूपणप्रस्तावे कुन्तीस्तुतौ भक्तशरणत्वस्य स्वरूपधर्मस्य बोधनात्, अक्रूरविदुराभ्यां कुन्तीपाण्डवसान्त्वना-नन्तरं अक्रूरोपदिष्टेन धृतराष्ट्रेण पाण्डवरक्षाया अकरणस्य भूभार-हरणहेतुत्वेन धर्मिकार्यत्वात् धर्मिनिरूपणं षट्चत्वारिंशेध्याये ॥ ४६ ॥ एवं सात्त्विकानां सान्त्वनमिति दशमे पूर्वार्धम् ।

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे कृष्णव्यसनित्वस्य फल-प्राप्तौ प्रयोजकत्वाल्लौकिकव्यसनप्राप्तौ तन्निराकरणस्यैव कृष्ण-

व्यसनसाधनत्वेन प्रजापतिप्रसूतस्य राजसभावापन्नस्य जरासन्धस्य सप्तदशवारं व्यसनकर्तुः केवलपौरुषेण तावद्वारनिराकरणार्थं ध्यायति कृष्णेऽलौकिकरथायुधाद्यागमनस्यैश्वर्यकार्यत्वात्, पुनर्विप्रप्रसादपुष्टतामसयवनकृते, शिवप्रसादपुष्टसात्त्विकभावापन्नजरासन्धकृते च दुःखे तन्निवारणस्य प्रकारान्तरसाध्यत्वेन तदर्थं द्वारकानिर्माणादेरैश्वर्यकार्यत्वादैश्वर्यनिरूपणं सप्तचत्वारिंशेऽध्याये ॥ ४७ ॥

एवं शत्रुकृतभौतिकदुःखनिवारणेन लौकिकानां कृष्णव्यसनसिद्धिः ।

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे यवनदूपिते स्थाने नित्याया मथुरायाः स्थित्यभावात् कृतानामपि वैदिककर्मणां फलसाधकत्वाभावात् वैदिकानां तद्रूपाध्यात्मिकदुःखे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं मुचुकुन्दद्वारा यवनहननस्य बुद्धिवीर्यरूपत्वान्निद्रया साधनाभावरूपाध्यात्मिकदुःखिनो मुचुकुन्दस्यापि स्तुतिः, तुष्टेन भगवता स्वसामर्थ्यदानेन मुक्तिसाधने सामर्थ्यप्रापणस्य वीर्यरूपत्वाद्वीर्यनिरूपणमष्टचत्वारिंशेऽध्याये ॥ ४८ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे नित्यदा वर्षावता प्रवर्षणेनाग्निप्रार्थनायां स्वयं सर्वजीवनाशकाग्निदानस्य यशोविरुद्धत्वेन रुक्मिणीप्रतिबन्धाभावाय पराजयहेतुपापोद्भवार्थं यवनद्रव्यग्रहणतो नष्टबुद्धिभिर्दुष्टैरग्निदापनस्य यशोरूपत्वात् नारदादिभ्यः श्रुतभगवद्गुणाया रुक्मिण्या दुष्टकृतप्रतिबन्धेन भगवद्वरणाभावरूपाध्यात्मिकदुःखे प्राप्ते तन्निवारणार्थं प्रेपितविप्र-

सम्माननस्य यशोरूपत्वात् रुक्मिणीप्रेषितपत्रिकाया भगवता श्रवणेन रुक्मिणीवाचोऽन्यसंबन्धित्वरूपवाचिकदुःखनिवृत्तौ पत्रिकायां यशसः स्थितत्वाद्यशोनिरूपणमेकोनपञ्चाशत्तमाध्याये ॥ ४९ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे विदर्भपुरे सर्वलोकरञ्जनार्थं स्वरूपशोभाप्रदर्शनस्य श्रीप्रयुक्तत्वात् रुक्मिणीकायस्य अन्यसंबन्धित्वरूपकायिकदुःखनिवारणार्थं साक्षाच्छ्रीरूपाया एव रुक्मिण्या हरणात् श्रीनिरूपणं पञ्चाशत्तमेऽध्याये ॥ ५० ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे कृष्णेन हृतामपि मां प्रबला दुष्टाः प्रतिनेष्यन्तीत्याकारकरुक्मिणीमानसदुःखनिवारणार्थं सर्वराज्ञां पराभवे कृतेऽतिसाहसेन समागतस्य रुक्मिणोऽपि पराभवे मुण्डने च कृते बद्ध्वा द्वारकां नीयमानस्य रुक्मिणो रामेण मोचने रुक्मिणीविचारितभङ्गात् जातस्य वैमनस्यस्य रामोपदिष्टज्ञानेन निवारणात् ज्ञाननिरूपणमेकपञ्चाशत्तमाध्याये ॥ ५१ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे स्वपुत्रस्य प्रद्युम्नस्य सूतिकागृहात् शम्बरेण हरणे भगवत उदासीनत्वात् कामस्य सर्वलोकदुःखहेतुत्वाद्भगवता दुःखनिवारणे क्रियमाणे कामादेर्दुःखदानेऽशक्तत्वज्ञापनार्थं कामस्यैव देहनाशभार्याहरणादेर्दुःखस्य निरूपितत्वात् स्मृतदुःखेन विरक्तेन कामेन सर्वत्र दुःखदानाभावाय स्वपुत्रस्यैव तस्य दुःखदापनात्, भक्तेषु दुःखहेतुत्वाभावार्थं स्वसंबन्धिदेहेन कामनिरोधाच्च वैराग्यनिरूपणं द्विपञ्चाशत्तमाध्याये । एवं भगवति कामाभावः ॥ ५२ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे लोके ख्यातानां मण्यादीनामपि दुःखनिवारकत्वे भगवतो दुःखनिवारकत्वनियमभङ्गे प्राप्ते तन्नियमदार्ढ्यार्थं भगवद्भक्तेषु निरोधरहितेषु मणिहेतुकदुःखनिरूपणाय मणिकथाप्रस्तावे सर्वलोकेषु भगवति मणिहारकत्वरूपदोषारोपस्य मायाकृतस्य सर्वदुःखमूलस्याधिदैविकदुःखस्य, भगवति दोषारोपे च भक्तानां हृदये जातस्याधिदैविकदुःखस्य च निवारणार्थं मणिप्रत्यानयनस्य धर्मिकार्यत्वात्, लक्ष्मीसरस्वतीरूपजाम्बवतीसत्यभामापरिणयस्यापि धर्मिकार्यत्वात्, बिले बहुकालस्थित्या राजसानां निरोधपरीक्षायाः भक्तेन जाम्बवता युद्धस्य जाम्बवतः स्वरूपनिष्ठत्वकरणस्य च धर्मिकार्यत्वाद्धर्मिनिरूपणं त्रिपञ्चाशत्तमेऽध्याये। मिथ्याभिशापेपि जाते मण्यानयनेन निवारणाद् भगवति क्रोधाभावः ॥ ५३ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे मणिकथाप्रस्तावे अभक्तसत्राजिद्घातकत्वेन प्रियाय शतधन्वने कृष्णभयदशायां कृतवर्माक्रूराभ्यां लौकिकालौकिकप्रबोधवतः मर्यादारूपबलदेवविसम्भतावपि मुक्तिरूपालौकिकफलप्रदानस्य केवलैश्वर्यमूलत्वात् मणिहर्तुरक्रूरस्य काशीतः प्रत्याकारितस्य धर्मसंयुतार्थफलसिद्ध्यर्थं तस्मै सर्वलोकदृष्टमणिप्रत्यर्पणस्याप्यैश्वर्यबोधकत्वादैश्वर्यनिरूपणं चतुःपञ्चाशत्तमेऽध्याये। एवं मणिप्रत्यर्पणेन भगवति लोभाभावः ॥ ५४ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे पाण्डवेषु स्ववीर्यं दत्वा सभागाण्डीवनगरनिर्माणैर्धर्मार्थकामफलदानात्, यादवेषु विद्या-

पर्वजफलदानार्थं विद्यापर्वस्वरूपाणां पञ्चनायिकानां कामफल-सिद्ध्यर्थं वीर्यशुल्केन परिणयात्, पर्वात्मकनायिकानां भगवच्छक्तिरूपत्वेन नायिकासम्बन्धिष्वपि भगवच्छक्तिरूपधर्मद्वारा कृष्णसम्बन्धफलदानाद्वीर्यनिरूपणं पञ्चपञ्चाशत्तमेऽध्याये॥५५॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे विरक्तेषु भक्तिसंयुतेषु भक्तेषु भगवत्सम्बन्धिसुखस्य ऐहिकामुष्मिकविलक्षणत्वज्ञापनार्थं अनन्तत्वज्ञापनार्थं चाविद्याकार्यरूपाहंममात्मकं मुरं निहत्य ऐहिकसुखरूपं नरकं च निहत्य इन्द्रादिदेवांश्च परिभूय कामसुखहेतुमनोमहिष्योरेकादशेन्द्रियपञ्चविषयात्मकषोडशकलयोः सहस्रवृत्तिरूपाणां षोडशसहस्रनायिकानां परिणयेन यादवेषु तादृशसुखरूपफलप्रदानस्य यशोरूपत्वाद् दैत्यवधेन देवकार्यसाधनस्य देवपराभवेन भक्तमनोरथपूरणस्य च यशोरूपत्वाद् भूमिप्रार्थनया तत्पौत्राभयदानस्य च यशोरूपत्वाद् यशोनिरूपणं षट्पञ्चाशत्तमेऽध्याये ॥ ५६ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सर्वभक्तानां दोषं निवारयन् फलभोगे सामर्थ्यं फलं च यच्छतीति ज्ञापनार्थं श्रीरूपाया रुक्मिण्यास्तदतिदेशेन च सर्वासां श्रीरूपाणां मध्यमाधिकारित्वात् परिहासत्वात् परिहासोक्तिरूपवाचिकतिरोधानेनाभिमानादिदोषान् निवार्य दार्ढ्यं सम्पाद्य दृढभगवत्सम्बन्धसम्पादनात् श्रीनिरूपणं सप्तपञ्चाशत्तमेऽध्याये ॥ ५७ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे भगवत्पत्न्यो रमणकर्तुर्भगवतो मनो वशीकर्तुं न समर्था इति निरूपणस्य ज्ञानबोधकत्वात्

भगवत्सम्बद्धैर्भक्तैर्भगवत्कार्यवत् भगवद्वंशविस्तारोपि कर्तव्य इति बोधनार्थं लोकवेदप्रकारेण श्रुत्यर्थप्रतिपादकदशपुत्रपौत्राद्युत्पत्तिरपि ज्ञानकार्यरूपत्वात् श्रुतौ ज्ञानिनां पापं तद्द्वेषिषु सञ्चरतीति निरूपणात्, अत्रापि प्रद्युम्नानिरुद्धयोरधमोद्वाहजपापस्य बलभद्रकृतवधेन ज्ञापितस्य कृष्णादिसर्वयादवद्वेषिणि रुक्मिणि सञ्चारेण ज्ञानलीलाया निरूपणात् ज्ञाननिरूपणमष्टपञ्चाशत्तमेऽध्याये ॥ ५८ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे लोकानां लौकिकेषु सर्वभावेन प्रपञ्चस्यैव स्वप्नमनोरथादिप्रयोजकत्वात् प्रपञ्चाद्वैतवत् भक्तानां यादवानां कृष्णकृतोपकारजनितेन कृष्णे सर्वभावेन कृष्णस्यैव स्वप्नमनोरथादिप्रयोजकत्वात् कृष्णाद्वैतफलदानज्ञापनार्थमूषाख्याननिरूपणप्रस्तावे अनिरुद्धकार्यसिद्ध्यर्थमूषया द्वारकातोऽनिरुद्धहरणे जानतोऽपि भगवतः स्वधर्मोपसंहारेण तूष्णींभावस्य वैराग्यबोधकत्वाद् वैराग्यनिरूपणमेकोनषष्टितमेऽध्याये ॥ ५९ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे महादेवादिदेवाः स्वभक्तेभ्यो वरं दत्वा युद्धज्वराद्युपायसहस्रैरपि वरपालनेऽशक्ता इति ज्ञापनार्थं बाणभुजकृन्तनस्य धर्मिकार्यत्वात्, भगवांस्तु स्वभक्तेभ्यो वरं दत्वा तत्पालने शक्त इति ज्ञापनार्थं शिवस्तुत्या शिवात् श्रेष्ठत्वं ज्ञापयित्वा युद्धेपि बाणरक्षणस्य च धर्मिकार्यत्वात् महादेवस्तुतौ च धर्मिस्वरूपनिरूपणात् भक्तकार्यसाधनेन भक्तपक्षपातस्यापि धर्मिबोधकत्वाद् धर्मिनिरूपणं षष्टितमेऽध्याये ।६०।

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे भक्तेन भगवदाज्ञया भगवदिच्छां च ज्ञात्वैव सर्वं कर्तव्यम्, अविचार्य धर्मादिष्वत्यन्तमाग्रहो न कर्तव्यः, धर्मादिमार्गेषु ब्राह्मणादीनां क्षोभोपि न कर्तव्य इति त्रयज्ञापनार्थं पूर्वतनभक्तस्य भगवदिच्छाज्ञानाभावेनाविचारेण दानाग्रहवतो ब्राह्मणक्षोभात् प्राप्तदुर्जरब्रह्मस्वापहारदोषफलं भुञ्जतो नृगस्य कर्मक्षयाभावेपि निजैश्वर्येण प्रमेयबलेन दोषनिवारणपूर्वकमोचनादैश्वर्यनिरूपणमेकषष्टितमेऽध्याये ॥ ६१ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे बलभद्रे स्वगुणानाधाय तद्द्वारा पश्चात् जातानां गोपीनां रमणेन निरोधनस्य वीर्यबोधकत्वात्, भगवदीयगोपीषु उद्धवोपदेशेन निवृत्तस्यापि भगवति कृतघ्नतादिदोषारोपदोपस्य संस्कारमात्रेण स्थितस्य बलदेवसान्त्वनेन निवृत्तेः प्रमेयरूपभगवद्वीर्यबोधकत्वात्, सर्वत्रानुकल्पस्य सानुभावत्वबोधनार्थं वरुणप्रेपितमधुधारया देवसम्मतरमणकान्तिसन्माननाभ्यां बोधितभगवदावेशेन बलदेवेन, बान्धवक्षोभेण भगवत्प्राप्तिरूपार्थरहिताया यमुनाया जलक्रीडार्थमाकर्षणेन भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकदोषनिवारणास्यापि प्रमेयरूपभगवद्वीर्यबोधकत्वाद्वीर्यनिरूपणं द्विषष्टितमेऽध्याये ॥ ६२ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे मात्सर्येण निजरूपधारकस्यापि पौण्ड्रकस्य तद्दोपनिवारणेन मुक्तिदानस्य यशोनिरूपकत्वात्, सुदक्षिणप्रहिताभिचारप्रतिघातहेतुब्रह्मण्यत्वस्यापि यशोरूपत्वाद् यशोनिरूपणं त्रिषष्टितमेऽध्याये ॥ ६३ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे बलदेवरमणस्य श्रीप्रयुक्तत्वात् द्विविदमुक्तिप्रतिबन्धकदोषनिवारणेन तदापत्तिनिवारणस्य तद्वधेन ऋष्यादिसर्वलोकापत्तिनिवारणस्य च श्रीकार्यत्वात् श्रीनिरूपणं चतुःषष्टितमेऽध्याये ॥ ६४ ॥

अत्राध्यायचतुष्टये किञ्चिदधिकं लिख्यते ।

नृगस्य सूर्यवंशोद्भवत्वेन भक्तत्वं सात्त्विकत्वं च । परं धर्मव्यसनित्वात् ब्राह्मणक्षोभात् प्राप्तब्रह्मस्वापहारदोषेण धर्मो न सिद्धः, अधर्मश्च सिद्धः, अत एव धर्मफलाभावोऽधर्मफलभोगश्च, परं भक्तत्वात् द्वारकापतितत्वात् भगवतैव प्रमेयबलेन दोषनिवारणे धर्मः सिद्धः, ततो देवगतिर्मुक्तिश्च ॥ ६१ ॥

यमुनाया अपि सूर्यपुत्रीत्वेन भक्तत्वं सात्त्विकत्वं च । इयं च यमुना न लीलामध्यपातिनी, तस्यां दोषसंभावनाऽभावात्, किन्तु कालिन्दीरूपा, तस्याश्च पतित्वेन भगवत्प्राप्तिरूपार्थव्यसनित्वात् बान्धवयमक्षोभेण बान्धवैर्विष्णवेऽदानात् भगवत्प्राप्तिरूपोऽर्थो न सिद्धः । अत एव तपश्चरणम्, 'मत्त इत्यापगा' मित्यनेन बलदेवाविष्टभगवदज्ञानम्, बलदेवेनाकर्षणम्, भर्त्सनं च, परं भक्तत्वात् तत्र जलक्रीडायां बलदेवाविष्टभगवता प्रमेयबलेन तद्दोषनिवारणे पश्चादिन्द्रप्रस्थं गतस्यार्जुनस्य सख्युर्भगवतः पतित्वेन प्राप्तिः । अत्र दशमस्कन्धे कृष्णकृतानां लीलानां न क्रमेण निरूपणम्, किन्तु निरोधस्यैवोत्तरोत्तरमुत्कृष्टस्य क्रमेण निरूपणम् । तत्र क्रमेण निरोधे निरूप्यमाणे यासां लीलानां यत्रोपयोगः, तासां तत्र निरूपणमित्यदोषः ॥ ६२ ॥

पौण्ड्रकस्यापि करूपाधिपतित्वेन षष्ठमनुपुत्रस्य करूपस्य वंशे उत्पन्नस्य सूर्यवंशीयत्वेन भक्तत्वं सात्त्विकत्वं च। तस्यापि वासुदेवत्वेन लोकप्रतिष्ठारूपकामव्यसनित्वात् काशीराजादि-दुष्टसङ्गेन वासुदेवस्वरूपे कृष्णे मात्सर्यदोषेण वासुदेवात्मक-कृष्णक्षोभात् लोकप्रतिष्ठारूपः कामो न सिद्धः, परं भक्तत्वात् निरन्तरं भगवत्स्मरणाच्च भगवतैव प्रमेयबलेन हननेन तद्दोष-निवारणे जाते वासुदेवस्वरूपत्वे वैकुण्ठे प्रतिष्ठारूपः कामः सिद्धः, काशिराजस्य न किञ्चित् सिद्धम्, अभक्तत्वात् ॥ ६३ ॥

द्विविदस्यापि रामावतारे सुग्रीवसचिवत्वेन भक्तत्वम्, देवांशत्वेन सात्त्विकत्वं च। तस्य मोक्षव्यसनित्वेपि विषयसुखात्मक-नरकासुरसख्येन ईश्वरस्य वेदस्य क्षोभात् जगद्व्यतिकरावह-त्वदोषान्न रामावतारे मोक्षः सिद्धः। बलदेवाविष्टभगवतैव प्रमेयबलेन तद्दोषनिवारणे पश्चान्मोक्षः सिद्धः ॥ ६४ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे लक्ष्मणाहरणप्रसङ्गे पाण्डवानां कौरवाणां सकृष्णेषु यादवेषु हीनत्वभावनारूपं दोषं निवार्य बलदेवाविष्टभगवता प्रमेयबलेन ज्ञानजननात् ज्ञान-निरूपणं पञ्चषष्टितमेऽध्याये ॥ ६५ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे वैष्णवमुख्यस्य नारदस्य सर्वगेहेष्वेकरूपेण वर्तमानत्वप्रदर्शनेन प्रमेयबलेनाज्ञानदोषं निवार्य निर्लिप्ततया लोकशिक्षार्थं गृहस्थधर्माचरणकथनाद्वैराग्य-निरूपणं षट्षष्टितमेऽध्याये ॥ ६६ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे 'अथोपस्युपवृत्तायाम्'मित्यादिना निरूपितस्य प्रत्यूहकारित्वस्य स्त्रीणां दोषस्य स्वयं

धर्माचरणेन निवारणात् स्त्रीषु कृपावत्त्वस्य स्वरूपधर्मत्वेन धर्मिबोधकत्वात्, अग्रे राजसभाप्रवेशे उद्धवे प्रश्ननिरूपणात् यादवानां भगवदिच्छाविरुद्धस्य जरासन्धजिगीषुत्वस्य दोषस्य निवारणात् भक्तयुधिष्ठिरपक्षपातस्य स्वरूपधर्मत्वात् धर्मि-निरूपणं सप्तषष्टितमेऽध्याये ॥ ६७ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे नीतिपूर्वं जानता समर्थेनापि भगवदाज्ञां साहाय्यं वा लब्धव्यं जनोद्योगे भगवता आगत्य हिते उपदिष्टे कृते च तदनुसारेणैव कृतस्य वैदिक-कर्मणो यज्ञादेः साधनत्वं ज्ञापयितुं युधिष्ठिरप्रार्थनया तन्मनः-प्रीणनार्थं सर्वसैन्यसाहित्येनेन्द्रप्रस्थं गतस्य भगवतो युधिष्ठिरा-दिकृतपूजादेरैश्वर्यबोधकत्वादैश्वर्यनिरूपणमष्टषष्टितमेऽध्याये ॥ ६८ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे युधिष्ठिरेण यज्ञार्थं स्वमनोविचारितनिवेदने भगवता च यज्ञायाज्ञप्ते तद्भ्रातृभ्यः स्वसामर्थ्यं दत्त्वा तैर्दिग्विजयस्य पुनर्ध्यायति युधिष्ठिरे उद्धवोक्तप्रकारमुक्त्वा भीमे स्वसामर्थ्यं दत्त्वा तेन जरासंधवधस्य च वीर्यकार्यत्वाद्वीर्यनिरूपणमेकोनसप्ततितमेऽध्याये ॥ ६९ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे जरासंधरुद्धराज्ञां मोचनस्य तत्कृतसत्कृतेस्तेषां स्वाज्ञप्तलौकिकवैदिकसाधनकरणस्य च यशोरूपत्वाद् यशोनिरूपणं सप्ततितमेऽध्याये ॥ ७० ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे साधनरूपयज्ञसंसिद्धेः श्रीकार्यत्वाद् यज्ञे शिशुपालादिदैत्यसन्निधौ देवानां निःशङ्क-

मागमनहविर्ग्रहणाद्यसंभवाद्देवशङ्कानिवृत्त्युपाये भगवत्पूजने कृते दैत्यानां मतिक्षोभात् कृष्णगुणवर्णनजातमन्युना शिशुपालेन स्वपीठादुत्थाय प्रकटतया दैत्यस्वरूपे दर्शिते भगवन्निन्दने च कृते भगवता शिशुपालवधेन तच्छापरूपापत्तिनिवारणस्य च श्रीकार्यत्वात् श्रीनिरूपणमेकसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७१ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे अभक्तसङ्गत्यागरूपं साधनं वक्तुं युधिष्ठिरस्य अलौकिकीं यज्ञसंपत्तिं लौकिकी-मन्तःपुरसभासंपत्तिं च दृष्ट्वा तप्ते दुर्योधने पुनर्जलस्थलदृशिभ्रमे भीमादिभिः कृतेन हास्येन भग्नमाने भृशं संतप्ते पाण्डवेषु वैरं निश्चित्य हस्तिनापुरं गते भगवतस्तूष्णींभावस्य भूभारहरणोपाय-ज्ञानमूलत्वात् दुर्योधनमानभङ्गे समागतो रामोऽविचार्य पाण्डवान् हनिष्यतीति ज्ञात्वा तद्रक्षार्थं भगवतस्तत्र स्थितेरपि ज्ञानमूलत्वात् ज्ञाननिरूपणं द्विसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७२ ॥

षट्चत्वारिंशाध्यायेऽक्रूरोपदिष्टेन धृतराष्ट्रेण पुत्रादिमरणं भूभारहरणं च जानतैव ज्ञानविरुद्धकरणाद्धर्मिलीलात्वम् । अत्र तु दुर्योधनभीमादीनां तज्ज्ञानाभावाद् भगवज्ज्ञानानुसारेणैव सर्वकरणमिति ज्ञानलीलात्वमिति विभेदः ।

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे भगवदाज्ञोल्लङ्घनस्य अनिष्टहेतुत्वेनासाधनत्वं ज्ञापयितुं आज्ञामुल्लङ्घ्य द्वारकात इन्द्रप्रस्थं गते रामे द्वारकायां शाल्वकृतात्यन्तपीडानिरूपणे स्वपुत्रस्य प्रद्युम्नस्य पराजये मूर्छायां च द्वारकामुपेक्ष्य भगवत इन्द्रप्रस्थे स्थितिबोधनाद् वैराग्यनिरूपणं त्रिसप्ततितमेऽध्याये॥ ॥ ७३ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे भगवदाज्ञायां सत्यां लौकिकं वैदिकं च कर्मापि भगवत्प्राप्तिसाधनम् । आज्ञाभावे तु भगवत्सेवनमेव परमं भगवत्प्राप्तिसाधनमिति ज्ञापयितुं महादेववरप्राप्तपुरशाल्ववधप्रसङ्गे पूर्वपक्षत्वेन मतान्तरसिद्धमोहलीलोक्त्यनन्तरं सिद्धान्तकथने भगवत्पादसेवकानामूर्जितात्मविद्ययाऽविद्यानिवृत्तिपूर्वकमात्मीयानन्तैश्वर्यलाभकथनात् कैमुत्येन शोकमोहादिरहितनिर्गुणकृष्णस्वरूपबोधनाद् धर्मिनिरूपणं चतुःसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७४ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे स्पष्टदुःखाभावरूपफलदानार्थं कृष्णेन त्रिविधदुष्टहननानन्तरं पुरप्रवेशे सुरमानवमुन्यादिभिः कुसुमवर्षिभिरुपगीयमानविजयत्वस्यैश्वर्यबोधकत्वाद्भगवति न्यस्तशस्त्रे यादवानामाज्ञाकारित्वस्याप्यैश्वर्यबोधकत्वात्, रामेणापि अधमे वक्तरि सति श्रोतॄणां पापसंभवज्ञानानुदयरूपस्य स्पष्टस्य दोषस्य सर्वसाधारणस्य निवारणार्थं ऋषिभिः कलिकालदोषेण अधमस्य वक्तृत्वेन स्थापितस्य सूतस्य वधानन्तरमृषीणां संतोषार्थं सर्वसामर्थ्यवन्तं श्रीभागवतश्रवणकथनाधिकारिणं स्वावतारं विधाय तत्पुत्रे स्थापनस्यैश्वर्यबोधकत्वाद्बल्वलनिवेशेन लोकसंग्रहस्य मुनीनां वरेण छन्दनस्य चैश्वर्यबोधकत्वादैश्वर्यनिरूपणं पञ्चसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७५ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे अस्पष्टदुःखाभावरूपफलदानार्थमगृहीतशस्त्रेणैव कृष्णेन पाण्डवेषु स्वसामर्थ्यं स्थापयित्वा सर्वसाहाय्यकरणस्य वीर्यबोधकत्वात् रामेणापि ऋषीणामसा-

धारणदोषस्य बल्वलस्य हननानन्तरं तीर्थाभिषेकेण तीर्थेषु विद्यमानानां दैत्यसंबन्धेन वर्णाश्रमधर्मनाशकानां दोषाणां निवारणस्य वीर्यकार्यत्वात्, ऋषीणां ज्ञानोपदेशेन श्रीभागवत-श्रवणेऽनन्यत्वरूपाधिकारसंपादनस्य च वीर्यकार्यत्वात् वीर्य-निरूपणं षट्सप्ततितमेऽध्याये ॥ ७६ ॥

भगवता त्रिविधदुष्टहननेन त्रिगुणकृतदोषनिवृत्त्या दुःखाभावः यादवानां पाण्डवानां च स्पष्टास्पष्टदुःखनिवारणं, रामेणापि सूतवधेन कालदोषनिवृत्त्या, बल्वलवधेन तीर्थाभिषेकेण च देशदोषनिवृत्त्या यज्ञैर्ज्ञानेन चात्मदोषनिवृत्त्या दुःखाभावः सूत-वधेन ऋषीणां स्पष्टदुःखहेतुनिवारणम्, यज्ञदूषकबल्वलवधाद्यज्ञ-संपादनेन ज्ञानोपदेशेन च ऋषीणामस्पष्टदुःखहेतुनिवारणम्। तीर्थाभिषेकेण दैत्यसंबन्धनिवारणात्, सर्वलोकानामस्पष्टदुःख-हेतुनिवारणमित्यध्यायद्वयविभेदः ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सुखोत्कर्षरूपफलदानार्थं सुदाम्नो ब्राह्मणस्य अर्धं ऋषेर्दरिद्रस्य पूर्णऋषित्वभक्तत्वरूपा-लौकिकसंपत्तिसंपादनाय श्रीनिकेतेन भ्रातृवत् संमाननसंभाषणा-देर्यशोरूपत्वाद्यशोनिरूपणं सप्तसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७७ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सुखोत्कर्षरूपफलदानार्थं तण्डुलैकमुष्टिं जग्ध्वा परोक्षं ब्राह्मणभार्यायै लौकिकसर्वसमृद्धि-दानात् श्रीनिरूपणमष्टसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७८ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सर्वेषां वाञ्छिताकारेण कृष्णेन कुरुक्षेत्रे आगतानां सर्वजनानां सान्निध्यदर्शनादिभिः शुद्धसात्त्विकभावं संपाद्य देहादिकं जगत्सर्वं विस्मार्य निजपर-

त्वमपि संपाद्य यथाधिकारं स्वरूपात्मकं फलं दातुं सर्वलोकप्रसिद्धं तादृशं कालं निमित्तीकृत्य कुरुक्षेत्रे सर्वजनानयनस्य स्वगमनस्य च सर्वजननिरोधोपायज्ञानमूलत्वात्, गोपीनां सर्वभावेन निरोधार्थमन्ते साक्षाज्ज्ञानोपदेशाच्च ज्ञाननिरूपणमेकोनाशीतितमेऽध्याये ॥ ७९ ॥

सात्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे स्त्रीणामत्यन्तवल्लभस्य कृष्णस्यैव फलत्वं ज्ञापयितुं सर्वस्त्रीणां स्वस्वपतौ विद्यमानस्य सहजस्नेहस्य निवृत्तये पूर्वकृतौ पश्चात्तापपूर्वकं कृष्णे स्नेहवृद्धये च द्रौपदीपृष्टाभिः कृष्णमहिषीभिः लोकतो वेदतश्च भगवदुत्कर्षज्ञापकस्वस्वविवाहप्रकारकथनानन्तरं साक्षाद्भगवत्सेवोपयोगिदेहसंपादकदास्यप्रार्थनया चरणरजःप्रार्थनया च कृष्णे कामाद्यभावज्ञापनाद् वैराग्यनिरूपणमशीतितमेऽध्याये ॥ ८० ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सर्वसाधनवतामृषीणां भगवद्दर्शनार्थमागमनकथनेन तत्कर्तृकभगवत्स्तुत्या स्तुतौ चात्मसमर्पणकथनेन च ऋषिदेवपितॄणां चात्यन्तवल्लभस्य कृष्णस्वरूपस्यैव फलत्वकथनात्, यादवानां सात्त्विकत्वभगवदीयत्वभवनार्थं संस्कारमात्रेण स्थितस्य राजसत्वदोषस्य प्रमेयबलेन भगवता निवारणे कृतेपि उद्धवप्रश्नरूपनीत्यालम्बनात् पुनर्यादवानां संदेहोत्पत्त्या कृष्णे लौकिकबुद्ध्युदये भगवदीयत्वपूर्वकसर्वभावेन पूर्णनिर्गुणतासंपादकनिरोधाभावात् पुनः प्रमाणबलेन दोषनिवारणार्थं तदनन्तरं च सात्त्विकत्वभगवदीयत्वपूर्वकं सर्वभावेन पूर्णनिर्गुणतासंपादकनिरोधार्थं च वसुदेवपृष्टैर्मुनिभिः

प्रमाणभूतैः नारदेन निवृत्तसंदेहैर्वसुदेवे कर्मनिर्हारेषणापरित्याग-ऋणापाकरणरूपयज्ञफलासंभवात् कृष्णस्यैव यज्ञफलरूपत्वे बोधिते तदर्थमेव यज्ञेषु कारितेषु च लौकिकवैदिकसाधनानां सफलसिद्धावेकीभावानिवृत्तदोषाणां यादवानां सात्त्विकत्वे भगवदीयत्वे च संपन्ने सर्वभावपूर्वकं पूर्णनिरोधेन निर्गुणत्वे च संपन्ने सात्त्विकप्रकरणे निरूपितानां सर्वेषामप्यवभृथस्नानेन पूर्वोक्ते संपन्ने स्वरूपेणैव परमोत्सवलक्षणफलदानाद्धर्मिनिरूपण-मेकाशीतितमेऽध्याये ॥ ८१ ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे ज्ञाना-धिकाररहितस्यापि पितुर्वसुदेवस्य निजैश्वर्यबलादेवान्तरानन्द-दायकसर्ववेदार्थज्ञानदानेन भक्तिसिद्ध्यर्थं वैदिकैश्वर्यप्रकटनात्, देवक्या मातुर्बाह्यानन्ददायकपुत्रदानेन भक्तिसिद्ध्यर्थं लौकिकै-श्वर्यप्रकटनात्, कालग्रस्तानां स्वस्पर्शमात्रेणात्मदर्शनोत्पादन-रूपमोचनक्रियया जन्मान्तरमन्तरेणैव तद्देहस्यासुरयोनिनिवृ-त्तिपूर्वकं मातृस्नेहोत्पादकयथावस्थितपूर्वरूपसंपादनक्रियया च समग्रैश्वर्यबोधनादैश्वर्यनिरूपणं द्व्यशीतितमेऽध्याये ॥ ८२ ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे सुभ-द्राया आधिदैविकमायात्वेन जीवभोग्यत्वाभावात् मायातो वेदानां भीतत्वेन तस्यां वैवाहिकविध्ययोगेन विवाहस्यापि दुर्घटत्वात् भगवतश्च भ्रातृत्वेन तद्भोक्तृत्वाभावात् लोकदोषेण सर्वदा कन्यात्वेनैव स्थितेरयुक्तत्वात् पाषण्डसंन्यासवेषिण्यर्जुने नरे स्वावेशं विधाय चौर्येण तत्प्रदाने बुद्धिवीर्यप्रकटनात् स्वस्य

मुनीनां चैकेनैव रूपेण जनकश्रुतदेवयोर्गेहे एकस्मिन्नेव काले प्रवेशात् मिथिलानरयोषितां कल्याणार्थं जनकगेहे बहुकालवासे श्रुतदेवे सन्मार्गोपदेशार्थं तद्गृहे एकदिनवासेऽप्यग्रे कालद्वयस्य तुल्यत्वेन स्वप्नदर्शनवज्जातविस्मयेषु मुनिषु स्वक्रियावीर्यं प्रदर्श्य सहनीतप्रदर्शितवीर्यमुनिद्वारा अन्येषामपि वीर्यवेदित्वकरणाद् वीर्यनिरूपणं त्र्यशीतितमेऽध्याये ॥ ८३ ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे पूर्वसृष्टं सर्वमापीय सुप्तस्य सर्वतत्त्वरूपस्य भगवतः शयनान्ते प्रबोध-समये तत्त्वनिरूपणप्रकारेणाष्टाविंशतिविधानां वेदानां ब्रह्मपर-त्वनिर्णयार्थं तत्तत्प्रकरणसंदेहनिवारकैर्वाक्यशेषरूपैरष्टाविंशति-वेदवाक्यैरेव स्तुत्या प्रबोधने लौकिकयुक्त्यगोचरस्यालौकिकस्य कर्तृत्वादिरूपस्य यशसो निरूपणात् यशोनिरूपणं चतुरशीति-तमेऽध्याये ॥ ८४ ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे भगवत एव श्रीपतित्वेन श्रीभोक्तृत्वान्मोहेन जीवैः श्रीभोगे अवश्यं दुःखसंभवात् भगवतश्च विचार्यदातृत्वाद् भक्तेभ्यो दुःखहेतु-श्रियोऽदानाद्भक्तानुग्रहार्थं भक्तेषु विद्यमानाया अपि श्रियो हरणाद् भगवतः सकाशादेव प्राप्तश्रीणामविचार्यदातॄणां शंकरा-दिदेवानां दानेनैव संकटागमे तत्संकटस्य भगवतैव निवारणात् श्रीनिरूपणं पञ्चाशीतितमेऽध्याये ॥ ८५ ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वगुणज्ञापकगुणप्रकरणे वैकुण्ठे श्रिय उत्संगे शयाने भगवति सत्त्वपरीक्षार्थं भृगुणा

लत्ताप्रहाररूपे क्रियापराधे उत्थाय नमनादिना ज्ञानचिह्न-रूपायाः क्षमायाः निरूपणात् सर्वगीतार्थवेदिनापि ज्ञानरहितेन स्वस्मिन् रक्षकत्वाभिमानवतार्जुनेन द्वारकायां मृतापत्यविप्रप्रसङ्गे सर्वयादवसंनिधौ सकृष्णानां यादवानां ब्राह्मणत्वनटत्वासुंभर-त्वकथनरूपवचनापराधेपि कृतनिजात्यंतपुरुषकारस्यापि विप्रा-पत्यरक्षणाशक्तस्य परिभ्रान्तसर्वलोकस्याप्यलब्धद्विजसुतस्या-निस्तीर्णप्रतिज्ञस्याग्निं विवक्षोः प्रतिषेधेन क्षमाया ज्ञानचिह्न-रूपाया निरूपणाद् ज्ञानवतः समर्थस्यैव क्षमाज्ञानचिह्नत्वेन भूषणमिति ज्ञापयितुं सर्वागम्यादनिरुद्धस्थानादपि विप्रापत्या-नयनेन सामर्थ्यज्ञानयोरपि निरूपणाद् ज्ञाननिरूपणं षडशीति-तमेऽध्याये ॥ ८६ ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे सर्वसं-पत्समृद्धायां द्वारकायां सर्वभोगयुक्तकृष्णस्त्रीणां भगवता मानस-तिरोधाने विरहव्याकुलानां कुरर्यादिदशार्थनिरूपणमुखेन भग-वदतिरिक्तेऽनासक्तिरूपवैराग्यनिरूपणात् कृष्णे कैमुत्येन वैराग्य-बोधनाद् वैराग्यनिरूपणं सप्ताशीतितमेऽध्याये ॥ ८७ ॥

अथैकादशस्कन्धे, ज्ञानेन ब्रह्मभावप्रकरणे भूभारहरणसर्व-भक्तनिरोधरूपावतारप्रयोजननिष्पत्तिकथनपूर्वकं प्राप्तशापानां भिन्नत्वज्ञापनार्थं लीलामध्यपातियादवादिस्वरूपकथनपूर्वक-मासुरमोहनार्थं मौशलप्रसङ्गेन ज्ञानमुख्याङ्गभगवदभिप्रेतवैराग्य-निरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

इदमेव विद्यापूर्वरूपं, अविद्यापर्वप्राणाध्यासनिवर्तकं, ज्ञानेन ब्रह्मभावप्रकरणे द्वितीयाभिनिवेशनिवृत्तेरभयहेतुत्वेन तदर्थं भगवतः सर्वपदार्थानां च याथार्थ्यज्ञानपूर्वकं भगवद्भक्तैः सह भगवत्तोषहेतुभगवद्धर्मनिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

इदमेव सर्वयाथार्थ्यज्ञानं साङ्ख्यात्मकं विद्यापर्व स्वरूपाज्ञानरूपाविद्यापर्वनाशकं, ज्ञानेन ब्रह्मभावप्रकरणे परिज्ञातमायस्य दृढविरक्तस्य मायातरणार्थं गुरुं प्रपन्नस्य 'सर्वतो मनसोऽसङ्ग'दि (भा. ११-३-२३) सप्रेमलक्षणभगवद्धर्मान्तगुरुशिक्षितधर्माचरणैस्तीर्णमायस्य ज्ञातपरब्रह्मस्वरूपस्य निर्णीतवेदाद्यभिप्रायस्य यथोक्तवैदिकैस्तान्त्रिकैर्वा यज्ञैर्ब्रह्मणि स्थित्यर्थं सर्वनिर्णयनिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

इदं मनसोऽसङ्गरूपयोगात्मकं विद्यापर्व अन्तःकरणाध्यासरूपाविद्यापर्वनाशकं, ज्ञानेन ब्रह्मभावप्रकरणे तपस इन्द्रियशोधकत्वाद् विस्तरेण नारायणतपोनिरूपणसहितसर्वावतारचरित्रकथनेन नित्यं हरिकथाश्रवणनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

इदं तपोरूपं विद्यापर्व, इन्द्रियाध्यासरूपाविद्यापर्वनाशकं, ज्ञानेन ब्रह्मभावप्रकरणे कनिष्ठाधिकारिणः सन्निवेशार्थमभजननिन्दापूर्वकं यथाधिकारं युगानुरूपभजनकथनेन हरिपूजानिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

इदं भक्तिरूपं विद्यापर्व, देहाध्यासरूपाविद्यापर्वनाशकं, भक्त्या सायुज्यप्रकरणे ज्ञानेन त्यक्तप्रकृतितद्गुणस्यैव निर्दोषस्य सायुज्यहेतुभक्तिसम्भवाद् देवस्तुत्या च भगवत्स्वरूपबोधनात्

ब्रह्माणं यादवांश्च प्रति भगवदुक्तौ मनुष्यनाट्यत्यागेच्छाबोधनादग्रे भक्तस्योद्धवस्यापि त्यागेच्छाबोधनात् विषयत्वेन भक्तिमुख्याङ्गमूलप्रकृतिनाशकत्यागेच्छाकारकभगवत्स्वरूपनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे भगवदुपदिष्टसाधनैरेव प्राकृतसंसर्गनाशबोधनार्थं प्राकृताङ्कुरमहत्तत्त्वनाशकसंक्षिप्तज्ञानोपदेशपूर्वकं पुरुषत्वे स्वबुद्ध्यैव दोषनिवृत्तिपूर्वकज्ञानसम्भवज्ञापकावधूतप्रसङ्गे शरीरप्रकृत्यष्टरूपपृथिव्यादिकपोतान्तबुद्ध्युपाश्रितगुरुशिक्षया कायिकदोषनिवृत्तिपूर्वकज्ञाननिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे त्रिवृदहङ्कारनाशबोधककामेन्द्रियवर्गाशानिवर्तकाजगरादिपिङ्गलान्तनवगुरुशिक्षया राजसभावनिवर्तनेन वागादिसर्वेन्द्रियदोषनिरूपणमष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे सबुद्धेः सात्त्विकस्यापि विद्यादिसङ्ग्रहादिनिवर्तकपूर्णज्ञापकाष्टगुरुशिक्षया मानसदोषनिवृत्तिपूर्वकज्ञाननिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे आचीर्णयथोक्तवर्णाश्रमधर्मस्य भगवदाश्रितस्य मोक्षधर्मनिष्ठस्य युक्त्या देहादिभिन्नात्माचिन्तकस्य त्यक्तान्याभिनिवेशस्य शुद्धस्य विविक्तस्यैव भक्तिहेतुज्ञानसम्भवादन्याभिनिवेशनिवृत्तये बाह्यसर्वलोकानां त्याज्यत्वार्थं युक्तिनिरूपणं दशमेध्याये, उत्तमाधिकारिणां तु बाह्यसर्वलोकानां त्याज्यत्वेपि मध्यमाधिकारिणां सर्वत्यागेऽशक्तानां सर्वथा

लौकिकत्वनिवृत्तये धर्मे प्रवृत्त्यर्थं पुनर्जन्मान्तरे त्यागसामर्थ्यार्थं च यज्ञफलरूपेषु स्वर्गादिलोकेषु ग्राह्यत्वनिरूपणं च दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे भक्तिहेतुज्ञानसिद्धये आत्मनि नानात्वभ्रमनिवृत्तिपूर्वकं ब्रह्मणि निश्चलमनोधारणार्थमान्तरस्य बद्धजीवस्य त्याज्यत्वे युक्तिनिरूपणमेकादशेऽध्याये, ब्रह्मणि मनोधारणेऽशक्तस्य सततसाधुसङ्गेन तदुक्तभक्त्यैव सर्वसम्भवादान्तरे साधोर्ग्राह्यत्वार्थं कृपालुत्वादिगुणविशिष्टसाधुनिरूपणपूर्वकं तदुपदिष्टमर्यादाभक्तिनिरूपणं चैकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे साधोर्मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधत्वादतिशयितभगवदनुग्रहेण पुष्टिसाधुसङ्गे भगवत्सङ्गे वा भगवति निरतिशयकेवलस्नेहोत्पत्त्या भगवत एव वश्यत्वे जाते मर्यादासाधनाभावेपि पुष्ट्यैव साङ्ख्याद्यप्राप्यपरब्रह्मप्राप्त्या निरवशेषसर्वार्थसिद्धेः कथनात् पुष्टिनिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

ज्ञानभक्तिमार्गद्वयश्रवणादुभयत्र विरुद्धसाधनश्रवणाच्च जातस्य सन्देहस्य निवृत्तये भगवदात्मकमायिकयोः प्रपञ्चयोर्मूलमध्यावसानैः सयुक्तिस्वरूपनिरूपणं च द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे मायामयभगवदात्मकप्रपञ्चयोः स्वरूपं विज्ञाय मायागुणेन सत्त्वेनैव मायिकप्रपञ्चं निवर्त्य भगवदात्मकप्रपञ्चे भगवदात्मकत्वेन स्थातव्यमिति ज्ञापनाय सत्त्वादिनिरूपणपूर्वकं विषयेषु दुःखे हेतुत्वं जानतोपि प्रमत्तस्याहङ्काराविष्टस्य सर्वनाशः श्रद्धालोरप्रमत्तस्य दोषदर्शिनः शनै-

भगवति मनो युञ्जतः क्रमेण सर्वसिद्धिरिति ज्ञापनार्थं हंसोक्त्या श्रद्धालोर्गुरूक्त्या युक्तिभिश्च सर्वं भगवानितिपरोक्षज्ञाने जाते ततो भजनेन निःशेषसंशयनिवृत्त्या बुद्धौ भगवदावेशेन नानात्वनिवृत्त्या बन्धस्याहङ्कारहेतुकत्वे ज्ञाते संसारचिन्तानिवृत्त्या वृत्तित्रयसाक्षित्वेन जीवस्य वैलक्षण्ये ज्ञाते तुरीयस्थित्योभयपरित्यागेन गुणचित्तयोरन्योन्यविश्लेषे बुद्धेर्विशुद्धत्वे सम्पन्ने गीतोक्तप्रनाड्या शान्तत्वे जाते ब्रह्मभावोत्तरं परमकाष्ठापन्ने ज्ञाने परमया भक्त्या यथार्थभगवत्स्वरूपे ज्ञाते जीवस्य भगवति प्रवेशे पूर्णफलरूपकृष्णत्वनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणेऽन्यैर्मतिवैषम्येण भिन्नवेदार्थकथनेपि हंसोक्तस्यैव परमश्रद्धाभक्त्या भगवदावेशेनोभयपरित्यागेनैव परमसाधनेन भगवति प्रवेशे कृष्णत्वरूपपरमफलस्य वेदतात्पर्यविषयत्वनिरूपणेन श्रद्धाहेतुना युक्त्या हीनभावदोषनिवृत्त्या च श्रद्धाबोधनपूर्वकं ध्यानरूपसाधनसहितभक्तिनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे ध्यानोपनतसिद्धीनामन्तरायत्वेनावेशप्रवेशबाधकत्वात् निवृत्त्यर्थं कृष्णादेव सर्वमिति दृढनिश्चयसहितध्यानेनावेशप्रवेशसिद्ध्यर्थं च तत्सिद्धिहेतुभूतध्यानभेदनिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे भक्त्या जातस्य यावत्त्वादिरूपेण ज्ञानस्य प्रवेशं प्रति व्यापारत्वकथनात् यावत्त्वादि ज्ञापयितुं सर्वरूपेषु भजनस्य फलसाधकत्वेपि मूलरूपकृष्णभजनस्यैव

कृष्णत्वरूपपूर्णफलसाधकत्वमिति बोधयितुं चार्जुनसारथिरूपे-णोक्तप्रकारेण सकलविभूतिनिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे वर्णाश्रमधर्मैशुद्धस्यैवापाखण्डिनो भगवद्भक्तिसम्भवाद् वर्णानां प्रवृत्त्युपयोगिपूर्वाश्रमद्वयस्य च धर्माणां निरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे निवृत्त्युपयोग्युत्तराश्रमद्वयस्य ज्ञान-वैराग्यभक्तिसिद्धस्यात्याश्रमिणो ज्ञानरहितविरक्तस्य च धर्माणां निरूपणमष्टादशेऽध्याये ॥ १८ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे भक्त्युपयोगिविषयवैतृष्ण्यस्यान्यत्र श्रद्धानिवृत्तिपूर्वकं भगवति श्रद्धायाश्च हेतुभूतयोर्यथोक्तयमादि-साधनज्ञानाचरणसिद्ध्योर्ज्ञानविज्ञानयोर्भीष्मोक्तप्रकारेण कथ-नाद् भक्तिपरम्पराकारणनिरूपणं 'श्रद्धामृते' त्यादिना च भक्तिसाक्षात्कारणनिरूपणं चैकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे भक्तिहेतुज्ञानचिह्नस्य गुणदोषदृष्टि-राहित्यस्य गुणस्य सन्देहनिवृत्तिपूर्वकं गुणत्वदार्ढ्यार्थं कर्मज्ञान-भक्तिमार्गाधिकारिषु कर्मज्ञानभक्तिमार्गाणामेव गुणदोषदृष्टि-निवर्तकत्वेन गुणत्वकथनान् मार्गत्रयविरोधपरिहारनिरूपणं विंशेऽध्याये ॥ २० ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे यथोक्तमार्गत्रयोपायानां यथावगत-धर्मेऽशक्तस्य तत्र श्रद्धावतोतिजघन्याधिकारिणः शनैस्त्याग-रूपानुकल्पार्थं शुद्धिनिर्णयनिरूपणं वेदे गुणदोषकथनमनुकल्पार्थं न तु वस्तुभेदबोधनार्थमिति ज्ञापयितुं वेदनिर्णयनिरूपणं चैकविंशेऽध्याये ॥ २१ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे तत्त्वाष्टाविंशतिसङ्ख्याया निवृत्त्यर्थक-व्यवहारोपयोगित्वेन सार्थकत्वादभेदपर्यवसाने प्रकृतिपुरुषयो-रपि विश्लिष्टशक्तिब्रह्मणः सकाशाज्ज जातयोः परस्परमत्यन्त-विलक्षणयोरपि बीजैक्येनाभेदपर्यवसानेपि स्वात्मज्ञानमात्रपर्यव-सितानां भगवतः परावृत्तबुद्धीनां मायया त्रिविधभानसम्भवेन भेदबुद्ध्यनुवृत्त्या मनोदोषेणापराधसम्बन्धे निर्मोक्षादपराधा-भावायातिक्रमसहनरूपलक्षणसहितमनोदण्डकर्तव्यतानिरूपणं द्वाविंशेऽध्याये ॥ २२ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे साधनमाचरतोपि जीवस्य पूर्ववास-नया दुःखप्राप्तौ भगवति दोषारोपेऽपराधसम्भवात् तन्निवृत्त्यर्थं-मतिनिर्विण्णाभिक्षूक्तस्य स्वकर्मावश्यं मोक्तव्यमेवेत्येव भावना-रूपस्य मनोदण्डसाधनस्य " नायं जनो म " इत्यादिनोक्तस्य सर्वसाधनपर्यवसानरूपस्य सुखदुःखाभावहेतोर्मनःपरित्यागस्य च निरूपणं त्रयोविंशेऽध्याये ॥ २३ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे मनःपरित्यागे साधनान्तरापेक्षा-भावेपि मनःसाधकत्ववाञ्छायां सर्वयाथार्थ्यज्ञापकत्वेन मोहा-भावहेतोः शुद्धसाङ्ख्यस्य निरूपणं चतुर्विंशेऽध्याये ॥ २४ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे साङ्ख्योक्तज्ञानस्यापरोक्षतादशाया-मेव सर्वथा मोहनिवर्तकत्वेन परोक्षतादशायां गुणानां प्रबल-त्वेन तैर्मोहसम्भवे तन्निवारणार्थं गुणानां गुणकार्यस्य चाष्टा-विंशतितत्त्वमात्रत्वनिवारणाय निर्गुणानां पदार्थानां च स्वरूप-निरूपणपूर्वकं गुणजयप्रकारनिरूपणं पञ्चविंशेऽध्याये ॥ २५ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे निर्जितगुणजयस्य मोहरहितस्यापि सङ्गदोषेण नाशसम्भवे स्वात्मना प्रबुद्धपुरूरवःप्रोक्तरीत्या सङ्गत्यागेन सत्सङ्गेन च पुनर्गतिलाभनिरूपणं षड्विंशेऽध्याये ।२६।

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे सङ्गान् नष्टस्यापि जातिस्मरणस्य स्वत एव पूर्वसिद्धज्ञानोदयात् सङ्गत्यागमात्रेण गतिलाभसम्भवेपि जातिस्मरणरहितस्य सङ्गान् नष्टस्य जातिस्मरत्वार्थं वेदतन्त्रमिश्रप्रकारेण हरिपूजानिरूपणं सप्तविंशेऽध्याये ॥ २७ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे जातिस्मरस्य सर्वसाधनपूर्वकं सोपपत्तिकज्ञाननिरूपणमष्टाविंशेऽध्याये ॥ २८ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे पूर्वोक्तसाधनेष्वशक्तस्य फलप्रेप्सोः सर्वमिश्रितसुगमप्रकारनिरूपणं ऊनत्रिंशेऽध्याये ॥ २९ ॥

इच्छया ब्रह्ममुक्तिप्रकरणे ममतास्पदयादवादिनाशकथनेन ममतात्यागाभिनयनिरूपणं त्रिंशेऽध्याये ॥ ३० ॥

इच्छया ब्रह्ममुक्तिप्रकरणेऽहन्तास्पदतनुत्यागकथनेनाहन्तात्यागाभिनयनिरूपणमेकत्रिंशेऽध्याये ॥ ३१ ॥

इतिमुक्तिनिरूपणे एकादशस्कन्धः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशस्कन्धः । हर्याश्रयप्रकरणे शूद्रपर्यवसानेन लोकनाशनिरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

हर्याश्रयप्रकरणे अधर्मसम्पूर्त्या धर्मनाशनिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

हर्याश्रयप्रकरणे लोकधर्मयोर्नाशे कल्केः सर्वसाधारणाश्रयत्वेपि जीवोपरि दयायां बहुकालविलम्बसहिष्णुत्वात् ततः पूर्वमपि दयाविलम्बकारणगर्वदोषस्य कीर्तनेन निवृत्त्या पूजा-

दिना रूपात्मकस्य श्रवणकीर्तनैर्नामात्मकस्य प्रसन्नस्य स्वात्मप्रदर्शकस्य हरेः पूर्णाश्रयत्वनिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

जगदाश्रयप्रकरणे प्रपञ्चस्य चतुर्विधप्रलयकथनात् तत्कर्तृत्वेन क्रियाशक्तिविशिष्टप्रलयावशेषरूपान्तराश्रयनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

जगदाश्रयप्रकरणे पुराणोक्तं भगवन्तं स्मारयित्वा मृत्युभयनिवारणार्थं जन्ममरणादिरहितात्मस्वरूपमुक्त्वा जन्ममरणादेर्देहपर्यवसायित्वं संसारस्याऽवस्तुत्वं आगन्तुकत्वं च बोधयित्वा आन्तरस्य जीवस्य ब्रह्मत्वचिन्तनेन ब्रह्मण्याधाने सर्वत्र भेदरहितब्रह्मभानकथनाज् ज्ञानशक्तिविशिष्टान्तराश्रयनिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

आध्यात्मिकादित्रितयविदाश्रयप्रकरणे प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदभिन्नवेदादिभिरेव यथार्थत्रितयज्ञानसम्भवाद् राजवृत्तान्तेन राज्ञो ब्रह्मभावं ततः पदनिरूपणेन फलं ततः साधननिरूपणेन स्वस्य वक्तुः सूतस्य श्रवणाधिकारं च पूर्वोत्तराश्रयाङ्गत्वेन मध्ये बोधयित्वा त्रितयज्ञापकप्रवृत्त्युपयोगिसफलत्रयीनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

आध्यात्मिकादित्रितयविदाश्रयप्रकरणे त्रितयज्ञापकनिवृत्त्युपयोगिफलयुक्ताथर्वपुराणादिनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

अत्र प्रकरणे वेदादिभिर्विदितयथार्थत्रितयस्वरूपः साधनैर्जातसाक्षात्कारः फलत्वेन श्रवणादिकर्ता शुकादितुल्यो जीवोऽप्यन्येषामताद्दशानामाश्रय इति फलति ॥ ७ ॥

सर्वान्तराश्रयप्रकरणे त्रिविधभक्तेस्तत्प्रापकत्वान् मार्कण्डेये क्रमेण त्रिविधभक्त्युद्भवात् तपोविशङ्कितेन्द्रप्रेषितकामादिगणै-

रप्रतिघातततपोबोधकभगवद्वाक्यकरणेन निष्ठाबोधनाद् भगवदाग-
मनतत्स्तुतिभ्यां निष्ठाफलबोधनाच्च च अत्यन्तं निष्ठापन्नोपासना-
रूपकर्ममार्गीयत्वेन भौतिकभक्तिनिरूपणमष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

सर्वान्तराश्रयप्रकरणे वरानुभूतमायायास्त्रिगुणात्मकत्वेन गुणद्वयपर्याये क्लिष्टस्य तृतीयपर्याये सत्त्वगुणेनाचिन्त्यानन्तशक्तिभगवद्दर्शनेपि तस्मिन् प्रवेशनिर्गमाभ्यां सुखदुःखोक्त्या सत्त्वगुणस्यापि जाग्रत्स्वप्नवत् पर्यायेण ज्ञानाज्ञानजनकत्वेन दुःखपर्यवसानबोधनात् पुनरतिक्लिष्टस्य भगवदपाङ्गनिरीक्षितस्य क्लेशहेतुसर्वपरित्यागेन भगवत्परिष्वङ्गार्थमभिगमने भगवतो हृदि प्रवेशे मायातिरोधानकथनादत्यन्तनिष्ठापन्नक्लेशेन भगवन्मार्गात्मकज्ञानमार्गीयत्वेनाध्यात्मिकभक्तिनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

सर्वान्तराश्रयप्रकरणे भक्तस्य भक्तिमार्गोपदेशेन भक्तिदानेधिकृतस्य महादेवस्य प्रसादेन मार्कण्डेये भक्तत्वसर्वज्ञत्वसुस्थत्वकथनान् माहात्म्यज्ञानपूर्वकं भगवच्छरणागमनं सर्वापेक्षाराहित्यं भक्तमाहात्म्यपूर्वकं तेषु भक्तिः, एकान्तभक्त्या पर्यटनमित्येवंरूपभक्तिमार्गानुसारेणात्यन्तभक्तिनिष्ठाकथनाच्च चाधिदैविकभक्तिनिरूपणं दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

अत्र प्रकरणे त्रितयभक्त्यतिरिक्ताया आश्रयरूपायाः स्वतन्त्रभक्तेर्विषयस्य सर्वसाधनानुकूलस्य भगवत आश्रयत्वं फलति ।

परमाश्रयप्रकरणे सूर्योपाधिककालसापेक्षपुरुषाराधनपूर्वकं श्रीभागवतवाक्येन कथायोगरूपाधिदैविकभागवतानिरूपणमेकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

परमाश्रयप्रकरणे श्रीभागवतवाक्येन केवलकथारूपाध्यात्मिकभागवतनिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

परमाश्रयप्रकरणे फलेप्सुं प्रति पुराणत्वादिरूपेण केवलकथायोगरूपाधिभौतिकभागवतनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

अत्र प्रकरणे तुरीयरूपस्य सर्ववेदान्तसारत्वेन ज्ञातरि परमानन्दजनकस्य स्वान्तःस्थितसर्वत्वेन स्वयं फलिष्यतो 'बर्हापीडे' त्यत्र 'गीतकीर्तिं' पदेन तद्विमर्शश्लोकेन च विवृतप्रकारस्य श्रीभागवतस्याश्रयत्वमिति फलति, मम त्वन्यदपि प्रतिभाति, द्विधा हि भक्तेषु भगवतः फलदानेच्छा, लोकवेदनाशोपि, सर्वसाधननैरपेक्ष्येण केवलकृपयैव महत्सङ्गद्वारेणेत्येकः प्रकारः, स्वयं साधनानुकूलो भूत्वा साधनक्रमेणेति द्वितीयः प्रकारः, तत्र येषु प्रथमप्रकारस्तेषु तु प्रथमप्रकरणरीत्या लोकवेदनाशेपि सर्वसाधनाभावेपि केवलमहत्सङ्गेन तत्कृपाद्वारेण च प्रथमं पूर्णो हरिर्बहिः प्रकटो भूत्वा फलरूपपूजादिना रूपेण फलरूपश्रवणकीर्तनैर्नाम्ना चान्तः प्रविश्य सर्वान् दोषान् निवार्य पूर्णाश्रयो हरिर्भवति, येषु तु द्वितीयः प्रकारस्तेषु तु विलोमरीत्याग्रिमप्रकरणचतुष्टयोक्तप्रकारेण, तत्र पूर्वं ज्ञानाभावसाधनराहित्यदशायां पञ्चमप्रकरणोक्तं भौतिकं पुराणत्वादिरूपं भागवतं श्रवणेनाश्रयः, ततः किञ्चिदधिकारोत्कर्षे समाध्यनुभूतं व्यासोक्तं भागवतं श्रवणेनाश्रयः, ततोप्यधिकारोत्कर्षे तन्त्रोक्तपुरुषाराधनपूर्वकं व्यासोक्तमाश्रयः, तेन च चतुर्थप्रकरणोक्ता त्रिविधा भक्तिः क्रमेण जायते, तया च तृतीयप्रकर-

णोक्तवेदाद्यर्थानुभवे आध्यात्मिकादित्रिविधा, भगवत्स्वरूपानुभवे च भक्तत्वं तेन च द्वितीयप्रकरणोक्तान्तर्यामिरूपजीवाश्रयप्रलयावशेषजगदाश्रयरूपस्य हृदि प्राकट्यं, ततोपि परमानुग्रहे प्रथमप्रकरणोक्तस्य लोकवेदातीतस्य सर्वनिरपेक्षस्य हरेरन्तर्बहिश्च प्राकट्ये फलरूपश्रवणादिकरणं फलरूपविध्यनपेक्षपूजादिरूपं सेवनं च परमाश्रय इति द्वादशस्कन्धोक्तानां पञ्चानां प्रकरणानामाश्रयनिरूपकत्वेन सङ्गतिरिति ॥

श्रीकृष्णः सततं वीक्ष्य निजनिःसाधनस्थितिम् ।
निःसाधनफलात्मत्वात् स्ववासं गोकुलेऽकरोत् ॥ १ ॥

नमामि श्रीमदाचार्यान् यत्कृपालेशतो जनः ।
क्षुद्रोपि श्रीकृष्णवासं गोकुलरायमाप्नुयात् ॥ २ ॥

श्रीभागवततत्त्वानां प्रदीपस्यापि या कृता ।
टीकावरणभङ्गाख्या गोस्वामिपुरुषोत्तमैः ॥ ३ ॥

तां विलोक्य विचार्यापि यथामति मयाखिलाः ।
अध्यायार्था विलिखिताः स्वमनस्तोषहेतवे ॥ ४ ॥

तथापि बुद्धिदोषेण यदयुक्तं विचारितं ।
तच्छोधनीयं विद्वद्भिः श्रीवल्लभपदाश्रयैः ॥ ५ ॥

‘ करकृतमपराधं क्षन्तुमर्हन्ति सन्त ’ इति वचनादक्षरचणोपरि कामानुजो न कार्यः शोधनसमये ॥ ॥ श्रीरस्तु ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितमूर्त्तिर्विजयते ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितसप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गतं तृतीयं

श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणम् ।

सप्रकाशम्

(श्रीगो० श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतावरणभङ्गाख्यव्याख्यासमेतम् ।)

अथ प्रथमस्कन्धार्थः ।

प्रकाशः—श्रीभागवतप्रकरणं व्याचिख्यासुस्तत्प्रतिपाद्यरूपं भगवन्तं सङ्कीर्तनेन स्तौति श्रीकृष्णमिति—

निबन्धः—श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा ।
सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः ॥ १ ॥

प्रकाशः—कृष्णशब्देन परं वस्तूच्यते । तदेव कदाचित् 'परमसौन्दर्यं स्वगतं

श्रीमत्पुरुषोत्तमपादप्रणीततत्त्वदीपप्रकाशावरणभङ्गः ।

निखिलश्रुतिगणसारोऽधिकाररहितेऽपि यो मुक्तिम् ।
श्रद्धावति वितरति तं पुराणपुरुषं सदा वन्दे ॥ १ ॥

पूर्वप्रकरणसमाप्तावेवैतदारम्भस्य समर्थितत्वात्तृतीयं प्रकरणं व्याख्यातुमेवारभन्ते भागवतेत्यादि । सङ्कीर्तनेनेति, सम्यक्स्वरूपकथनेन परं वस्तूच्यत इत्यादि । एतेन परवस्तुत्वबोधिका यावत्यो निरुक्तयः 'कृषिर्भूवाचकः शब्द' इत्याद्याः श्रौत्यः, 'कृषिरुत्कृष्टवचनो नश्च सद्भक्तिवाचकः । अश्चापि दातृवचनस्तेन कृष्णं विदुर्बुधा' इत्याद्याः पौराण्यः, 'पुरुषः स परः पार्थ' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्य' इत्याद्याश्च सङ्गृहीताः । तेन 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयं' 'कृष्णमेनमवेहि त्वम्' इत्यादिषूक्तं परत्वं 'यन्मर्त्यलीलौपयिकम्'इत्यादिषूक्तं परमसौन्दर्यं च तस्मिन्नेवोपसंहृतम् ।

---

१. यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम् । विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥ तृतीयस्य द्वितीये । २. कृष्णे ।

प्रकटीकरिष्यामी'ति साकारं प्रादुर्भूतं सत् श्रीकृष्णः । अनेन विभूतित्वं निवारितम् । फलरूपतामाह परमानन्दमिति । तस्य साधनं श्रवणमिति, तद्विषयरूपतामाह दशलीलायुतमिति । अवतारप्रयोजनमाह सर्वभक्तसमुद्धार इति । ततोऽप्यन्यो महान् भविष्यतीत्याशङ्क्याह परमिति । अवतारस्तु स्तुतिप्रिय इति ज्ञापयितुं नुम इति ॥ १ ॥

सिद्धे भागवते किं त्वया कर्तव्यमिति शङ्कां वारयितुं स्वग्रन्थविषयमाह शास्त्र इति—

निबन्धः-शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे ।
एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते ॥ २ ॥

प्रकाशः—भागवतार्थस्तादृशो वक्तव्यो यो द्वादशस्कन्धार्थेष्वनुस्यूतो भवति। एवमुत्तरत्रापि स्वावयवेष्वनुस्यूतस्तैर्वाविरोधो भवति ।

तस्य फलमाहुरनेनेत्यादि, मूलरूपाकारसहिताविर्भावकथनेन । 'ताविमौ वै भगवतः' 'तयोरेको बलभद्रो बभूव' 'वासुदेवो भगवतां' 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मी'त्याद्युक्तं विभूतित्वं निवारितम्। पुरुषे तदवयवानामिव तस्मिंस्तासामविनाभावबोधनेन तावन्मात्रतया निवारितमित्यर्थः । फलरूपतामाहेति। उक्तविधं वस्तु श्रीभागवते 'फलमत उपपत्तेः'इतिन्यायवत्फलान्तरदातृत्वेन न प्रतिपाद्यते, किन्तु तथात्वे सति भूमत्वेन निरवध्यानन्दरूपतया प्रतिपाद्यत इति वक्तुं फलरूपतामाहेत्यर्थः । तस्येत्यादि । तादृशमपि तत्फलदातृत्वपूर्वकं प्रतिपाद्यत इत्यत्र किं गमकमित्याकाङ्क्षायां तस्य फलस्य साधनं श्रीभागवतश्रवणमितिहेतोः श्रवणविषयरूपतामाहेत्यर्थः । तथाच प्रलयवत् प्रसुप्तमत्र न प्रतिपाद्यते, किन्तु दशलीलारूपव्यापारं कुर्वच्छ्रवणविषयत्वेन प्रतिपाद्यत इत्येव तद्गमकमित्यर्थः । अवतारेत्यादि । तर्हि मूलस्थानस्थित्यापि फलसिद्धेः श्रुत्यापि तत्सिद्धेरवतारस्य श्रीभागवतस्य च किम्प्रयोजनमित्याशङ्कायां तत्प्रयोजनमाहेत्यर्थः । सर्वेत्यादि । मन्दादिभेदेन त्रिविधानां भक्तानां सम्यगनायासेनोद्धारे, निमित्तात्कर्मयोग इति सप्तमी । उद्धारार्थं विशेषेण तद्ग्राह्यरूपेण स्फुरन्तं तत्तद्धृदये भासमानम् । तथाचासाधनानामनायासेन शीघ्रं हृदयप्रवेशो व्यापिवैकुण्ठादिहागमनस्य प्रयोजनमित्यर्थः । अन्य इति, अन्योऽवतारः । स्तुतिप्रिय इति, उत्कर्षाधायकगुणवर्णनं प्रियं यस्य तादृशः । तथाच पञ्चाध्याय्यादिषु स्तुत्या प्राकट्यात्कुन्त्यादिषु प्रसादाच्च तदर्थं स्तुतिरित्यर्थः ॥ १ ॥

---

१. उपसंहारस्य । २. श्रीकृष्णे विभूतीनाम् । ३. अवतारप्रयोजनमाह । ४. तथाच निःसाधनानामित्यपि पाठः ।

अक्षराणामपि प्रत्ययरूपाणामर्थोऽस्ति प्रकटः। सर्वेषामेवार्थोऽस्तीत्यवोचाम। खण्डशोऽर्थप्रतिपादने वाक्यार्थः कृत्रिमो भवेदिति तन्निराकरणार्थमाह एकार्थमिति। यथा भगवान् षड्गुणैश्वर्ययुतस्तथा भागवतार्थः स्कन्धाद्यर्थयुक्तः। एवं ज्ञानस्यावान्तरफलमाह संसारान्मुच्यत इति। भक्त्यर्थमेषा मुक्तिरपेक्ष्यते ॥ २ ॥

तत्र भागवतार्थमाह आनन्दस्येति—

निबन्धः—आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा।
"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ॥ ३ ॥
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः"।
अधिकारी साधनानि द्वादशार्थास्ततोऽत्र हि ॥ ४ ॥
निरूप्य सङ्ख्या स्कन्धा हि द्वादशैव न चान्यथा।
तृतीयादिदशस्कन्धैर्लीला दशविधोदिता ॥ ५ ॥
श्रोतुर्वक्तुश्च लक्ष्माद्ये द्वितीये त्वङ्गनिर्णयः।
इतीदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः ॥ ६ ॥

प्रकाशः—आनन्दरूपस्य लीलाप्यानन्दरूपा। हरेश्च लीला सर्वदुःखहर्त्री।

एवमेकेन श्रीभागवतप्रतिपाद्यो भगवान्स्वरूपकथनमात्रेण स्तुतः। अतः परमेकेन निबन्धकरणप्रयोजनं वदन्ति सिद्ध इत्यादि।

अविरोधो भवतीति। तथाच सप्तार्थाविरोधप्रतिपादनं स्वग्रन्थविषय इति नास्मत्प्रवृत्तिवैयर्थ्यमित्यर्थः। नन्वनुसीवनस्य पदार्थ एव पर्यवसानं वाच्यं, न त्वक्षरार्थे, पदावयवभूतानामक्षराणामनर्थकत्वात्। तत्रोर्थाङ्गीकारे एकाक्षरादिकोशोक्तस्यैवार्थस्य ग्रहणौचित्यात्। क्वचित्क्वचित्पदार्थेन विरोधापत्तिः शाब्दबोधवैधुर्यापत्तिश्चेति चेत्तत्राहुरक्षराणामित्यादि। तथा चैतादृशार्थग्रहणे कोऽपि न दोषः। एतेन लक्षणयार्थोऽत्रास्माभिर्न वाच्य इतिबोधितम्। अवोचामेति, सर्वनिर्णये 'वर्णाः पदानि सर्वाणी'त्यत्रावोचामेत्यर्थः। नन्वविरोधः स्वस्वमतानुसारेणान्यैरपि प्रतिपाद्यत एवेति कोऽत्र विशेष इत्याकाङ्क्षायामाहुः खण्डश इत्यादि। तथा चायं विशेष इत्येतदर्थं प्रवृत्तिरित्यर्थः। एषेति, 'स्नेहाद्रागविनाशः स्या'दित्युक्तरूपा। एकादशस्कन्धे गीतायां चातिविरक्तस्य गुणातीतस्यैव भक्त्यधिकारप्रतिपादनादिति ॥ २ ॥

---

१. श्लोकेन। २. अक्षरे। ३. मन्येन। ४. निबन्धे। ५. मुक्तिः।

अतो दुःखाभावसुखरूपत्वात् स्वतः पुरुषार्थरूपा लीलेति भागवतार्थः । स्कन्धाद्यर्थनिरूपणार्थं तां विभजते दशधा हि सेति । तत्र भागवतमेव प्रमाणयति अत्रेति। स्कन्धद्वयमाधिकमिति तयोरर्थमाह अधिकारी साधनानीति । अधिकारोऽपि लीला, परं लीलोपयोगिनी । तेन प्रधानलीलायां नाधिकसङ्ख्यां जनयति, नापि शास्त्रार्थेऽव्याप्तिम् । तथाज्ञानमङ्गम् । साधनानां बहुवचनं सर्वज्ञानप्रकाराणामङ्गत्वं बोधयति । सापि लीला नाधिकसङ्ख्यां बोधयति, न न्यूनताम् । अनेन श्रवणादिरूपाया भक्तेः सर्वाण्येव ज्ञानान्यङ्गानीत्युक्तं भवति । ननु द्वादशधा भेदे कथमेकत्वं कथं वा शास्त्रा-

---

एवमेकेन श्रीभागवतार्थनिबन्धने स्वस्य प्रवृत्तिरुपपादिता । 'अथानन्दस्य हरेर्लीले'-त्यादिसार्धदशभिः सोपपत्तिकं शास्त्रार्थं वदिष्यन्तः प्रतिजानते तत्रेत्यादि ।

लीलाप्यानन्दरूपेत्यादि । वराहावतारलीलाश्रवणोत्तरं 'क्षत्तानन्दं परं लेभ' इति, दशमारम्भे 'नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते । पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृत'-मितिवाक्यादिभ्यस्तथेत्यर्थः । ननु स्कन्धेषु तत्तदर्थप्रतिपादनात्कथं सैवार्थ इत्याकाङ्क्षायां स्वार्थबोधे समासानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया वाक्यानामेकवाक्यत्वम् । पुनः 'संहत्य जायत' इतिवार्तिकोक्तरीत्यैकार्थ्यं वक्तुमाहुः स्कन्धेत्यादि । तामिति लीलाम् । तथा च स्कन्धेषु लीलाविशेषकथनात्सैवार्थ इत्यर्थः । स्कन्धद्वयेत्यादि । नन्वेवं सति मूले दशानामेव लीलानामुक्तत्वात्तावतां शास्त्रार्थे निवेशो भविष्यति न त्वाद्ययोर्द्वयोरितिशङ्कायामाद्ययोर्द्वयोरर्थमाहेत्यर्थः । ननु सन्त्वेवं द्वादशार्थाः, तथापि द्वयोराद्ययोर्दशस्वेवाध्यायाद्यर्थवन्निवेशो वक्तव्यः; मूलोक्तसङ्ख्यानुरोधात्, न तु स्कन्धार्थत्वमित्याशङ्कायामाहुर्मूले 'हि द्वादशे'त्यादिसपादश्लोकम् । हि यतो हेतोर्व्यासपादैर्द्वादशस्कन्धा उक्ताः । चोऽवधारणे । तत एव अन्यथा न, द्वयोरधिकारिसाधनयोः स्कन्धान्तरान्तर्निवेशो न । तथा च यथा वाक्यबलाद्दशार्थास्तथा स्कन्धसङ्ख्यानिर्देशाद्द्वादशार्था इति तयोः पृथक्स्कन्धार्थता युक्तैवेत्यर्थः । तर्हि मूले दशैव किमित्युक्ता इत्याकाङ्क्षायां तृतीयादीति । श्लोकार्थमाहुरधिकारोऽपीत्यादि । लीलेति, भगवदिच्छाभावे तस्याभावेन भगवतैव तस्य सम्पादनात्सोऽपि लीलेत्यर्थः । तथाज्ञानमङ्गमिति । वक्ष्यमाणार्थस्य शीघ्रबोधजनकत्वात्सङ्क्षेपेण ज्ञानं विस्तारोपकारकम् । तथा चोक्तयुक्त्या तदपि तद्वदेव लीलेत्यर्थः । सर्वज्ञानप्रकाराणामिति, द्वितीयस्कन्धोक्तानामास्तिक्यबुद्धिरूपश्रद्धादीनाम् । न्यूनतामिति, मुख्यास्वितिशेषः । नन्वस्त्वङ्गनिर्णयस्य गौणलीलात्वं तथापि जडभरतवाक्यवत्सङ्क्षिप्तार्थरूपत्वात्तत्त-

---

१. अव्याप्तिरित्यपि पाठः । २. सामान्ये नपुंसकं, लीलारूपानामर्थानामिति वा । ३. लील्योः । ४. द्वयोरधिकारेत्यपि पाठः । ५. अधिकारस्य । ६. अधिकारस्य । ७. अधिकारः । ८. तथा ज्ञातमित्यपि पाठः । ९. तृतीयस्कन्धाद्यर्थस्य यः शीघ्रबोधस्तज्जनकत्वं सङ्क्षेपेण द्वितीयस्कन्धोक्तस्य । १०. द्वितीयस्कन्धाद्यर्थस्य ।

र्थतेति, तत्राह इत्तीदमिति। पुराणं हरेः स्वरूपं शब्दतोऽर्थतश्च, 'निम्नगानां यथा गङ्गे'त्यत्र वक्ष्यते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

ननु हरित्वेऽपि कथं द्वादशत्वं ? पुरुषे द्वादशत्वं हीति—

निबन्धः—पुरुषे द्वादशत्वं हि सक्थौ बाहू शिरोऽन्तरम्।
हस्तौ पादौ स्तनौ चैव पूर्वं पादौ करौ ततः ॥ ७ ॥
सक्थौ हस्तस्ततश्चैको द्वादशश्चापरः स्मृतः।
उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युत ॥ ८ ॥
स्तनौ मध्यं शिरश्चैव द्वादशाङ्गतनुर्हरिः।
पादौ सक्थौ कटिर्गुह्यं उदरं हृदयं करौ ॥ ९ ॥
मुखं ललाटो मूर्धा च केचिदेवं हरिं जगुः।
एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः ॥ १० ॥
अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्तिं प्रयच्छति।

प्रकाशः—'द्वादशो वै पुरुष' इति श्रुतेः। श्रुत्यनुसारेणैवावयवान् गणयति सक्थाविति। स्तनान्ता अवयवा द्वादश। स्कन्धानां तेषु निवेशनमाह पूर्वं पादावित्यादिना। अधिकारज्ञानयोः पादत्वम्। सर्गविसर्गयोः करत्वम्। स्थानपोषणयोः सक्थित्वम्। करशब्देन बाहू। सप्तमस्कन्ध एको हस्तः। द्वादशश्च द्वितीयः। तत्र भागवतं विकृतमिव भविष्यतीत्याशङ्क्य[1] दृष्टान्तेन प्रकृतोपयोगिरूपमाह उत्क्षिप्तहस्त इति। ततः स्तनौ अष्टमनवमौ। ततो मध्यं दशमः। शिरस्त्वेकादशः। द्वादशः

स्कन्धान्तरेव निवेशः कुतो नोक्त इत्यत आहुरनेनेत्यादि। तथा चाधिकारवदङ्गनिर्णयस्यापि सर्वोपयोगित्वाय पृथगुक्तिरित्यर्थः। एवमङ्गाङ्गिभावेन संहननबोधनाच्छास्त्रैक्ये प्रतिपादितेऽपि विभागे साकाङ्क्षत्वाभावेनैकार्थ्ये शङ्कते नन्वित्यादि। एवं भेदे लीलानां परस्पराकाङ्क्षाराहित्यात्कथमेकत्वं, तदभावे पृथक्त्वात् कथं वा शास्त्रार्थतेत्यर्थः। पुराणमित्यादि। तथा च स्वस्वरूपेण भेदेऽपि परस्पराकाङ्क्षाराहित्येऽपि शब्दतोऽर्थतश्च भगवद्रूपत्वादेकत्वं शास्त्रार्थत्वं चेत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

श्रुतेरिति। तथा च श्रुत्युक्तद्वादशत्वात्पुरुषत्वं, पुरुषत्वाच्च हरित्वमित्येकत्वं शास्त्रार्थत्वं चेत्यर्थः। गणयतीति, द्वादशत्वोपपादनाय गणयतीत्यर्थः। पादत्वमिति, गतिसाधनत्वात् पाद-

---

१. आशङ्क्येति नास्ति।

पूर्वमेवोक्तः ।। याहशो भगवान् भागवतरूपो जातस्ताहशोऽयं वर्णितः । अत्र केच-नोपासकाः क्रमेणैवोपासना सफलेति भिन्नक्रममाहुः, तमाह पादाविति । कटिः पञ्चमः । मलद्वारस्थानीयानि नरकाणि गुह्यं षष्ठः । उदरं सप्तमः । हृदयमष्टमः । करौ नवमः । मुखं दशमः । ललाट एकादशः । मूर्धा द्वादशः । उपासनायामेतदपि युक्तम् । एवं निरूपणस्य प्रयोजनान्तरमप्याह एतद्धारणमात्रेणेति । धारणं पाठतः, तस्य भगवद्रूपत्वात्तेन रूपेण भगवानेव धृतः । हृदि स्थितो भगवान् यत् कार्यं करिष्यति तदनेनापि करिष्यति । अर्थतश्चेत् परितो ज्ञातस्तदेदमित्थतया ज्ञानं भक्त्यङ्गमिति ज्ञातः सन् भक्तिं प्रयच्छति ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

ज्ञानार्थमस्य स्वरूपमाह एषा समाधिभाषेति—

निबन्धः—एषा समाधिभाषा हि व्यासस्यामिततेजसः ॥ ११ ॥
लौकिकी चान्यभाषा च समाधेः पोषिके तु ते ।
ते प्रमाणमभिप्रायात् सर्वथा पूर्ववन्न हि ॥ १२ ॥
न तद्विरोधो दोषाय ते वक्ष्येऽवसरे स्वके ।

प्रकाशः—समाधावुपलभ्य तथा भाषिता । समाधिसामर्थ्यार्थमाह व्याख्-

---

त्वम् । एवं बलाधिष्ठानत्वात्स्थित्युपयोगित्वात्कृतिसाधनत्वान्महत्त्वान्मूर्धन्यत्वाच्च तथेति ज्ञेयम् । एवं निरूपणप्रयोजनमाहुर्यादृश इत्यादि । वर्णित इति, भक्तिमार्गानुसारेण वर्णितः । द्वादशत्वेन भगवत्त्वमन्येषामपि सम्मतमित्याशयेनाहुरत्रेत्यादि । एवं निरूपणस्येत्यादि, द्वादशत्वे भगवत्त्वेन निरूपणस्य प्रयोजनान्तरं, उपासनातोऽतिरिक्तमपि, सिद्धान्त आहेत्यर्थः । कार्यमिति मुक्तिम् । अनेनेति रूपेण । अयमाशयः । व्यासचरणा हि मन्देषु करुणया तदुद्धारार्थं प्रयतमानाः श्रीभागवतपर्यन्तमुपायं कृतवन्तः । तत्रेदमप्यर्थज्ञानादेव चेत्फलेदुद्धारः कस्यचिदेव भवेत् । उपासनायामपि तथा । अतः स्कान्दादिषु पुराणान्तरेषु 'शतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसङ्ग्रहैः ? गृहे न तिष्ठते यस्य शास्त्रं भागवतं कलौ । कथं स वैष्णवो ज्ञेयः ? शास्त्रं भागवतं कलौ । गृहे न तिष्ठते यस्य श्वपचादधिको हि स' इत्यादिवाक्यदर्शनाद्गृहे शास्त्रस्थितावपि चेत्कलिदोषाप्रवेशस्तदा किं वाच्यं हृदये स्थितौ ? गृहे च शब्दाभिव्यञ्जकरेखोपरेखादियुतपुस्तकरूपेण स्थितिः, हृदि तु साक्षात्त्वेन रूपेणेति भगवत्त्वेन निरूपणस्य संसारमुक्तिरूपं कार्यं युक्तमेवेति । तथा च स्वश्रवणोपयोगि सर्वं स्वयमेवैं सम्पादयिष्यतीत्येतदर्थं भक्तिमार्गानुसारेण वर्णित इति भावः ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

---

१. तत्तदङ्गरूपता ज्ञेया । २. सिद्धान्तमाहेति पाठः । ३. अधिकारादिकम् । ४. श्रीभागवतम् ।

स्यामिततेजस इति । गुणतः स्वरूपतश्च माहात्म्यम् । अत्र भागवते क्वचिज्ज्ञानादिप्रशंसा, क्वचित् कथायां पूर्वोत्तरविरोधः, क्वचित् पुनरुक्त्यादिदोषा इति सर्वसमाधानार्थं 'भाषास्तु त्रिविधाः प्रोक्ता' इति व्यासवाक्याद् भाषात्रयमस्तीत्यभिप्रायेणाह लौकिकीं चान्यभाषा चेति । समाधावुपलभ्य यावानर्थो निरूपितः, सा समाधिभाषा । तद्विरुद्धोऽर्थो यत्र सा मतान्तरभाषा । लोकसिद्धा तु लौकिकी । किमतो यद्येवं ? तत्राह ते प्रमाणमभिप्रायादिति । मतान्तरभाषा लौकिकी भाषा च वक्तुरभिप्रायपरत्व एव प्रमाणं, न तु साक्षात्प्रतिपादितेऽर्थे । समाधिवन्न प्रमाणम् । अत एव ताभ्यां सह समाधिभाषाया न विरोधः । भागवते तासां स्थानं वक्ष्यते । तत्रोत्सर्गतः सर्वा समाधिभाषा । यत्र शुकोऽन्योक्तं कथयामीत्याह सा परमतोपन्यासभाषा । यत्र लौकिकरीत्या निरूपणं, यथा 'स्तनैः स्तनान् कुङ्कमपङ्करूषितान्' इत्यादिषु, सा लौकिकी । बुद्धिपूर्वकमेव विरोधस्तासु प्रतिपादित इति न तद्विरोधो दोषाय । भाषात्रयप्रकारेण स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपश्रीकृष्णलीला भागवतार्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥

ज्ञानार्थमिति, शब्दतोऽर्थतश्चोत्कर्षज्ञानार्थं—

इत्यभिप्रायेणाहेति, पूर्वोक्तोत्कर्षनिर्वाहकमाहेत्यर्थः । लोकसिद्धेति, लोकसिद्धानुवादरूपा । साक्षात्प्रतिपादितेऽर्थे तयोः[1] कुतो न प्रामाण्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः समाधिवन्न प्रमाणमिति । समाधौ हि योगजधर्मेण स्वयमनुभूयत इति स्वानुभवः; स नारदोक्तसंवादादपि प्रमाणत्वेन दृढीकृतश्च । मतान्तरे लौकिक्यां च परानुभवः, तयोश्च[2] तत्तत्प्रमात्राधीना प्रमाणता । प्रमातॄणां तु प्रकृतिवैचित्र्येण नानाविधत्वात् पाक्षिकमेव प्रमातृत्वमिति तद्वाक्येऽपि तथैव[3] प्रामाण्यम् । तयोश्च[4] वक्त्रा[5] किञ्चिदभिप्रेत्यैवोपन्यासात्तथेत्यर्थः[6] । अत एवेति तयोरल्पबलत्वेनातुल्यत्वादेव ते[7] ग्रन्थे कुत्र स्त इत्यपेक्षायामाहुर्भागवत इत्यादि । नन्वंशतोऽपि प्रामाण्येऽर्थभेदकृतो विरोधो भवत्येवेति कथं न विरोध इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपकथनपूर्वकमविरोधप्रकारमाहुस्तत्रेत्यादि । सर्वा समाधिभाषेति तयोरपि स्वेन स्वेनैव रूपेण समाधावनुभवात्तथेत्यर्थः । अनुभवस्तु 'चक्रे सात्वतसंहिता'मित्यनेन सर्वस्याः संहितायाः करणकथनात्तस्यां च 'श्रुतं द्वैपायनमुखा'दित्यादिवाक्योपनिबन्धादवगम्यते । तर्हि कथं तदवगम इत्यत आहुर्यत्र शुक इत्यादि । एतदुदाहरणं तु 'ईत्यज्ञोपदिशन्त्येक' इत्यादिकं[8] ज्ञेयम् । द्वितीयस्यास्तु अत्रैवो[9]क्तम्[10] । शेषं स्फुटम् । बुद्धिपूर्वकमित्यादि । भाषान्तरज्ञापनाय प्रतिपादित इत्यनुपादेयत्वाद्विरोधो[11] न

---

१. लौकिकीसमाधिभाषयोः । २. भाषयोः । ३. पाक्षिकम् । ४. भाषयोः । ५. व्यासेन । ६. वक्त्रभिप्रायात् प्रामाण्यम् । ७. तासां भाषाणाम् । ८. इत्यज्ञोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम् । मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम् । ९. व्याख्यायाम् । १०. उदाहरणम् । ११. विरोध इति शेषः ।

तत्र श्रोतृवक्त्रधिकारः प्रथमस्कन्धार्थः स्वरूपनिर्वाहकः । अधिकाराभावे स्वरूपमर्थज्ञानमभिप्रायज्ञानं च न सम्भविष्यति । स चाधिकारः स्थूलतया त्रिविधः । सूक्ष्मतयैकोनविंशतिप्रकारः । साधारणोऽसाधारणो गुणातीतश्च । साधारणोऽपि नवविधः, तथा असाधारणः । निर्गुणस्त्वेकविध एव । एवमधिकारोऽध्यायार्थत्वेन ज्ञेयः । सर्वोऽपि तच्छुश्रूषुरधिकारीति स्कन्धार्थः ।

दोपायेत्यर्थः । एवमर्थतो ज्ञानाय शास्त्रार्थो निर्णीतः, तेन यत्सिद्धं तदाहुर्भाषात्रयेत्यादि । नन्वत्र प्रकारत्रयेणापि क्रियमाणाया लीलाया यदि स्वतन्त्रपुरुषार्थता तदा मुख्यलीलायां विशेषाभावाद्भाषात्रयविभागे फलतो न च कश्चिद्विशेष इतिचेत्, न अधिकारितारतम्येन फलतारतम्यस्य तत्रापि युक्तत्वात् । न च मानाद्यभावः, 'ज्ञानाज्ञानाभ्यां कर्मणा काममोक्षयो'रिवात्रापि, भाषास्तु त्रिविधा' इत्यादिवाक्यात्तज्ज्ञानावश्यकतया ज्ञानतदभावाभ्यां फलभेदनिश्चयादिति । एवं सार्धैर्दशभिः शास्त्रार्थो निर्णीतः ॥ ११ ॥ १२ ॥

अतः परं प्रथमस्कन्धार्थो विचारणीयः । स च पूर्वं स्कन्धसङ्ख्याविचारेऽधिकारः प्रथमस्कन्धार्थ इत्युक्तः, तत्र कस्याधिकारः स इतिजिज्ञासायामाहुस्तत्रेत्यादि । तत्र द्वादशलीलासु । श्रोतृवक्त्रधिकारः उपक्रमोपसंहारयोः शुश्रूषादेस्तत्प्रसङ्गाद्वक्तृज्ञानादेश्चोक्तत्वात्तदधिकारः स्कन्धार्थः, स स्वरूपनिर्वाहकः । अधिकाराभावे शुश्रूषाद्यभावेन श्रवणकीर्तनयोरेवानुदयात्तथेत्यर्थः । तदेव विवृण्वन्ति अधिकारेत्यादि । एतेनास्य स्कन्धस्य चरणरूपत्वगतिसाधनत्वरूपं बीजं बोधितम् । प्रकरणाध्यायार्थं बोधयितुं विभजन्ते स चेत्यादि । स्थूलतयेति, प्रकरणार्थरूपतयोभयोर्विचारेण । सूक्ष्मतयेति, श्रोतृवक्त्रोः प्रत्येकं विचारेण । अत्र शाब्दोऽत्र आर्थः, अत्रेदशोऽत्रेदश इतिविचारेण । तत्र निबन्धान्तराद्विशेषं वक्तुं प्रकरणानामपि भेदमाहुः साधारणेत्यादि । विभाजकभेदेनापि भेदमाहुः साधारणो नवविध इत्यादि । अत्र जिज्ञासुत्वममात्सर्यं श्रवणादरस्त्रिविधं भगवदीयत्वं त्रिविधा च शुद्धिरितिसाधारणकोटिः । श्रवणस्वरूपाविर्भावाय तदर्थविश्वासाय च सर्वेषामेव तदपेक्षणात् । भगवत्कृतानि त्रिविधसुखपूर्वजत्रितयमुक्तिद्विविधसामर्थ्यानि धर्मोन्नतिश्चेत्यसाधारणकोटिः । साधारणेषु तथात्वाभावात् । एकविध इति, भगवदेकतानत्वरूपः । तथा च साधारणाभावे स्वरूपाविर्भावाभावादसाधारणाभावे मर्यादायां श्रद्धादार्ढ्याभावाद्गुणातीताभावेऽभिप्रायज्ञानाभावाच्चत्तदर्थं स सोऽत्रोच्यत इत्यर्थः । एवमुक्तास्वेतास्वधिकारविधासु प्रमाणमाहुरवेमधिकार इत्यादि । तथाचाध्यायार्थकृतोऽयं प्रकरणविभाग इत्यर्थः । एतस्याग्रे वाच्यत्वादिदानीं सङ्क्षेपेण प्रकरणाध्यायार्थं निरूप्य तदनुसीवकं स्कन्धार्थं सर्वेषां

---

१. श्रोतृवक्त्रधिकारः । २. स्वरूपनिवारकः । ३. श्रोतृवक्त्रोः । ४. प्रकरणानामभेदमित्यपि पाठः अ. आ. ५. अधिकारः । ६. स्कन्धे अत्रेति नास्ति आ. । ७. प्रमाणविभागेत्यपि पाठः । ८. अध्यायार्थस्य ।

प्रकरणार्थेषु त्रैविध्यं, तदाह भेदत्रयं तथा चाद्य इति—

निबन्धः—भेदत्रयं तथा चाद्ये हीनमध्योत्तमत्वतः ॥ १३ ॥
तल्लक्षणोऽधिकारी हि वक्तुं श्रोतुमिहार्हति ।
आद्येऽध्यायत्रयं मध्ये तथा चान्ते त्रयोदश ॥ १४ ॥
एवमेकोनविंशत्या प्रथमस्कन्ध ईरितः ।

प्रकाशः—अयमेवार्थो निबन्धान्तरे निरूपित इत्यत्रापि निरूप्यते । प्रकरणं देशकालौ, तदपेक्षायां प्रकरणाधिकार एव ग्राह्यस्तदाह तल्लक्षणोऽधिकारीति । प्रकरणेष्वध्यायान् विभजते आद्येऽध्यायत्रयमिति ॥ १३ ॥ १४ ॥

प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं स्वरूपतः स्फुटीकुर्वन्ति सर्वोऽपीत्यादि, यः कश्चिज्जात्यादिगुणरहितोऽपि । स्कन्धार्थ इति, उपक्रमोपसंहारयोः शुश्रूषोरेव कथनात्तथेत्यर्थः ।

एवं स्वमतेन स्कन्धार्थं प्रकरणार्थं च निरूप्य मतान्तरीयप्रकणार्थस्याप्येकांशेनादरणीयत्वात्तमपि विभागं द्वाभ्यामाहुः प्रकरणार्थेष्वित्यादि—

इत्यत्रापि निरूप्यत इति । तेनास्माकं नात्यन्तं सम्मत इत्यर्थः । अत्र मूलस्थस्याद्यपदस्याध्यायार्थापेक्षया आद्ये इत्यर्थो बोध्य । अस्वरसबीजं स्फुटीकर्तुं तेषां तात्पर्यमाहुः प्रकरणमित्यादि । तैर्हि[2] देशकालावपेक्ष्य तथा विभक्तम् । तथा च सापेक्षस्यासमर्थत्वादिदानीं तदशुद्ध्या श्रवणमेव न सिध्येदतो नास्माकं तत्सम्मतमित्यर्थः । अत्रायमाशयः । 'उभयाकाङ्क्षा प्रकरणमिति हि प्रकरणलक्षणं, शेषशेषिणोः परस्पराकाङ्क्षेति यावत् । अत्र च स्कन्धार्थरूपोऽधिकारः शेषी, पुरुषगुणास्तदर्थत्वादुपकारका इति तस्य शेषाः । देशकालौ तु व्यधिकरणौ विशेषणतया पुरुषे संसृज्यमानौ यथाकथञ्चित्तद्गुणत्वं प्राप्नुतः । तावपि स्वस्वगुणविशिष्टावेव पुरुषविशेषणत्वेनादरणीयौ । अन्यथा तयोरनुक्तसिद्धत्वेन तदादरवैयर्थ्यापत्तेः । एवं सतीदानीं तयोः संसर्गस्वभावाभ्यां दुष्टत्वात्पुरुषगुणानां च तादृशामभावादिदानीं श्रवणाभावापत्त्या पुराणप्रणयनप्रचारणयोर्वैयर्थ्यापत्तिः । अतोऽध्यायार्थविचारेणैव प्रकरणविभागो युज्यत इति ॥ १३ ॥ १४ ॥

एव मतान्तरीयप्रकरणविभाग द्वाभ्यामनूद्याथ द्विपञ्चांशद्भिः प्रथमप्रकरणं विचारयन्तोऽस्य विभागस्य येन हेतुनादरणीयता, तदग्रे सपादेनैकेन वक्तुं तदर्थं सप्तभिः समाधेः प्रामाण्य मुख्यत्वं च बोधयन्ति अत्रेत्यादि । अत्राऽस्मिन् स्कन्धेऽधिकारिणो वक्तव्यास्ते च भूता एव

---

१. शुश्रूषुरधिकारी । २. अन्यनिबन्धकारैः । ३. हीनमध्यमोत्तमरूपम् । ४. तयोर्देशकालयोः ५. अधिकारार्थत्वात् । ६. अधिकारस्य । ७. पुरुषगुणत्वम् । ८. देशकालौ । ९. उक्तानङ्गीकारे । १०. देशकालयोः । ११. इति दूषणात् । १२. कारिकाभिः । १३. प्रथमस्य । १४. कथनप्रसारणयोः । १५. अधिकारिणः ।

अत्र सङ्गतिरसङ्गतेति तां निरूपयति कथामात्रमिति त्रिभिः—

निबन्धः—कथामात्रं शुको राज्ञे कथयिष्यति यद्धि वै ॥ १५ ॥
तत्रोत्तराणि प्रश्नाश्च तच्छ्रुत्वा सूत आह यत् ।
शौनकेभ्यः प्रश्नपूर्वं तत् सर्वं भावि हृद्गतम् ॥ १६ ॥
अनागतकथारूपं श्लोकरूपेण वै हरिः ।
व्यासरूपोऽवतीर्याद्य मङ्गलादिपुरःसरम् ॥ १७ ॥
प्रसङ्गपूर्वकं चाह समाधावुपलभ्य हि ।

प्रकाशः—समाधिभापात्वेन प्रामाण्ये परम्परोपदेशौ व्यर्थावित्याशङ्क्य तयोः सार्थकत्वाय समाधिं निरूपयँस्तौ निरूपयति साकारं ब्रह्मेति सार्धेन—

निबन्धः—साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिरुत्तमा ॥ १८ ॥
तया सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद्भक्तिश्च मोचिका ।
इममर्थं हरिश्चाह ब्रह्मणे नारदाय सः ॥ १९ ॥

प्रकाशः—समाधिः प्रमाणभूताशेपविशेपरूप इति परम्परा चाकृत्स्नेति तां गौणत्वेन निरूपितवान् ॥ १८ ॥ १९ ॥

युक्ता इति अत्रास्मिन्स्कन्धे विवक्षितसूतादिकथासङ्गतिरसङ्गतानुपपन्नेति तामुपपत्तिं वदतीति । तथा च प्रसङ्ग उपोद्घातश्च मुख्या सङ्गतिः, समाधिश्चोपपत्तिरित्यर्थः ।

समाधीत्यादि । नन्वेवं शुकपरीक्षित्संवादसूतशौनकसंवादयोः सङ्गतावुपपादितायां समाधिभाषात्वेन व्यासवाक्यानां सिद्धे प्रामाण्ये व्यासनारदसंवादशेपभूता यौ, 'ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम् । अन्ववोचन् गमिष्यन्त' इत्युक्ता परम्परा, 'इदं भगवता पूर्व'मित्याद्युक्तो नारदोपदेशश्च, तौवनुपयोगाद् व्यर्थौ, इत्याशङ्क्य, इति हेतोः, पूर्वोक्तरीत्या सङ्गत्युपपादनस्यायुक्तत्वमाशङ्क्य, संवादित्वेन तयोः सार्थकत्वाय समाधिं निरूपयन्तीत्यर्थः ॥

अशेषविशेपरूप इति, ब्रह्मविषयत्वात्सर्वविशेषज्ञापकः । अकृत्स्नेति सर्वविशेषाज्ञापिका ।

---

१. निबन्धे क्वचित् क्वचिद् बोधसौकर्यार्थं व्याख्यानं लिख्यते । तत्र प्रथमस्कन्धे प्रकरणविभागकथनानन्तरम् 'कथामात्रं शुको राज्ञ' इत्यादिकारिकानामाभासे अत्र सङ्गतिरसङ्गतेति तां निरूपयति इति । समाप्तौ 'कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीप' इति श्लोके, अयमितीदंशब्देन सम्पूर्णद्वादशस्कन्धात्मकं श्रीभागवतं परामृश्यते । व्यासात् शुकस्याध्ययनमपि सम्पूर्णस्यैवेत्यवगम्यते । तस्मिन् समये सूतशौनकादीनामनुत्पन्नत्वात्तत्सम्वादस्याजातत्वाद्वा 'नैमिशेऽनिमिषक्षेत्रे' इत्यादिना प्रथमस्कन्धे तत्संवादपुरःसरं भागवतप्रवृत्तिरूपा या सङ्गतिः सा असङ्गतेत्यर्थः । अत्र 'कथामात्रं शुको राज्ञ' इत्यादिकारिकात्रयेणोत्तरं व्यासेन समाधावुपलभ्य भागवत कृतमिति समाधिप्रामाण्यज्ञापनार्थं भाविन एवाधिकारिणः श्लोकैरुपनिबद्धा अग्रे इति । २. परम्परा । ३. इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् समाकाशितम् । ४. परम्परोपदेशौ । द्वादशस्य त्रयोदशेऽध्याये । ५. परम्परोपदेशयोः ।

समाधेर्मुख्यत्वे हेत्वन्तरमप्याह कृष्णो मोहमिति सार्धाभ्याम्—

निबन्धः—कृष्णो मोहं समुत्पाद्य साधनानां निराकृतिम् ।
व्यासे प्रोवाच धर्मज्ञे यद्वाक्यं सकले प्रमा ॥ २० ॥
अभिमानान्नारदोक्तं न सम्यगवभाति हि ।
अतस्तदुक्तमेवार्थं समाधावुपलभ्य हि ॥ २१ ॥
वैलक्षण्यं समस्तेभ्यो ज्ञात्वा पश्चादिदं जगौ ।

प्रकाशः—मूले व्यामोहकरणं स्पष्टं न भवतीति कृष्णो मोहं समुत्पाद्ये-त्युक्तम् । अभिमानात् परम्परा दुर्बला ॥ २० ॥ २१ ॥

गौणत्वेनेति संवादित्वेन । तथा चात्राप्युपोद्घातः सङ्गतिरिति न तद्वैयर्थ्यमतः पूर्वोक्तमुपपादनं युक्तमेवेत्यर्थः । एवं च भूतानामधिकारिणां वक्तव्यत्वेऽपि यद्भाविन उक्तास्तत्समाधेः प्रामाण्यबोधनार्थं, या च परम्पराद्युक्तिः सा समाधिप्रामाण्यदार्ढ्यार्थमितिभावः ॥ १८ ॥ १९ ॥

समाधेरित्यादि । नन्वस्त्वेवं पूर्वोक्तानां सङ्गतिस्तथापि व्यासखेदकथायाः कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षायां समाधेर्मुख्यत्वे हेत्वन्तरमेतन्मुखेनाहेत्यर्थः—

ननु तथापि 'कृष्णो मोह'मित्यादि कुत उच्यत इत्यत आहुः मूल इत्यादि । तथा च मोहनिवर्तकसामग्रीपौष्कल्येऽपि यस्तदनपगमः स न भगवत्कृतिमन्तरेणेति मूलाशयं स्फुटीकर्तुमुक्तमित्यर्थः । मूलार्थस्तु-धर्मज्ञे परमश्रेयस्करत्वेन धर्ममेव ज्ञातवति, व्यासे वेदविभागकर्तरि परमशास्त्रज्ञे, कृष्णोऽनन्यभक्तिमात्रलभ्यो भगवान्, मोहं समुत्पाद्य मोहोत्पादनद्वारा, साधनानां व्यासविमृष्टानां प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गीयसाधनानां, निराकृतिं परमफलासाधकत्वं, प्रोवाच प्रकर्षेण युक्तिपूर्वकं बोधितवान् । यद्वाक्यं सकले प्रमा अन्यवाक्यस्य सर्वत्र प्रामाण्याभावाद्विवक्षिताया भक्तेः सर्वत्र प्रचारो न भविष्यतीति व्यासमेव बोधितवानिति । समस्तेभ्य इति, सर्वेभ्यः साधनेभ्यः । शेषं स्फुटम् । ननु समाधिपरम्पराभ्यामेकस्यैवार्थस्य बोधात्कस्य प्रामाण्यं कस्य संवादित्वमिति निर्णेतुं न शक्यत इति समाधिभाषाप्रामाण्यमपि सन्दिग्धमित्याकाङ्क्षाया'मभिमाना'दित्यादिमूलं विवृण्वन्ति अभिमानादित्यादि । तथा च समाधेः श्रीभागवतपश्चाद्भावित्वेन समाधेरेव संवादित्वेऽपि व्यासचरणानां नारदोक्त एव संवादित्वं भातमतः समाधेरेव सन्देहवारकत्वात्प्रामाण्यमुच्यते । तावताप्यनपेक्षत्वरूपस्य शब्दप्रामाण्यस्य न क्षतिरिति समाधिभाषायाः परम्परावधिभूतस्य शब्दस्य च प्रतियोगिभेदेन प्रकारभेदेन च प्रामाण्यमित्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥

---

१. तयोः परम्परोपदेशयोः २. भाविकथनम् । ३. खेदकथनमुखेन । ४. समाधेरेव सन्देहवारकत्वेऽपि ।

नन्वेवं सति मध्यमप्रकरणेनाधिकारार्थो भविष्यतीत्याशङ्क्याह रीत्येति—

निबन्धः—रीत्या यदन्यया प्राह ह्यधिकारास्ततो मताः ॥ २२ ॥
प्रसङ्गसाधनफलान्याह प्रकरणे त्रये ।
अन्ते मध्ये तथा चादौ—

प्रकाशः—भगवदुक्तत्वेन ब्रह्मोक्तत्वेन वा न सूतनारदाभ्यामुक्तं, किन्तु स्वयं यादृशं बुद्धं तादृशं स्ववाक्येनोक्तमिति भागवतार्थः स्वाधिकारानुसारेण तरतमभावेन बुध्यत इति सर्वार्थाज्ञाने मुख्याधिकारोऽपेक्ष्यत इति प्रथमस्कन्धो मृग्यः । प्रकरणत्रयस्यान्यदपि प्रयोजनमाह प्रसङ्गसाधनफलानीति । भागवतप्रसङ्गो न यथाकथञ्चिद्यत्र कुत्रचित् कर्तव्यः, किन्तु महान्तश्चेद् बहवः शुद्धास्तीर्थनिरताः प्रार्थयेयुस्तदैव प्रसङ्गः कर्तव्य इति । तेषां सम्भावनां स्वज्ञानज्ञापनेन दृढां कृत्वा पश्चात् प्रसङ्गः कर्तव्य इति । अन्यथा प्रसङ्गं न फलतीति ज्ञातव्यम् । यस्तु ज्ञानाभिमानी सिद्धान्तमज्ञात्वापि ज्ञानिनं मन्यते, स न ज्ञापनीयः । पश्चादन्यथा ज्ञात्वा महतोऽपि ज्ञानं स्वज्ञाने प्रवेशयितुमिच्छति । संवादसन्तोपैः स च न ज्ञापनीय इति व्यासनारदसंवादेन साधनानि निरूपितानि । तथा भागवतस्य फलं—साक्षाद्भगवत्प्रवेशः, सर्वसन्देहराहित्यं, भगवत्कृपा, सर्वत्र निर्भयत्वं, परमप्रेम चेति परीक्षिच्छुकसमागमेन निरूपितम् । स्थानं निर्दिशति अन्त इति । प्रसङ्गमन्ते भागवतस्य

एवं सप्तभिः समाधेः प्रामाण्योपपादने पुनः शङ्कन्ते नन्वेवं सतीत्यादि । ननु मध्यमप्रकरणस्यानेन प्रकारेण समाध्यादिप्रामाण्यनिश्चायनार्थत्वे सति तस्मिन्नधिकारार्थाभावेन स्कन्धान्तःप्रवेशो विरुध्येतेत्याशङ्क्य आह, प्रकरणत्रयेऽपि भङ्ग्यन्तरेणाधिकार एवोच्यत इत्याहेत्यर्थः ।

भगवदुक्तत्वेनेत्यादि । तथा च यत एवं नोक्तं ततो नाद्यमध्यमयोः प्रामाण्यबोधनमात्रार्थत्वं, किन्तु स्वयं यादृशमित्युक्तरीत्योक्तम् । (अतोऽधिकारार्थत्वमपि) । अन्यथाप्रकारभेदो न स्यात् । यदि चैतदन्यतरप्रकारस्यामुख्यत्वेनाभिप्रेतत्वं स्याद्व्यासपादैरग्रिमा कथा नोपक्षिप्येत । यत एतत् त्रयमप्युपन्यस्तमत उभयत्र प्रकरणितया वक्त्रधिकारस्तृतीये तु प्रकरणितया श्रोत्रधिकार उच्यत इत्येवं प्रथमस्कन्धो विचार्यो न तु निबन्धान्तरोक्तरीत्येत्यर्थः । बीजान्तरं वक्तुमाहुः प्रकरणत्रयेत्यादि । अत्र किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायामाहुः स्थानमित्यादि, स्थानमिति प्रमाणम् । प्रसङ्गमन्त इति । यद्यपि प्रसङ्गकर्तव्यताप्रकारोऽध्यायत्रयेण सिध्यति, तथापि प्रसङ्गस्य भागवतीयत्वं तृतीयाध्यायान्ते सिध्यतीति

---

१. मध्यमप्रकरणे । २. प्रकारान्तरेण । ३. सूतनारदाभ्यां भगवदुक्तत्वेन ब्रह्मोक्तत्वेन नोक्तम् । ४. सर्वथा प्रामाण्यबोधकत्वाङ्गीकारे । ५. सर्वथा ज्ञानहेतुभूतमुख्याधिकारनिरूपिका तृतीयप्रकरणरूपाऽग्रिमा कथा । ६ः आदिमध्ययोः । ७. मसङ्गत इति पाठः आ. ८. इदं भागवतं नामेत्यादिभिः ।

कृतवान् । साधनमितरनिराकृतिं च मध्ये । तृतीयप्रकरणे आदावेव भागवतनिष्पत्तिप्रवृत्तिभक्तय उक्ताः ॥ २२ ॥

इदानीं प्रथमाधिकारे श्रोता कीदृशोऽपेक्ष्यत इत्याकाङ्क्षायां तं विशिनष्टि तीर्थयज्ञैरिति—

निबन्धः— तीर्थयज्ञैर्महाग्र्र शुचिः ॥ २२ ॥
कृष्णं पृच्छति यत्नेन कृपासत्सङ्गसम्भवे ।

प्रकाशः—भगवत्कृपया सत्सङ्गे जाते ॥ २३ ॥

एतादृशेऽपि श्रोतरि न सहसा भागवतं वक्तव्यं, तद्धृदयमवगाह्यावगाह्यैव, इति प्रथमं वक्तुः शिक्षार्थं व्यासो यथा रीतिं कृतवान् तत् स्पष्टयति सामान्यतो बुभुत्सां हीति सार्धेन—

निबन्धः—सामान्यतो बुभुत्सां हि वक्ता वारयति स्वयम् ॥२४॥
उत्कण्ठा चेत्ततोऽपि स्यात् कथाप्रक्षेपणं ततः ।
ततो विशेषप्रश्नश्चेद्वाच्यं रीतिरियं सदा ॥ २५ ॥

तथोक्तम् । यस्त्वित्यादिनोक्तं तु पुनः पुनः प्रश्नोत्तरैः । पञ्चमे सिध्यतीति मध्य इत्युक्तम् । तथा भागवतस्येत्यादिनोक्तं सम्पूर्णेन सिध्यति । तथापि निष्पत्त्यादीनामादावुक्तत्वाचत आरभ्यैव तेषामेतत्फलत्वप्रतीतिरित्यस्यैव प्रमाणत्वम् । 'अधिकारास्ततो मता' इति चरणोऽत्राप्यनुवर्तते ॥ २२ ॥

एवं सपादेन श्लोकेन पराभिमतप्रकरणविभागाङ्गीकारे वीजमुक्तम् । अतः परं पादोनेन पराभिमतं प्रथमश्रोतारं बोधयितुमाहुः इदानीमित्यादि—

तीर्थयज्ञैरित्यादि । इदं 'नैमिशे'इत्यादिश्लोकद्वयतात्पर्यम् । कृपयेत्यादिकं शेषस्य प्रथमाध्यायस्यं । अत्र मूलश्लोकद्वयोक्तमहत्वशुचित्वादेरुद्देश्यविशेषणत्वादनुपादेयत्वं, शेषस्याध्यायसिद्धस्य विधेयविशेषणत्वादुपादेयत्वमिति परोक्तस्वोक्तयोररुचिरुचिवीजं पादोनेन प्रकाशितम् ॥ २३ ॥

तर्हि व्यासचरणैः किमित्युक्तमित्याकाङ्क्षायां तदाशयं सार्धेनाहुः एतादृश इत्यादि । सामान्यत इत्यर्धोक्तं प्रमेयं द्वितीयतृतीयाध्यायाभ्यां सिध्यति । उत्कण्ठेत्यर्धोक्तं चतुर्थाध्यायस्थशौनकसूतसंवादेन तत इत्यर्धोक्तं 'नित्यं विष्णुजनप्रिय' इति प्रश्नान्तरमारभ्य सर्वेण सूतशौनकसंवादेनेति ज्ञेयम् । सदेति मूले, कालत्रयेऽपीत्यर्थः । तेन यैरिदानीमपि वक्तव्यं

---

१. प्रसन्नेत्यादिनोक्तम् । २. व्याख्यायाम् । ३. अध्याये । ४. फलम् । ५. प्रकरणेन । ६. निष्पत्त्यादीनामेतस्य भागवतस्य फलत्वप्रतीतिः । ७. श्रीभागवतस्य । ८. तात्पर्यमिति पूर्वेण सम्बन्धः ।

प्रकाशः—वक्तुः प्रथमाधिकारमाह वक्ताधिकारीति—

निबन्धः—वक्ताधिकारी सर्वज्ञः सम्प्रदायेन सन्मुखात् ।
श्रुतभागवतो भक्तो ह्यविरक्तस्तथादिमः ॥ २६ ॥

प्रकाशः—ननु वक्तुरधिकारः कुत्रोपयुज्यते ? श्रोत्रधिकारेणैव कार्यसिद्धेरित्याशङ्क्य, मुख्यो वक्त्रधिकारः, तस्य महत्त्वे यादृशस्तादृशोऽपि महान् भवति ॥ २६ ॥

नन्वेवं सति सूतस्य शुकाच्छ्रुतभागवतस्य कथं न फलसिद्धिस्तत्राह सूतत्वादिति—

निबन्धः—सूतत्वाद् वृत्तिरेषा हि तस्मान्न फलितं तथा ।
यद्यप्येषा न विक्रीता नामविक्रयणात्तथा ॥ २७ ॥

प्रकाशः—इदं नामात्मकं भगवतो रूपं, तत्स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति ॥ २७ ॥

तैरप्येवमेव वक्तव्यं, न तु यथाकथञ्चिद्यत्किञ्चिदपि पृष्टे सर्वं वक्तव्यमिति शिक्षाबोधनाय व्यासेन प्रथमं श्रोतृस्वरूपमत्रोक्तं, न तु तादृशश्रोतुर्मुख्यतया प्रकरणित्वायेत्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥

तर्हि कस्य प्रकरणित्वं मुख्यतयेत्याकाङ्क्षायामाहुः वक्तुरित्यादि—

वक्ताधिकारीत्यादि । एतच्छ्लोकोक्तो गुणचतुष्टययुक्ताधिकारस्तु तृतीयाध्यायस्थै'रिदं भागवतं नामे'त्यादिभिः षड्भिः श्लोकैः सिध्यति । तथा च वक्त्रधिकारशेषतया तदुक्तमित्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम् । यद्यपि शेषशेषिभावविचारे श्रवणं प्रति द्वयोः शेषत्वस्य तुल्यत्वात्प्रकरणित्वादिकमायाति, तथापि 'गायन् विलज्ज' इतिवत्कीर्तनस्य स्वतोऽपि भवनाच्छ्रवणस्य तु वक्त्रैव स्वरूपलाभात्तदधिकारस्य मुख्यत्वं, बाधकाभावाच्च तस्यैं प्रकरणित्वमिति ॥

वक्तुः प्रकरणित्वे शङ्कते नन्वित्यादि । मूले 'अस्यां वै श्रूयमाणाया'मित्यनेन श्रवणादेव कार्यसिद्धेरुक्तत्वांत्तत्रानुपयोगे कुत्रोपयुज्यते ? तथा च वक्त्रधिकारशेषत्वेन श्रोतृविशेषणादरणमयुक्तमित्याशङ्क्येत्यर्थः । तस्येति वक्त्रधिकारस्य । यादृशस्तादृश इति, हीनजातीयोऽपि वक्तेत्यर्थः ॥ २६ ॥

वक्त्रधिकारस्य मुख्यत्वे शङ्कन्ते नन्वेवं सतीति । वक्त्रधिकारस्य महत्त्वे सति ।

मूले नामविक्रयणादिति । पुराणनामविक्रयणादित्यर्थः । तथा च फलाभावस्य दोषान्तरप्रयुक्तत्वात्तावन्मात्रेण वक्त्रधिकारस्य मुख्यत्वानपायान्न प्रकरणित्वहानिरित्यर्थः । अयं फलाभावः 'क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः' इतिजलभेदोक्ते वक्त्रधिकारे बीजत्वेन ज्ञेयः । एवं त्वेतत्यमन्यदपि प्रमेयं श्रीभागवतादेव बोध्यम् ॥ २७ ॥

---

१. श्रोत्रधिकारनिरूपणम् । २. उभयोः । ३. वक्त्रधिकारस्य । ४. वक्तुः । ५. श्रवणे । ६. फलाभावमात्रेण । ७. वक्तुरिति शेषः । ८. अयं फलाभावो बीजत्वेन ज्ञेय इति सम्बन्धः । ९. जलभेदस्थम् ।

ब्रह्मणः सकाशाच्छ्रुतभागवतस्य नारदस्य कथं नोत्तमत्वं ? तत्राह नारदस्याधिकारित्वादिति—

निबन्धः—नारदस्याधिकारित्वात् कार्यावेशाच्च सर्वतः ।
न वैराग्यं दृढं जातं तेन मध्यम इर्यते ॥ २८ ॥

प्रकाशः—ज्ञानं पूर्णम् । वैराग्याभावान्मध्यमत्वम् । शब्दतो ज्ञानं सूतस्य । अर्थतो ज्ञानं नारदस्य । वैराग्ययुक्तं शुकस्य । भगवदावेशार्थं वैराग्यम् । अन्यथा ज्ञानेन विक्षिप्तो भवेत् । प्रमेयबलं प्रमाणादधिकमिति भगवदिच्छया नारदस्य न वैराग्योत्पत्तिः । भागवतं च स्वोत्पत्तावुक्तफलाधिकं फलं न साधयति । अतोऽधिकारे

एवमत्र द्वाभ्यां प्रथमप्रकरणीये वक्त्रधिकारे प्रकरणित्वाय सफले विचारिते पुनः शङ्कन्ते ब्रह्मण इत्यादि । तथा च फलाभावस्य दोषान्तरप्रयुक्तत्वे तद्दोषरहितस्य नारदस्य कथं नोत्तमत्वमित्याशङ्क्याहेत्यर्थः—

समादधते ज्ञानमित्यादि । तथा च तद्दोषराहित्येऽपि नारदस्य दोषान्तरयोगान्मध्यमत्वमिति न व्यवस्थाभङ्ग इत्यर्थः । ननु पूर्णज्ञानमवैराग्यं च सूतेऽप्यस्ति, शेषा गुणास्त्वविवक्षिताः, तथा सति सूतस्य कुतो न मध्यमत्वमित्यत आहुः शब्दत इत्यादि । अर्थत इति, अनुभूयमानाद्भगवत्स्वरूपात् । वैराग्ययुक्तमिति, शब्दतोऽर्थतश्च ज्ञानमिति शेषः । तथा च ज्ञानवैराग्ययोः (सूते नामविक्रयो ज्ञानप्रकारविभाजकः । तत एव हेतोर्न ज्ञानं पूर्णं, नारदेऽधिकारो वैराग्यप्रकारविभाजकः । तस्माद्धेतोस्तत्रः न वैराग्यं पूर्णम् । तथा च सूते ज्ञानस्याऽपूर्णत्वाद्वैराग्याभावाच्च कनिष्ठत्वम् नारदे ज्ञानस्य पूर्णत्वेपि वैराग्यस्य अपूर्णत्वात् मध्यमत्वमित्यर्थः ।) प्रकारविभाजकयोः सत्त्वान्न तद्भङ्ग इति वक्तुः प्रकरणित्वं निर्बाधमित्यर्थः । ननु वैराग्यस्य कुतः साक्षात्कारादप्याधिक्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः भगवदावेशार्थमिति । यथा ह्येकवस्तूपरुद्धे स्थले नान्यद्वस्तु माति, कुश्लिष्टे च महान् सदा न तिष्ठति, तथा विषयरागोपरुद्धे हृदि भगवानिति तदावेशोपयोगित्वादाधिक्यमित्यर्थः । आवेशे को विशेष इत्यत आहुः अन्यथेत्यादि । वैराग्याभावादावेशाभावे साक्षात्कारादिना साहङ्कारो भवेदिति स आवश्यक इत्यर्थः । तथा च साक्षात्काराभावात्सूतस्यादिमत्त्वं, तत्सत्त्वेऽपि दृढवैराग्याभावान्नारदस्य मध्यमत्वं, उभयसत्त्वात् श्रीशुकस्योत्तमत्वमिति त्रितयव्यवस्था सूपपन्नेति भावः । ननु शब्दबलाज्जायमानं परोक्षमिति न दृढवैराग्यजनकं, अर्थबलादुत्पन्नं तु वैराग्यदार्ढ्यं जनयत्येव, लोकेऽपि तथा निश्चयात्, अतो नारदे भगवदवतारे कुतो न दार्ढ्यमित्याकाङ्क्षायां 'नारदस्याधिकारित्वा'दितिकारिकोक्तेऽर्थे हेतुं स्फुटीकुर्वन्ति प्रमेयेत्यादि । प्रमाणादिति, साक्षात्कारात् । तर्हि श्रीभागवतस्य श्रुतत्वात्ततः कुतो नेत्यत आहुः भागवतमित्यादि । उक्तफलाधिकमिति, भक्त्यतिरिक्तम् । उक्तमिति, अधिकाराङ्गत्वेनोक्तम् । वैराग्यस्य स्वरूपोपकारकत्वेन फलोप-

---

१. अध्यायाभ्याम् । २. विक्रयणादिदोषराहित्येऽपि । ३. ज्ञानवैराग्यप्रकारेत्यपि पाठः । ४. तस्या व्यवस्थायाः । ५. तस्य भगवतः । ६. वैराग्यः ७. भागवतश्रवणात् ।

भिन्नतया वैराग्यमुक्तम् । अत एव वैराग्यसिद्ध्यर्थं द्वादशाध्याया निरूपिताः । तदैव परीक्षिदधिकारी जातः । अत एव नारदादयोऽपि श्रोतृत्वेन प्रविष्टाः । ततो वैराग्यं सम्पाद्य भागवतं श्रोतव्यमित्यधिकारः फलिष्यति । दोषदर्शनस्य वैराग्यहेतोर्विद्यमानत्वेऽपि नामविक्रयोऽधिकारश्च प्रतिबन्धकौ ॥२८॥

एतदभावे श्रवणावृत्तौ वैराग्यमपि भवतीत्याशयेनाह शुके पूर्वोक्तद्वितयमिति—

निबन्धः—शुके पूर्वोक्तद्वितयं नास्ति तेनोत्तमः स्मृतः ।
दृढभक्तौ शीघ्रलये कथैव प्रतिबन्धिका ॥ २९ ॥

प्रकाशः—ननु शुकश्चेदुत्तमाधिकारी तदा व्यासाद् भागवतश्रवणानन्तरं परमभक्तौ शीघ्रं कथं भगवति न प्रविष्टः ? तत्राह दृढभक्ताविति । भक्तानां मरणे कथैव प्रतिबन्धिका ॥ २९ ॥

अन्यदपि प्रतिबन्धकं भागवतफलजनने निरूपयितुमाह यागादिकरणासक्त्येति—

निबन्धः—यागादिकरणासक्त्या शिष्याणां चैव सङ्ग्रहात् ।
वक्तुः स्वस्योत्तमज्ञानात् फलं सर्वं न शौनके ॥ ३० ॥
दृढज्ञानात् कर्मणा तु भक्त्या युक्तेन मोक्ष्यते ।
स्वतस्तर्कपरिज्ञानादवताराच्च मध्यमः ॥ ३१ ॥
नानासाधनविज्ञानात् संवादान्नारदप्रमा ।
शुकोक्तिमात्रतस्तस्य निःसन्देहात् फलं भवेत् ॥ ३२ ॥
तस्योत्तमत्वं तत्रैव वक्ष्ये प्रकरणोत्तमे ।

कारकत्वेन चावश्यकत्वे गमकमाहुः अत एवेत्यादि । द्वादशाध्याया इति सप्तममारभ्याष्टादशान्ताः । अत एवेति, दृढवैराग्याभावादेव । एवं वैराग्येण व्यवस्थासामञ्जस्यमुपपाद्य द्विसमाहुः दोषेत्यादि ॥ २८ ॥

ननु यदि श्रीभागवतश्रवणेन भक्तिरेव, न वैराग्यं, तदा फलाभावाद् व्यर्थमेव श्रवणमिति शङ्कायामाहुः एतदित्यादि—

व्यभिचारमाशङ्कन्ते नन्वित्यादि । कथैवेति, श्रीभागवतप्रचारार्थं शुकः पाठित इति सा तथा । तथा च प्रतिबन्धकसत्त्वान्न व्यभिचार इत्यर्थः ॥ २९ ॥

एवं प्रकरणित्वाय चतुर्भिर्वक्त्रधिकारो निर्णीतः । अतः परं सार्धैस्त्रिभिस्त्रिविधश्रोत्रधिकारं निर्णयन्ति अन्यदित्यादि—

---

१ नामविक्रयाधिकाराभावे । २ प्रतिबन्धिका । ३ निबन्धश्लोकैः ।

प्रकाशः—भागवतश्रणानन्तरमपि शौनकस्य न वैराग्यादिकं जातम्। तत्र हेतुत्रयं—यागाद्यासक्तिः, शिष्यसङ्ग्रहः, 'सूतादहमधिकः' इंति ज्ञानं च। तर्हि व्यर्थं भागवतश्रवणमित्याशङ्क्याह दृढज्ञानादिति। दृढं शास्त्रीयं ज्ञानं, तेन भक्तिः परमा साध्यरूपा भगवति जाता, ततो भगवत्कृपया कर्मद्वारैव मुक्तो भविष्यति। व्यासस्य वैराग्याभावः सिद्धः, तथा नारदस्य। तेन व्यासस्य प्रथमपक्षप्रवेशः कथं न? तत्राह स्वतस्तर्कपरिज्ञानादिति। हेतुद्वयं पूर्वस्मादाधिक्ये। स्वतोऽपि तर्कात् परिज्ञानम्। मूलं च भगवतो ज्ञानावतारः। उत्तमत्वाभावायाह नानासाधनविज्ञानादिति। साधनविज्ञानं दृढम्। नारदोपदेशश्च दुर्बलः। अतो मध्यमत्वम्। पूर्वाधिकारदोषाभावं परीक्षिति निरूपयति शुकोक्तिमात्रत इति। तस्य वैराग्यादिकं स्पष्टं न भवतीत्याशङ्क्याह तस्योत्तमत्वमिति॥ ३०॥ ३१॥ ३२॥

ननु सूतः सर्वमाह भागवतं, तत् कथमध्यायत्रितय एव प्रकरणसमाप्तिः? तत्राह स्वाधिकारनिरूपार्थमिति—

निबन्धः—स्वाधिकारनिरूपार्थं सामान्येनोत्तरं स्मृतम्॥ ३३॥
कथाक्षेपस्तु मुख्यार्थः प्रथमं तेन पूरितम्।

प्रकाशः—सूतो हि द्वयमाह, स्वतन्त्रतयाध्यायद्वयं, तेन स्वाधिकारो बोधितः। अन्यद् भागवतत्वेनोक्तम्। तदर्थं कथाक्षेपो मुख्यतया निरूपितः। तेन प्रथमं प्रकरणं पूरितम्॥ ३३॥

व्यर्थमिति, शौनके व्यर्थम्। शास्त्रीयमिति, श्रीभागवतश्रवणजन्यम्। साध्यरूपेति, प्रेमात्मिका। तथा च श्रवणं भक्तिमुत्पाद्य कर्मसहकारि जातमिति न व्यर्थमित्यर्थः। व्यासाधिकारस्य मध्यमत्वायोर्भयोः सकाशाद् व्यवच्छेदमाहुः व्यासस्येत्यादि। तेनेति, श्रोतृवक्त्रोस्तुल्यत्वेन। दुर्बल इति। अत्र हेतुर्मूल उक्तः। संवादादिति। तथा च लोकानधिगतार्थगन्तृत्वात्प्रामाण्येऽप्यनुवादवत्संवादस्याप्यन्यशेषत्वेन नारदोपदेशस्य तत्र दौर्बल्यमित्यर्थः। मूले—नारदप्रमेति। नारदस्येदं नारदं, नारदोपदेशजन्यं ज्ञानं, तस्य प्रमा प्रामाण्यं, भावप्रधानो निर्देशः। तथा च नारदोपदेशजन्यज्ञानप्रामाण्यस्य समाधिसंवादादवगमेन वक्तर्युत्कर्षानभिसन्धानान्मध्यमत्वमित्यर्थः। निरूपयतीति, उत्तमत्वाय निरूपयति। एवं चात्र सन्दर्भे यथा यथा वैराग्योत्कर्षस्तथा तथाधिकारोत्कर्ष इति फलितम्॥ ३०॥ ३१॥ ३२॥

एवं प्रकरणविभाजकाधिकारस्वरूपं सार्धैस्त्रिभिर्निर्णीय प्रथमप्रकरणस्वरूपस्य तावत्त्वे बीजमेकेन निर्णेतमाशङ्कन्ते नन्वित्यादि। तथा च वक्तुः प्रकरणित्वमसङ्गतमित्यर्थः—

समादधति सूतो हीत्यादि। अन्यदिति। चतुर्थाध्यायमारभ्य सम्पूर्णम्। तदर्थं

---

१ व्यासस्येत्यादि द्वैपायनो विरहकांतर आजुहावेति वाक्यात् सिद्धः। २ स्वतस्तर्केति व्यामतर्कमुपक्रम्य, 'किंवा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिता' इति वाक्यात्। ३ "साधनेतिति। आत्मप्रसाद साधनविज्ञानं 'धृतव्रतेने' त्यादि श्लोकोक्तम्। ४ श्रोत्रोः। ५ अध्यायत्रयात्मकत्वे। ६ निर्णेतुमाहुरित्यपि पाठः।

न तु कथायां समाप्तायामित्याह अधिकारस्तु सम्पन्न इति—

निबन्धः—अधिकारस्तु सम्पन्नः कथा पश्चाद् भविष्यति ॥ ३४ ॥

निष्पत्तिश्च प्रवृत्तिश्च हेतुपूर्वमुदीरिते ।

सूतेन नाधिकारेण द्विरूपत्वमतस्तयोः ॥ ३५ ॥

प्रकाशः—ननु मध्यमप्रकरणेऽपि वक्ता सूत एव, तथोत्तमे, ततस्तस्य कथं न मध्यमत्वमुत्तमत्वं वा ? तत्राह निष्पत्तिश्च प्रवृत्तिश्चेति । हेतुर्द्वितीयप्रकरणे । निष्पत्तिप्रवृत्ती उत्तमे । एतद्यन्निरूपितं, भागवतशेषत्वेनैव, न तु स्वाधिकारेण । तर्ह्येवं सति नारदस्यापि मध्यमत्वं न स्यात्तथा शुकस्योत्तमत्वमित्याशङ्क्याह द्विरूपत्वमतस्तयोरिति । अन्यवाक्यकथने स्वस्यानधिकारित्वं सिध्यति । स्वयं कथने तु सिध्यत्येव । अत उत्तरयोर्द्विरूपत्वं सूतोक्तत्वेन नारदोक्तत्वे नच ॥३४॥३५॥

कथाक्षेप इति । श्रीभागवतकथनार्थं 'महं चाध्यगमं तत्र निविष्ट' इति तृतीयाध्यायसमाप्तिस्थश्लोकेन कथाकथनप्रतिज्ञा । तेनेत्यादि, कथनप्रतिज्ञया 'वक्ताधिकारी सर्वज्ञ' इतिकारिकोक्तरीतिकाधिकारस्वरूपं सिद्धं, तेन च प्रकरणं पूरितम् । तथा चोपसंहारे वक्तुरुक्तत्वात्तस्यैव मुख्यतया प्रकरणित्वं, न तु द्वयोरपि समानं, श्रोतुस्तथात्वेऽनुपपत्तेः सूचितत्वादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

एतदेव वक्तुर्मुख्यप्रकरणित्वं दृढीकर्तुमाशङ्कन्ते नन्वित्यादि । अयमर्थः । अत्र हि वैराग्योत्कर्षादधिकारोत्कर्षो देहस्थितिश्च[1] कथयेति सिद्धम् । एवं सति सूते सर्वज्ञत्वादीनां त्रिभिरध्यायैः सिद्धत्वाद्वैराग्यस्य च कथनावृत्त्या क्रमेण भवनसम्भवात् । क्रमेण मध्यमत्वमुत्तमत्वं च वक्तुं शक्यमित्यर्थः । अत्र समाधिं व्याकुर्वते हेतुरित्यादि । तथा च 'कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना ? कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान्संहितां मुनि'इत्येतत्पृष्टहेतूत्तरं द्वितीये[2] निष्पत्तिपवृत्त्योश्चोत्तरं यत्तृतीये प्रकरणे उक्तं तन्नामविक्रियदोषतो वैराग्याभावेन श्रीभागवतशेषतया परोक्तत्वेनैवोक्तं, न तु स्वाधिकारेण, अत आवृत्त्यापि वैराग्याजननात्तथेति न प्रकरणविभागभङ्ग इत्यर्थः । पुनराशङ्कन्ते तर्ह्येवं सतीति, श्रीभागवतशेषत्वेन कथनस्याधिकाराप्रयुक्तत्वे सति शुकनारदाभ्यामपि यदुक्तं तस्य सर्वस्यापि तथात्वात्तयोरपि[3] मध्यमोत्तमभावो न स्यादित्यर्थः । अत इति, स्वयं कथनात् । द्विरूपत्वमिति, यथायथं मध्यमत्वमुत्तमत्वं चेत्यर्थः । सूतोक्तत्वेनेत्यादि, नोक्तमिति शेषः । तथा च भागवतशेषत्वेन[4] कथनेऽपि स्वयं कथनान्न स्वस्वाधिकारहानिः, सूतस्य च परोक्तानुवादत्वेन तत्कथनान्नाधिकाधिकारावाप्तिरतः साङ्कर्याभावात्प्रथमप्रकरणेऽध्यायत्रयेण पूरणं युक्तमित्यर्थः ॥३४॥ ३५॥

---

१. देहस्थितिः सिद्धं वैराग्यं कथयतीति सम्बन्धः । २. प्रकरणे । ३. हीनाधिकारो । ४. श्रीभागवतशेषत्वात् ।

ननु मध्यमप्रकरणे कथमध्यायत्रयम्? तत्राह मध्यमे स्वाधिकारित्वमिति—

निबन्धः—मध्यमे स्वाधिकारित्वं हेतूक्त्यैव निरूपितम्।
अनिष्पत्तेराद्यवच्च प्रश्नोत्तरनिरूपणम्॥ ३६॥

प्रकाशः—स हि भागवतं बोधयितुं नागतः, स्वापेक्षया व्यासस्योत्तमत्वात्। किन्तु यथा वदेत् स भागवतं तथा हेतुमाह। अतो भागवतात्तेन यथा निर्धारितोऽर्थ इति तस्याधिकारोऽवगम्यते। तथापि कथं पूर्वतुल्यता? तत्राह अनिष्पत्तेरिति। भागवतं यदा व्यासमुखाद् भविष्यति तदैवाधिकारो निरूपणीयो भवति। अतस्तस्यानिष्पत्तेराद्यवदेवाध्यायत्रयम्। विभागोऽपि पूर्ववदेवेत्याह प्रश्नोत्तरनिरूपणमिति। एकेन प्रश्नः, उत्तरं द्वयेन। एतावाँस्तु विशेषः। प्रथमाध्याये प्रश्नहेतुः, द्वितीयारम्भे प्रश्न इति।

ननूत्तमाधिकारे प्रथमाध्याये पूर्ववदुत्तरं वक्तव्यं, तत्राह उत्तमे प्रश्न एवेति—

निबन्धः—उत्तमे प्रश्न एवाद्ये स्कन्धे श्रोत्रधिकारकृत्।
स्पष्टत्वान्न विशेषेण वक्तुरुक्ताधिकारिता॥ ३७॥
सामान्यमङ्गकथनमेकोक्त्यैवोक्तवाञ् शुकः।
सामान्यश्च विशेषश्च प्रश्न आद्ये द्विधा मतः॥ ३८॥
अतोऽध्यायद्वयं प्रोक्तमुत्तरे सूचितं परम्।
सम्पूर्णेनैव सर्वेषामुत्तरं सम्भविष्यति॥ ३९॥

एवं सार्धेन शङ्का वारिता। अतः परं द्वितीयेऽपि वक्तुरेव प्रकरणित्वमेकेन बोधयन्ति ननु मध्यमेत्यादि—

अत इति हेतूक्तेर्ज्ञानसापेक्षत्वाज्ज्ञानस्य च ज्ञापकवाक्यसापेक्षत्वात्। तथापीति, अधिकारसत्त्वेऽपि। निरूपणीय इति, ज्ञातुं योग्यः। तथा च तदभावेनाधिकारज्ञानाभावान्नोत्तमत्वं, स्वयं ज्ञानेन कथनाच्च न हीनत्वं, अतो मध्यमत्वं, तेन पूर्वतुल्यतेत्यर्थः॥ ३६॥

एवं प्रकरणद्वये प्रकरणिमुख्यौ निर्णीय तृतीयप्रकरणे तं निश्चिन्वन्ति त्रिभिः। ननूत्तमेत्यादि। यदि वक्तुरेव प्रकरणित्वं मुख्यतया तदा प्रथमाध्याये श्रोतृविचारात्, प्रथमेऽध्याये पूर्ववत् प्रथमप्रकरणप्रश्नानन्तरमिव, उत्तरं वक्तव्यं, श्रोत्रधिकारबोधनाय प्रश्नमुक्त्वा, तत्रैवाग्रे वक्त्रधिकारबोधनाय वक्तव्यं, तत्राह तादृश्यामाशङ्कायां वक्त्रधिकाराकथनेऽपि तस्य सिद्धिमाहेत्यर्थः—

---

१ स इति नारदः। २ स इति व्यासः। ३ तेनेति नारदेन। ४ अत इति व्यासमुखात्, अनिष्पत्तेरिति। तथा च अङ्गिनोत्पत्त्यभावेऽङ्गस्याधिकारस्याध्यायत्रयेण निरूपणमिति भावः। ५ श्रीभागवताभावेन। ६ मध्यमत्वेन। ७ अध्यायत्रयेण कथनम्। ८ वक्तुः प्रकरणित्वम्। ९ प्रथमाध्याये। १० वक्तुरधिकारस्य।

प्रकाशः—उत्तरं सार्धाध्यायद्वयेन द्वितीयस्कन्धे वक्तव्यम् । तावताधिकारो भवति । अत एव चतुर्थाध्याये मङ्गलाचरणम् । उत्तमस्य वक्तुरधिकारोऽपि भगवच्चरित्ररूप इति भागवततुल्यत्वान्न प्रथमस्कन्धे निरूपित इत्यर्थः । यतः श्रोतुरेवाधिकारोऽधिकारशब्देन मुख्यतया निरूपणीयः । व्यावहारिकाधिकारस्तु स्पष्टत्वान्न निरूपणीय इत्यर्थः । विशेषाधिकारस्य तर्हि का गतिरित्याशङ्कायामाह सामान्यमङ्गकथनमिति । शुकस्तूत्तरत्वेन भागवतं वक्ष्यमाणः प्रथममङ्गान्येकेन स्कन्धेनोक्तवान् । तत्राङ्गत्वाविशेषात् स्वाधिकारमप्यध्यायद्वयेनोक्तवान् । तत्र हेतुः सामान्यश्चेति । नन्वेतावतैव भागवतं समाप्नोतु, तावज्ज्ञानेनैवोत्तमत्वं सिद्ध्येत्, किं विस्तरेणेत्यत आह सूचितं परमिति । उद्देशमात्रेणोक्तम् । वस्तुतस्तूत्तरत्वेन सर्वमेव भागवतं भविष्यति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

उत्तरमित्यादि । भवतीति सिद्धो भवति । तत्र गमकमाहुः अत एवेत्यादि । स्पष्टत्वादिति, नारदव्यासादिसर्वमुनिप्रत्युत्थानेनोत्कर्षस्य स्पष्टत्वात् । तथा चोत्तरानुक्तावपि तावतैव वक्तुरुत्तमाधिकारस्य सिद्धत्वान्नोक्तः । तथा च विशेषतोऽनुक्तावपि न स्कन्धार्थे न्यूनतेत्यर्थः । विशेषाधिकारस्येत्यादि । 'वक्ताधिकारी'ति कारिकोक्तेऽधिकारे सर्वज्ञत्वादित्रयं विवक्षितस्य वक्तुर्व्यापकं लक्षणम् । वैराग्यं तूत्कर्षद्वारावान्तरविभाजकं, तच्चेत्सर्वमुनिप्रत्युत्थानादिना सिद्धं, तर्ह्युत्तमाधिकारस्य तावतैव सिद्धत्वादग्रिमस्कन्धोक्तस्य विशेषाधिकारस्य का गतिः ? तदुक्तिप्रयोजनाभावान्न तत्र प्रवेशः, भगवच्चरित्रत्वेन निरूपणे तु मङ्गलाचरणोत्तरभावित्वं युक्तं, अतस्तत्रानुक्तत्वात्पूर्वं च प्रयोजनाभावात्कुत्र निवेश इत्याशङ्कायामाह द्वितीयस्कन्धस्याङ्गनिरूपकत्वात्तत्र निवेशमाहेत्यर्थः । मूले—सामान्यमङ्गकथनमिति । अङ्गकथनं, सामान्यम् श्रीभागवतश्रवणशेषत्वात् सर्वस्कन्धसाधारणम् । अत एकोक्त्या एकस्य द्वितीयस्कन्धस्य कथनेनैव, शुक उक्तवानिति योजना । तदेतद् व्याकुर्वन्ति शुक इत्यादि । तत्रेति, द्वितीयस्कन्धोक्तपदार्थेषु । उक्तवानिति, श्रोतुः श्रद्धादिज्ञानार्थं मङ्गलाचरणात् प्रागेवोक्तवान् । तथा च ततः प्राक्कथनेऽपि द्वितीय एव निवेशो युक्त इत्यर्थः । तत्र हेतुरिति, द्वाभ्यां कथने हेतुः । उत्तमत्वमिति, श्रोतुरुत्तमत्वम् । समादधते उद्देशेत्यादि सर्वमिति, द्वितीयमारभ्यासमाप्ति । तथा च सङ्क्षिप्तश्रवणेन तत्सिद्धावग्रे न वदेद्, अतो ज्ञायते विस्तरश्रवणेनैव तत्सिद्धिरिति न तस्य वैयर्थ्यमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

---

१. प्रत्युत्थानादिना । २. कारिकोदित इत्यपि पाठः । ३. उत्कृष्टवैराग्यम् । ४. वैराग्यं प्रकरणविभाजकमित्यर्थः । ५. त्रिष्वनुस्यूतम् । ६. उत्थानादिना । ७. वक्तुरधिकारे । ८. भगवच्चरित्रनिरूपणे । ९. मङ्गलाचरणात् । १० उत्तमत्वसिद्धौ । ११ सर्वकथनस्य ।

ननु कुतोऽवगम्यते प्रथमस्कन्धप्रश्नानामेव सर्वमुत्तरं भवतीति ? तत्राह अत एवेति—

निबन्धः—अत एव समस्तस्य प्रश्नाध्यायोऽयमीरितः ।
भगवान् प्रतिपाद्योऽत्र षडर्था भगशब्दगाः ॥ ४० ॥
तस्मात् षडेव सम्प्रश्ना अभिनन्दस्तथैव यत् ।
ज्ञानवैराग्यधर्माणामैश्वर्ययशसोः श्रियः ॥ ४१ ॥
समूहो भगशब्दार्थः कृष्णस्तद्वानिहोच्यते ।
चतुर्णां प्रथमेऽध्याये द्वयोः कृष्णेन चापरे ॥ ४२ ॥
ऐश्वर्यधर्मयो रूपमन्येषां प्रथमे जगौ ।

प्रकाशः—यतः समस्तेनैवोत्तरं, अतः प्रथमाध्यायः सर्वत्र प्रश्नाध्यायः । नन्वेतदप्यसङ्गतमित्याशङ्क्य हेतुं साधयति भगवान् प्रतिपाद्योऽत्रेति । अर्थवशादेवं कल्प्यते, सर्वत्र भागवते भगवानेव प्रतिपाद्यः । तत्र 'भग'शब्दार्थाः षट् । त एव च ज्ञातव्याः । अन्यथा भागवतप्रवृत्तिर्व्यर्था स्यात् । ते च षट् प्रश्नाः प्रथमाध्याये स्पष्टाः । तत्रापि हेतुः अभिनन्द इति । 'यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्न' इति वाक्यम् । सर्वैः प्रश्नैः कृष्ण एव पृष्टः । स एव लीलारूपः सर्वत्रोच्यते । अनेन ग्रन्थ-

---

एवं [2]त्रिभि[3]र्द्वयोस्त्रिविधाधिकारविचारेण प्रकरणार्थरूपोऽधिकारो विचारितः। अतः परमध्यायार्थरूपो[4] विचारणीयः । तँत्रापि मुख्यतया श्रोतुरेव विचारणीयः । तस्यैव स्कन्धार्थत्वात् । तदर्थमेव ग्रन्थप्राकट्यात् । उपक्रमोपसंहारयोस्तस्यैव कथाया उक्तत्वाच्च । तँत्र शौनकस्य व्यासपादैः प्रथममुपनिबन्धानात् प्रथमं तस्यैव पूर्वं विचारणीयः । तेन शास्त्रसङ्गतिरपि स्फुटीकरणीया, 'अनया सङ्गत्येदं शास्त्रमवतीर्ण'मिति । किञ्च, शास्त्रस्यार्थतो भगवत्त्वं यत्पूर्वमुद्दिष्टं, तदपि परीक्ष्य निश्चायनीयमिति तदर्थं सार्धैस्त्रिभिः प्रथमाध्यायस्य सर्वशास्त्रावतारकत्वं समर्थयन्ति ननु कुत इत्यादि—

नन्वेतदप्यसङ्गतमित्यादि । एतदध्यायप्रश्नानामेव सर्वमुत्तरमित्यप्यसङ्गतं, तत्र तत्र शौनकप्रश्नानां भूयसां दर्शनादयुक्तमित्याशङ्क्य हेतुं साधयति, सर्वस्यैतदुत्तरत्वगमकं हेतुमुपपादयतीत्यर्थः । एवमिति । सम्पूर्णस्योत्तरत्वं कल्पनाबीजं वक्तुमर्थमाहुः सर्वत्रेत्यादि । अन्यथेति, तेषां षण्णामज्ञातव्यत्वे । व्यर्था स्यादिति, ब्रह्मत्वादिना ज्ञानस्योपनिषद्भिरेव भवनात्तथा स्यात् । नन्वैश्वर्यादीनां तत्र कण्ठतोनुक्तत्वाद् गमकस्य चादर्शनात्सङ्ख्यामात्रेण न

---

१ "प्रथमस्कन्धप्रश्नानामिति । प्रथमेऽध्याय इत्यर्थः । " "सर्वत्रेति । निबन्धादिषु—प्रकरणेऽवतारस्तु केवलस्यैवेति सुबोधिनीतः । ब्रह्मानन्देनाविर्भावा सम्भवाच्च । ऐश्वर्यादिप्रकाराणामावरणभङ्गोक्तवाक्यविरुद्धत्वात् । अव्याप्तमिति (?) सर्गादिलीला हि शास्त्रार्थः । ...लक्षणं, तच्चाधिकारादौ नास्ति, परन्तु, लक्षण घटकलीलाप्रासङ्गिक्यपि वाच्या, अन्यथा स्वसिमन्व्याप्तेः, तथा चाधिकारादावपि तत्समानयोगक्षेमेऽव्याप्तिं जनयतीत्यर्थः । " २. प्रकरणैः । ३. श्रोतृवक्त्रोः । ४. अधिकार इति शेषः । ५. अधिकारविचारे । ६. श्रोतुः । ७ अधिकारिषु । ८ अधिकार इति शेषः । ९. भागवतप्रवृत्तिर्व्यर्था स्यात् ।

सङ्गतिरपि निरूपिता भवति। पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति ज्ञानवैराग्य इति । नात्र क्रमो विवक्षितः। वस्तुतस्तु स्कन्धद्वयेनैकैकम्। ज्ञानमाद्याभ्याम्। सर्गविसर्गाभ्यां वैराग्यम्। धर्मो द्विविधः स्थानपोषणभेदेन । ऐश्वर्यमपि प्रल्हादमन्वादिभिः सूच्यते। यशश्च नवमदशमाभ्याम्। श्रियोऽन्त्याभ्याम्। तत्र हि स्वरूपे रमणं सेत्स्यति । ऐश्वर्यादिक्रमेण वा सर्वमुपपाद्यम् । एवं सति स्वाधिकारसिद्ध्यर्थं सूतेन यथोत्तरितं तथा विभागमाह चतुर्णामिति। उत्तरमध्ये प्रथमाध्याये प्रश्नचतुष्टयस्योत्तरम्। त्रयाणां वा समशः । टिकायां तथैव व्याख्यातम्। कृष्णेन सहितयोर्द्वयोः, द्वितीयाध्याये तूत्तरम् । अनेन प्रत्येकसमुदायाभ्यामुत्तरं देयमिति ज्ञापितम्। स्पष्टार्थमुभयोर्नामाह ऐश्वर्यधर्मयोरिति। अवतारधर्मयोरित्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

समूहोऽध्यायार्थो भवतीति सर्वत्र ज्ञापयितुं प्रथमाध्यायस्य वाक्यार्थान् सङ्गृह्णाति मङ्गलमिति—

निबन्धः—मङ्गलं प्रकृतोत्कर्षः प्रसङ्गः सूतसंस्तुतिः ॥ ४३ ॥

स्पष्टा इत्याकाङ्क्षायामाहुः तत्रापि हेतुरिति। स्पष्टत्वेऽपि हेतुः । तथा च भगवान्सात्त्वतां पति'रिति वदतां षट् प्रश्नाँश्च कुर्वतामभिनन्दनबोधके सूतवाक्ये 'कृष्णसम्प्रश्न'इति कथनात्तात्पर्ये विचारिते भगवत्त्वज्ञानार्था एते प्रश्ना इत्यवगम्यते। तत्सन्दर्भविचार एव स्पष्टत्वे हेतुरित्यर्थः। एवं सत्यवान्तरप्रश्ना विशेषावगत्यर्था इति सर्वस्यैवोत्तरत्वाच्छौनकस्याधिकारः सूपपन्न इत्यर्थः । एतेनैवार्थतो भगवत्त्वमपि शास्त्रस्य व्यासचरणैर्बोधितमित्याहुः स एवेत्यादि। शब्दतो भगवत्वं स्कन्धसङ्ख्यातात्पर्योक्त्या प्रागेव स्फुटीकृतमति न कापि शङ्का। अनेनेति, प्रश्नोत्तरार्थस्फुटीकरणेन। सङ्गतिरिति, कृपारूपा सङ्गतिः। क्रम इति, 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्ये'ति वाक्योक्तक्रमः। एकादशद्वादशयोः श्रियो निरूपणं न स्फुटमिति तत्स्फुटीकुर्वन्ति तत्रेत्यादि। एवमत्र सङ्गत्यात्मको व्यासाशयगोचरः शास्त्रावतरणहेतुर्विचारितः। अतः परमवान्तरसङ्गतिं प्रश्नोत्तरयोः सूतोक्त्यनुसारेण विचारयन्ति एवं सतीत्यादि सर्वस्योत्तरत्वे सिद्धे सति। आहेति, अवान्तरसङ्गतिबोधनार्थमाहेत्यर्थः। चतुर्णामिति, भगशब्दार्थानां धर्माणाम्। अनेनेति, द्विधोत्तरकथनेन। ज्ञापितमिति, व्यासचरणैर्ज्ञापितम्। अवतारधर्मयोरित्यर्थ इति, अवतारकथाप्रश्नोत्तरेणैश्वर्यस्य, 'स वा इदं विश्वममोघलील' इत्यादिधर्मप्रश्नोत्तरेण धर्मस्येत्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

एवमवान्तरसङ्गतिं सर्वसम्मतप्रकरणार्थं च विचार्य सिद्धान्तेन प्रकरणार्थं बोधयितुमध्यायार्थान् विचारयन्तः सार्धैस्त्रिभिः प्रथमाध्यायार्थमाहुः समूह इत्यादि—

---

१. शौनकानाम्। २. सताम्। ३. स्पष्टत्वे सन्दर्भविचार एव हेतुरिति सम्बन्धः। ४. उभयत्र प्रश्न इति शेषः।

प्रश्नः साधारणो हेतुः प्रश्नो ज्ञानपरः परः ।
कृष्णे चतुर्धा वेदे तु द्वयं तेन द्विधा मतम् ॥ ४४ ॥
प्रयोजनक्रियारूपैर्विद्यमानविमोचकः ।
श्रवणादरमध्यास्ते त्रयः प्रश्नाः क्रमात् कृताः ॥ ४५ ॥
अग्रे केन विमोचेत तदर्थं च स्वयोग्यताम् ।
पूर्वमाह ततः प्रश्नं प्रथमाध्यायसङ्ग्रहः ॥ ४६ ॥

प्रकाश—मङ्गलं प्रथमश्लोकार्थः । प्रकृतोत्कर्षः श्लोकद्वयस्य, तथा प्रसङ्गः । त्रिभिः सूतसंस्तुतिः । एकेन प्रथमप्रश्नः । हेतुप्रश्नः सार्धाभ्याम् । आद्यो धर्मपरो द्वितीयो ज्ञानपरः । ततः कृष्णे चतुर्धा प्रश्नः । एवं सति पूर्वप्रश्नद्वयस्य कृष्णपरत्वं न भविष्यतीति तत्समर्थनार्थं मार्गभेद एव न त्वर्थभेद इत्याह कृष्णे चतुर्धा वेदे तु द्वयमिति । चतुर्मूर्तिर्भगवान् कृष्णः, काण्डद्वयार्थरूपश्च, तेन द्विधा । अतः षड् भेदा अपि गुणपर्यायाः प्रष्टव्याः । तेषु ज्ञातेषु सर्वं ज्ञातं भवतीति । प्रकार-चतुष्टयेऽपि द्विरूपत्वं, तदाह प्रयोजनक्रियारूपैरिति । कृष्णस्य जन्मप्रयोजनप्रश्नः, क्रियाप्रश्नः, रूपाणां च प्रश्न इति त्रयाणामेकत्र प्रश्ने हेतुमाह विद्यमानविमोचक इति । भगवानवतीर्य योगिनो ज्ञानिनो भक्तांश्च मोचितवान् । भक्तमोचनार्थमेवावतीर्ण इति प्रथमं क्रियया सृष्ट्यादिना ज्ञानिविमोचकः, रूपेण योगिविमोचक इति । तन्मध्ये चाविहितभक्ताः । चतुर्थस्यैकस्यैव पृथक्त्वे तुल्यबलत्वायाह अग्रे केन विमोचेतेति । तत्र चाधिकारो वक्तव्य इति स्वाधिकारं वदन्नाह ।

तथेति, श्लोकद्वयस्य । धर्मपर इति, श्रेयोलिङ्गाद्धर्मविषयकः । ज्ञानपर इति, आत्मप्रसादलिङ्गाज्ज्ञानविषयकः । तत इति, 'सूत जानासी'त्यारभ्यासमाप्तीत्यर्थः । मूले—द्विधा मतमिति । प्रकारद्वयेन भगवत्परत्वं मतमित्यर्थः । द्विरूपत्वमिति, विद्यमानानां भाविनां च विमोचक इति भेदेन द्विरूपत्वम् । एकत्रेति, सँल्लग्नतया । भक्ताश्चेति, भक्तपदं ज्ञानियोगिनोर्विशेषणम् । मार्गाणां त्रित्वात् पक्षान्तरमाहुः तन्मध्य इत्यादि । ज्ञानियोगिनोर्मध्ये पूर्वं मुनिपदेन ज्ञानिनामुक्तत्वात् सूरिपदेन योगिनां वक्ष्यमाणत्वात् श्रवणादरबोधकेन ' को वा भगवतस्तस्ये 'ति मध्यमश्लोकेन श्रवणादरलिङ्गेनैव बोध्या इत्यर्थः । इदं श्रवणादरमध्यास्त इति मूलस्य विवरणम् । एवं सत्यवतारप्रयोजनेन पुष्टिभक्तिविमोचकत्वं ज्ञेयम् । चतुर्थस्येति, 'ब्रूहि योगेश्वर' इत्यनेनोक्तस्य तत्रेति, अग्रिमविमो-

---

१. 'पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसी'ति । २. अतः साधोऽत्र यत् सारं समुद्धृत्य मनीषया । ब्रूहि नः श्रद्दधानानां येनात्मा सुप्रसीदतीति । ३. ज्ञानिनामित्यपि पाठः । ४. अविहितभक्ताः । ५. पूर्वोक्तम् ।

अनेक प्रथमाध्याये जिज्ञासुः प्रथमाधिकारी निरूपितः, वक्ता च श्रुतभागवत इति ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

द्वितीयाध्यायसङ्ग्रहमाह उत्साहसङ्गतिरिति—

निबन्धः--उत्साहसङ्गतिः प्रह्वःशास्त्रारम्भोपदेशनम् ।
प्रश्नाभिप्रायकथनेनाभिनन्दनमुक्तवान् ॥ ४७ ॥
पञ्चभिः पूर्वनिर्धारो द्वितीये द्वादश स्मृताः ।
एवं वेदार्थनिर्धारे श्लोकाः सप्तदश स्मृताः ॥ ४८ ॥
धर्मज्ञानार्थनिर्धाराच्छ्रवणादिभिरादरात् ।
प्रेमोत्पत्तौ हरिः प्रीतस्तेन सर्वं भवेदिति ॥ ४९ ॥
जन्मकारणलीले च सप्तभिः पञ्चभिर्व्यधात् ।
भक्तोद्धारो भक्तिसिद्धिः क्रमादेव तयोः फलम् ॥ ५० ॥
सत्त्वनिर्धारणे पञ्च गुणातीते द्वयं स्मृतम् ।
विशेषभक्तिसिद्ध्यर्थं विचारोऽत्र निरूपितः ॥ ५१ ॥
सामान्यतोऽस्य मूलत्वकथनाय विशेषतः ।
नोक्तं स्वरूपाविज्ञानात् फलवाक्यं मृषा भवेत् ॥ ५२ ॥
अतस्तदुक्त्वा पश्चात्तु कुन्तीवाक्ये वदिष्यति ।
उत्पादनं प्रवेशश्च नानात्वं भोगरक्षणे ॥ ५३ ॥
पूर्वं पञ्चविधा लीला द्वितीयस्तेन पूरितः ।

प्रकाशः----सूतस्योत्साहः कथनप्रयोजनं च प्रथमश्लोकार्थः । ततो द्वाभ्यां प्रह्वः शुकनमस्कारः । शास्त्रारम्भोपदेशनमेकेन, अभिनन्दनं तथा । ततः स्वयमेव श्लोकविभागानाह पञ्चभिरिति । कर्म पञ्चविधमिति, 'पुरुषो द्वादशविध' इति

वने । वदन्निति, 'कलिमागतमाज्ञाये'त्यादिना वदन् । सिद्धमाहुः अनेनेति, वाक्यार्थसङ्ग्रहेण । अत्र वक्तुरधिकार आर्थो ज्ञेयः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

एवं सार्धैस्त्रिभिः प्रथमाध्यायार्थ उक्तः । अथ सार्धैः सप्तभिर्द्वितीयाध्यायार्थमाहुः द्वितीयेत्यादि—

मूले—उत्साहसङ्गतिरित्यत्रोत्साहसहिता सङ्गतिरित्युत्तरपदलोपी समासो ज्ञेयः । तथेति, एकेन । पञ्चभिरिति, 'स वै पुंसा'मित्यादिभिः । द्वादशेति, 'वदन्ति तत्तत्त्वविद' इत्यादयः

१. सत्यनिर्धारण इति । सत्त्वस्यश्रेयोदातृत्व निर्धारणे । २. गुणातीत इति । निरूपकत्वं समासम्यर्थं ।

तत्त्वविचारे द्वादश, एतावानेव वेदार्थ इति । 'सप्तदशो वै प्रजापति'रिति श्रुतेः । सप्तदश श्लोका वेदार्थे परिनिष्ठिताः । वेदे ततोऽधिका गतिर्नास्तीति सूचितम् । एतयोः प्रथमं निरूपणे निमित्तमाह धर्मज्ञानार्थनिर्धारादिति । एतयोः प्रजापतिमात्रत्वं चेत्तदैव भगवच्छ्रवणादिकं भवतीति भगवच्छ्रवणसिद्ध्यर्थं पूर्वं तयोर्निरूपणम् । तत आदरेण श्रवणादिकरणे प्रेमोत्पत्तिः । ततो हरिप्रीतिः । ततोऽवतारादीति क्रमः सिध्यति । जन्मकारणनिर्धारे सप्त श्लोकाः, लीलायां पञ्च । एतयोः प्रयोजनमाह भक्तोद्धारो भक्तिसिद्धिरिति । प्रथमे भेदद्वयमाह सत्त्वनिर्धारणे पञ्चेति । पञ्चानां विचारकत्वात् । विचारोपयोगमाह विशेषभक्तिसिद्ध्यर्थमिति । प्रयोजनान्तरमाह सामान्यत इति । ननु कृष्णावतारे प्रयोजनं पृष्टं, तत कथं सामान्यावतारप्रयोजनेनोत्तरं ? तत्राह विशेषतो नोक्तमिति । तत्र हेतुः शौनकस्य कृष्णस्वरूपाविज्ञानात् । ज्ञाते हि स्वरूपे जन्महेतुर्वक्तव्यः । यदि स्वरूपज्ञानरहितस्यापि जन्मप्रयोजनमुच्यते तदा हेत्वभावे फलमिव तं प्रति फलवाक्यं मृषा भवेत् । अनेन सर्वत्रैवं वक्तव्यमित्युपदेशः सूचितः । अतः प्रथमं स्वरूपमुक्त्वा, तदवगतं न वेति निश्चित्य, श्रद्धातिशयात्तदवगतिं ज्ञात्वा, पश्चात् कुन्तीवाक्ये वदिष्यति, 'केचिदाहुरजं जात'मित्यादिना । लीलायाः पञ्चविधत्वं स्पष्टयति उत्पादनमिति । अवतारात् पूर्वं स्वरूपस्थितस्य पञ्चविधा लीला । अवतीर्णस्यानेकविधामग्रिमाध्याये वक्ष्यति । एतावान्

वेद इति, पूर्वोत्तरकाण्डात्मके । एतयोरिति, धर्मज्ञानयोः । प्रजापतिमात्रत्वमिति यज्ञात्मकत्वम् । भवतीति, विहितकारिणां कृतिविषयो भवति । अयमाशयः । प्रमाणनिष्ठानां हि विहितत्वेन धर्मकरणम् । धर्मस्तु चोदनालक्षणः । सा तु वेदैकनिष्ठा । प्रत्यक्षवेदस्तु श्रवणादिकं चोदयन्नपि भगवच्छ्रवणत्वादिना रूपेण न चोदयतीति प्रामाणिकप्रवृत्तिस्तत्र कुण्ठिता भवति । अतस्तद्दूरीकरणाय विहितत्वमवश्यं वक्त्रा कथनीयम् । तच्च छान्दसस्य शक्यं, न तु तदनिष्णातस्य । सूतस्तु छन्दोऽनधिकारीति विधिं वक्तुमशक्तः सङ्ख्यामुखेन बोधयति । सङ्ख्यायाः प्रयोजनवत्त्वं च जातेष्ट्यधिकरणे प्रतिपादितम् । एवं सति श्लोकसङ्ख्यया प्रजापतिसङ्ख्यास्मारणे ततो योगजधर्मेण श्रवणादिबोधकविधौ दृष्टे सर्वमेव सेत्स्यतीत्याशयेन प्रथमं तयोर्निरूपणमित्यर्थः । अवतारादीति, शौनकाद्यात्मनि भगवदवतरणे विहितसर्वभावप्राप्तिरित्यर्थः । सप्तेति, 'सत्त्वं रज'इत्यादयः । पञ्चेति, 'स एवेद'मित्यादयः । प्रथमे इति, जन्मकारणे । पञ्चानामिति, 'अधिष्ठानं तथा कर्ते'ति वाक्योक्तानाम् । विचारोपयोगमिति, गुणातीतनिरूपकवाक्यद्वयोक्तविचारोपयोगम् । मूले-सामान्यतोऽस्येत्यत्र 'अस्ये'त्य-

१. अनेन इति कृष्णावतारप्रयोजनपृष्टाय शौनकाय सामान्यावतारप्रयोजनेनोत्तरे दत्ते क्रोधाजनेन कृष्णावतारप्रयोजने पृष्टेपि सहसोत्तरादानेन चेत्यर्थः । २. नोदना । ३. भगवच्छ्रवणे । ४. तस्याः कुण्ठतायाः । ५. वैदिकवाक्यम् ।

द्वितीयाध्यायार्थः । अनेन श्रोता अमत्सरो वक्ता चतुरश्चेति द्वितीयाधिकारः सूचितः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

तृतीयाध्यायार्थमाह आविर्भाव इति—

निबन्धः—आविर्भावोऽवतारश्च तुल्यसत्त्वशरीरगः ॥ ५४ ॥
अशुद्धशुद्धभेदेन निर्गुणः कृष्ण एव हि ।
ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या चावतारं करोत्यजः ॥ ५५ ॥
वराहादिस्वरूपेण बलकार्यं जनार्दनः ।
दत्तव्यासादिरूपेण ज्ञानकार्यं तथा विभुः ॥ ५६ ॥

प्रकाशः—मध्ये नारदादय आवेशिनो निरूपिता इति दूषणं परिहरति तुल्येति । यथा महाराजः स्वदेशे पर्यटन् स्वार्थं निर्मितेषु गृहेषु तिष्ठति, कदाचित् स्वकीयस्यापि गृहे, तदा तत्स्थितिपर्यन्तं तद् गृहमपि राजगृहं भवति । अतो विशेषाभावादावेशावतारयोस्तुल्यतया गणना । स्वयं तु स्पष्टार्थं विभागं कुर्वन् अवतारे भेदकमाह ज्ञानशक्त्येति । द्विविधो हि अवतारः, दुःखस्य बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विरूपत्वात् । क्रियाशक्त्या बाह्यदुःखनिराकरणार्थमवतारः, ज्ञानशक्त्या चान्तरदुःखनिराकरणार्थम् । क्रियास्थानानि निर्दिशति वराहादीति । आदिशब्देन कूर्मनृसिंहादयः । दत्तात्रेयो व्यासः, आदिशब्देन कपिलादि ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

इदानीमवतारान् गणयति मत्स्य इति सार्धैस्त्रिभिः—

निबन्धः—मत्स्यः कूर्मो वराहश्च सिंहवामनभार्गवाः ।
मन्वन्तरावताराश्च व्यासबुद्धौ च राघवः ॥ ५७ ॥
कपिलो दत्त ऋषभः शिशुमारो रुचेः सुतः ।
नारायणो हरिः कृष्णस्तापसो मनुरेव च ॥ ५८ ॥
महिदासस्तथा हंसः स्त्रीरूपो हयशीर्षवान् ।

नेन गुणातीतो वासुदेवः परामृश्यते । अत्र श्रोतुरधिकार आर्थो ज्ञेयः । एवं सार्धैः सप्तभिर्द्वितीयाध्यायार्थ उक्तः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

अतः परं त्रयोदशभिस्तृतीयाध्यायार्थं वदन्ति तृतीयेत्यादि—

अवतारलक्षणमेतत्सुबोधिनीतोऽवगन्तव्यम् । मूले—अशुद्धशुद्धभेदेनेति,

---

१. आविर्भाव इति । नारदादौ भगवदाविर्भावः ।

तथैव वडवावक्त्रः कल्किर्धन्वन्तरिः प्रभुः ॥ ५९ ॥
इत्याद्याः केवलः कृष्णः शुद्धसत्त्वेन केवलः ।

प्रकाशः—तत्र भागवतेऽनुक्ता अपि पञ्चरात्राद्यागमेषूक्ताः प्रकृतोपयोगिन इति निरूपिताः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

आवेशिनो निरूपयति श्रीब्रह्मरुद्रेति सार्धैश्चतुर्भिः--

निबन्धः—श्रीब्रह्मरुद्रशेषाश्च वीन्द्रेन्द्रौ काम एव च ॥ ६० ॥
कामपुत्रोऽनिरुद्धश्च सूर्यश्चन्द्रो बृहस्पतिः ।
धर्म एषां तथा भार्या दक्षाद्या मनवस्तथा ॥ ६१ ॥
मनुपुत्राश्च ऋषयो नारदः पर्वतस्तथा ।
कश्यपः सनकाद्याश्च वह्न्याद्याश्चैव देवताः ॥ ६२ ॥
भरतः कार्तवीर्यश्च वैन्याद्याश्चक्रवर्तिनः ।
गयश्च लक्ष्मणाद्याश्च त्रयो रोहिणिनन्दनः ॥ ६३ ॥
प्रद्युम्नो रौक्मिणेयश्च तत्पुत्रश्चानिरुद्धकः ।
नरः फाल्गुन इत्याद्या विशेषावेशिनो हरेः ॥ ६४ ॥

प्रकाशः—साधारणेनापि निरूपितस्यापि कृष्णस्य विशेषमाह ज्ञानक्रियोभययुत इति—

निबन्धः—ज्ञानक्रियोभययुतः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

प्रकाशः—सामान्यप्रयोजनोक्तिमारभ्य भागवतोक्तेः पूर्वं चत्वारोऽर्था निरूपितास्तेषां प्रयोजनमाह माहात्म्यज्ञापन इति—

निबन्धः—माहात्म्यज्ञापने मुक्तिस्तदर्थं बन्धनिर्णयः ॥ ६५ ॥
नित्यमुक्तत्वकथनं दुर्ज्ञेयत्वं च वै हरेः ।
विवृतिस्तस्य पूर्वैर्हि कृता येनादिमध्ययोः ॥ ६६ ॥
भक्तिः सिध्यति तत्क्षेपः प्रतिज्ञा चात्र पूरणम् ।

प्रकाशः—माहात्म्यज्ञापनं तत्रोक्तम् । भागवतश्रवणस्य च । मुक्तेः स्वरूप-

---

शरीराणां तथात्वेन । अत्र द्विरुक्तानां अधिकावेशित्वं बोध्यम् ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

तत्रोक्तमिति, 'एवं जन्मानी'ति पद्यद्वयोक्तम् । भागवतेत्यादि, माहात्म्यज्ञानमिति

---

१. "शुद्धसत्वेन केवल इति । केवलपदस्यार्थकथनमिदम् ।" २. श्रीति, पाल्किा शक्तिः ।
३. चत्वारोऽर्था इति मुक्तिबन्धनिर्णयनित्यमुक्तत्वदुर्ज्ञेयत्वरूपाः ।

सिद्ध्यर्थं बन्धनिर्णयः भजनसिद्ध्यर्थं भगवतो नित्यत्वं दुर्ज्ञेयत्वं चोक्तमित्यर्थः । एतद्द्वयविवरणात्मक भागवतम् । उत्तमस्य सङ्क्षेपकथनेनापि भक्तिर्भवतीति, आदि-मध्ययोस्तु न भवतीति तदर्थं विवरणम् । तत्क्षेपस्तत् कथयिष्याम इति प्रतिज्ञा । गुह्यज्ञानं तृतीयाधिकारो वक्तुः । तत्र सादरो द्वितीयः । अत्राध्यायः प्रकारणं च पूरितम् ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

द्वितीयप्रकरणस्य हेतुभूतत्वात् पूर्वपक्षकथनं, विरोधित्वाभावाय हर्षश्च वक्तव्यः, तमाह पूर्वमिति—

निबन्धः—पूर्वं सम्भावनामात्रात् पृष्टे दत्वोत्तरं स्वतः ॥ ६७ ॥
ग्रन्थोऽप्यस्तीति तच्छ्रुत्वा शौनको हर्षसम्प्लुतः ।
स्वरूपोत्पत्तिहेतूनां पाठाध्यापनयोरपि ॥ ६८ ॥
अयुक्तत्वाच्च सम्प्रश्नो ह्यर्थस्यालौकिकत्वतः ।
श्रोतुः सर्वपरित्यागात् श्रवणे किं प्रयोजनम् ॥ ६९ ॥
स्वत एवोत्तमत्वाच्च कृष्णानुग्रहणादपि ।
अतस्तज्जन्मसम्प्रश्नः कृष्णभक्त्या प्रसङ्गतः ॥ ७० ॥
प्रश्नत्रयेऽथ सम्पन्ने हेतुपूर्वं द्विधोत्तरम् ।

शेषः । अत्र वाक्यविभाग एवं ज्ञेयः । सार्धसप्तविंशतिभिरवताराः । सार्धेन सामान्यप्रयोजनम् । चतुर्भिर्बन्धः, एकेन तन्निर्णयः । द्वाभ्यां माहात्म्यपूर्वकं नित्यत्वम् । एकेन दुर्ज्ञेयत्वम् । द्वाभ्यां भजनम् । षड्भिः[1] श्रीभागवतप्रस्तावनेति । प्रस्तावनायाः प्रयोजनमाहुः एतद्द्वयेत्यादि । मुक्ति-स्वरूपभजनयोर्विवरणात्मकमित्यर्थः । द्वितीय इति, श्रोता । एवं शुश्रूषा, अमात्सर्यं, श्रवणादर इति श्रोतुः सम्प्रदायेन सन्मुखात् श्रुतभागवतत्वं रीतिचातुर्यं गुह्यज्ञानमितीत्येतावधिकारौ साधारणेऽधिकारे प्रथमकक्षारूपौ श्रवणस्वरूपनिर्वाहकतया त्रिभिरध्यायैः सिद्धौ । एवं द्विपञ्चाशद्भिः प्रथमप्रकरणार्थो विचारितः ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

अतः परं सार्धत्रयोदशभिर्द्वितीयप्रकरणार्थं वदन्तः पञ्चभिरस्य प्रकरणस्योपोद्घातत्वं सूतोक्तिविचारेण समर्थयन्ति द्वितीयेत्यादि । द्वितीयप्रकरणस्य श्रीभागवतकथने हेतुभूतत्वाद्वक्तुः[2] कथने प्रयोजकत्वेन पूर्वपक्षकथनं वक्तव्यम् । पूर्वपक्षकर्तुर्व्युत्थितत्वाभावाय तस्य हर्षश्च वक्तव्य इत्यर्थः—

---

१. श्लोकैः । २. वक्तुरिति शेषः ।

उपोद्घातो हेतुरूपस्त्रयाणां रूपमेव च ॥ ७१ ॥
मध्यमोऽयमुपोद्घातः फलपर्यवसानतः ।

प्रकाशः—लोको हि स्वरुच्या क्वचित् प्रवर्तते, तदेव चेत् शास्त्रसिद्धं तदा हर्षो भवत्येव । पूर्वपक्षाणां सङ्ग्रहमाह स्वरूपोत्पत्तिहेतूनामिति । 'सूतसूते' ति स्वरूपप्रश्नः । 'कस्मिन् युग' इत्युत्पत्तिप्रश्नः । 'केन सञ्चोदित' इति हेतुप्रश्नः । एवं त्रयः प्रश्नाः । ततोऽग्रे त्रयः प्रश्नाः । शुकस्य कथं पठनं, कथं वा पाठनं ! परीक्षितो वा कथं प्रायोपवेशः ? तस्य माहात्म्यं पूर्वं ज्ञातमिति तद् भवति न वा ? इति सन्दिह्य तस्य जन्मकर्मप्रश्नः । एवं चत्वारो भवन्ति । ननु तथापि भागवतमेव प्रष्टव्यं, किं तत्प्रश्नेनेत्याशङ्क्याह अयुक्तत्वादिति । उत्पत्तौ प्रवृत्तौ वा यद् युक्तिविरुद्धं, तस्मिन् श्रुते स्वस्यापि फलं तथा न भवतीति प्रश्न इति भावः । ननु यथोपपद्यते तथैव कल्प्यतां, तत्राह अर्थस्यालौकिकत्वात इति । लौकिको हि स्वेच्छया कल्प्यो भवेदिति । अयुक्तत्वमेवाह श्रोतुरिति । स ह्यात्मानमेव फलत्वेन मन्यते । तत्र विषयाणां बाधकत्वं मत्वा तत्परित्यागहेतुत्वं सर्वेषां शास्त्राणां च मन्यते । शुकस्तुस्वतएव निवृत्तविषय इति किं तस्य भागवतेन ? सुतरां वर्णनेन किं ? उत्कर्षार्थं चेत्तत्राह

पूर्वपक्षकथने हेतुं मूलेनाहुः । योजना तु—पूर्वं धर्मदर्शनेन शरणसत्तासम्भावनामात्रात् । 'धर्मः कं शरणं गत' इति पृष्टे सति 'कृष्णे स्वधामोपगत' इत्यनेन स्वतः ग्रन्थोऽप्यस्तीति उत्तरं पूर्वाध्याये दत्वा तूष्णीं भूते सूते इति शेषः । तच्छ्रुत्वा शौनको हर्षसम्प्लुतो जात इति । हर्षहेतुं टीकायामाहुः लोक इत्यादि । कथं पठनं, कथं वा पाठनमिति । एतौ प्रश्नौ मुखतोऽनुक्तावपि 'तस्य पुत्र' इति द्वाभ्यां शुकस्वभावक्रिययोः कथनेन क्रमात्सूचितौ । जन्मप्रश्ने हेतुमाहुः तस्येत्यादि । ननु 'कथमालक्षित' इत्यादिना 'द्वयं नमन्ती'त्यादिना च 'द्वय'मित्येवमन्येऽपि सन्तीति कथं सप्तैव गणिता इत्यत आहुः एवं चत्वार इति । यथा जन्मप्रश्ने । एवं हेतुविचारेणान्येऽपि चत्वारः, तथा च हेतुविचारेण पञ्चप्रयोजनविचारेण षडित्येवमेकादशेत्यर्थः । आद्यत्रयव्यतिरिक्तानां प्रश्नानां वैयर्थ्यमाशङ्कते ननु तथापीत्यादि । तथापीति प्रष्टव्यांशसत्त्वेऽपि, किमिति 'काकदन्तविचार'वन्निष्फलत्वात् । समाधिं व्याचक्षते उत्पत्तावित्यादि । फलं न तथा भवतीति, अर्थज्ञानं निःसन्दिग्धं न भवति कल्प्यतामिति, किं प्रश्नेनेति शेषः । अयुक्तत्वमिति, विवक्षितप्रश्नविषयाणां युक्तिविरुद्धत्वम् । अत्र स हीत्यादिना राजविषयाणां चतुर्णां, शुक इत्यादिना तद्विषयाणां चतुर्णां विरुद्धत्वं प्रकाशितम् । विरुद्धत्वेऽन्यदपि हेतुद्वयं वदन्ति उत्कर्षार्थमित्यादिना । मतान्तरमिति, बोपदेवीयम् । तत्प्रसिद्धेति, शौनकादिप्रसिद्धा । तथा च प्रसङ्गापेक्षया

---

१. 'तस्य पुत्रो महायोगी'त्याद्युक्तानाम् ।

स्वत एवोत्तमत्वादिति । स तु जन्मान्तर एव सर्वोत्तमः पूर्णज्ञानः, यत उपनयनमपि नापेक्षते, तादृशस्य किं भागवतेन भविष्यति ? कृष्णानुग्रहोऽपि तस्य स्वत एव जातोऽस्ति । एतत् पदद्वयमुत्तरत्रापि योजनीयम् । परीक्षिदप्येतादृशः । तस्यापि किं भागवतेन ? भगवत्कृपां स्पष्टीकर्तुं जन्म पृच्छतीत्याह अतस्तज्जन्मसम्प्रश्न इति । मतान्तरमाह कृष्णभक्त्या प्रसङ्गत इति । प्रासङ्गिक्येव सङ्गतिः । भक्तेषु भगवत्कृपा तत्प्रसिद्धेति । भक्त्या प्रश्नः । मुख्यतयात्र प्रश्नत्रयं भागवते, स्वरूपोत्पत्तिहेतूनाम् । अन्यत्तु तस्मिन् ज्ञात एवागमिष्यतीति त्रय एव प्रश्नाः सिद्धाः । तदाह प्रश्नत्रयेऽथ सम्पन्न इति । 'अथे' ति भिन्नप्रक्रमे । व्यासस्योत्पत्तिपूर्वं कथनाद् भिन्नः प्रक्रमः । अथ प्रथमप्रश्नस्य द्वितीयस्कन्धे उत्तरं भविष्यति । 'कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं ?' इत्यस्य, 'कुतः सञ्चोदितः ?' इत्यस्योत्तरमुच्यते । तत्रापि तृतीयस्योत्तरमधुना निरूप्यते । प्रवृत्तिमुत्तरत्र प्रकरणे वक्ष्यति । अनेनैकैकमुत्तरमेकैकं प्रकरणं परिगृह्णातीति सूचितम् । केन प्रेरित इत्यत्र नारदेन प्रेरित इत्युत्तरम् । तस्य प्रेरणे 'हेतुरेकेनाध्यायेन निरूप्यते । ततो युक्तिः, ततः प्रेरणमिति ।

हेतुतैव युक्तेति सैवं ग्राह्येत्यर्थः । 'इति ब्रुवाण'मित्यादित्रयोदशश्लोकेषु यत्सिद्धं, तदाहुः मुख्येत्यादि । नन्वन्येषामष्टानां का गतिरित्यत आहुः अन्यदित्यादि । यत्प्रश्नाष्टकं, तस्मिन्, ज्ञाते उत्पत्तिप्रवृत्तिप्रकाराभ्यां ज्ञाते गमिष्यति, शुकविषयकं चतुष्टयमुत्पत्त्युत्तरेण तथा राजविषयकं प्रवृत्त्युत्तरेण च गमिष्यतीति तथेत्यर्थः । शेषाणां 'द्वापर' इत्यादीनां तात्पर्यं वक्तुं प्रस्तुवन्ति अथेत्यादि । प्रथमप्रश्नस्येति, 'सूत सूते'ति श्लोकोक्तस्य कथाप्रश्नस्य । उच्यत इति, अस्मिन्स्कन्धे उच्यते । अधुनेति, अस्मिन्प्रकरणे । इत्युत्तरमिति । इदमुत्तरमेतत्प्रकरणार्थ इति सूतशौनकसंवादे सङ्गतिर्बोधिता । कथमध्यायत्रयमित्यपेक्षायामाहुः तस्येत्यादि । हेतुरिति व्यासानिर्वृतिरूपः प्रेरणहेतुः । ननु तृतीये नारदपूर्वजन्मकृतिरेवोच्यते, प्रेरणं कथं तस्यार्थ इत्यत आहुः कृतिरित्यादि । प्रेरणे पर्यवसानं व्युत्पादयन्ति हेतुरूप इत्यादिना । श्रीभागवतोत्पत्तिहेतुरूपो नारदप्रेरणात्मकः पदार्थ उत्पत्त्युपोद्घातत्वेन वर्ण्यते, अतः सपरिकरस्य हेतोरवश्यवक्तव्यत्वात्तस्यापि विचारो नारदस्येत्याद्युक्तरीत्या कर्तव्यः, तदर्थं त्रयाणां स्वरूपं वक्तव्यं, तत्रैकेन फलविपर्ययरूपः प्रेरणे हेतुभूतः प्रसङ्ग उक्तः, द्वितीये श्रीभागवतप्राकट्यरूपं प्रयोजनं नारदस्वरूपं चोक्तं, तत्र स्वरूपधर्मविषये सन्देहात्तृतीये विशिष्यधर्मा उक्ताः, ते निःसन्दिग्धाः सन्तः प्रेरण एव पर्यवसन्ति, अत एव नारदेन वाक्यसमाप्तौ 'भवतश्चात्मतोषण'मित्युक्तं, तेन पर्यवसानविचारे प्रेरणमेव तृतीयाध्यायार्थ इत्यर्थः । अस्योपोद्घा-

---

१. हेतुरिति । 'हेतुपूर्वं द्विधोत्तर'मिति मूलार्थः । २. हेतुता । ३. मुख्यप्रश्नत्रये । ४. यत् प्रश्नाष्टकं तद्गमिष्यतीति सम्बन्धः । ५. त्रय एव प्रश्नाः सिद्धाः । ६ द्वितीयप्रकरणस्येति शेषः । ७ हेतोः । ८ विचारार्थम् । ९. अध्यायेन । १०. द्वितीयाध्याये ।

कृतिरनुवाद इति हेतावेव प्रकरणं पर्यवसितमित्याह उपोद्धातो हेतुरूप इति। हेतुरूप उपोद्धातत्वेन वर्ण्यते, अतो हेतोरपि विचारः कर्तव्यः। नारदस्य बोधने कः प्रसङ्गः, किं प्रयोजनमिति, को वा नारद इति त्रयाणां स्वरूपं वक्तव्यम्। नन्वयं परम्परया भागवते उपयुज्यत इति प्रथम एवाधिकारः कुतो न भवति ! तत्राह मध्यमोऽयमुपोद्धात इति ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥

नारदकथने प्रसङ्गमाह यद्वाक्यादिति—

निबन्धः—यद्वाक्यात् सर्वविश्वासः फले तस्य विपर्ययः ७२ ॥
कलौ फलं तदुक्ते किमित्यनिर्वृतिवर्णनम्।
उत्तरं च कृतिश्चैकं नारदस्य फलं पृथक् ॥ ७३ ॥

प्रकाशः—अयं चतुर्थाध्यायः प्रश्नस्तदङ्गम्। प्रकरणादौ प्रश्नो नाध्यायार्थवा-

---

तत्वे शङ्कते नन्वयमित्यादि। अस्मिन्प्रकरणे उच्यमानो हेतुरूप उपोद्घातः समाधिद्वारा सम्पूर्णे श्रीभागवते उत्पत्तिहेतुबोधकतयोपयुज्यते, यथा प्रथमाध्यायस्थशौनकप्रश्नः, तथा च तस्य तदुत्तरस्य च यथा प्रथमे प्रवेशस्तथास्याप्युत्पत्तिबोधकतया तत्रैव प्रवेशौचित्यात् षडध्यायात्मकः प्रथमाधिकारः कुतो न भवति ? भेदकस्याभावादित्याशङ्कायां भेदकमाहेत्यर्थः। तच्च भेदकं 'फलपर्यवसानत'इति मूलाद् बोध्यम्। फलं टीकायां व्युत्पाद्य भगवदीयत्वं, तत्पर्यवसानतः तद्बोधकत्वात्। तथा चास्य भेदकस्य विद्यमानत्वान्न प्रथमे प्रवेश इत्यर्थः ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥

एवं पञ्चभिरस्य मध्यमोपोद्धातत्वं समर्थितम्। अतः परं सार्धेनाध्यायार्थान्न वदन्तः प्रथमस्य प्रेरणहेतुतामुपपादयन्ति नारदेत्यादि—

ननु पञ्चमे नारदेन पृष्टो व्यासो यदा नारदं पृष्टवाँस्तदा नारदेन प्रेरणं कृतमिति प्रश्नस्यैव प्रेरणहेतुत्वं प्रतीयते, न त्वनिर्वृतेरित्याशङ्कायामाहुः प्रश्नस्तदङ्गमिति। अनिर्वृतिशेषः सः इति तस्या एव हेतुतेत्यर्थः। नन्वनिर्वृतेरध्यायार्थत्वमसङ्गतं, शौनकप्रश्नोत्तररूपत्वात्, तत्र चानिर्वृतेरपृष्टत्वादिति चेत्तत्राहुः प्रकरणेत्यादि। तथा च प्रकरणार्थभूतहेतुशेषत्वेनास्या उक्तत्वान्न प्रश्नस्यैतद्बाधकत्वमित्यर्थः। मूले-उत्तरं च कृतिश्चैकमिति। पञ्चभिरुक्तमनिर्वृतिहेतुकथनरूपं, अष्टभिरुक्तमग्रिमं चोत्तरं, तत्सन्दंशपतिता नारदकृतिश्चैकं, हेतुप्रवेशा-

---

१. व्याससाम्यं फले आशङ्क्याहुः फले तस्येति। तस्य नारदस्य। फले भगवत्कृपायाम्। विपर्ययः ससाधनत्वमित्यर्थः;। २. अनिर्वृत्तेः; प्रयोजनमाह कलाविति। ३. तदुक्ते किमिति। व्यासोक्ते न किमपि फलमित्यर्थः। ४. शौनकप्रश्नस्य। ५. हेतोः। ६. प्रथमप्रकरणे। ७. कारिकाभिः। ८. मध्यमप्रकरणस्थस्य प्रथमाध्यायार्थस्य। ९. व्यासकृतप्रश्नस्य। १०. प्रश्नः। ११. अनिर्वृत्तेः। १२. अध्याये प्रश्ने वा। १३. एतस्य अनिर्वृत्तिरूपाध्यायार्थस्य। १४. 'भवतानुदितप्राय'मित्यादिभिः पञ्चभिः। पञ्चदशभिरित्यपि पाठः। १५. 'एतत् संसूचितं ब्रह्मन्नित्यादिभिरष्टभिः।

धकः। द्वितीयाध्यायार्थमाह उत्तरं च कृतिश्चैकमिति। नारदस्य फलं पृथगिति, तृतीयाध्यायार्थः, ससाधनं फलम् ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

नन्वेवं सति मध्यमप्रकरणे श्रोतुर्वक्तुश्चाधिकारः को वा सिद्ध इत्याशङ्क्य तमाह तदीयत्वमिति ।

निबन्धः—तदीयत्वं च तत्त्वं च मध्यमोत्तमयोः फले ।
सत्सङ्गो ज्ञानविज्ञाने कर्मनिर्णय एव च ॥ ७४ ॥
उक्तस्यानुभवान्तत्वं वर्णितं नारदेन हि ।
'शब्दब्रह्मणि निष्णातो' न परस्नानतः पुरा ॥ ७५ ॥
फलं भवेदिति स्वस्य फलाध्यायनिरूपणम् ।
श्रोतुः फलं नावतारादवतारफलं फलम् ॥ ७६ ॥
तदुक्तमन्यशेषत्वादुत्तरत्र न मध्यमे ।

प्रकाशः—अनिर्वृत्या व्यासस्य तदीयत्वे हेतुरुच्यते । उदासीनं भगवान् किमित्येवं कुर्यात् ! अतो व्यासो भगवदीय इति द्वितीयाध्याये बोधितः । तथा नारदस्यापि । उत्तमप्रकरणस्य तु तत्त्वं फलम् । शुको भगवान्, राजापि तथा जात इति । तत्राप्येवं निर्णयः । भगवदीयत्वं द्विधा । भगवान् स्वार्थं प्रथमत एव किञ्चित्

देकरूपं, द्वितीयाध्यायार्थ इत्यर्थः । एवं च पञ्चमे सप्त श्लोकाः पूर्वशेषाः, अग्रे त्रयस्त्रिंशच्छ्लोकाः प्रेरणात्मका इति विभागः । षष्ठाध्यायार्थमाहुः नारदस्येत्यादि । फलं त्रयस्त्रिंशद्भिरुक्तम् । पृथक्प्रेरणशेषत्वेऽपि नारदस्य फलत्वाद्भिन्नतयाप्यध्यायार्थरूपमित्यर्थः ॥ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

एवं सार्धेन सूतोक्त्यनुसारिणोऽध्यायार्थानुक्त्वा व्यासोक्तिविचारेण द्वयोरधिकार एवार्थ इति सप्तभिर्वक्तुमाहुः नन्वित्यादि । एवं सतीति, मध्यमप्रकरणस्योपोद्घातरूपत्वे सति—

उपपादयन्ति अनिर्वृत्येत्यादि । हेतुरिति, भगवत्कृपारूपो हेतुः । अयं प्रथमाध्यायस्यार्थः । द्वितीयाध्यायार्थस्तूक्त एव भगवदीयत्वरूपः । तथा च 'द्वापरे समनुप्राप्त' इत्यारभ्य प्रथमाध्यायोऽप्येतच्छेष इति द्वाभ्यां भगवदीयत्वरूपो व्यासाधिकारो बोधितः । तथा च द्वितीयतृतीयाभ्यां नारदस्यापीत्यर्थः । अत्रत्यं प्रकारमग्रिमेऽप्यतिदेष्टुमाहुः उत्तमेत्यादि । एवं निर्णय इति । एतत्प्रकरणोक्तभगवदीयत्ववत्तत्र भगवत्त्वनिर्णय इत्यर्थः प्रकारं स्फुटीकुर्वन्ति भगवदीयत्वमित्यादि । इत्याहेति, द्वितीये तृतीये चाहेत्यर्थः । तत्र

---

१. श्रोतृवक्रोः । २. मध्यमप्रकरणस्थः । ३. द्वितीयाध्यायशेषः । ४. अध्यायाभ्याम् । ५. भगवदीयत्वरूपोऽधिकारो बोधित इत्यपिशब्दाभिज्ञाप्योऽयमर्थः । ६. मध्यमप्रकरणस्थेऽध्याये ।

करोति, तत्र न साधनापेक्षा। अन्यस्तु साधनेन भगवदीयो भवति। कथं भवतीत्याकाङ्क्षायां नारदः स्ववृत्तान्तं क्रमेणाहेत्याह सत्सङ्ग इति। आदौ सत्सङ्गः साधनम्। ततो जीवस्वरूपज्ञानं भगवत्स्वरूपज्ञानं च। ततो भगवदनुभवः। सिद्धत्वात्तत्र न किञ्चित् कर्तव्यमिति, स्वानुभवेऽनुभावनामात्रानुभवो मिथ्येति, स्वस्य भगवदीयत्वे सिद्धे, यथा नारदोऽहमिति पश्चान्मन्यते, तदर्थं साधनम्। कर्मणां भगवति समर्पणम्। समाधौ भगवदनुभवः। ततो भगवद्वाक्यात्तथात्वमिति। एतदेव हि नारदेन वर्णितम्। नन्वेवं सति ज्ञानविज्ञानोपदेशे फलं स्वत एव भविष्यति, किं षष्ठाध्यायेनेत्याशङ्क्याह शब्दब्रह्मणीति। ननु व्यासस्यांशावतारत्वात्तदीयत्वं स्वत एव, तत् कथं श्रवणेन तदीयत्वम्? तत्राह श्रोतुः फलमिति। अवतारमात्रेण तदीयत्वं जातम्। किन्तु श्रोतुः फलं श्रवणानन्तरमेव फलम्। अवतारफलमपि तदैव जातमित्यर्थः। नन्वेवं सति तदीयत्वसिद्ध्यर्थं भागवतनिर्माणमत्रैव वक्तव्यं स्यादित्यत आह तदुक्तमन्यशेषत्वादिति। उत्तमार्थं हि तस्य निर्माणं, तदीयत्वं तु

त्यर्थः। तत्र तत्सङ्गादि कर्मान्तं चतुष्टयम्। द्वितीये दशभिः, शेषनिर्णयस्तृतीये, चात्कर्मनिर्णयः। भगवदनुभव इति, तत्साक्षात्कारः। द्वयोर्वैलक्षण्यं बोधयितुमाहुः सिद्धत्वादित्यादि। भगवदीयत्वस्य सिद्धत्वात्। तत्र, व्यासस्य भगवदीयत्वे, किमपि साधनं कर्तव्यं नास्ति। स्वानुभवे, नारदस्य भगवदीयत्वानुभवे। अनुभावनेत्यादिनोक्तरीत्या पश्चात्तथात्वम्। एतदेवानुभवान्तत्वं नारदेन 'त्वमात्मनात्मान'मिति श्लोकेन 'अहं पुरे'त्यारभ्य स्ववृत्तान्तकथनेन च वर्णितम्। अतो द्विविधं भगवदीयत्वमध्यायत्रयेण सिद्धमित्यर्थः। तृतीयाध्यायवैयर्थ्यमाशङ्कते नन्वित्यादि। द्वितीयाध्यायेनैवार्थसिद्धौ किं तृतीयेनेत्यर्थः। मूले—फलं भवेदिति। इति बोधयितुमिति शेषः। श्रोतुः फलोक्तौ वदद्व्याघातमाशङ्कते नन्वित्यादि। तत्कथमिति, स्वतो भगवदीयत्वं व्यासे, तच्च नारदोक्तश्रवणोत्तरपरस्नानानन्तरभावीति कथमित्यर्थः। समादधते अवतारेत्यादि। तथा चोक्तसत्सङ्गादिप्रणाड्यजन्यत्वमेव प्राथमिकत्वमत्र विवक्षितमिति श्रवणोत्तरभावित्वेऽपि न तद्धानिरित्यर्थः। भगवदीयत्वस्य श्रवणजन्यत्वेऽसङ्गतिमाशङ्कते नन्वित्यादि। समाधिं व्याचक्षते उत्तमार्थमित्यादि। तस्येति, सम्पूर्णस्य। तथा च श्रीभागवतप्रकटनार्थं भगवतो व्यासरूपेणावतारात् तत्करण एव स्वार्थत्वसिद्ध्या भगवदीयत्वं सिद्ध्यति। करणं तूत्तमार्थमिति भगवदीयत्वं तस्यानुषङ्गिकफलं,

---

१. ग्रन्थस्यास्य द्वात्रिंशत्पत्रमुद्रणानन्तरमयं टिप्पण्यात्मको लेखः समुपलब्धः। मुद्रितग्रन्थपरा टिप्पणी त्वन्तेऽगतिकगतिकयाङ्कनीयेति निश्चित्य प्रस्तुतग्रन्थपरात्र सम्मुद्यते। इतीति हेतौ। २. स्वानुभवे स्वित्यादि। स्वस्य नारदस्यानुभवे। श्रीमन्नारायणस्य शिशयिषोः सुप्तस्याविर्भूतब्रह्मणो मायासृष्ट्यन्तःपातितेन तज्ज्ञानां...दिनारदान्तानां मायिकत्वेन भावनामात्रजनकोऽनुभवोऽमिथ्येति पदच्छेदः। ज्ञापकाशयेतिपक्षे मिथ्ययेति पदच्छेदः। मूले—तदिति, श्रीभागवतम्। ३. श्लोकैः। ४. भगवदीयत्वम्। ५. मध्यमप्रकरणस्थेन। ६. तस्य प्राथमिकत्वस्य। ७. श्रीभागवतकरणे। ८. व्यासस्य।

प्रासङ्गिकमानुषङ्गिकफलं सेत्स्यति । अतो मध्यमप्रकरणे न निरूपितम् ॥ ७४ ॥ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

ननु प्रासङ्गिकस्याप्यसिद्धौ कथं मध्यमत्वं सेत्स्यति ? तत्राह प्रतिबन्धनिवृत्तिश्चेति द्वाभ्याम्—

निबन्धः–प्रतिबन्धनिवृत्तिश्च साधनाचरणं तथा ॥ ७७ ॥
रागाभावात् फलं कृष्णवाक्यान्मध्यममीरितम् ।
दुःखाभावात् स्वतन्त्रत्वाद्भयाभावाच्च संसृतेः ॥७८॥
फलत्वं स्फुरणं चापि सर्वदावान्तरं फलम् ।

प्रकाशः—व्यासेऽन्यासक्तिः प्रतिबन्धिका । नारदे च माता । साधनाचरणं नारदपूजादि । नारदस्य पुनः सताम् । एकत्राग्रहाभावः । अपरत्र रागाभावः । एवं त्रिभिर्भगवदीयत्वम् । नन्वधिकारित्वमेवास्तु नारदस्य, कथं तदीयत्वं ? तत्राह कृष्णवाक्यादिति । आकाशवाणीवाक्यात् । 'गन्ता मज्जनतामसि' इति मध्यमं फलं तदीयत्वम् । ननु नारदस्यापि पुनर्जन्मसम्भवान्निकृष्टत्वमेव कुतो न भवतीत्याशङ्क्याह दुःखाभावादिति । तस्य संसारकृतं दुःखं नास्ति, नापि परतन्त्रता, नापि विषयादिभ्यो भयं, अतो नारदत्वं फलमेव । किञ्च, सर्वदा भगवत्स्फुरणमपि तस्य जायते । अतो भगवद्भावान्नारदत्वमवान्तरं फलमित्यर्थः ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

तच्च नारदवाक्यश्रवणमात्रादेव सिद्धमिति तन्निर्माणस्यात्रानुक्तावपि न काचन हानिरित्यर्थः ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

भगवदीयत्वसिद्धौ पुनराशङ्कते नन्वित्यादि । करणद्वारा हि प्रासङ्गिकं फलं न तु श्रवणमात्रेण, करणस्य चात्रानुक्त्या फलाभावे प्रकरणस्य मध्यमत्वानुपपत्तिरित्यर्थः—

उपपादयन्ति व्यास इत्यादि । साधनाचरणक्रमेण द्वयोर्ज्ञातव्यम् । प्रतिबन्धनिवृत्तिर्न स्फुटेति तां स्फुटीकुर्वन्ति एकत्रेत्यादि । द्वितीये व्यासस्याग्रहाभावस्तृतीये च नारदस्य रागाभावः मातृस्नेहाभावः । तथा च करणानुक्तावपि तत्प्रतिबन्धनिवृत्तितत्साधनयोः कथनेन फलमुखसूचनात् त्रिभिर्भगवदीयत्वं सिध्यतीति मध्यमत्वमप्रत्यूहमित्यर्थः । एवं च क्रमेण भगवदभिप्रेताकरणजनितखेदः, वक्तृपूजा, आग्रहाभावश्चेति श्रोतुः, भगवदीयमैत्री, सतां पूजा, कुटुम्बरागाभावश्च वक्तुरिति त्रिष्वधिकारो भगवदीयत्वरूपः सिध्यति । यद्यपि वक्तृपूजा पूर्वत्र सिद्धा, तथापि प्रश्नशेषत्वादुत्तराध्याये निविशते । एवमाग्रहाभावोऽपि पर्यवसानात्तृतीय इति न कोपि शङ्कालेशः ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

---

१. भगवदीयत्वरूपं फलम् । २. तस्य श्रीभागवतस्य । ३. तस्य करणस्य । ४. अध्यायैः ।

नन्वेवं सति मध्यमत्वसिद्ध्यर्थं व्यासस्यापि साधनं कथं नोच्यते? तत्राह नात्मवत्करणमिति—

निबन्धः—नात्मवत्करणं युक्तं बोधनं प्रीणनाद्धरेः ॥ ७९ ॥
अविश्वासात् स्वकथनं वारितं नारदेन वै ।
सत्यं तदिति विज्ञानात् स्तुतिस्तस्यात्र पूरणम् ॥ ८० ॥

प्रकाशः—यथा नारदो बोधितः सन्न्यासिभिः, तथा न बोधनीयः । यथा वा 'नामान्यनन्तस्ये'त्यादिप्रकारेण नारदेन कृतं, तथा न कर्तव्यम् । तत्र हेतुः—हरेः प्रीणनात् । स्वत एव व्यासे हरिप्रीतिः । ननु तथापि परम्परया प्राप्तं भागवतं सूतवत् कथं नोक्तवान्, मया ब्रह्मणः स्थाने पठितं तत्तुभ्यं वदामीति? तत्राह अविश्वासादिति । परम्परा लोके न प्रसिद्धेति संवादाभावान्न कथितम् । 'समाधिनानुस्मरे'ति वाक्यात् । सामान्यतः कथितं च । तथा सति संवादो भवति । न चेत्तदपि नारदोक्तं सत्यमिति यद्यवगम्यते, तदैव समाधौ प्रवृत्तिर्भवति । अन्यथा परम्परा न स्यादित्याशङ्क्याह सत्यं तदिति । विज्ञानादिति, स्तोत्रकरणाज्ज्ञायते, 'अहो देवर्षिर्धन्य' इति । नारदोक्तमस्य हृदये समागतमिति तेनैव प्रकरणं पूरितम् ॥ ७९ ॥ ८० ॥

मूले—अविश्वासादित्यादि । व्यासस्य नानासाधनविज्ञानाभिनिविष्टत्वादविश्वासमवगत्य नारदेन स्वस्य ब्रह्मणा कथनं वारितं गोपितमित्यर्थः । एतदिति, स्ववृत्तान्तकथनरूपम् । अन्यथा असत्यत्वज्ञाने । परम्परा संहिताकरणतत्पाठनरूपा न स्यात् । तथा च तेदुभयदर्शनाद्विश्वासोऽवगम्यत इति स्वज्ञानकथनेऽपि सः स्यादेवेत्याशङ्क्येत्यर्थः । तत्र समादधते स्तोत्रेत्यादि । सूतोक्तनारदस्तुतिवाक्योपनिबन्धनस्य समाध्यनन्तरभावित्वाज्ज्ञायते समाध्युत्तरमेव विश्वासो जात इति । अन्यथा नारदोक्त्यनन्तरमेव स्वयं स्तुतिं कुर्यात् । अत एवं ज्ञायतेऽन्यासक्तिशिष्यसङ्ग्रहाभ्यां प्रथमकक्षाप्रवेशस्य सम्भावितत्वेऽपि 'स वै भवान्वेद समस्तगुह्य'मित्यादिना नारदस्वरूपज्ञानपूर्वकं स्तवनान्नारदे उत्कर्षज्ञानमस्तीति शौनकतो वैलक्षण्यान्न व्यासस्य तेत्कक्षाप्रवेशः । शुकोक्तौ राज्ञ इव नारदवाक्ये पूर्वं विश्वासाभावाच्च नोत्तमकक्षा । अतो मध्यमत्वे सिद्धे तेनैव प्रकरणं पूरितमित्यर्थः ॥ ७९ ॥ ८० ॥

---

१. नात्मवत्करणमिति । आत्मा स्फुरितत्वेन यस्यासौ इति आत्मवान्नारदः, तस्य करणमिव करणमित्यर्थः । २. करणपाठनदर्शनात् । ३. विश्वासः । ४. प्रथमकक्षाप्रवेशः ।

तृतीये प्रकरणे प्रथमतः शौनकस्य प्रश्ने प्रयोजनमाह उपोद्धात इति—

निबन्धः—उपोद्धातो ग्रन्थमात्रे प्रश्न एकस्ततः कृतः ।
वक्तुश्चापि पृथक् प्रश्नः फलसिद्धेस्तु पूर्ववत् ॥ ८१ ॥
माहात्म्यं सर्वनिर्धारो यस्मादत्रैव वर्णितः ।
श्रुतिमात्रात्ततो भक्तिरविश्वासान्न रागिणः ॥ ८२ ॥
फले सिद्धेऽपि सेव्येयं विषयोत्कर्षतः कृतेः ।
अत एवैष्यविज्ञानादात्मज्ञापनसूचनम् ॥ ८३ ॥

प्रकाशः—द्वितीयं प्रकरणं हेतुभूतं भवति, भागवतोत्पत्तिसाधनं, तत्[१] तदैव निर्वहेद् यदि नारदगमनानन्तरमेव तत्[२] कुर्यात् । अन्यथा कालान्तरकरणे पूर्वोक्तस्य हेतुत्वं न स्यात् । अत उपोद्धातोऽयं तदर्थविचाररूप इति ग्रन्थस्वरूपमात्रनिष्पत्त्यर्थं पूर्वमेकः प्रश्नः कृतः । ततो ग्रन्थोत्पत्तावुक्तायां वक्तुश्चापि शुकस्य वक्तृत्वेनोपपद्यत इति द्वितीयः प्रश्नः । स तु पूर्ववदनुवादरूपः । पुनः स्मारणं तस्यावश्यकबोधार्थम् । उत्तमत्वं च वक्तुः सिध्यतीत्याह फलसिद्धेरिति । मुक्तिः फलं च तच्छुकस्य सिद्ध-मिति । एवं प्रश्नाभिप्रायमुक्त्वा, उत्तरे 'यस्यां वै श्रूयमाणाया'मित्यत्र युक्तिबाधा-भावाय साधिकामुपपत्तिमाह माहात्म्यं सर्वनिर्धार इति । यस्माद् भागवते भगवतो माहात्म्यं, निःसन्देहार्थं सर्ववस्तुनिर्धारश्चोक्तः । अतः श्रुतमात्रादेव ततो भक्तिर्भवति । तर्हीदानीन्तनानां कथं न जायते ? तत्राह अविश्वासादिति । उक्तार्थ-विश्वासोऽत्राधिको हेतुर्वक्तव्यः । स च व्यासोक्तत्वेन जायमानोऽपि रागस्य प्रति-

---

एवं सप्तभिर्व्यासाशयमुक्त्वा सार्धैस्त्रयोदशभिर्मध्यमप्रकरणं विचारितम् । अतः परं त्रिपञ्चाशद्भिरुत्तमप्रकरणं विचारयन्तः पूर्वकृतेन हेतुप्रश्नेनैव चारितार्थ्यात्पुनः शौनकप्रश्नस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्य तन्निराकरणाय[३] तस्य[४] फलोपोद्घातत्वं त्रिभिराहुः तृतीयेत्यादि—

अन्यथेति, तदानीमकरणे । तदर्थविचाररूप इति, पूर्वोक्तं यत्करणं तद्विचाररूपः । अनुवादरूप इति, 'तस्य पुत्र' इत्यादिद्वयोक्तानुवादरूपः । अनुवादप्रयोजनमाहुः पुनः स्मारणमित्यादि । सिध्यतीत्याहेति । प्रश्न एव व्यक्तं भवति । तथा च सिद्धे फले साधनविषयिणी प्रवृत्तिरनुपपन्नेत्याह युक्तिबाधाभावायेति । इदानीन्तनप्रत्यक्षकृतबा-धाभावाय । न जायत इति, तथा चाविश्वासेन प्रतिबन्धाद्युक्तिबाधो न दोषायेत्यर्थः ।

---

१. तदिति साधनत्वम् । २. तदिति श्रीभागवतम् । ३. वैयर्थ्यवारणाय । ४. प्रश्नस्य ।

बन्धकस्य विद्यमानत्वान्न जायते। एवं सूचयितुं 'शुकमध्यापयामासे' त्युक्तमित्यर्थः। इदानीं भक्तिसहितस्य ग्रन्थस्य फलं निर्धारयितुं पुनः सूतशौनकसंवाद इति सूतोक्तं फलं स्पष्टं वदति फले सिद्धेऽपि सेव्येयमिति। यद्यप्यस्य मुक्तिः फलं, तथापि फलापेक्षया साधनमेव फलरूपम्। तद्रागरहितस्यैव तथानुभवो भवति नान्यस्येति सूतवाक्ये निर्धारः। तेन अत्रैतत् सिद्धम्। प्रवृत्तिपराणामपि यथा भक्तिर्भवति तदर्थमिदमारब्धम्। ते हि विषयिणो विषयोत्कर्षे एव प्रवर्तन्ते। उत्तमविषयार्थं च हीनविषयं परित्यजन्ति। अतो मोक्षसाधनत्वमस्या अनुक्त्वा कल्पनामपि निराकर्तुं मुक्तस्य प्रवृत्तिमाह। तेन व्यासस्तथा कृतवान्। यथा लोको विषयसौन्दर्यादेव प्रवर्तते, तथा कृतेरात्मज्ञापनं सूचितम्। 'प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मन' इति नारदज्ञापनं सूचितमित्यर्थः। नन्वग्रे विषयसौन्दर्यात् प्रवृत्ता भविष्यन्तीत्यत्र किं प्रमाणम्? मूढा उत्कृष्टेऽपि विषये न प्रवर्तन्त इत्याशङ्क्याह अत एवैश्यविज्ञानादिति। कृतेरेव हेतोरैश्यविज्ञानमपि सूचितम्। तदेव नारदोक्तं कृतं भवतीति। अनेन प्रवर्तमानस्य दृढविश्वासो बोधितः। एवं सफलं भागवतं नारदवाक्यात् कृतमिति फलितम्॥ ८१॥ ८२॥ ८३॥

अधुना तेन परीक्षित्स्थाने निरूपितमिति प्रवृत्तिं वक्तुं परीक्षितो जन्मादि वक्तव्यम्। तच्च द्वादशाध्याये वक्ष्यति। मध्ये द्रौण्यादिजयः, कुन्तीस्तुतिः, भीष्ममुक्तिः,

---

विश्वासस्य हेतुता चानुपदं व्युत्पाद्या। ननु किमत्र मानमित्याकाङ्क्षायामाहुः एवमित्यादि। अविश्वासजनकस्य रागस्य प्रतिबन्धकत्वं सूचयितुं यत् शुकाध्यापनमुक्तं तदेवात्र मानमित्यर्थः। 'स संहिता'मित्यादेस्तात्पर्यं वदन्ति इदानीमित्यादि। भक्तिरहितस्य ग्रन्थश्रवणफलं भक्तिरूपं निर्धार्य भक्तिसहितस्य ग्रन्थश्रवणफलं निर्धारयितुं, पुनः सूतशौनकसंवाद इति बोधयितुं, तद्वदतीत्यर्थः। सूतवाक्यनिर्धार इति, 'आत्मारामाश्चे'तिश्लोकद्वयार्थनिर्धारः। अत्रेति संवादद्वये। कल्पनामिति, मोक्षसाधनत्वकल्पनाम्। आहेति, सूत आह। तथा च फलेऽपि सिद्धे सेव्येयमिति सूतोक्तनिर्धार इत्यर्थः। एवं सूतवाक्यसिद्धमर्थमुक्त्वा अयं व्यासाशयो न वेति जिज्ञासायामाहुः तथा कृतेरित्यादि। विषयसौन्दर्यपूर्वकं करणात्स्वकृतं नारदकृतं च उत्कर्षज्ञापनं सूचितमित्यर्थः। अनेनेत्यादि, करणेन स्वस्य दृढविश्वासो बोधित इत्यर्थः। एवं त्रिभिरुपोद्घातो निरूपितः॥ ८१॥ ८२॥ ८३॥

एवं सप्तमस्यैकादशश्लोकानामर्थ उक्तः। अतः परं प्रवृत्त्युत्तरं विस्तरेण वक्तुं यतत इति

---

१. पुत्रस्य। २. अध्याये।

भगवन्निर्याणं, द्वारकाप्रवेशश्च पञ्चाङ्गानि । तेषां श्रोतृजन्माङ्गता कथमिति सन्देहे केचिदाहुः, तन्मतमनूद्य दूषयति स्वपरप्रतिबन्धोनमिति ।

निबन्धः—स्वपरप्रतिबन्धोनं स्फीतं राज्यं जहौ नृपः ।
इति वैराग्यदार्ढ्योक्त्यै प्रोक्ता द्रौणिजयादयः ॥ ८४ ॥
इति केचिदिह प्राहुः

प्रकाशः—ते हि वैराग्यशेषत्वेन पञ्चाध्यायीं निरूपयन्ति । स्वा युधिष्ठिरादयः । परे भीष्मादयः । ते चेत् परीक्षितः प्रायोपवेशनपर्यन्तं तिष्ठेयुः, तदा तस्य विषयाभावादेव वैराग्यमिति नोत्कर्षः सिध्यति । तथा भगवत्कृपया स्फीतत्वं, स्वत्वं, परत्वं च ॥ ८४ ॥

निबन्धः— नैतत् साधुतरं वचः ।
द्रौणेर्जये न सोऽस्त्येव न दातुः प्रतिबन्धता ॥ ८५ ॥
न च कृष्णकथा युक्ता स्तुतिर्मोहकथापि वा ।
प्रतिबन्धस्तु सम्प्राप्ते तस्मादष्टकथा मुधा ॥ ८६ ॥

प्रकाशः—नैतत् साधुतरं वचनं कार्यकारणयोरव्यवधानाभावात् । न

बोधयितुं, प्रकरणार्थरूपमधिकारं च बोधयितुमाहुः अधुनेत्यादि । वक्तव्यमिति, उत्तमत्वाय वक्तव्यम् । अनूद्येति, सपादपद्येनानूद्य—

तथेत्यादीति । युधिष्ठिरादीनामेतावत्पर्यन्तं स्थितौ तेषु भगवत्कृपायाः स्फुटत्वाच्चंद्राज्यस्यैव स्फीतता नेत्तंद्राज्यस्य, भीष्मादीनां च तंदनुसंसरणेन परत्वमपि न सिध्यतीति । तथा च तोंत्सिद्ध्यर्थं तंदुक्तिरित्यर्थः ॥ ८४ ॥

सपादेन दूषणमाहुः कार्येत्यादि । कार्यं वैराग्योत्कर्षः । कारणं द्रौणिजयादि । तयोरव्यवधानाभावात् । अयमर्थः । कारणत्वे हि पूर्ववर्तित्वनैयत्यवदन्यथासिद्धिविरहोऽपि प्रयोजकः । तत्र द्रौणिजयस्य वैराग्योत्कर्षं प्रति पूर्ववर्तित्वं, राजोत्पत्तिं प्रति गृहीत्वैव ग्राह्यमित्यव्यवधानाभावादन्यथासिद्धत्वेन तस्य न कारणत्वम् । न च राजो-

---

१. युधिष्ठिरादिराज्यस्य । २. परीक्षिद्राज्यस्य । ३. तस्य परीक्षितः । ४. तयोः स्फीततापरत्वयोः । ५. युधिष्ठिरादिचरितोक्तिः । ६. द्रौणिजयस्य ।

वा युधिष्ठिरस्य राज्यदातुः प्रतिबन्धकत्वम् । न वा भगवत्कथाया उपयोगः । कृपा तु त्यागे प्रतिबन्धिका । अतो जन्माध्यायं परित्यज्य सप्तमादिपञ्चदशपर्यन्तमष्टाध्यायकथा मुधा स्यात् ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

एवं परमतं दूषयित्वा स्वमते तेषां पूर्वोत्तराङ्गत्वमित्यभिप्रायेणाह पुरुषत्रयशुद्धस्येति—

निबन्धः—पुरुषत्रयशुद्धस्य जननेऽपि कृपावतः ॥
सर्वत्यागे सतां सङ्गे विश्वासः सर्वथा भवेत् ॥ ८७ ॥
इति तस्याधिकारित्वसिद्ध्यै पाण्डववर्णनम् ।
अपृष्टं च प्रतिज्ञातं तस्मान्नास्त्यत्र दूषणम् ॥ ८८ ॥

त्पत्तेर्व्यापारत्वं शङ्क्यं, आद्यक्षणसम्बन्धरूपायास्तस्यास्त्रिक्षणावस्थायित्वात् । वस्तुतस्तूत्पत्तावपि न [1]तस्य कारणता, मुण्डनोत्तरं पुनरस्त्रक्षेपे पुनर्जयानुक्तेः । न च प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणता, द्रौ[2]णे राजोत्पत्तिं प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वेन ते[3]नापि रूपेण [4]तां प्रत्येव [5]तस्य कारणत्वेन वैराग्योत्कर्षं प्रत्यन्यथासिद्धत्वात् । एवं कुन्तीस्तुत्यादीनामप्युदासीनत्वादकारणता । किञ्च, युधिष्ठिरास्थितेरपि द्रौणिजयवत्प्रतिबन्धकत्वं प्रकल्प्य [6]तदभावस्य प्रतिबन्धकाभावत्वेनैव कारणता वक्तव्या । साप्यसङ्गतेत्याहुः न वेत्यादि । नहि तत्स्थि[7]तेस्ते[8]न रूपेण प्रतिबन्धकत्वमपि तु राज्यस्थितित्वेन, त[9]दपि तदा स्याद्यदि '[10]स राज्यं न दद्यात् । नेह तथा । 'तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद्गजाह्वये' इति वाक्यात् । न च दाने सति स्वराजत्वस्य प्रतिबन्धकस्य त्यागान्नासङ्गतेति वाच्यम् । तथा सति सर्वत्र स्वसत्ताया: प्रतिबन्धकत्वाद्दातृत्वस्यैवोच्छेदापत्तेः । सर्वत्र कारणाभावस्य कार्याजनकतया कारणस्यापि प्रतिबन्धकाभावत्वेनैव कारणत्वापत्त्या दण्डत्वादिरूपेण कारणताहानेश्च । किञ्च, भगवत्कृपाया राज्यस्फीततां प्रति कारणत्वमिति [11]सां च दिग्विजयादिनेति राज्ञस्त[12]दर्थं स्थापितत्वाद्वैराग्यप्रतिबन्धकत्वमेवापद्येतेत्याहुः कृपेत्यादि । युधिष्ठिरस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पने दूषणान्तरमाहुः मूले--प्रतिबन्धस्तु सम्प्राप्त इति । कारणसमवधाने कार्यानुत्पत्तौ मण्यादेर्दाहादिकं प्रति प्रतिबन्धकत्वनिश्चयः । प्रकृते तु राज्यप्राप्तिरूपे कार्ये युधिष्ठिरदानात्पूर्वमजाते कथं युधिष्ठिरस्थितेः प्रतिबन्धकत्वनिश्चयः ? दानोत्तरं तु प्रतिबन्धनिवृत्तिरेवेति तत्र त[13]त्तानिश्चय एव दुर्घट इत्यर्थः ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

तेषां पूर्वोत्तराङ्गत्वमिति । त्रयोदशाध्याय्यां सिद्धानामर्थानामधिकारपूर्वोक्तराङ्गत्वम्—

---

१ उत्पत्तेः । २. द्रौणिजयादेः । ३. प्रतिबन्धकाभावत्वेन । ४ उत्पत्तिम् । ५ द्रौणिजयस्य । ६. युधिष्ठिरास्थित्यभावस्य । ७ युधिष्ठिरस्थितेः । ८. स्थितित्वेन रूपेण । ९ प्रतिबन्धकत्वम् । १०. युधिष्ठिरः । ११ स्फीतता । १२ दिग्विजयार्थम् । १३ युधिष्ठिरस्थितौ प्रतिबन्धकतानिश्चयः ।

प्रकाशः—पञ्चाध्यायी पञ्चाग्निन्यायेन जनने शुद्धिहेतुः । जातस्य च प्रतिबन्धाभावार्थमध्यायत्रयम् । अमुक्ते पितरि पुत्रमुक्तेः प्रतिबन्धात् । ततः कालप्रतिबन्धाभावाय द्वयम् । ततोऽद्भुतकर्मणो भगवतः कृपा शापरूपा । ततः श्रोतृत्वमिति तदेतदाह पुरुषत्रयशुद्धस्येत्यादिना । यथा पञ्चाध्याय्यां पुरुषत्रयशुद्धिर्भवति, तदनुपदं वक्ष्यते । जन्मसमये कृपा स्वतः कालतश्च स्वजन्माध्यायार्थः । अग्रे पञ्चाध्याय्याः सर्वत्यागसिद्धिरर्थः । ततो द्वाभ्यां सतां सङ्गः । तदा भागवते विश्वासः । विश्वास एवाङ्गं भागवतश्रवणे । तस्याङ्गत्रयं—सतां सङ्गः, सर्वत्यागः, परमा शुद्धिश्चेति । शुद्धौ षडङ्गानि । तत्र मुख्या भगवत्कृपा । शरीरहेतोर्बीजस्याशुद्धिः पञ्चधा भवति, दुष्टपारम्पर्यतः । तच्च पुरुषतः स्त्रीतश्चेति द्वयम् । तदर्थं सप्तमाध्याये परमा कृपार्जुने निरूपिता । अष्टमे च कुन्त्याम् । ततः पोषकान्नशुद्ध्यर्थं भीष्मोपदेशः, जीवसत्तायामन्नदोषस्यावश्यकत्वात् । अतो ज्ञानिनामेव शुद्धिः । भीष्ममुक्त्या च ज्ञानशुद्धिस्तृतीयमङ्गम् । बीजस्य सम्बन्धिनां साधारणानां भगवत्परत्वं चतुर्थी शुद्धिः । सा भगवन्निर्गमे भवतीति तथोक्तिः । तत आगन्तुकदोषाभावार्थं भगवतः कार्यसमाप्तिरिति । तस्मादस्मन्मते श्रोतुरधिकारस्त्रयोदशभिः सम्पद्यते नान्यमत इत्यर्थः । अतः शौनकैरपृष्टमपि 'संस्थां च पाण्डुपुत्राणा'मिति प्रतिज्ञोपपद्यते । चकाराच्तेषु भगवत्कृपा, शुद्धिरेव मूलमिति ज्ञापयितुं 'कृष्णकथोदय'मिति वचनम् । तस्मान्मूल एवायमर्थः सूचित इति नास्मन्मते दूषणसम्भावनापीत्यर्थः ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

स्वतः कालतश्चेति । 'अङ्गुष्ठमात्र'मित्यादिना, 'ततः सर्वगुणोदर्के' इत्यादिना चोक्तेरर्थः । तदेत्यादि, अध्यायार्थरूपाधिकारसिद्धौ प्रकरणार्थरूपेऽधिकारे विश्वासः सिध्यतीत्यर्थः । कथं सिध्यतीत्यपेक्षायां पूर्वोक्तराङ्गानि प्रकटीकुर्वन्ति विश्वास एवेत्यादि । भगवत्कृपेति । द्वादशाध्यायोक्तां पञ्चविधामशुद्धिं प्रदर्शयन्ति दुष्टेत्यादि । पुरुषतः स्त्रीतश्चेति, पितृतो मातृतश्च । तृतीयमङ्गमिति, नवमाध्याये उक्तमित्यर्थः । चतुर्थी शुद्धिरिति, सङ्गशुद्धिरिति, सङ्गशुद्ध्यर्था सेत्यर्थः । आगन्तुकदोषाभावार्थमिति, कलिकालादिकृतदोषाभावार्थम् । अपृष्टमपीति । वदत इति शेषः ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

---

१. जातस्य चेति चकारेण द्वादशाध्योक्तं जन्म सङ्गृहीतम् । २. त (य ?) थेत्यारभ्य सङ्ग इत्यन्तत्रयोदशाध्यायार्थ उक्तः । ३ भगवन्निर्गम इति विरहात्मकतापेन शुद्धिर्भवति, निर्गमेऽतिभक्तिप्रादुर्भावेन वा । इदं दशम उक्तम् । ४ कृपा इति शेषः ।

ननु किमित्येवं निर्बन्धे परीक्षिदेव श्रोतृत्वेन निरूप्यते ? स्वतः शुद्धानां सनकादीनां विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह विद्यमान इति—

निबन्धः—विद्यमाने समुद्धारस्तत्रत्यानां स्वयं कृतः ।
स्वाभावे तु कथैव स्यादित्यनन्तर उक्तवान् ॥ ८९ ॥
ऐहिकेऽपि समस्तं हि येषां कृष्णानुभावितम् ।
तद्वंशे व्यवधानेन जातः श्रद्धात्र तस्य हि ॥ ९० ॥

प्रकाशः—न केवलमधिकारनिरूपणमात्रमत्र प्रयोजनं, किन्तु भागवतादेव सर्वोद्धार इत्यपि प्रतिपादनीयम् । अतः सनकादीन् परित्यज्य राजा श्रोता निरूपितः । अवतीर्णः कृष्णो यावद् भूमण्डले स्थितस्तावद् रूपेणैव सर्वान् मोचितवान् । तदनन्तरं भागवतमेव मोचकं न त्वन्य उपायः, क्वचित्कस्यचिदप्यस्तीति ज्ञापयितुं भगवद्गमनानन्तरमेव परीक्षिदुत्पन्नः, स भागवतादेव मुक्त इति निरूप्यते । ननु शुद्धिरेव तर्हि वक्तव्या, किं पाण्डवानां भगवद्वर्णनेनेत्यत आह ऐहिकेऽपीति ॥ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

नन्वेवं सति सर्वमेव भारतं भगवत्परत्वेन वक्तव्यं, स्यादित्याशङ्क्याह यत्र पाण्डवसामर्थ्यमिति—

निबन्धः—यत्र पाण्डवसामर्थ्यं प्रतीत्यापि विभाव्यते ॥
तत् त्यक्त्वा कृष्णसामर्थ्यं केवलं यत्र तत्कथा ॥ ९१ ॥

एवं द्वाभ्यां सिद्धान्तरीत्या त्रयोदशाध्याय्याः सङ्गतिरुक्ता । अतः परं पञ्चाध्याय्या बीजशुद्ध्यर्थत्वं द्वाविंशतिभिर्व्युत्पादयन्तस्तस्यास्तादर्थ्यमाक्षिपन्ति ननु किमित्यादि । तथा च तेषामनिरूपणात् पूर्वं रागिणः पश्चाद्विरक्तस्य राज्ञो निरूपणाद्वैराग्यार्थैव पञ्चाध्यायीति शङ्कार्थः—

समाधिं व्युत्पादयन्ति न केवलमित्यादि । तथा च मुख्यार्थं ह्यङ्गनिरूपणमतो मुख्यस्य फलसाधनतायामसहायशूरतानिरूपणार्थमत्राधिकारी निरूप्यत इति सनकाद्यनिरूपणेऽपि न पञ्चाध्याय्याः शुद्ध्यर्थता हीयत इत्यर्थः । पुनः शुद्ध्यर्थतायामाशङ्कते ननु शुद्धिरित्यादि । पाण्डवानामिति । वर्णनेनेति शेषः । तथा च पाण्डववर्णनान्यथानुपपत्त्या वैराग्यार्थताङ्गीकार्येत्यर्थः । तत्र समादधते ऐहिक इत्यादि । तथा च श्रद्धारूपशुद्धिबोधनाय तद्वर्णनमिति न तादर्थ्यहानिरित्यर्थः ॥ ८९ ॥ ९० ॥

शुद्ध्यर्थतां निवारयितुं पाण्डववर्णने पुनराशङ्कते नन्वित्यादि । एवं सतीति, पाण्डवैहिकस्य भगवत्कारितत्वे सति—

---

१. कारिकाभिः । २. पञ्चाध्याय्याः । ३. बीजशुद्ध्यर्थत्वम् । ४. सनकादीनाम् । ५. अङ्गिनिरूपणार्थम् । ६. तत् पाण्डवचरित्रवर्णनम् । ७. पञ्चाध्याय्या न शुद्ध्यर्थत्वहानिः ।

अनन्यशरणत्वाय रक्षणाशक्तितः स्वतः।
पुत्रमारणमारभ्य मुक्त्यन्ता वर्ण्यते स्फुटा ॥ ९२ ॥

प्रकाशः—वस्तुतः सर्वत्र सामर्थ्यमेव, तथाप्यश्वत्थामजयादिः प्रतीत्यापि कृष्णानुभावकृत एवेति सौप्तिककथामारभ्य स्वर्गारोहणपर्यन्तं भारतकथा कृष्णपरत्वेन निरूप्यते। वर्णनायाः प्रयोजनमाह अनन्यशरणत्वायेति। अनन्यशरणत्वज्ञापनायानन्यशरणत्वज्ञापनं यथा सिध्यति तदर्थम्। स्वसामर्थ्याभावमाह रक्षणाशक्तितः स्वत इति ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

ननु मोक्षः कुत्रोपयुज्यते ? तत्राह तेषामिति—

निबन्धः—तेषाममुक्तौ भोगार्थं प्रतिबन्धो भवेत्क्वचित्।
पितुः सम्मुखयुद्धे हि मृतत्वात् कृष्णबान्धवात्॥९३॥
चन्द्रांशत्वाद्देवभावात् प्रतिबन्धो न विद्यते।

प्रकाशः—अमुक्तानां भोग आवश्यकः। तर्ह्यभिमन्योरमुक्तत्वात्तेन प्रतिबन्धो भविष्यतीत्याशङ्‍क्याह पितुरिति। 'द्वाविमौ पुरुषौ लोक' इति स्मृतिः। भगवद्बान्धवो भागिनेयः कथं न मुच्यते ? तत्र चैकोंशश्चन्द्रत्वात पुनर्देवभावं प्राप्तः स आध्यात्मिकः। भगवत्सम्बन्धी आधिदैविकः एवं त्रयाणामप्यप्रतिबन्धो निरूपितः॥ ९३ ॥

तदङ्गीकृत्य द्वाभ्यां परिहरन्ति वस्तुत इत्यादि। 'यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पित' मिति वाक्यात्तथौ। मूले—स्फुटेतिपदात् स्फुटत्वादियंत्येवोक्ता, वस्तुतस्तु सर्वापि तथेत्यङ्गीकृतम्। तथा चैतावद्वर्णनेऽपि न भारतस्य भगवत्परत्वहानिः, 'मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां सखापिते भारतमाह कृष्ण' इति वाक्यात्। एवं सत्यपि यदेतावदेव कथितं, तत्स्फुटतयानन्यशरणत्वज्ञापनायैवेति श्रद्धारूपशुद्धिबोधनायैव सा कथेत्यर्थः ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

तदर्थमेव पुनराशङ्कते ननु मोक्ष इत्यादि—तथा च शुद्ध्यर्थमुपयोगाभावेऽन्यत्रानुपयोगद्वैराग्यार्थतैव वाच्येत्यर्थः—

तत्सार्धेन समादधते अमुक्तानामित्यादि। भोग इति, देवादिभावेऽपि पुत्रसापेक्षः कव्यभोगः। तथा च प्रतिबन्धाभावार्थमुपयोग इति न वैराग्यार्थतेत्यर्थः। द्वाविति, 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः'। त्रयाणामित्यादि, त्रयसम्बन्धकृतः प्रतिबन्धाभाव इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

---

१. रक्षणाशक्तित इति। 'कृष्णकृष्ण महाभाग भक्तानामभयङ्कर। त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृते'रित्यादिवाक्यात्। २. चन्द्रत्वादिति, चन्द्रवंशोत्पन्नत्वात्। ३. पूर्वपक्षम्। ४. सर्वत्र कृष्णसामर्थ्यम्। ५. इयत्येव कथा। ६. कृष्णानुभाविता।

अतः परमध्यायार्थविभागार्थं सप्तमाष्टमनवमानामर्थं निरूपयति पाण्डवानामिति सार्धेन—

निबन्धः—पाण्डवानां द्विधा दुःखं भिन्नाभिन्नविभेदतः ॥ ९४ ॥
अभिन्नं परतो ज्ञानाद्द्विधाज्ञानं द्विधा पुनः ।
ब्रह्मजीवविभेदेन त्रिधा तद्धि फलिष्यति ॥ ९५ ॥

प्रकाशः—शरीरतः पुत्रद्वारा च पाण्डवानां द्विधा दुःखम् । भिन्नः पुत्रादिः, तद्दुःखमेकविधम् । अभिन्नं पुनर्द्विधा, अज्ञानहेतुकं शत्रुहेतुकं च । अज्ञानं पुनर्द्विधा जीवविषयकं ब्रह्मविषयकं चेति । एवं सत्यभिन्नं त्रिधा भवति । तेनैव भिन्नमपि गच्छतीति त्रिधा फलितम् ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

निबन्धः—अतोऽध्यायत्रयं तत्र प्रथमे स्वेष्टपूरणात् ।
दुःखहानिर्हरेरेव तदर्थं स्तोत्रमीरितम् ॥ ९६ ॥
दुःखे सुखे तथा मुक्तौ स्तोत्रं कुर्यादिति त्रिधा ॥
अधिकारे स्तुतिः प्रोक्ता तत्तदासक्तिवारिका ॥ ९७ ॥

प्रकाश—अतो दुःखदूरीकरणार्थमध्यायत्रयम् । तत्र प्रथमाध्यायेऽर्थनिर्धारमाह स्वेष्टपूरणाद् दुःखहानिर्हरेरेवेति । शत्रुजये परतो दुःखं गच्छति । भगवत इष्टपूरणे हेतुमाह तदर्थं स्तोत्रमिति । भगवत्तोषः सर्वत्र कारणं तस्य च स्तुतिः । तेनाध्यायत्रयेऽपि स्तुतिरुक्ता । 'सर्वत्रे'[1]त्यस्यार्थमाह दुःखे सुखे तथा मुक्ताविति । दुःखे समागतेऽर्जुनेन स्तुतिः कृता । इष्टे सिद्धे कुन्त्या मुक्त्यर्थं भीष्मेण च ।

एवं सार्धैश्चतुर्भिः पाण्डवकथायाः सामान्यत उपयोगो व्युत्पादितः, विशेषतो व्युत्पादयन्ति अतः परमत्यादि । अध्यायार्थविभागार्थमिति, अध्यायार्थः शुद्धिस्तद्विभागार्थम् ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

तस्य च स्तुतिरिति, भगवत्तोषस्य कारणं स्तुतिः । मूले-तदर्थमित्यस्य भगवत्तोषार्थं, इति व्याख्यानस्वारस्यादर्थो बोध्यः । नवमाध्याये जीवाज्ञाननिवृत्तिर्न[2] स्फुटेति तदर्थगमकमाहुः अत एवेत्यादि । तथा च मुक्तिलक्षणकार्यात्सा ज्ञाप्यत इत्यर्थः । उपलक्षणविधया ज्ञापनार्थत्वाद्वैयधिकरण्यं न दोषाय, तेन पाण्डवानामप्येवमेवाग्रे मुक्तिरिति[3] फलिष्यति ।

---

१. सर्वत्रेति । ननु कुत्रत्यमिदं प्रतीकमिति चेत्, तदर्थमित्यस्य भगवत्तोषार्थमित्यर्थात्, तच्च सर्वत्रेति वक्ष्यमाणपदानुकर्षाद्योजनीयमिति तदर्थमित्यत्रैवार्थप्रत्ययजनकं प्रतीकभूतं पदमिति गृहाण । २. जीवाज्ञाननिवृत्तिः ३. भीष्ममुक्तेरिति शेषः ।

अनेन द्वितीयाध्याये ब्रह्माज्ञाननिवृत्तिरुक्ता । जीवाज्ञाननिवृत्तिस्तु तृतीयाध्यायार्थः । अत एवान्ते मुक्तिरुक्ता । ननु भगवदीयत्वेनैव दुःखनिवृत्तेरावश्यकत्वात् किं स्तोत्रेणेत्यत आह अधिकार इति । अधिकारसिद्ध्यर्थं स्तोत्रम् । द्वारमासक्तिवारणम् । आधिदैविकस्य प्रेरणस्य भगवता निवृत्तिः क्रियत इति ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

ननु प्रथममर्जुनेन कथं स्तोत्रं कृतं ? युधिष्ठिरस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह अर्जुन इति—

निबन्धः—अर्जुनः सर्वमुख्यत्वात् पृथा नैकट्यतो वरा ।
सर्वज्येष्ठस्तथा भीष्मः कर्तारः क्रमतोऽवरः ॥ ९८ ॥
सर्वथा संस्तुवीतेति मुख्ये फलति सर्वदा ।
सर्वत्र भक्तरक्षा हि सामान्येन विशेषतः ॥ ९९ ॥
अत्यासक्त्यापि तद्रक्षा भजनोत्साहवर्धिका ।

प्रकाशः—नरांशत्वान्मुख्यत्वम् । पृथा पितृष्वसा; भगवत्सम्बन्धादेवोत्कर्षः । भीष्मे लौकिक एवोत्कर्षः । त्रयाणामाद्यः श्रेष्ठः । उत्तरोत्तरं ह्रासः । स्तुतेः पाक्षिकत्वं वारयति सर्वथेति । मुख्यस्यावश्यकत्वम् । ननु भगवदीयानां भगवत्स्तोत्रे को वा विशेषोऽत आह सर्वत्रेति । स्तुतोऽत्यासक्त्या रक्षां करोति । ननु प्राकृतवत् किमित्येवं करोतीत्याशङ्क्याह भजनोत्साहवर्धिकेति । यथान्येषामपि भजनं सिध्यति ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

अधिकारद्ध्यर्थमिति, तथा च दुःखनिवृत्त्यर्थं न स्तोत्रं किन्तु मुक्त्यधिकारसिद्ध्यर्थम् । स्तोत्रेण कथं मुक्त्यधिकारसिद्धिरित्यत आहुः द्वारमित्यादि । नन्वन्तर्यामिणा आसक्त्यर्थं प्रेरणे कथं तन्निवृत्तिरित्यत आहुः आधिदैविकस्येत्यादि । तथा च भगवदानुकूल्येन द्वारसिद्ध्या मुक्त्यधिकारसिद्धिरित्यर्थः । अनेनाध्यायानां शुद्ध्यर्थकता प्रकटीकृता ॥ ९६ ॥ ८७ ॥

कथमिति, मुक्त्यधिकारसिद्ध्यर्थं स्तोत्रं किं सर्वैः कर्तव्यं किं वा मुख्येन कृते स्तोत्रे सर्वेषां तत्सिद्धिः ? अत्र तूभयथाप्यभावात्कथमित्यर्थः—

आद्यः अर्जुनः । तथा च मुख्यकृतत्वात्तेन[1] सर्वेषामधिकारसिद्धिरित्यर्थः । अत्र च पूर्वं भक्तत्वात्स्तुतिः, तया प्रसादः, तेनात्यासक्त्या रक्षा, तयोत्साहेन भजनं, तेन तत्तदासक्तिनिवृत्तिरिति क्रमो बोध्यः । ततश्च भगवदनन्यशरणत्वरूपा पितृमातृपोषकाणां शुद्धिः श्रोत्रधिकारात्मिकाध्यायत्रये सिध्यति । तावताध्यायार्थविचारेण साधारणप्रकरणसमाप्तिरिति बोध्यम् ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

---

१. तस्य मुक्त्यधिकारस्य । २. स्तुतिकरणेन ।

भगवद्भक्ताया द्रौपद्याः पुत्रमरणेऽपि रोदनमयुक्तमित्याशङ्क्याह स्तुतानामिति—

निबन्धः—स्तुतानां निधनं विप्रादयुद्ध इति रोदनम् ॥ १०० ॥
सान्त्वनं च प्रियार्थं हि न सत्यवचनं मतम् ।
भक्तेष्टपूरणात् कृष्णो न वारयति दोषवित् ॥ १०१ ॥

एवं सार्धैरेकादशभिस्त्रयाणामुपयोगमुक्त्वा सप्तमाध्यायार्थं सार्धैश्चतुर्भिर्वक्तुं शौनकप्रश्नादिस्तुतप्रतिज्ञापर्यन्तवाक्यतात्पर्यस्य पूर्वमुक्तत्वात् शेषाणां तात्पर्यं वक्तव्यं, तत्रायं वाक्यविभागः । त्रिभिर्द्रौपदीविलापः, त्रिभिः साधनं; वाचा क्रियया च, चतुर्भिरस्त्रक्षेपः, चतुर्भिरर्जुनकृता स्तुतिः, पञ्चमेन प्रश्नः, द्वाभ्यां भगवद्वाक्यं, पञ्चभिरस्त्रोपसंहारपूर्वकं द्रौणिबन्धनं, पञ्चभिर्द्रौणिवधार्थं भगवद्वाक्यं, अष्टभिर्द्रौपदीवाक्यं, द्वाभ्यां तद्वाक्यप्रशंसा, एकेन भीमवाक्यं त्रिभिर्द्रौणिरक्षणाय भगवद्वाक्यं, त्रिभिर्द्रौणिमुण्डनमोचने, एकेन मृतसंस्कार इति ।

तत्र प्रथमं द्रौपदीविलापतात्पर्यमाहुः भगवद्भक्ताया इत्यादि । अयुक्तमिति, भगवद्भक्तानां सर्वत्र भगवदिच्छाया एवानुसन्धेयत्वादयुक्तमित्यर्थः—

---

१. अग्रे सप्तमाध्यायार्थोक्तौ 'स्तुतानां निधनं विप्रा'दिति पादोनश्लोकद्वयव्याख्याने–द्रौपद्या रोदनं पुत्राणां सद्गतिसिद्धये, तेषु भगवतः कृपोत्पादनार्थं, न त्वनपत्यत्वरूपस्वदुःखहेतुकम् । भगवत्कृपया पुत्राणां सद्गतिसिद्धौ तस्या दुःखं निवर्तते, न तु लोकन्यायेन स्ववैरिणि हतेऽर्जुनस्य द्रौणिवधप्रतिज्ञारूपं सान्त्वनवचनमप्युक्तं, दुःखनिवृत्त्यसाधनत्वात् । किञ्च, अर्जुनस्य शास्त्रज्ञत्वादपि विप्रवधप्रतिज्ञारूपं सान्त्वनवचनमप्ययुक्तं, तत्र समाधानमसत्यवचनेन प्रियाया आश्वासनम् । वधातिरिक्तं सर्वमपकारं द्रौणेरहं करिष्यामीत्यर्जुनस्याभिप्रायः । तदर्थमेव शीघ्रमन्वाद्रवत् । भगवाँस्तु सर्वं जानाति द्रौणिवधे ब्रह्महत्यारूपदोषः । द्रौणिना च च ब्रह्मास्त्रक्षेपोऽपि द्रौणेरवधेऽपक्रमोचने । पुनस्तेनानिवर्त्यब्रह्मास्त्रक्षेपः । उत्तरायाः परीक्षितश्च तेन दाहोऽर्जुनस्यानृतवादित्वं प्रतिज्ञाहानिश्च । अतः प्रतिज्ञाकरणसमये भगवताऽर्जुनो निवारणीयः । दयां प्रतिज्ञां मा कुर्विति । एवमत्र दोषज्ञानेऽपि भगवान्न निवारयति, तत्र हेतुः भक्तेष्टपूरणादिति । तदानीं निवारणे प्रियायाः शोको न निवर्तते, तेनार्जुनस्यापि वैमनस्यं भवेत् सकामानां भक्तानां देहाद्यात्मबुद्धेर्दृढत्वाद्भगवति दोषारोपेण तैरभजनीयो भगवान् भवेत् । एवं सति देहाद्यात्मबुद्धिरूपं संसारमेव कुतो न निवर्तयति ? यथा कोऽपि दोषो न स्यादिति पुनः शङ्कासमाधानम् । समर्थत्वादिति । भगवदभिप्रेतस्तु अभजनरूप एव परमो दोषः । भजने सति तु अन्यान्सर्वानेव दोषान्निवारयितुं समर्थो भगवान् । अत एव सर्वे दोषा अग्रे भगवता निवारिताः । तद्दोषनिवारणे भगवति भक्तानां प्रेम सिध्यति, भगवतोऽपि भक्तेषु प्रेमास्तीत्यन्यैर्ज्ञातं भवति । स्यात् द्रौपद्या अपि शोको निवर्तते । भक्तेषु प्रेम्णा तद्धितं यथा करोति तथा भक्तहितार्थं भक्तसम्बन्धिनां मत्पुत्रादीनां सर्वथा सद्गतिं सम्पादयिष्यत्येव अतः सर्वज्ञो भगवान्न निवारयति । २. श्लोकानाम् ।

समर्थत्वात् प्रेमसिद्ध्यै दैत्यांशत्वात्तथा वचः ।
भीमस्यासन्यावताराात् सहजद्वेषभावतः ॥ १०२ ॥
संहारशक्तेर्द्रौपद्या उभयोः समता हरेः ।
उभयात्मकत्वकथनं सर्वप्रियहिताय हि ॥ १०३ ॥
अर्जुनस्य तु विज्ञानमावेशित्वान्न चान्यथा ।
आतुरत्वं विलापश्च पूर्ववत् सुप्तमारणात् ॥ १०४ ॥

प्रकाशः—'ब्राह्मणान्निधनं प्राप्य नारकी भवति ध्रुवं' तत्राप्ययुद्धे । कर्मफलातिक्रमस्त्वतिकृपया । अतो भगवत्कृत्पोत्पादनार्थं रोदनम् । अर्जुनसान्त्वनवचनमप्ययुक्तमित्याशङ्क्याह सान्त्वनं च प्रियार्थं हीति । 'स्त्रीषु नर्मविवाह' इति वाक्यात् । भगवांस्तु भक्तानामप्रियं न करोतीति न न्यवारयत् । अनेन भगवद्भक्तैरेव शास्त्रतो ज्ञात्वा कर्तव्यमेव कर्तव्यमिति सूचितम् । दोषं ज्ञात्वापि भगवान् यतो न निवर्तयति । अन्यथा सर्वेषां भजनीयो न स्यात्, संसारस्यानर्थरूपत्वात् । ननु तथाप्यनर्थो निवारणीयः, तत्कथं न निवारितवानित्याशङ्क्याह समर्थत्वादिति । जातेऽप्यनर्थे रक्षणसामर्थ्यान्न निवारणम् । अनर्थे प्रेम च सिध्यति, तथाप्यर्जुनस्य कथमेवं वचनं ? तत्राह दैत्यांशत्वात्तथा वच इति । अश्वत्थाम्नो दैत्यांशत्वात् । भगवतो वा तथा वचः—'इमं जही'ति । वेदविरोधाभावाय भीमस्यापि वधार्थमुद्यमो निरूप्यते । भीमो ह्यासन्यरूपो वेदात्मा, अतः प्रमाणप्रमेययोरभिप्राययोरभिप्रायाकरणाद् व्यसनम् । 'अर्जुनो द्रौपदी चैव लौकिकौ लोकवेदतः । अतो न मारणं जातं तेन व्यसनमागतौ' । दैत्याः संहारशक्तेरनुगुणा

ननु द्रौणिबन्धनादिकं भगवान्कुतो न निवारितवानित्यत आहुः भगवात्यानिदि । अन्यथेति, भक्तचित्ताननुसरणे । तत्र हेतुः संसारस्येत्यादि । संसारस्येति, देहाद्यभिमानस्य । तथा च निवारणे देहाद्यभिमानेन भगवति दोषबुद्ध्युदयान्न भजेयुरित्यभजनीयः स्यादतो न निवारयतीत्यर्थः । ननु संसारमेव कुतो न निवर्त्तयतीत्यत आहुः अनर्थेत्यादि । तथाप्यर्जुनस्येति, शास्त्रं ज्ञात्वैव कर्त्तव्यत्वेऽपि तज्ज्ञातुर्नरावतारस्येत्यर्थः । ननु प्रतिज्ञातत्वादर्जुनस्य द्रौणिवधोद्यमोऽस्तु, भीमस्य कुत इत्यपेक्षायामाहुः वेदेत्यादि । वेदे ह्यसुरा वध्यत्वेनैवोच्यन्ते, अतः सहजद्वेषादित्यर्थः । नन्वेवं सति विचारकाणां तेषां कुतो दुःखप्राप्तिरित्यत आहुः अत इत्यादि । ननु विचारकस्याभिप्रायज्ञानं कुत इत्यपेक्षायामाहुः अर्जुनो द्रौपदी चेति । अर्जुनो युद्धशास्त्रज्ञत्वाद्द्रौपदी च स्त्रीत्वाल्लौकिकौ । लोकवेदतः, लोकवेदाभ्यां तेन तेन धर्मेण तादृशौ । यद्वा, लोकवेदत इत्यस्योत्तरार्धे सम्बन्धः, तथा च

---

१. पूर्ववदित्यादि । पूर्ववद् गर्वेणास्त्रान्तरसन्धानमित्यर्थः । तथा चोपायान्तराभावाद् गर्वाभाव इति भावः । २. अन्यथेतीति पाठः । ३. भगवद्वेदाभिप्रेतत्वे सति वेदविचारकारणाम् ।

इति द्रौपद्या मोचनम् । भगवांस्तूभयोस्तुल्यः, सर्वात्मत्वात् । भक्तरक्षां त्वन्यथापि करिष्यतीति युक्त एव सप्तमार्थः । शिरोमुण्डनज्ञानमावेशित्वात् । तेन न पूर्वेण विरोधः । भगवानाविष्टस्तथा कृतवान् । अन्यथा द्रौपदीसंहारशक्तिर्भीमादीनपि संहरेत् । तथा क्वचिदुपाख्यानमपि प्रसिद्धम् । क्रोधावेशे त्वपगते लौकिकदृष्ट्या विलापो न युक्त इति समाधत्ते पूर्ववदिति ॥ १००॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

नन्वश्वत्थाम्नस्तथा बुद्धिं कुत उत्पादितवानित्याशङ्क्याह पुनरस्त्रसमुत्क्षेप इति—

निबन्धः—पुनरस्त्रसमुत्क्षेपो गर्वाभावाय कारितः ।

प्रकाशः—पूर्ववत् समाधानं वारयति अनिवर्त्यमिति सार्धाभ्याम्—

निबन्धः—अनिवर्त्यं निवर्त्यं च ब्रह्मास्त्रं द्विविधं मतम् ॥ १०५ ॥
अनिवर्त्यसमुत्क्षेपो नास्त्येव मरणेऽपि हि ।

लोकः कुलविचारात्मकः, वेदस्तु 'तस्माद्ब्राह्मणाय नावगुरेत न निहन्यान्न लोहितं कुर्या' दित्यादि, ताभ्यां कृत्वा, अतः अर्जुनान्न मारणं जातं तेन तथेत्यर्थः । वेदज्ञानेनार्जुनादमारणमस्तु, द्रौपद्याः कुतस्तदित्यत आहुः दैत्या इत्यादि । ननु तथापि भगवान् दैत्यारिः, कुतस्तन्मोचन उद्यत इत्यत आहुः भगवानित्यादि । तर्हि मारणाज्ञा कुत इत्यपेक्षायां मूल आहुः कथनमित्यादि । ननु मोचनानुकूल्ये भक्तरक्षा कथं स्यादित्यत आहुः भक्तेत्यादि । सप्तमार्थ इति, दुःखनिवृत्तिरूपः स इत्यर्थः । पूर्वेणेति, 'देव देव न वेद्म्यहं' मित्यत्रोक्तेनाज्ञानेनेत्यर्थः । तथा क्वचिदिति, रत्नयक्षोपाख्याने । विलाप इति, 'यथाहं मृतवत्से' तिश्लोकोक्तः । पूर्ववदिति । तथा च दयार्थं विलाप इत्यर्थः ॥ १०० ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

एवं सार्धैश्चतुर्भिः परतो दुःखनिवृत्तिरूपः सप्तमाध्यायार्थो विचारितः । अतः परमष्टभि (?) रष्टमाध्यायार्थं विचारयन्ति । तत्रायं वाक्यविभागः । द्वाभ्यां मृतौर्ध्वदैहिकं, द्वाभ्यां धृतराष्ट्रादिसान्त्वनं, चतुर्भिर्भगवत्प्रयाणोद्योगः, द्वाभ्यामुत्तरास्तुतिः, सप्तभिर्गर्भस्य पाण्डवानां च रक्षा, षड्विंशतिभिः कुन्तीस्तुतिः, द्वाभ्यां स्तुत्यनुमोदनं, सप्तभिर्युधिष्ठिरानुतापः । तत्राष्टानां कथोपयोगित्वात्तत्तात्पर्यमनुक्त्वा उत्तरास्तुतिप्रभृतितात्पर्यं वक्तुं पूर्वमस्त्रक्षेपतात्पर्यमाहुः नन्वित्यादि—

ननु पूर्ववदुपसंहारेण गर्वसम्भवात्कथं तदभावसिद्धिरित्यत आहुः पूर्ववदित्यादि ॥ ॥ १०५ ॥ १०६ ॥ १०७ ॥

---

१. अमारणम् । २. व्यसनम् । ३. तस्य गर्वस्याभावसिद्धिः ।

शास्त्रादेवात्तयोः सिद्धिस्तेजस्तेन महद् भवेत् ॥१०६॥
सर्वोपायपरिभ्रष्टो मृतकल्पो गुरुः सुतः ।
अत्युपासनया प्राप्तं ब्रह्मास्त्रं क्षिप्तवान् पितुः ॥ १०७ ॥

प्रकाशः—ननु यथा गर्वो निवार्यते, तथा तद्धेतुर्वंशोऽपि कुतो न निवारितः ? तत्राह उत्तरा परमा भक्तेति—

निबन्धः–उत्तरा परमा भक्ता रोहिण्यंशा हरेः सुहृत् ।
शरणागमनं कृष्णस्तुतिपूर्वं च दर्शनम् ॥ १०८ ॥
उत्तरायास्तु भक्तत्वज्ञापनायावनं तथा ।
कृष्णदूरत्वतः पूर्वं प्रविष्टस्य तथावनम् ॥ १०९ ॥
परीक्षिज्ज्ञानसिद्ध्यर्थं बहुकालस्थितिर्हरेः ।
अन्यतेजोलयः स्वस्मिन् प्रकाराकथनं तथा ॥११०॥
आसक्तिर्गर्वाभावेन भजनार्थं यतः स्तुतिः ।
प्रतिभातः कृतेश्चापि ज्ञातः कृष्णो विशेषतः ॥१११॥

प्रकाशः—सा सर्वेभ्य उत्कृष्टा । भक्तत्वाद्भौतिकोत्कर्षः । रोहिण्यंशा आध्यात्मिकी । अतस्त्रिविधोत्कर्षात्तत्प्रियार्थः तथा करणमित्यर्थः । तस्याः पूर्वोक्तत्रितये क्रमेण नियामकमाह । भक्तत्वाच्छरणागमनं, देवतात्वात्स्तुतिः । भगवदीयत्वात्प्रथमतो ब्रह्मास्त्रदर्शनम् । भक्तत्वज्ञापनाय गर्भे प्रविश्यावनम् । ननु भगवद्भक्ताया उदरे कथमस्त्रप्रवेशः ! तत्राह कृष्णदूरत्वत इति । प्रविष्टस्य ब्रह्मास्त्रस्य तथैव निराकरणं सम्भवति। बहुकालस्थितिस्तु ज्ञानार्था । ननु मूले सुदर्शनमायाभ्यां पाण्डवगर्भरक्षा विहिता, न तु ब्रह्मास्त्रस्य नित्यस्य क्वचिल्लयो निरूपितः । 'वैष्णवं तेज आसाद्य' इति क्रूरता निवारिता न तु धर्मी । 'अस्त्रतेजः स्वगदया' इत्यत्रापि शम एव पूर्वानुरोधेन वक्तव्यः । ततो धर्मिणोऽस्त्रस्य क्व लय इत्याशङ्कायामाह अन्यतेजोलय इति । अन्यब्रह्मास्त्रस्य दुर्बलस्य भगवत्येव लयः । तत एवोत्पन्नत्वादिति विमर्शस्तथा । ततो हेतोरत्र प्रकाराकथनम् । अनेन यत्र यत्र विशेषाकथनं तत्र तत्र कारणे

हरेः सुहृदिति मूलोक्ता आधिदैविकी ज्ञेया । तथा चैवं परमभक्तत्वात्तद्गर्भावनमित्यर्थः । परत्वे शङ्कते ननु भगवदित्यादि । तथैवेति, प्रवेशनैवेत्यर्थः । निराकृतस्य लयाभावे पुनरुद्गमनं हृदि कृत्वा शङ्कते ननु मूलेत्यादि । पाण्डवगर्भरक्षेति, पाण्डवरक्षा गर्भ-

१. सुदर्शनमायाभ्यामिति । 'स्वमाययावृणोद्गर्भ' मिति वाक्यात् ।

लयो ज्ञातव्य इति सूचितम्। ननु पूर्वं भगवतो निर्गमने कथं न स्तुतिः कृता? पश्चाद्वा कथं स्तोत्रे प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह आसक्तिर्गर्वाभावेनेति। पूर्वं गर्वस्य विद्यमानत्वान्नासक्तिः। आसक्तो हि भजते। भजनार्थं सर्वसन्देहवारिका स्तुतिरित्यर्थः। नन्वासक्तावपि ज्ञानसाधनाभावात्कथं तादृशी स्तुतिरिति चेत्तत्राह प्रतिभात इति। भगवद्वासक्त्या स्वत एव प्रतिभोत्पन्ना तेन स्तुतिः। किञ्च, हेत्वन्तरमपि जातमित्याह कृतेश्चापीति। भगवता हि ते पूर्वं न रक्षिताः, तेन अन्तःकरणे भासमानोऽप्यनन्तगुणपूर्णः 'अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव' इति न्यायेनान्तरसम्भवान्न ज्ञातः। इदानीं विशेषरक्षावशादन्तरं निवृत्तप्रायमिति भगवत्कृतेर्हेतोः कृष्णो भगवान् विशेषतो ज्ञातः॥ १०८॥ १०९॥ ११०॥ १११॥

नन्वेवं सति युधिष्ठिरस्य पश्चान्मोहो न भवतीत्याशङ्क्याह सर्वनिर्णयपूर्वं हीति—

निबन्धः—सर्वनिर्णयपूर्वं हि यावन्न गुरुणोदितः।
तावन्मोहस्थितिर्जीव इति मोहस्य वर्णनम्॥ ११२॥

प्रकाशः—प्रतिभातो दर्शनाद्वा जातं ज्ञानं न मोहं निवारयति, शब्दाद्वोपश्रवणेन मोहोत्पत्तेः। शास्त्रतो हि भ्रमात्प्रतिपन्नात्तस्य मोहः स शास्त्रप्रकारेणैव निवृत्तिमर्हति। अतो यावद्भीष्मो न बोधयिष्यति तावन्मोहः स्थास्यतीत्यर्थः। अनेन भीष्माध्यायो जीवस्वरूपज्ञापनार्थं इत्युक्तं भवति॥ ११२॥

रक्षा चेत्यर्थः। कुन्तीस्तुतेस्तात्पर्यमाहुः ननु पूर्वमित्यादि। न रक्षिता इति, इदानीमिव प्रत्यक्षं न रक्षिताः। एवमष्टमि (?) रष्टमाध्यायार्थो विचारितः॥ १०८॥ १०९॥ ॥ ११०॥ १११॥

तत्र युधिष्ठिरानुतापस्तूत्तरशेष इत्याशयेनाहुः नन्वित्यादि—

अतः परं नवमाध्यायार्थो वक्तव्यः। तत्रायं वाक्यविभागः। चतुर्विंशतिभिर्भीष्मनिकटे गमनं, भीष्मवाक्यानि च। सप्तभिस्तत्रत्यवृत्तान्तः। एकादशभिर्भीष्मस्तुतिः। त्रिभिस्तन्मुक्तिः। चतुर्भिस्तदुत्तरवृत्तान्तः॥ ११२॥

---

१. पूर्वं गर्वस्येति, माहात्म्यज्ञानात् पूर्वं कृष्णो भ्रातृपुत्र इति ज्ञानस्य। २. पूर्वमिति। 'तेषामसुक्तौ मोगार्थे प्रतिबन्धो भवेत् कचि'दित्यनेन। ३. सप्तभिरिति स्यात्?

एवं सति भीष्मस्तुतिरसङ्गतेत्याशङ्क्याह उक्तेः स्वाचारत इति—

निबन्धः—उक्तेः स्वाचारतो दार्ढ्यज्ञापनायां ततः स्तुतिः ।
मुक्तिश्चानुपदं तस्य सर्वसन्देहवारिका ॥ ११३ ॥

प्रकाशः—यत्पूर्वं तेन तत्त्वमुपदिष्टं जीवस्य भगवद्भजनेनैव कृतार्थतेति, तत्स्वाचारतो दृढीकरोति । साधनं च फलं च प्रत्यक्षतः प्रदर्शयतीत्यर्थः । स्तुत्या साधनसन्देहो वारितः, मुक्त्या फलसन्देहः ॥ ११३ ॥

अध्यायत्रयमुपपाद्योपसंहरति दुःखहानिरिति—

निबन्धः—दुःखहानिस्त्रिभिः प्रोक्ता सुखं चापि तथा त्रिभिः ।
स्वस्य सामान्यतः पूर्वं कृष्णप्रेमपुरःसरम् ॥ ११४ ॥
तदुद्रेको वियोगे स्यात्तदर्थं कृष्णनिर्गमः ।
कृष्णसौख्ये हि तत्सौख्यमिति मूले सुखाभिधा ॥ ११५ ॥
पश्चाच्च पुत्रसम्पत्त्या विशेषेणोपवर्ण्यते ।
मुक्तिस्त्रिभिस्तथा प्रोक्ता बीजकार्यफलैः स्फुटा ॥ ११६ ॥

प्रकाशः—दुःखहानिः सुखं मोक्षश्चेति त्रिभिस्त्रिभिः प्रतिपादितम् । तेन पाण्डवानां सर्वं कृष्णाधीनमिति सेत्स्यति । ननु युधिष्ठिरस्य सुखवर्णने भगवत्कथा कुत्रोपयुज्यते ? तत्राह कृष्णसौख्ये हि तत्सौख्यमिति । अध्यायद्वयेन कृष्णसौख्यम् । पुत्रसम्पत्त्या च स्वस्य सुखम् । कृष्णो हि यदर्थमागतस्तत्कृत्वा सुखी

तत्र वृत्तान्तानां स्पष्टार्थत्वाद् भीष्मस्तुत्यादितात्पर्यमेकेनाहुः एवं सतीत्यादि। भीष्माध्यायस्य जीवज्ञानार्थत्वे सति—

समादधते यत्पूर्वमित्यादि । साधनसन्देह इति, जीवाज्ञाननिवृत्तौ यत्साधनं, तत्सन्देह इत्यर्थः ॥ ११३ ॥

सप्तमादिषडध्यायीसिद्धमाहुः अध्यायत्रयेत्यादि सेत्स्यतीत्यन्तम् ।

तत्र दशमैकादशद्वादशानां सामान्यतोऽर्थं द्वयेनाहुः सुखमित्यादि मूले । पूर्वमिति षड्भिर्दशमारम्भे । शेषस्याध्यायस्यार्थमाहुः पादोनेन । मूले कृष्णेत्यादिना । तत्रायं वाक्यविभागः । चतुर्दशभिर्भगवत्प्रयाणं, दशभिः पुरस्त्रीवाक्यं, षड्भिर्द्वारकाप्राप्तिः, तदुद्रेक इति प्रेमोद्रेकः । तदर्थमिति वियोगार्थम् । एकादशद्वादशयोरर्थं विचारयन्ति ननु युधिष्ठिरस्येत्यादि । अत्रैकादशे ऊनचत्वारिंशद्भिर्द्वारकास्थानां सुखं, द्वादशे च चतुस्त्रिंशद्भिः पुत्रसुखं युधिष्ठिरादीनाम् । तदर्थं सङ्ग्रहेणाहुः अध्यायद्वयेनेत्यादि । अत्रासाधारणप्रकरणे दशमादिषु

भवति । स हि भक्तोद्धारार्थमागतः । ते हि निष्प्रपञ्चिताः स्वकीयाः परकीयाश्चेत्यध्यायद्वयम् । अत्राध्यायत्रये प्रमेयं तत्कुश्लिष्टमित्यग्रिमाध्यायत्रयस्य रूपमाह मुक्तिस्त्रिभिस्तथेति । बीजमुक्तिरेकेन । बीजं धृतराष्ट्रगमनं स चेन्निर्गतो मुक्तस्तदान्येषामपि मुक्तौ विश्वासः । अतो बीजरूपा मुक्तिः प्रथमाध्यायार्थः । बीजत्वज्ञापनायैव तच्चरित्रकथनं नारदेन । बीजमुक्तेर्यत्कार्यं युधिष्ठिरादीनां निर्गमनहेतुर्वैराग्यं तद्द्वितीयाध्यायार्थः । फलं पाण्डवानां मुक्तिः ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

ननु पाण्डवमुक्तिः कुत्रोपयुज्यते ? तत्राह पूर्वजानामिति—

निबन्धः—पूर्वजानां तथा मुक्तिः स्वस्य त्यागे हि साधनम् ।
त्यागे कृष्णलयश्चैव सर्वेषामुदितः स्फुटः ॥ ११७ ॥
तत्रत्यानां तदङ्गत्वं टीकायामेव वर्णितम् ।

प्रकाशः—तेषां प्रतिबन्धकता पूर्वमेव निरूपिता । दृष्टान्तप्रकारेणापि तदुपयुक्तमित्याह त्यागे हि साधनं त्यागे कृष्णलयश्चैवेति । अत्रार्जुनस्य स्वरूपवर्णनादिकं कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह तत्रत्यानामिति । एतन्निबन्धकरणात्पूर्वमेव सूक्ष्मा या टीका कृता तत्रैव सङ्गतिर्निरूपिता । अध्यायार्थस्त्वेतावानेवेति नात्रोक्त इति भावः । एवं तृतीयप्रकरणे नवाध्याया गुणरूपाः प्रतिबन्धाभावाय निरूपिताः । बीजादिशुद्धिद्वारा तदुपयोगश्च वर्णितः ॥ ११७ ॥

सम्बन्धिशुद्धिः, कालशुद्धिः, कृपाशुद्धिश्च बोध्यत इति ज्ञेयम् । अतः परं त्रयोदशाद्यध्यायत्रयस्य विशेषतोऽर्थाकथने हेतुं स्फुटीकुर्वन्ति अत्रेत्यादि । कुश्लिष्टमिति, प्रतिवाक्यविचाराधीनज्ञानकम् । अतष्टीकयैव तदर्थः स्फुटतीति नात्रोच्यत इत्यर्थः ॥ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

त्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशानामर्थं सार्धेनाहुः ननु पाण्डवेत्यादि ।

अत्रेदं प्रतिभाति । यत्र मर्यादया मोचयति तत्रैवायं नियम इति । अन्यथा पाण्डोरमुक्तत्वेनेन्द्रस्य चाधिकारितया यावदधिकारमवस्थित्या पाण्डवा अपि न मुच्येरन् । पुष्टिमादाय योगान्तरमाहुः दृष्टान्तेत्यादि । तथा च 'येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः' इति न्यायेन यथा तैस्त्यक्तं, तथा राज्ञापि त्यक्तव्यं, यथा ते मुक्तास्तथायमपि मोक्ष्यत इत्येतदर्थमेव तन्मोक्षकथेत्यर्थः । नात्रोक्त इति । अर्जुनवाक्योपयोगो निबन्धेऽस्माभिर्नोक्त इत्यर्थः । अत्र त्रितयमुक्त्या प्रतिबन्धनिवृत्तिरसाधारणोपयोगिनी बोध्या ॥ ११७ ॥

---

१. सुबोधिन्या ।

अधुना चतुर्भिरध्यायैः परीक्षितः फलमुखं साधनमधिकारार्थं निरूप्यत इत्याह परीक्षित इति—

निबन्धः—परीक्षितस्तथाध्यायचतुष्टयमुदीर्यते ॥ ११८ ॥
राज्यत्यागविभेदेन राज्ये द्वैविध्यमेव च ।
सामर्थ्यस्य द्विरूपत्वाल्लौकिकालौकिकत्वतः ॥ ११९ ॥
सर्वपृथ्वीजयः पूर्वः कलेश्चापि तथा परः ।
धरणीधर्मसंवादस्तयोर्भीतत्वसूचकः ॥ १२० ॥

प्रकाशः—अध्यायार्थविभागार्थमाह राज्येति । राज्यमध्यायद्वयेन त्यागश्चाप्यध्यायद्वयेनेति । राज्ये द्वैविध्ये हेतुः सामर्थ्यस्य द्विरूपत्वम् । लौकिकं सर्वभूभिजयः । अलौकिकं कालजयः । धरणीधर्मसंवादस्योत्तरशेषत्वं ज्ञापयितुमाह भीतत्वसूचक इति । भीतिहेतोः कलेर्निराकरणमग्रिमाध्यायार्थः । सर्वत्राध्यात्मिकाधिभौतिकधर्मौ स्थापिताविति ज्ञापनार्थौ वा । आधिदैविक एवातः परं स्थापनीय इति तस्यापि भयं यो निवारयतीति राज्ञ उत्कर्षः ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

षोडशादिचतुर्णामर्थमाहुः अधुनेत्यादि ।

त्रिष्वेतेषु द्विविधं भगवद्दत्तं सामर्थ्यं तादृशी धर्मोन्नतिश्चासाधारणोपयोगिनी बोध्या । तत्रैवं वाक्यविभागः । सप्तदशभिर्भूजयः । विंशत्या धरणीधर्मसंवाद इति । सप्तदशे तु चतुर्भिर्धर्मादिदर्शनं, द्वादशभिस्तान्प्रति प्रश्नः, चतुर्भिर्धर्मवाक्यं, सप्तभिस्तद्विचारः, अष्टभिः कलिशासनं, षड्भिः स्थानदानं, शेषः क्रियया धर्मादिसान्त्वनम् । अष्टादशे तु दशभिः पारीक्षितोपसंहारः, सप्तभिः पुनस्तत्प्रश्नः, चतुर्दशभिरपराधः, ततः षड्भिः शापः, त्रयोदशभिः शमीकानुताप इति । ऊनविंशे तु त्रिभीराज्ञोऽनुतापः, चतुर्भिः प्रायोपवेशः । पञ्चभिर्मुनीनामागमनं, षड्भिस्तेषां सत्कारः, चतुर्भीराजप्रशंसा, द्वाभ्यां राजप्रश्नः, सप्तभिः शुकागमनं, नवभीराजप्रश्नः शुकं प्रतीत्येवं बोध्याः ।

ननु षोडशे लौकिकं सर्वभूमिजयरूपं सामर्थ्यमुच्यते, तत्र धरिणीधर्मसंवादः कुत्रोपयुज्यत इत्यत आहुः धरिणीत्यादि । उत्तरशेषत्वमिति, अलौकिकसामर्थ्यशेषत्वं, कथमित्याकाङ्क्षायामाहुः भीतीत्यादि । नन्वेवं पञ्चदशश्लोकोत्तरं सर्वस्याध्यायस्याग्रिमशेषत्वे पूर्वभागमात्रार्थस्याध्यायार्थता न युक्तेत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः सर्वत्रेत्यादि । तथा चेदं लौकिकसामर्थ्यस्यैव कार्यमिति पूर्वशेषत्वान्न दोष इत्यर्थः । उत्कर्ष इति । तथा चायं सप्तदशस्यार्थ इत्यर्थः ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

---

१. अध्यायेषु । २. त्रिषु । ३. पारीक्षितस्य चरित्रस्योपसंहारः । ४. लौकिके ।

प्रकारान्तरेणापि माहात्म्यबोधकत्वमस्य प्रकरणस्येत्यभिप्रायेणाह तत्स्थास्तेन कृतार्थाश्चेति—

निबन्धः—तत्स्थास्तेन कृतार्थाश्च सुतरां कलिना हताः।
यो रक्षकस्तयोः पश्चात्कलिनिग्रहतो महान् ॥ १२१ ॥
तस्यापि कृष्णकथया गतिरन्यकथा तु का।

प्रकाशः—धरणीधमा प्रकृतौ, धरणीस्था धर्मेणैव कृतार्थाः। एतादृशा अपि सुतरां कलिना हताः। तेषां यो रक्षको भगवत्प्रयाणानन्तरं कलिनिग्रहं कृत्वा स महानेव भवतीत्यध्यायद्वयार्थः। एवं निरूपणस्य प्रकृतोपयोगमाह तस्यापीति। अनेन भूमिष्ठानां तीर्थानां देवानां साम्प्रतं क्रियमाणस्य धर्मस्य वा अप्रयोजकत्वं सूचितम्। कालजयादीनां मृत्युजयादीनामपि भगवान् वा भागवतं वा नान्यो मोक्षदानसमर्थः ॥ १२१ ॥

ननु पाण्डवाः कथं भगवत्कृपात्रलोकिताः कलिनिग्रहं न कृतवन्ताः?तेन परीक्षित्स्वत एव कश्चिन्महान् भविष्यति। तस्य भागवतश्रवणं भागवतप्रतिष्ठार्थमेव शुकेन कारितमितीमामाशङ्कां परिहर्तुमाह कृष्णासक्त्येति—

निबन्धः—कृष्णासक्त्या पाण्डवानां नोत्साहः कलिनिग्रहे ॥ १२२ ॥
कलिदोषाभिभूतानां न श्रद्धा हरिवर्णने।

प्रकाशः—भगवदासक्ता भगवति प्रचलिते समर्था अपि प्रचलिता एव, अतः परीक्षितो न सहजं सामर्थ्यम्। ननु भागवतं चेदतिसमर्थं तदा यस्मै कस्मैचिच्छ्रावितं सन्मोक्षं प्रयच्छेत्किं परीक्षितेत्याशङ्क्याह कलिदोषाभिभूतानामिति। श्रद्धार्थमेवाधिकार उक्तो न तु भागवतमधिकारमपेक्षते। तथा सति 'प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मनः' इति वाक्यं विरुध्येत। यतो यस्यैव महती श्रद्धा स एवाधिकारी। कलिश्च परीक्षिता भीपितो न भगवद्भक्तान् बाधते ॥ १२२ ॥

एवंनिरूपणस्येत्यादि। अध्यायद्वयेनोक्तस्य राजसामर्थ्यस्य श्रीभागवतोपयोगमाहेत्यर्थः। अनेनेत्यादिना प्रथमाध्यायस्य, कालेत्यादिना च द्वितीयस्योपयोग उक्तो बोध्यः ॥ १२१ ॥

श्रुतौ 'तद्धैतद्घोर आङ्गिरस' इत्यादिषु यथा विशिष्टपुरुषसम्बन्धाद्विद्योत्कर्षः प्रतिपाद्यते तद्वदेवात्रोत्कर्षोऽस्तु न तूक्तरीत्येत्याशङ्कते नन्वित्यादि—

न सहजं सामर्थ्यमिति। तथा च न विशिष्टपुरुषसम्बन्धकृतं माहात्म्यमपि तु स्वत एवेत्यर्थः। स्वतः सामर्थ्याङ्गीकारे मूलविरोधमाशङ्कते ननु भागवतमित्यादि ॥ १२२ ॥

---

१. अध्यायस्य। २. महत्पुरुषसम्बन्धकृतम्। ३. श्रीभागवतस्येति शेषः।

ननु परीक्षितमपि दुर्बुद्धिदानेन कलिर्बाधितवान्, कथमन्यान्मोचयेदित्याशङ्क्याह ज्ञानाग्निदग्धदेहस्येति—

निबन्धः--ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न दाहो लौकिको मतः ॥ १२३ ॥

अतः शापमिषेणेशस्तक्षकाग्निमवासृजत् ।
कलेः स्थानप्रदानाद्धि ब्राह्मणातिक्रमे मतिः ॥१२४॥
युगाभिमानिदेवस्य स्वाधिकारपरिच्युतिः
निग्रहो रूपरक्षार्थं स्थानदानं प्रकीर्तितम् ॥ १२५ ॥
देशकालानुसारेण शुद्ध्यशुद्धी प्रकीर्तिते ।
कलौ षण्णां तथापेक्षा नास्ति धर्मोन्नतिस्ततः ॥ १२६ ॥
असिद्धत्वात्तामसत्वात्तामसं फलमस्य तु ।
चित्तशुद्धिर्न चैव स्यात्पङ्किलोदकपूरवत् ॥ १२७ ॥
मालिन्यं मलिने लोके न सम्यगुपजायते ।
दुःखं च तामसं तस्य मूढं सद्यमलौकिकम् ॥ १२८ ॥

प्रकाशः—भगवता तथा कृतं न कलिनेति निर्णयः । ननु भगवान् ब्राह्मणातिक्रमे कथं बुद्धिं दत्तवानित्याशङ्क्याह कलेः स्थानप्रदानाद्धीति । दुष्टस्य स्थानदानात्तामसे कर्मण्याग्रहः । अनेनाधर्मादेव तस्य तथा बुद्धिः । नन्वमूर्तस्य कलेः कालरूपस्य निरन्तरं वर्तमानस्य को वा निग्रहः ? किं वा स्थानदानमिति शङ्काव्युदासायाह युगाभिमानिदेवस्येति । परीक्षित्समये कालधर्माणामप्रवृत्तिरेव निग्रहः । स्वरूपरक्षा स्थानदानम् । नन्वधर्मस्य स्थानदानाज्जातस्य ब्राह्मणातिक्रमस्य कथं मोक्षपर्यवसायित्वं ? तत्राह देशकालेति । कलिर्नात्यन्तं दुष्टः । अन्तकाले रोगवद्भगवत्स्मरणे स्वत एव शुद्धत्वात् । अतो धर्मसिद्धावसहायशूर इति तस्य स्वरूपरक्षायां धर्मोन्नतिर्जाता । तेन तामसकर्मणोऽपि मोक्षपर्यवसायित्वम् । नन्वेवं सति महतो रक्षा सात्त्विकमेव कर्मेति कथमतिक्रमबुद्धिः ? कथं वा सर्पान्मरणमित्याशङ्क्याह असिद्धत्वादिति । कलौ चेद्धर्मो भवेत्तदा कलेरसहायशूरत्वात्तद्रक्षा सात्त्विकं कर्म भवेत् । अतो धर्मस्यासिद्धत्वात्तेनैवं फलम् । कलिश्च तामसः । चतुर्युगाणां

अष्टादशाध्यायार्थं वदिष्यन्तः कलेरबाधकत्व आशङ्कते ननु परीक्षितमित्यादि—

तत्र समादधते सार्धैः पञ्चभिः । कलेर्धर्मरक्षायामसहायशूरत्वं विष्णुपुराणसमाप्तौ प्रसिद्धम् । फलं तथेति, दुरदृष्टं रूपम् । तथा च शापस्य भगवत्कृतत्वाद्ब्राह्मणातिक्रमस्य

कृतं सात्त्विकम्। त्रेता राजसी सात्विकी च। द्वापरं राजसं तामसं च। केवलस्तामसः कलिः। अतस्तामसरक्षापि तामसी, तेन फलं तथेत्यर्थः। नाप्येतदीयेन धर्मेण चित्तशुद्धिर्भवति, किं तु स्वर्गादिकमेव भवतीत्याह चित्तशुद्धिर्न चैव स्यादिति। अदृष्टमेव फलमित्यस्माद्धर्मान्न दृष्टमित्यत्र दृष्टान्तः पङ्क्तिलोदकपूरवदिति। पापाभावेऽप्येवमेवमिति न्यायमाह मालिन्यं मलिने लोक इति। मालिन्यं दुरदृष्टं, तेन तथा नरकाभावः, किं त्वैहिकमेव दुःखं पापात्, तच्च दुःखं तामसं न तु तीव्रवेदनारूपं, किं तु मूढं, अतः सह्यम्। किञ्च, अलौकिकं, तथा लोकापवादादिरहितम्। एवं कलेरुत्कर्षः प्रतिपादितः ॥१२३॥१२४॥१२५॥१२६॥१२७॥१२८॥

ननु मुख्योत्कर्षः कलेः कथं न प्रतिपादितः? 'कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेद्' इत्यादिरूपः, तत्राह भागवताप्रवृत्तेरिति—

निबन्धः—भागवताप्रवृत्तेर्हि कीर्तनाद्यादरो न हि।
अग्रे तस्य कथा वाच्या सारोयमिति बुध्यताम् ॥१२९॥
कल्पभेदाद्भारतादि कथया न विरुध्यते ॥
सर्वज्ञत्वादृषीणां हि श्रवणार्थे तथा गतिः ॥ १३० ॥

प्रकाशः—भागवतशास्त्रे प्रवृत्ते हि कीर्तनादयो जायन्ते। अनादरेण पुनः कार्यं न सिध्यतीति तन्नोक्तम्। अग्रे द्वादशस्कन्धे वक्ष्यति। अयमेव कलेर्मुख्यो गुण इति सिद्धान्तसारो ज्ञातव्यः। स्वभावतो दुष्टत्वादतिक्रमादिबुद्धिरुत्पन्ना। गुणत उत्कृष्टत्वात्सत्पर्यवसानमिति विमर्शः। ननु भारते परीक्षितो नोत्तमत्वकथा, अतस्तादृशे भागवतप्रवृत्तिः कथमुत्कृष्टा भविष्यतीत्याशङ्क्याह कल्पभेदादिति। ऋषीणामागमनं राज्ञो दययेति पक्षव्यावृत्त्यर्थमाह सर्वज्ञत्वादिति ॥ १२९ ॥ १३० ॥

व्यासनारदयोर्मध्यमत्वेऽपि हेतुत्वादनागमनमाशङ्क्य प्रयोजनान्तरमाह व्यासेति—

निबन्धः—व्यासनारदयोश्चैव तत्प्रवृत्तिदिदृक्षया ॥

दुष्टरक्षणहेतुकत्वात्पर्यवसानतः कलेरदुष्टत्वेन तद्रक्षाया अपि धर्मोन्नतिजनकतया मोक्षपर्यवसायित्वं, कलेः स्वरूपतस्तामसत्वेन तद्रक्षायास्तामसधर्मतया स्वल्पदुरदृष्टजनकत्वेनाप्रबलत्वाच्च न स[1] बाधक इत्यर्थः। एवमिति स्वल्पदुरदृष्टजनकत्वेनोपलक्षणविधया ॥ १२३ ॥ १२४ ॥ ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

फलितमाहुः स्वभावत इत्यादि। ऊनविंशाध्यायार्थमाहुः ऋषीणामित्यादि ॥ १२९ ॥ ॥ १३० ॥ १३१ ॥

---

१ कलिः।

अविरक्तेर्मध्यमत्वाद्रामस्य क्रियया गतिः ॥ १३१ ॥

प्रकाशः—दिदृक्षायां हेतुः अविरक्तेरिति । परशुरामस्य तु क्रियाशक्त्यवतारत्वाद्विशिष्टवाचके भागवते गमनमुचितमेव ॥ १३१ ॥

ननु सर्वापेक्षया भगवानुत्तमोऽतस्तत्राऽलौकिकधर्मैः कथमुत्कर्षापकर्षचिन्ता ? तस्मात्सर्वे भगवदंशाः शुकापेक्षयोत्तमा इत्याशङ्क्याह शुकः शिव इति—

निबन्धः—शुकः शिवस्ततोऽप्येवमीश्वराज्ज्ञानसंस्थितिः ।
एतदर्थं हि भगवानवतीर्णो वृषध्वजः ॥ १३२ ॥
द्वात्रिंशल्लक्षणैर्युक्तो भक्तानां सुरपादपः ॥
तत्र प्रश्नद्वयं लोके सर्वदोपमृतिक्रमात् ॥ १३३ ॥

प्रकाशः—गुणावतारत्वात्सोऽपि महान् । ब्रह्मवित्त्वादपि लौकिकश्चोत्कर्षः । अन्यमपि हेतुमाह ईश्वराज्ज्ञासंस्थितिरिति । ईश्वरात्प्राप्तं ज्ञानं सम्यक् तिष्ठति । अन्यन्मायादिना अपोह्यते । अनेन 'आरोग्यं भास्करादिच्छे' दिति चतुर्णामप्येषैव व्यवस्था मुख्येति सूचितम् । नन्वस्यावतारस्य किं प्रयोजनमित्यत आह एतदर्थं हीति । भगवान् सर्वमुक्त्यर्थमवतीर्णः, स्वयं गच्छन् स्वस्थाने शिवं स्थापितवान् । अतो भागवतप्रवर्तनार्थमेव शिवावतारः । ननु काश्यां स्थित्वा ज्ञानमुपदिशत्येव किं पुनरवतारेणेत्याशङ्क्याह वृषध्वज इति । वृषो धर्मः, तेन धर्मप्रकारेण मोचयितुमवतार इत्यर्थः । कूर्मपुराणे शिवावतारः शुक इति यद्यप्यस्ति, तथापि लक्षणैरपि ज्ञातव्य इति महापुरुषत्वं निरूपयति द्वात्रिंशदिति । एतादृशे शुके समागते राज्ञा यत्कृतं तदाह तत्रेति । सर्वदा किं कर्तव्यं म्रियमाणेन किं कर्तव्यमिति ॥१३२॥१३३॥

इति श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितसप्रकाशतत्त्वार्थ-
दीपनिबन्धे श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणे
प्रथमस्कन्धार्थनिरूपणं समाप्तम् ॥

कूर्मपुराण इति । तत्र पूर्वभागे सप्तदशेऽध्याये 'द्वैपायनाच्छुको जज्ञे भगवानेव शङ्करः । अंशांशेनावतीर्योर्व्यां स्वं प्राप परमं पद' मिति । शेषं प्रकटार्थम् ॥१३२॥१३३॥

इति श्रीपीताम्बरतनुजपुरुषोत्तमविरचिते तत्त्वदीपप्रकाशावरणभङ्गे
प्रथमस्कन्धविवरणं सम्पूर्णम् ॥

---

१. 'तत्राभवद् भगवानि'ति श्लोकोक्तानि द्वात्रिंशद्विशेषणानि लक्षणत्वेनोक्तानीति प्रतिभाति । इति प्रथमस्कन्धनिबन्धलेखः ।

अथ द्वितीयस्कन्धार्थः ।

प्रकाशः—द्वितीयस्कन्धे स्कन्धार्थप्रकरणाध्यायार्थान् वक्तुं सङ्गत्यर्थं प्रथमस्कन्धे सिद्धमर्थमनुवदति उत्तम इति—

निबन्धः—उत्तमे चोत्तमश्रोतुः प्रश्न आद्ये निरूपितः ।
अध्यायदशकैस्तत्र साङ्गं श्रवणमीर्यते ॥ १ ॥

प्रकाशः—उत्तमे वक्तरि उत्तमश्रोतुः परीक्षित आद्ये स्कन्धे प्रश्नो निरूपितः। तत्र उत्तरे साङ्गं श्रवणमीर्यते । किं कर्तव्यमित्यपेक्षायां साङ्गं श्रवणं कर्तव्यमिति । तत्र दशाङ्गानीति दशाध्यायैर्निरूप्यते । अनेनाङ्गनिरूपणं स्कन्धार्थ इत्युक्तम् ॥ १ ॥

सम्पूर्णस्य भागवतस्य श्रवणविधिशेषत्वम् । तत्र विषयत्वेन दश स्कन्धाः । अधिकारार्थं प्रथमः । अङ्गार्थं द्वितीय इति । एवं भावनाच्छ्रवणं भागवते महावाक्यार्थः कर्तव्यरूपः तच्छ्रवणं किमित्याकाङ्क्षायामाह शक्तितात्पर्यनिर्धार इति—

अथ द्वितीयस्कन्धप्रकाशावरणभङ्गः ।

श्रीकृष्णाय नमः ॥ अथ द्वितीयस्कन्धनिबन्धं व्याचिख्यासवः सङ्गतिबोधनायाहुः द्वितीय इत्यादि—

निरूपित इति, द्विप्रकारको निरूपितः । उत्तर इति, द्वयोर्वक्तव्ये उत्तरे । कर्तव्यमितीति । द्वयोरुत्तरत्वेनेर्यत इति मूलेन सम्बन्धः । तथा च स्कन्धोपक्रमे 'श्रोतव्य' इति तदुपसंहारे च 'पाद्मं कल्पमथो शृण्वि'तिश्रवणस्य कथनाच्छ्रवणं कर्तव्यमिति प्रथमस्कन्धोक्तानां त्रिविधानामपि श्रोतृणां कर्तव्यनिर्धारो द्वितीयस्कन्धाथ इत्यर्थः । नन्वेवं सति द्वाभ्यामेकैनव वाध्यायेन स निरूपणीयो दशानां किं प्रयोजनमत आहुः तत्र दशेत्यादि । तत्रेति, श्रवणे । अनेनेति, दशाध्यायैरङ्गनिरूपणेन । तथा च वस्तुतः कर्तव्यनिर्धारोऽर्थः । स दशभिरुच्यत इत्यवयवसङ्ख्याविचारेणाङ्गनिरूपणं स्कन्धार्थः इत्यर्थः॥ १ ॥

एवमेकेन स्कन्धार्थमुक्त्वा द्वौ कथं स्कन्धार्थाविति जिज्ञासायां तच्चतुर्भिरुपपादयन्तस्तस्यावश्यकत्वबोधनायाहुः सम्पूर्णेत्यादि । भावनादिति, ल्यब्लोपे पञ्चमी, विचारं कृत्वेत्यर्थः । कर्तव्यरूप इति । द्विविधो ह्यत्र शास्त्रार्थः, अनुष्ठेयः प्रमेयश्च । तत्र द्वितीयो दशलीलायुतो भगवान् । प्रथमस्तु साङ्गश्रवणरूप इत्यर्थः । एवं च विचारे प्रथमस्कन्धार्थस्य कर्तृशेषत्वेन द्वितीयार्थस्य सहकारितया फलशेषत्वेन तृतीयाद्यर्थानां श्रवणस्वरूपशेषत्वेन हेतुतैव स्फुटीभवतीति अनुष्ठेयं शास्त्रार्थं प्रति स्कन्धार्थानां हेतुमद्भावः सङ्गतिः स्कन्धार्थानां च परस्परमेककार्यत्वसङ्गतिरिति ज्ञापितम् । आहेति, लक्षणं कुर्वस्तत्स्वरूपमाह—

---

१ भागवतादित्यपि पाठः । २ भागवतादित्यपि पाठः ।

निबन्धः—शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणं पदवाक्ययोः ।
तत्त्वध्यानं हृत्प्रसादो मननं चाङ्गमुच्यते ॥ २ ॥
श्रोतव्यविषयत्वेन लीला दशविधा पुनः ।
वक्तव्या वासुदेवस्य तदर्थमपरा कृतिः ॥ ३ ॥
शक्तितात्पर्यनिर्धारः सामान्येन पदादिगः ।
अङ्गोक्त्यैव सुसंसिद्धो द्वितीयोऽङ्गविनिश्चये ॥ ४ ॥
कृष्णस्य सर्वरूपत्वे निर्धारः पदवाक्ययोः ।
गुणातीतस्वरूपत्वे निर्गुणश्रुतिनिर्णयः ॥ ५ ॥

प्रकाशः—पदे शक्तिनिर्धारोऽसङ्कोचरूपः सहजः । वाक्ये तात्पर्यनिर्धारः । उभयमुभयत्र वा । अङ्गानि कानीत्याकाङ्क्षायामाह तत्त्वध्यानमिति । तत्रेति वा । तत्त्वस्वरूपचिन्तनं ध्यानम् । हृत्प्रसादश्चित्तशुद्धिः । मननं च तृतीयमङ्गम् । अनेन प्रकरणविभागोऽपि निरूपितः । केषां शब्दानामित्याकाङ्क्षायां श्रोतव्यविषयमाह

ननु पदशक्तिनिर्धारस्य निघण्ट्वादिभिरेव सिद्धेर्वाक्ये च शक्तेरभावात् 'पदवाक्ययोस्तात्पर्यनिर्धारः श्रवण'मित्येव लक्षणं युक्तं न तु शक्तिनिर्धारोऽपि मध्ये निवेशनीय इत्याकाङ्क्षायां तत्सार्थकत्वाय शक्तेः स्वरूपमाहुः असङ्कोचरूपः सहज इति । भगवद्वाचकप्रणवविकृतिरूपाणां सर्वेषां पदानां भगवद्रूपेणार्थेन नित्यसम्बद्धत्वाद्भगवतश्च सर्वरूपत्वात् सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचका इत्येवंरूपः पदे शक्तिनिर्धारः स्वाभाविकः । तथा चैवंरूपः पदशक्तिनिर्धारो नेतरसाध्य इति शक्तिपदं सार्थकमेवेत्यर्थः । एतेन जातौ विशिष्टे प्रवाहे वा शक्तिरित्येतेषां पक्षाणामत्रानुपादेयत्वं बोधितम् । सर्वनिर्णये वैयाकरणरीत्या वाक्ये शक्तेरङ्गीकरणात्पक्षान्तरमाहुः उभयमुभयत्र वेति । एवमेकः स्कन्धार्थ उक्तः । द्वितीयं वक्तुमाहुः अङ्गानीत्यादि । द्वितीयाध्याये स्वरूपध्यानस्योक्तत्वात्प्रथमपाठे तस्य न सङ्ग्रह इत्यतः पाठान्तरमाहुः तत्रेति । वेति । अत्र शुकाभिप्रेतत्वात्प्रथमः पाठः । द्वितीयध्यानस्यापि प्रकारविशेषेणादरणीयत्वात्पाठान्तरमिति बोध्यम् । द्वितीयपाठे ध्यानपदस्यार्थमाहुः तत्त्वस्वरूपचिन्तनमिति । तत्त्वानां स्वरूपस्य च चिन्तनमित्यर्थः । एवमाद्याध्यायोक्तमेकमङ्गमुक्तं, तदग्रिमद्वयोक्तमङ्गान्तरमाहुः हृदित्यादि । तदग्रिमषडध्याय्युक्तं तृतीयमाहुः मननमित्यादि । अनेनेति अङ्गत्रयकथनेन । एवं च अङ्गनिरूपणरूपे स्कन्धार्थे प्रकरणार्थानां विशेषरूपत्वात्सामान्यविशेषभावः, तान् प्रत्यध्यायार्थानां च स इति सङ्गतिर्बोधिता ज्ञेया । प्रथमस्कन्धार्थान् । परिच्छिन्दन्ति केषामित्यादि । स्कन्धार्थभूतं केषां शब्दानां, किंशब्दविषयकमित्याकाङ्क्षायां

---

१. तत्त्वज्ञानमिति मुद्रितादर्शे । २. निर्गुण; श्रुतीति मुद्रितादर्शे ।

श्रोतव्येति। दशविधा लीला श्रोतव्या। अनेनाग्रिमस्कन्धानामर्था उद्देशत उक्ताः। ननु धर्मी येन केनचिद्धर्मेण सहितः श्रोतव्यो भवतु, कोऽयं निर्बन्धो दशविधलीलायुत इति? तत्राह तदर्थमपरा कृतिरिति। अन्यथाग्रे निरूप्यमाणा दश स्कन्धा व्यर्थाः स्युः। पदवाक्यानां चानुपस्थितत्वादङ्गविचारोऽपि व्यर्थः स्यात्। तस्मादपरकृत्यनुपपत्त्या दशविधलीलायुक्त एव श्रोतव्यः। ननु शक्तितात्पर्यनिर्धारः कथं कर्तव्यः, केन कर्तव्य इत्याकाङ्क्षायामाह शक्तीति। अङ्गनिरूपणेनैवाङ्ग्यपि निरूपितो भवति। न हि सर्वाङ्गेषु सिद्धेषु अङ्गिसिद्धिरवशिष्यते। तदाह अङ्गोक्त्यैव सुसंसिद्ध इति। तदर्थं स्कन्धमाह द्वितीय इति। अनेनाङ्गानां स्कन्धे अङ्गिनो निरूपणं युक्तमिति ज्ञापितम्। शक्तितात्पर्यनिर्धारो द्वितीयस्कन्धे न स्पष्ट इति तं स्पष्टयति कृष्णस्य सर्वरूपत्वमिति। शक्तिसङ्कोचपक्षे नान्यथापदानां[1] भगवद्वाचकत्वं सिध्यति। एवं

श्रोतव्याः शक्तौ तात्पर्ये च निर्धार्या ये शब्दास्तेषां विषयं प्रतिपाद्यमाहेत्यर्थः। दशविधेत्यादि। तथा च दशविधलीलाबोधकानां पदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणमित्यर्थः। तस्मादिति, उक्तहेतुद्वयानुरोधात्। शक्तीत्यादि मूले। तथा च तत्त्वस्वरूपध्यानचित्तशुद्धिमननैरुपकृत्याङ्गवाचकेनानेन सामान्यतः कर्तव्य इत्यर्थः। नन्वेवं सति श्रवणस्य स्कन्धार्थता आगता। पूर्वं तु टीकायामङ्गनिरूपणस्य स्कन्धार्थता कण्ठत उक्तेति विरोध इत्याकाङ्क्षायामाहुः अङ्गेत्यादि। अङ्गीति श्रवणम्। तथा चैकद्वारान्यस्यापि सिद्धेर्द्वयोः स्कन्धार्थत्वं न विरुद्धमित्यर्थः। मूले अङ्गविनिश्चय इत्यत्र निमित्तात्कर्मयोग इति सप्तमी। अङ्गविनिश्चयार्थमित्यर्थः। प्रथमस्यार्थसिद्धिमाशङ्क्याहुः शक्तीत्यादि। न स्पष्ट इत्यादि। कोशव्याकरणमीमांसादिवदकथनान्न स्फुट इति हेतोस्तं स्पष्टयति। भगवतः सर्वरूपत्वस्य तत्र बोधितत्वात्सर्वेषामर्थानां संसर्गाणां च भगवद्रूपत्वे सिद्धे वक्तुश्च तथा बोधने विवक्षिते सर्वेषां पदवाक्यानां भगवद्वाचकत्वं तत्तात्पर्यकत्वं च निर्धारितं भवतीत्येवं स्फुटीकरोतीत्यर्थः। ननु पृथिव्याः सर्वपार्थिवरूपत्वेऽपि यथा घटादिपदानां तत्र तत्रैव शक्तिर्न पृथिव्यां, तथात्रापि शक्यवचनत्वात्सर्वस्य भगवद्रूपत्वेऽपि कथं शक्त्यादिनिर्धार इति शङ्कायामाहुः शक्तीत्यादि। अत्र पदपदं वाक्यानामप्युपलक्षकम्। तथा चैवं सिध्यति। द्वादशे हि 'ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्। स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः। स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातन'मितिवाक्यात् परमात्मवाचकप्रणवविकृतीनां सर्वेषां शब्दानां भगवद्वाचकत्वस्य साहजिकत्वान्नामरूपव्याकरणादिश्रुतीनां शक्तिसङ्कोचनमेवार्थः। भगवतश्च सर्वरूपत्वं चतुःश्लोक्यां विवृतम्। अत

१, नान्यथेति। जातितद्विशिष्टव्यक्तिशक्तिपक्षेषु न।

संति श्रोतव्यविषयो दशविधलीलायुक्त एव भवति । अन्यथानन्तत्वाच्छब्दानां श्रवणाशक्तौ श्रवणविध्यपर्यवसानमेव स्यात् । यत्किञ्चित्पदवाक्यनिर्धारो यत्र कुत्रचित्तन्न श्रवणम् । अतोऽग्रिमा सर्वैव कृतिः सार्थिका । ननु मीमांसयैवायमर्थः सिद्धः । 'आत्मा श्रोतव्य' इति तथैव सर्वैः श्रवणविधिर्निरूपित इत्याशङ्क्याह गुणातितस्वरूपत्व इति । भगवतो हि रूपद्वयं, गुणातीतरूपं सगुणं च । तत्र वेदे गुणातीतमेव । पुराणे च सगुणम् । अतो वेदनिर्णयेन निर्णये गुणातीतमेव श्रोतव्यं

एवैकादशेऽपि भगवता 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मा'मिति वक्ष्यते । अयं चार्थो जातितद्विशिष्टव्यक्तिप्रवाहशक्तिपक्षेषु न सिध्यतीति ते पक्षाः सङ्कोचोत्तरभाविन एवादरणीयाः । अतो भगवतः सर्वरूपत्वे शक्तिसङ्कोचनपक्षे चादृते प्रथमस्कन्धे शौनकप्रश्नोत्तरं सूतेन 'यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्न' इति सर्वेषां प्रश्नानां भगवानेवार्थ इति यदुक्तं, तस्यापि तात्पर्ये विचारितेऽत्रत्यानां पदवाक्यानां भगवद्वाचकत्वं तत्तात्पर्यकत्वं च सिध्यति नान्यथेति; सर्वस्य भगवद्रूपत्वे सुखेन तन्निर्धार इत्यर्थः । सिद्धमाहुः एवं सतीत्यादि । ननूक्तरीत्या सर्वेषां भगवद्वाचकत्वं सिद्धमिति कथमयं विषयसङ्कोच इत्यत आहुः अन्यथेत्यादि । तन्न श्रवणमिति । सर्वमुक्त्याद्यापत्तेरनुभवविरोधाच्च तन्न श्रवणत्वेन विवक्षितम् । तथा च विधिपर्यवसानायाग्रिमकृतिसार्थक्याय चायं सङ्कोच इत्यर्थः । एवं प्रयोजने स्कन्धस्योक्ते उत्तरमीमांसया स्कन्धस्य गतार्थत्वमाशङ्कते नन्वित्यादि । अयमिति, भगवतः सर्वत्वरूपः । तथैवेति 'आत्मनि वा अरे श्रुते मते विज्ञाते सर्वमिदं विदित' मित्यात्मज्ञाने सर्ववेदनरूपफलस्य श्रवणाद्भगवतः सर्वरूपताज्ञानार्थः श्रवणविधिरित्येवम् । गुणातीतस्वरूपत्व इति । श्रोतव्यस्यात्मन इति शेषः । तदेतदुपपादयन्ति भगवत इत्यादि । गुणातीतमिति गुणोत्पत्तेस्तत्राकथनात्, क्वचित्कथने तद्युक्ततया सृष्ट्याद्यकथनात् । अत इति । पुराणे सगुणस्यैव श्रोतव्यत्वाद् वेदे गुणातीतमेव कुत उच्यत इत्यत आहुः यत इत्यादि । तथा च वेदेऽनिरूपणात् सगुणं नास्त्येवेति न, किन्तु ताः स्वाधिकारेण निरूपयन्तीति न सगुणं निरूपयन्ति, न तु तदभावान्न निरूपयन्तीत्यर्थः । एवं चतुर्भि-

---

१. द्वितीयस्कन्धे प्रथमप्रकरणे, 'कृष्णस्य सर्वरूपत्वे निर्धारः पदवाक्यो' रित्यस्य विवरणे एवं सतीत्यादि सार्थिकेत्यन्तम् । श्रवणविधिप्रतिपादकेन द्वितीयस्कन्धेनैव कृष्णस्य सर्वरूपत्वे शक्तितात्पर्यप्रकारहेतुज्ञानार्थे ज्ञापिते सति, श्रवणविषयाकांक्षापूरणार्थं दशस्कन्धानामुक्तत्वाच्छ्रोतव्यविषयो दशविधलीलायुक्त एव भवति । दशविधलीलायुक्तस्य श्रोतव्यत्वाभावे श्रवणविधेः सामान्येन निरूपणापत्तेः, दशस्कन्धातिरिक्तशब्दानां सामान्येन श्रोतव्यविषयाणामनन्तत्वाद् द्वितीयस्कन्धश्रवणविधिरपर्यवसन्न एव स्यादतोऽत्रोक्तस्य श्रवणविधेः पर्यवसानार्थमुक्तत्वाद्दशस्कन्धानां सार्थकत्वम् । धर्मिमात्रश्रवणपरत्वे तु द्वितीयस्कन्धेनैव तस्माद्भद्रतेत्यनेन तस्य केवलधर्मिणः श्रोतव्यत्वनिरूपणात् पूर्वेणैव गतार्थत्वादपि वैयर्थ्यमिति । २ अन्यथेति । दशविधलीलेतरयुक्तस्यापि श्रवणविषयत्वे ।

स्यात् । अतोऽत्र पृथङ्निरूपणमुचितमित्यर्थः । यतः श्रुतयो निर्गुणाः । अनेन तत्त्वध्यानस्याङ्गता निरूपितान्तरङ्गता च । तेन प्रथमं तन्निरूपणमुचितमिति भावः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

द्वितीयाङ्गं साधयति श्रोतुर्वक्तुस्तथा श्रद्धेति—

निबन्धः—श्रोतुर्वक्तुस्तथा श्रद्धा सान्यसेवा बहिर्मुखा ।
श्रोतुर्वक्तुः समुत्साहो नमनाद्यादरात्स्फुटः ॥ ६ ॥

प्रकाशः—एतदभावेऽपि श्रवणं न निर्वहतीति तथा । प्रथमप्रकरणवदेव च श्रद्धाप्यन्तरङ्गमित्यर्थः । पूर्वत्र भगवतः सर्वरूपत्वे सर्वेषां तदादीनामर्थनिर्णयो भवति । प्रकृते श्रद्धा कथमुपयुज्यते ? न हि सर्वत्र शुद्धा भवति । नापि दशविध-लीलापरिच्छेदे । अतः स्वरूपोपकारिण्यपि श्रद्धा पर्यवसानाभावान्नाङ्गं भवितुमर्ह-

---

द्वयोः स्कन्धार्थयोर्निरूपणेन प्रथमप्रकरणार्थोऽप्युक्त एवेत्याहुः अनेनेत्यादि । श्रुतिपुराणयोरर्थप्रकारस्य विभागकथनेन प्रथमाध्यायोक्तस्य तत्त्वचिन्तनस्य सामान्यतो विशेषतश्चात्रत्यपदवाक्ययोः शक्तितात्पर्यनिर्धारोपकारकता निरूपिता । अत्र तत्त्वानामीश्वरशरीरे निवेशस्योक्तत्वेन तत्तत्त्ववाचकानि पदादीनि तत्तदवयवबोधनद्वारा भगवत्पराणीत्येवं कथिता । तथासञ्जातभक्तेरपि भगवद्भक्तिरूपफलानुकूलत्वेन अन्तरङ्गता अतिशयितोपकारकता चोक्तेत्यर्थः । अत एव श्रुतिसम्मता द्वितीयाध्यायोक्ता । सूक्ष्मध्यानात्पूर्वमेतत्कथनमित्याशयेनाहुः तेनेत्यादि । अन्तरङ्गाङ्गत्वेन तथेत्यर्थः । एवं चैतस्य प्रकरणस्य ध्यानमर्थस्तदध्यायद्वये आद्यस्य तत्त्वध्यानं द्वितीयस्य स्वरूपध्यानमर्थ इत्युक्तम् ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

अतःपरमेकेन द्वितीयस्य प्रकरणस्य तदध्यायद्वयस्य चार्थं वक्तुमाहुः द्वितीयमित्यादि—

एतस्या अङ्गत्वं कथमित्याकाङ्क्षायां स्वरूपोपकारकत्वेनेति स्फुटीकुर्वन्ति एतदित्यादि । नन्वेवं सति प्रथमस्कन्ध एव वक्तव्यो नात्रेत्याशङ्कायामाहुः तथेत्यादि । तथा च तद्यथा श्रवणस्य स्वरूपे फले चोपकरोति तथेयमपीत्यन्तरङ्गत्वान्नाधिकारस्कन्धे निवेश इत्यर्थः । ननु श्रवणादरत्वेन रूपेण श्रद्धायाः स्वरूपोपकारकत्वस्य पूर्वस्कन्धेऽपि सिद्धत्वादत्र को वा विशेषो येनात्रापि स्वरूपोपकारकत्वमुच्यत इत्याकाङ्क्षायां तं विशेषं वक्तुमन्तरङ्गतां च साधयितुमाहुः पूर्वत्रेत्यादि । कथमिति । सर्वविषयत्वेन वा दशविधलीलायुक्तविषयत्वेन वा रूपान्तरे वा । तत्राद्यं निषेधन्ति न हि सर्वत्रेत्यादि । द्विष्टादिषु तददर्शनात्तथेत्यर्थः । द्वितीयं निषेधन्ति नापीत्यादि । तथा सति गुणातीतश्रवणेऽश्रद्धा आपद्येतेति तथेत्यर्थः । अथ द्विष्टादिभावस्य याज्यत्वात्सर्वविषयत्वेनैवोपयोग आद्रियेत, तदा तु तस्या अङ्गत्वमेव हीयेतेत्याहुः । अत इत्यादि । तथा च रूपान्तरस्याशक्यवचनत्वा-

तीत्याशङ्क्याह सान्यसेवा बहिर्मुखेति । अन्यसेवा वहिर्मुखत्वेन श्रद्धायाः श्रवणाङ्गत्वम् । यथा दशविधलीलायुक्तातिरिक्तस्य न श्रवणं, तथा तत्प्रतिपाद्यरूपातिरिक्तरूपे न श्रद्धा, अतः पर्यवसानमस्त्येव । ततोऽन्ये ब्रह्मणस्पतिप्रभृतयः श्रद्धाप्रकरणे निरूपिताः । तत्रापि श्रोतुस्तस्यान्यत्र श्रद्धायां श्रवणं व्यर्थं स्यात् । वक्तुस्तु श्रद्धा नमनाद्यादरात्समुत्साहरूपा स्फुटैव ॥ ६ ॥

एवं मध्यमप्रकरणार्थमुक्त्वा तृतीयप्रकरणेऽवान्तरप्रकरणभेदोऽस्तीति तद्भेदकं निरूपयति उत्पत्त्या चेति—

निबन्धः—उत्पत्त्या चोपपत्त्या च सर्वत्वं तस्य चिन्त्यते ।
तथा च व्यतिरिक्तत्वं फलतस्त्वस्य निर्णयः ॥ ७ ॥

प्रकाशः—उत्पत्त्या विमर्शस्त्रिभिः । उपपत्त्या च त्रिभिः । उभाभ्यां भगवतः

दादरस्य च पूर्वमुक्तत्वादत्र स्वरूपोपकारकत्वमस्या नोचितमित्याशङ्कार्थः । समाधिं व्याकुर्वन्ति अन्यसेवेत्यादि । तथा चानेन रूपेणोभयाङ्गत्वान्न पूर्वस्कन्धे निवेशो न वा पूर्वप्रकरणतौल्यहानिरित्यर्थः । एवं तृतीयाध्यायार्थो निर्णीतः । तुरीयस्याहुः वक्तुरित्यादि । समुत्साहरूपेति, निष्कामानन्यभक्तिकर्तव्यताध्यवसायरूपा । अत्र यद्यप्याचार्यैर्वाक्यानि न विभक्तानि, तथापि पूर्वस्कन्धनिबन्धेऽध्यायद्वयस्य वक्त्रधिकारबोधकतया उक्तत्वाद्विभज्यन्ते । तत्र प्रथमेऽध्याये चतुर्दशभिः प्रथमप्रश्नोत्तरं, सप्तभिर्द्वितीयस्य, शेषोऽध्यायस्तदुभयशेषः । द्वितीये सप्तभिः पूर्वाध्यायोक्तस्यार्थस्य पूर्वकाण्डार्थनिश्चायकत्वसमर्थनं, षड्भिर्द्वितीयकाण्डार्थनिश्चायनं, एकेन धारणाधिकारिविभागः, सप्तदशभिर्म्रियमाणस्यैव धारणावश्यकता सपरिकरा विचारिता । द्वाभ्यां श्रुतिसमानाधिकरणत्वाय श्रौतार्थनिर्णयः, एकेन सर्वेषां शास्त्राणामेतदेकदेशानुसारित्वं, द्वाभ्यामुक्तार्थनिगमनेनोक्तोपसंहारः । एवमध्यायद्वयेन सर्वशास्त्रार्थसंग्रहादुत्तमवक्तुरधिकारस्य सर्वज्ञत्वसाम्प्रदायिकश्रुतभागवतत्वभक्तत्वपूर्वकपरमविरक्तत्वरूपस्य सिद्धिः । तृतीये द्वादशभिरन्यसेवा बाहिर्मुख्यबोधनेन श्रोतुः प्रोत्साहनादुत्तमश्रोतुस्तादृशी श्रद्धा । शेषैराद्यश्रोतुः । तावता प्रत्याहारन्यायेन तदुपनिबन्धनेन च मध्यमस्याप्युक्तमायात्तुरीये प्रथमैकादश पूर्वशेषाः । तदुत्तरं वक्तृश्रद्धाप्रकाशका इति । एतावपि वक्त्रधिकारविचारे तस्यैव शेषाविति चाग्रे 'नमनेनैव निर्धार'मित्यत्र स्फुटीभविष्यति । प्रकृतमनुसरामि ॥ ६ ॥

एवं प्रकरणद्वयार्थं निर्णीयैकेन तृतीयप्रकरणार्थं विचारयन्ति एवमित्यादि—

अत्र भेदकद्वयकथनेन उभयव्यपदेशाद्यधिकरणद्वयार्थः स्मार्यते । तेन 'वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानी'त्यत्रोक्तं प्रथमैक्यं सेत्स्यतीति बोध्यते । ननु सर्वस्योत्पत्त्यैव भगवतः सर्वत्वनि-

सर्वत्वमेव विचार्यते । चकारादुत्पत्तावुपपत्तिस्तथोपपत्तावुत्पत्तिरिति । सर्वस्योत्पत्त्यैव निर्णये पृथग्रूपस्थित्यभावे उत्पत्तिरेव न घटेतेति व्यतिरिक्तत्वं चोभयत्र वक्तव्यम् । सर्वस्यैवोपपत्तिमत्वेन परमं माहात्म्यं भवेत् । तर्हि तस्योत्पत्त्युपपत्त्यभावात्कथं निर्णय इत्याशङ्क्याह फलतस्त्वस्य निर्णय इति । उभयविचारेण विचारितस्य तत्फलम् । अर्थात्साधकं च । अतस्तन्निर्णयार्थं न किञ्चिद्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

एवमङ्गानि निर्णीय तेनाङ्गिसिद्धिमाह ततो लीलाः सदा वाच्या इति—

निबन्धः—ततो लीलाः सदा वाच्याः श्रोतव्याः श्रवणेन हि ।
म्रियमाणे विशेषेण योगो ह्यष्टाङ्ग ईर्यते ॥ ८ ॥
अन्ते मतेर्गतित्वं हि मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
पाक्षिकोऽपि हि दोषोऽत्र परिहार्यः सुसात्त्विकैः ॥ ९ ॥

प्रकाशः—भगवन्तं निर्णीय भगवल्लीला वाच्याः कीर्तितव्याः । अन्यथा लीला-

---

र्णये व्यतिरिक्तत्वकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः सर्वस्येत्यादि । सर्वस्य भगवतः सकाशादुत्पत्त्यैव भगवतः सर्वोपादानत्वेन सर्वत्वनिर्णये पृथक्स्थित्यभावे वृक्षबीजन्यायेन कृत्स्नप्रसक्तौ, उत्पत्तिरेव न घटेत, कर्तुरभावान्नोपपद्येतेति तदर्थमुभयत्र तन्निरूपणमित्यर्थः । नन्वेवं व्यतिरिक्तत्वमात्रकथनेऽपि निखिलजगत्कर्तृतया माहात्म्ये ज्ञाते स्नेहस्य भक्तित्वसिद्धेः, सर्वत्वनिरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः सर्वस्येत्यादि । सर्वस्य तत उत्पत्त्यनुक्तौ लौकिककर्तृन्यायेन सगरवदसमर्थोत्समर्थोत्पत्तेरपि शक्यवचनत्वात् परमं माहात्म्यं न भवेत्, सर्वस्योत्पत्तिमत्त्वे तु व्यतिरिक्तस्याजन्यत्वाद्ब्रह्मवेदतः परत्वज्ञापनं तत्प्रयोजनमित्यर्थः । तज्ज्ञानस्य दौर्लभ्यमाशङ्कते तर्हीत्यादि । व्यतिरिक्तत्वस्यावश्यज्ञाप्यत्वे तस्य व्यतिरिक्तरूपस्य ज्ञापकभूतोत्पत्त्युपपत्त्योरभावात्तस्मिन्व्यतिरिक्ततायाः केन हेतुना निर्णयः ? तस्य वा रूपस्य केन हेतुना निर्णय इत्याशङ्क्येत्यर्थः । ज्ञापकं व्याकुर्वते उभयेत्यादि । उत्पत्त्युपपत्तिविचारेण विचारितस्य सर्वरूपत्वस्य तद्रूपं फलं तद्विचाराप्राप्यं, अर्थात्सर्वोत्पत्त्यादिरूपात् साधकमुत्पादकं च । अतः कारणतानिर्वाहकस्य तस्य धर्मस्य तस्य कारणरूपस्य च कार्येणैव निर्णयात्तज्ज्ञापनाय हेत्वन्तरं न वक्तव्यमित्यर्थः । एवमेकेन तृतीयप्रकरणार्थो निर्णीतः ॥ ७ ॥

तेनाङ्गिसिद्धिमाहेति । अग्रे लीलानामेवोक्तत्वादङ्गान्तरानपेक्षां बोधयितुं तावतैव श्रवणसिद्धिमर्धेनाहेत्यर्थः—

मूले तत इति । ल्यब्लोपे पञ्चमी, तत्कृत्वा । तद् व्याकुर्वते भगवन्तमित्यादि ।

---

१. अन्ते मतेर्गतित्वमित्यादि । 'अन्ते या मतिः सा गति'रिति वाक्याद् अन्ते मतेः फलत्वम् । हिः—त्वर्थे । मनस्तु चञ्चलमस्थिरम् । हिर्हेतौ । अतो हेतोर्योगेन पाक्षिकोऽपि दोषोऽस्थिरस्वरूपः परिहार्य इत्यर्थः। चञ्चलमित्यस्यार्थकथनमस्थिरमिति ।

त्वमेव न स्यादिति तथैव श्रोत्रापि श्रोतव्याः । एवं स्मर्तव्या इति । सर्वदा कर्तव्यं सेत्स्यत इति । एवं सदा कर्तव्ये श्रवणे सर्वस्य भागवतस्योपयोगमुक्त्वा द्वितियप्रश्नोत्तरं विचारयति म्रियमाणे विशेषेणेति । तत्र योगोऽष्टाङ्गः कर्तव्यः । तत्र हेतुमाह अन्ते मतेरिति । अतः पाक्षिकदोषपरिहारार्थं योगोपयोगः ॥ ८ ॥ ९ ॥

तस्य साधनान्याह गृहत्यागस्तीर्थवास इति—

निबन्धः—गृहत्यागस्तीर्थवासो योगाभ्यसनमेव च ।
अन्तकाले त्ववश्यं हि यथा चित्तं न भिद्यते ॥ १० ॥

प्रकाशः—साधनत्रयम् । श्रवणयोगयोर्विकल्प इति विमर्शः । समुच्चय इति केचित् । भिन्नोऽधिकार इत्यन्ये । संस्कारोऽत्र नियामकः । बहिर्मुखान्तर्मुखव्यवस्थेत्यपरे । शुकेन पूर्वजन्मनि तथा कृतमिति स्वानुभूतं तदाह । श्रवणं तु व्यासादवगतमिति विमर्शः । अत एवाह अन्तकाले त्ववश्यं हीति ॥ १० ॥

ननु यथाकथञ्चिच्छ्रवणेऽपि फलसिद्धेः किमिति भगवन्निर्णयानन्तर्यापेक्षेत्याकाङ्क्षायामाहुः अन्यथेत्यादि । 'लीला विदधतः स्वैरं,' 'अमोघलीलः,' लीलावतारानुरत'इत्यादिवाक्यैरत्र सर्गादीनां श्रवणं लीलात्वेन विवक्षितं, न तु 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षण'मितिवत्सर्गत्वादिरूपेण । लीला चानायासेन क्रियमाणं कर्म । अनायासज्ञानं तु भगवत्स्वरूपज्ञानाधीनम् । अतस्तन्निर्णयाभावे सर्गादीनां लीलात्वमेव ज्ञातं न स्यात् । तदभावे तच्छ्रवणफलमपि न स्यादतस्तथेत्यर्थः । एष चतुर्दशभिरुक्तस्य प्रथमप्रश्नोत्तरस्यार्थ इत्याहुः तथैवेत्यादि । द्वितीयप्रश्नोत्तरमिति । 'अन्तकाल' इत्यादिसप्तश्लोकोक्तम् । मूले विशेषेणेति । आग्रहेण श्रवणादिकमेव कर्तव्यमित्यर्थः । विशेषपदोक्ताग्रहस्वरूपमाहुः तत्रेत्यादि । तत्र हेतुमाहेति । आग्रहे किं बीजमित्याकाङ्क्षायां आग्रहबीजमेकेनाहेत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥

तस्य साधनान्याहेति । योगस्याङ्गान्यर्धेनाहेत्यर्थः—

भिन्नाधिकारस्वरूपमाहुः संस्कार इत्यादि । यस्य यद्विषयः संस्कारस्तेन तत्कर्तव्यमित्यर्थः । बहिर्मुखेत्यादि । बहिर्भगवन्तं ज्ञातुमिच्छुर्बहिर्मुखः । अन्तर्ज्ञातुमिच्छुरन्तर्मुख इत्यर्थः । विकल्पपक्षस्तर्हि कुत आद्रियत इत्याकाङ्क्षायां विमर्शस्वरूपमाहुः शुकेनेत्यादि । तथा च शिवरूपेण सर्वदा तत्कृतवानित्यन्तकाले चित्तस्थैर्यार्थं स्मरणशेषं योगमाहेत्यर्थः । मूले-अवश्यमित्यादि । श्रवणान्यतमं वा, गृहत्यागादिसाधनत्रयं वा, अवश्यं कर्म कर्तव्यम् । यथा चित्तं न भिद्यते, भगवति नीयमानं चित्तं येन प्रकारेण भिन्नं ततो न भवति तथेत्यर्थः ॥ १० ॥

ननु ज्ञानमार्गं परित्यज्य भक्तियोगं वा किमित्यवोचत्तत्राह श्रुतात्मब्रह्मभावस्येति—

निबन्धः—श्रुतात्मब्रह्मभावस्य नानन्दानुभवः सदा।
मनसश्चञ्चलत्वाद्धि स्थिरे योगेन साधिते॥ ११॥
सगुणां मानसीं मूर्तिं हरेः कृत्वाण्डरूपिणीम्।
अन्तर्यामिस्वरूपां वा ध्याने सत्त्वमये हृदि॥ १२॥
प्रकटः परमानन्दस्तत्र स्थित्वा सुखी भवेत्।
गुणानां प्रेरकत्वे हि स्थिरता साधने मता॥ १३॥

प्रकाशः—येन स्वात्मा ब्रह्मत्वेन श्रुतः; 'तत्त्वमस्या'दिवाक्यैस्तस्यावश्यं कर्तव्यान्तराभावादानन्दानुभवेन भाव्यम्। स न जायत इति किञ्चिदन्यत्साधनमन्वेषणीयम्। ततो नियतफलेषु साधनेषु पूर्वं श्रुतिरप्रयोजिकेति साधनमेवोपदेष्टव्यमिति भावः। अनेन व्यपदेशपक्षो गृहीतः, सिद्धपक्षस्यानुभवविरोधात् 'अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः' इति शास्त्रत एव तथोक्तिः। यथा प्रतिमायां विष्णुबुद्धिः। तस्माच्चं पक्षमप्रयोजकं मत्वा मनोराज्यतुल्यमिति तन्नोक्तवान्। योगस्यावश्यकत्वमाह मनस-

पूर्वमिति, साधनकरणात्पूर्वम्। श्रुतिरिति श्रवणमित्यर्थः। तथा च कृतादिकालेषु कृतैः साधनैः शुद्धचित्तानां सोपयुज्यते, नेदानीन्तनानां, अतस्तं मार्गं परित्यज्येदमुपदिष्टमित्यर्थः। नन्वात्मनः सिद्धे ब्रह्मत्वे कुतो नानन्दानुभवः? न च दोषादिति वाच्यम्। तस्मिन्सति तत्सम्बन्धस्यैवाशक्यवचनत्वात्। न चानादिस्तत्सम्बन्ध इति युक्तम्। तथा सत्यभेदस्यैव बाधात्। न च श्रौतत्वान्न बाधः। तथा सति यथानुपलभ्यमानेऽपि धर्मे अव्यतिरेकेण आत्मनो ब्रह्मरूपत्वं प्रवर्तयति बलिष्ठत्वात्तत्प्रमितिं च जनयति, तथा ब्रह्मत्वस्य विद्यमानत्वादानन्दप्रमितिं जनयेद्दोषमपि न निवारयेत्। अतो'नित्यो नित्याना'मित्यादिश्रुत्यन्तराद्भिन्न एव जीवात्मा आदरणीयः। अभेदश्रुतिस्तु ब्रह्मशरीरत्वात्साजात्याद्वा नेयेत्याकाङ्क्षायामाहुः अनेनेत्यादि। ज्ञानमार्गाकथनेन 'तद्गुणसारत्व'सूत्रसिद्धो व्यपदेशपक्षः, ब्रह्मांशत्वेन ब्रह्मगुणवत्त्वेन चात्मनि ब्रह्मत्वमुपचर्यते इति पक्षो गृहीत इत्यर्थः। तदादरेऽपि श्रुतिरेव बीजं न दृष्टार्थापत्तिमात्रमित्याहुः अयमित्यादि। तथा च विज्ञानमयत्वरूपस्य समानधर्मस्य श्रुत्यन्तरे निर्देशाद्व्यपदेशपक्षस्य शास्त्रत एवादर इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः यथेति। आकृतिसाम्यादित्यर्थः। तस्मादिति॥ श्रुतिप्रत्यक्षविरुद्धत्वात्। आव-

१. अण्डरूपिणीमिति। प्रथमाध्यायोक्तां ब्रह्माण्डरूपिणीम्। तथा द्वितीयाध्यायोक्तां द्वितीयामिति मूलार्थः। २ कृतीत्यपि पाठः।

श्चञ्चलत्वाद्धीति । अस्य पक्षस्य फलपर्यवसानमाह योगेन चित्ते स्थिरीभूते, मानसीं मूर्तिं तत्र ध्यात्वा, तेन ध्यानेन चित्ते सत्त्वमये जाते परमानन्दः प्रकटो भवतीति, तत्र नित्यं स्थितः सुखीभवेत् । ततो ज्ञानफलमपि तत्र सिद्ध्यति । यदा पुनर्मनो रजस्तमोभ्यामन्यथा भवति तदा साधनपर एव भवेत् ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

एतन्नासन्नमरणस्योच्यते, किन्तु यो मरणं वाञ्छति, तस्य तादृशस्य साधनं फलमाह आमृतेस्तत्र तिष्ठेतेति—

निबन्धः—आमृतेस्तत्र तिष्ठेत बुद्ध्या वा तनुमुत्सृजेत् ।
लिङ्गं च तत्र त्यक्तव्यमग्रे गत्वाथ वा त्यजेत् ॥ १४ ॥
धर्मस्य वासनाशेषाद्यदीच्छा पारलौकिके ।
स्थूलस्य भावनायां हि यदि मृत्युस्तदा भवेत् ॥ १५ ॥
चतुर्मुखत्वं सूक्ष्मे तु प्रधानफलमेव हि ।
मनोमय्या अपि यतो मुक्तिदातृत्वमुच्यते ॥ १६ ॥
स्थूलेन भाविते चित्ते भक्तिः सूक्ष्मे तदा मनः ।
भक्त्यभावे तथा रागे न सूक्ष्मे विशते मनः ॥ १७ ॥

प्रकाशः—योगेनायुर्वृद्धौ बुद्धिपूर्वकं वा तनुमुत्सृजेत् । तत्रापि पक्षद्वयम् । सर्वकामनाभावे देहत्यागसमये एव लिङ्गमपि त्यक्तव्यं, तदा सद्योमुक्तिः । क्रमेण वा अंशतस्त्यागस्तदा क्रममुक्तिरिति । ननु सद्योमुक्तौ सत्यां कथं क्रममुक्तिपक्षस्तत्राह धर्मस्य वासनाशेषादिति । पूर्वं कृता धर्माः स्वर्गादिसाधकास्ते योगं साधयित्वा क्रमेण निवृत्ता अपि फलांशे वासनाशेषास्तिष्ठन्ति, तदा परलोकेच्छा । इदानीं ध्येयभेदेन फलभेदमाह स्थूलस्येति । 'अन्ते या मति'रिति सोऽपि विराड् भवति । तस्य लोकव्यवहार्यरूपं चतुर्मुखत्वम् । सूक्ष्मे तु प्रधानफलं सद्योमुक्तिः क्रममुक्तिर्वा । एवं सति योगेनैव मुक्तिर्न भक्त्येति पूर्वमुक्तः श्रवणादिमार्गो व्यर्थ एवेत्याशङ्क्याह

श्यकत्वमाहेति, द्वाभ्यामाहेत्यर्थः । ज्ञानफलमिति, नित्यनिरतिशयजैवानन्दाभिव्यक्तिम् । यद्ेत्यादि । इदं 'गुणानां प्रेरकत्वे ही'त्यर्धस्य व्याख्यानम् ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

एतदिति, योगाभ्यसनम्—इदं सर्वद्वितीयाध्यायस्थानां 'स्थिरं सुख'मित्यादीनां तात्पर्यम्—

१. ज्ञानफलमिति । नित्यनिरतिशयितैवानन्दाभिव्यक्तिः । २. मूले अग्रे गत्वेति । लिङ्गं संरक्ष्याग्रे त्यजेदित्यर्थः । ३. सूक्ष्मे तदा म इति । तादृशे चित्ते यदा भक्तिः, तदा मनः सूक्ष्मे विशते । ४. सोऽपीति । उपासकोऽपीति । ५. तस्येति, विराजः ।

मनोमय्या अपीति । अत्राष्टाङ्गे योगे ध्यानमेव प्रसाधकं विषयप्राबल्यात् । ततः कैमुतिकन्यायः । श्रवणादिना तु स्वाभाविको भगवानाविर्भवतीति महानेव विशेषः । नन्वेवं कल्पनायां किं प्रमाणं ? तत्राह स्थूलेन भाविते चित्त इति । यतोऽयं ध्येयद्वयमाह । तत्राति यावन्न जायेतेति वाक्येन स्थूलध्यानस्य भक्तिशेषत्वमुक्तम् । सूक्ष्मज्ञानस्य च भक्तिसाध्यत्वेनैव फलसाधकत्वम् । तदाह भक्त्यभाव इति ॥ १४ ॥ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

अन्यदपि नियामकमस्तीत्याह सर्वस्येति—

निबन्धः—सर्वस्य भक्तिशेषत्वं तद्धेतुः श्रवणादिकम् ।
निर्वाहकं तदन्योन्यं तेन त्रयमुदीर्यते ॥ १८ ॥

प्रकाशः—'न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्थाः' इत्युपसंहारे भक्तिशेषत्वेनैव सर्वमुपसंहृतम् । तस्याश्च हेतुः श्रवणादिकं यद्यपि प्रत्येकमेव भक्तिसाधकं, तथापि तदन्योन्यनिर्वाहकम् । तेन त्रयमुच्यते । अन्योन्यनिर्वाहकत्वं टीकायां निरूपितम् ॥ १८ ॥

ननु श्रवणयोगयोर्विकल्पे किं सर्वदा श्रवणेन ? अन्ते योग एव साधनीयोऽल्पकालसाध्यत्वादित्याशङ्क्याह बहुकालविलम्बे त्विति—

निबन्धः—बहुकालविलम्बे तु सुगमं त्वेतदेव हि ।
अन्यथा पापसंवृद्धौ न त्यागे विशते मनः ॥ १९ ॥
अत्यागेऽपि हरिः प्रीतः स्वयं वा साधयेत्फलम् ।
एवं श्रीकृष्णभजनमध्यायद्वितयेन हि ॥ २० ॥
श्रवणादिभिरुक्तं हि नित्यमेतन्न चेतरत् ।

प्रकाशः—अन्तकालसन्देहे योगे प्रवृत्तो दुःखं प्राप्नोति श्रवणादौ तु सुखम् । अतः सुगमत्वात्पूर्वोक्तन्यायेनावश्यकत्वाच्च श्रवणं कर्तव्यम् । किञ्च, योगपक्षेऽपि

प्रसाधकमिति । यमादिपञ्चकं तस्याङ्गं, धारणा तु तस्यैवावस्थाभेदः, समाधिस्तु योग एवेति ध्यानप्रकर्षसाधकमित्यर्थः । उक्तमिति । तथा च तदेवैवं कल्पनायां प्रमाणमिति श्रवणादिमार्गो न व्यर्थ इत्यर्थः । नन्वस्तु स्थूलध्यानस्य भक्तिशेषत्वं, तथापि सूक्ष्मध्यानस्य तथात्वाभावाचेन योगस्य फलदत्वे व्यर्थैवेयं कल्पनेत्यत आहुः सूक्ष्मेत्यादि । तथा च भक्त्यभावे तदभावात्तस्यापि भक्तिशेषत्वमेवेति न श्रवणादिमार्गो व्यर्थ इत्यर्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

---

१. स्वाभाविक इति । अनेन विषयप्राबल्यमुक्तम् । २. भक्तिमन्तरा सूक्ष्मज्ञानस्य फलसाधकत्वरूपेण ।

श्रवणमावश्यकमित्याह अन्यथेति । श्रवणाभावे नित्यमुपचीयमानपापेन योगाङ्ग-त्यागो न भवेत् । श्रवणे तु न योगापेक्षेत्याह अत्यागेऽपीति । प्रथमप्रकरणार्थमुपसंहरति एवमिति । योगस्य गौणत्वाद्भक्तिमार्ग एवोपसंहृतः, तत्र हेतुं वदन् योगस्य गौणतामाह नित्यमेतदिति । श्रवणमेव मुख्यं, योगो न मुख्य इत्यर्थः । नियतफलसाधकं वा । अकरणे प्रत्यवायो वा । तव्यंप्रत्ययस्यापि लोके विधित्वाङ्गीकारात् ॥१९॥२०॥

एवमध्यायद्वयार्थं विचार्य तृतीयाध्यायार्थं विचारयति कामेन त्वन्यभजनमिति—

निबन्धः—कामेन त्वन्यभजनमस्मिन् कामोऽपि सिध्यति ॥२१॥

सर्वेन्द्रियाणां वैफल्यमसेवायां भविष्यति ।
निषिद्धार्थत्वसाम्येन द्वयमेकत्र चोदितम् ॥ २२ ॥
श्रोतुरुत्साहकथने मन्देहाच्छौनके कृतम् ।
भजने बाधनिर्धारो द्वयमेकत्र सिध्यति ॥ २३ ॥
यावत्प्रभोः स्वरूपं च गुणाः कर्मादयस्तथा ।
न सम्यगवगम्यन्ते तावद्भजनसंशयः ॥ २४ ॥

प्रकाशः—आवश्यकत्वाभावाद्बाधाभावाच्च नान्यभजनं प्राप्नोति, किन्तु कामे विद्यमाने तत्तद्विषयाधिकारिणां भजनं भवति । तन्महाप्रभोरपि भजने भवतीति ज्ञापयंति । प्रत्युताऽभजने सर्वेन्द्रियाणां वैफल्यं च । अतो भजनावश्यकत्वाय तृतीयाध्यायः । अनेन ज्ञानिनोऽपि देहेन्द्रियाणां वैफल्यं निरूपितम् । कामाभावेऽपीन्द्रियाणां सार्थकत्वाय भजनं कर्तव्यम् । तत्तदभिमानिन्यो देवता भगवत्सम्बन्धमप्राप्य

नियामकमिति, कल्पनानियामकम् । । शिष्टमतिरोहितार्थम् ॥ १९ ॥ २० ॥

एवमेकादशभिरध्यायद्वयार्थो निरूपितः, विषयस्यैक्यात् । अतः परं सार्धैस्त्रिभिस्तृतीयाध्यायार्थमाहुः एवमित्यादि—

बाधाभावादिति, तस्याकरणे भगवद्भजनबाधाभावात् । ननु ज्ञानवत इन्द्रियादिष्वात्मबुद्ध्यभावादिन्द्रियवैफल्येऽपि को दोष इत्यत आहुः कामाभावेऽपीत्यादि ।

---

१. श्रवणाभाव इत्यादि । 'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् । धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरदि'ति वाक्यात् । २. तव्यप्रत्ययस्येति तस्माद् भारते'ति पद्योक्तस्य । ३. ज्ञापयतीति । 'अकामः सर्वकामो वे'ति वाक्ये श्रीशुको ज्ञापयति तथा चास्मिन् भगवद्भजने काम एव न सिध्यति, किन्तु कामा मोक्षश्चेत्युभयं सिध्यतीति मूलार्थः । ४. वैफल्यमिति । 'श्वविड्वराहे'त्यादिश्लोकतात्पर्यम् ।

दुःखिताः सत्यो मोक्षे ज्ञाने वा विघातं कुर्युरिति भावः। आत्मभूतत्वेऽपि वैफल्यात्। यथा अकल्पोऽग्निं प्रविशति। अतः सर्वेन्द्रियैर्भजनं कर्तव्यमिति श्रद्धा निरूपिता। नन्वेकस्मिन्नध्याये कथमर्थद्वयनिरूपणं, देवतान्तरभजननिषेधो, भगवद्भजननिषेधश्चेति ? तत्राह निषिद्धार्थत्वसाम्येनेति। तृतीयाध्याये श्रोतुः श्रद्धा वक्तव्या। तत्र राजनि श्रद्धा निश्चिता। पूर्वस्कन्ध उत्तमाधिकारित्वेन निरूपणात्। शौनके सन्देहः। श्रोतुरुत्साहकथने वक्तव्ये शौनके सन्देहात्तत्रैव कृतं निरूपितमित्यर्थः। भजने बाधनिर्धारस्तु देवान्तरभजनरूपः। स साधारण इति शेषः। इन्द्रियाणां दुष्टत्वं च। द्वयमेकेनैव प्रकारेण सिध्यतीति, विधिमुखतया तृतीयाध्यायार्थः। देव-

---

ननु सिद्धज्ञानस्य तु नायमपि दोष इत्यत आहुः आत्मभूतेत्यादि। तथा च तत्रेन्द्रियवैफल्यमेव तस्यानीशत्वापादकमिति स एव तत्र दोष इत्यर्थः। निरूपितेति, सर्वमुक्त्वाग्रे 'एतावानेव यजता'मिति द्वाभ्यां श्रोतृप्रोत्साहनेन श्रीशुकैरेव निरूपितेत्यर्थः। एकस्मिन्नित्यादि। श्रोतृश्रद्धानिरूपकतया एकस्मिन्नध्याये कथं निषेधद्वयस्य प्रकारतेत्यर्थः। ननु श्रोतृश्रद्धाध्यायार्थः, सा तूत्साहनादेव सिद्धेति शौनकप्रश्नोपनिबन्धनस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः तृतीयेत्यादि। निरूपितमिति, श्रद्धालुत्वं निरूपितम्। तथा च श्रोतृमात्रे नान्यत्वरूपैव श्रद्धा फलोपकारिणी, न तु केवलश्रवणादरमात्ररूपेति ज्ञापनार्थं तत्कथनमित्यर्थः। ननु निषेधद्वयस्योत्तमश्रोतृश्रद्धायामस्तु प्रकारता, शुकदेवेन तद्द्वारा तत्प्रोत्साहनात्। जघन्ये कथं प्रकारतेत्यत आहुः भजन इत्यादि। साधारण इतीति। श्रद्धाद्वयेऽपि सर्वथापेक्षितः। चेति बाधकतया साधारणमित्यर्थः। ननु प्रकारतया विवक्षितस्य निषेधस्याप्रतीयमानत्वात्कथं तेन रूपेणाध्यायार्थतेत्यत आहुः द्वयमित्यादि। एकेनेति, अनन्यभजनरूपेण। विधिमुखतयेति। 'यजेत पुरुषं पर'मित्यस्य

---

१. तृतीयाध्याये 'सर्वेन्द्रियाणां वैफल्यमसेवाया'मिति कारिकाव्याख्याने आत्मवैफल्येऽपि वैफल्यादिति। अत्रात्मशब्देनेन्द्रियाणि। तेषां वैफल्यं, तत्तदिन्द्रियैर्भगवत्सम्बन्धाभावः। तदापि जीवस्य वैफल्याद् भगवत्सम्बन्धाभावाद्धेतोः, तृतीयाध्यायस्य भगवद्भजनावश्यकत्वार्थत्वं, एवं साध्येनान्वयः॥ अत्रोदाहरणं-अकल्पोऽग्निमिति। 'यदाकल्पः स्वक्रियाया'मित्यनेन अकल्पस्याग्निप्रवेशः, 'कल्पस्त्वेवं परिव्रज्ये'त्यनेन कल्पस्य संन्यास उक्तः। अत्र देहस्य फलं सर्वसंन्यासपूर्वकं देहेन साध्यानुष्ठानम्। तत्सामर्थ्याभावे सति न सिध्यति। तदा जीवस्यापि संन्यासफलं न स्यादिति यथा देहवैफल्ये जीवस्य वैफल्यं, तथेन्द्रियाणां भगवत्सम्बन्धाभावेऽपि जीवस्य भगवत्सम्बन्धरूपं फलं न स्यादित्यर्थः।

२. अत्रैवाग्रे 'भजने बाधानिर्धार' इति कारिकाव्याख्याने विधिमुखतया तृतीयाध्यायार्थ इति। तृतीयाध्यायार्थः श्रोतुः श्रद्धा सा पूर्वं प्रकरणार्थोक्तौ पर्यवसानार्थं 'सान्यसेवा बहिर्मुखे'त्यनेन निषेधमुखेन निरूपिता। अत्र तु भजने बाधनिर्धार इत्यनेन श्रोतुः साक्षादेव भगवति श्रद्धा निरूपिता। शुकेन श्रोतुः प्रोत्साहनार्थं 'ब्रह्मवर्चसकाम' इत्यारभ्य 'यजेत् पुरुषं पर'मित्यन्तेऽन्यभजने क्रियमाणे भगवद्भजनं बाध्यते, भगवद्भजनेऽन्यभजनं बाध्यत इति निरूपितम्। शौनकेन तु इन्द्रियदोषो भगवद्भजनबाधकः, भगवद्भजनं च तद्बाधकमिति निरूपितम्। तद्देवतान्तरभजनमिन्द्रियदोषश्च, अन्योन्यहेतुभूतं भगवद्भजनबाधकमिति समुदितेनाध्यायेन व्यासेन निरूपितमिति।

तान्तरभजनमिन्द्रियदोषश्च बाधक इति । इन्द्रियदोषे च देवतान्तरभजनम् । अन्यभजने चेन्द्रियदोष इति । नन्वेवं शौनकस्य भजनावश्यकत्वज्ञाने सिद्धे किं प्रश्नेनेत्याशङ्क्याह यावत्प्रभोरिति । स्वरूपाद्यज्ञानेऽपि भजनं न सिध्यतीति तदर्थं प्रश्नः ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

एवं शौनकोत्साहं निरूप्य राज्ञोऽप्युत्साहं चतुर्थाध्यायादौ निरूपयतीत्याह भजनार्थमिति—

निबन्धः—भजनार्थं समुत्साहो ममतानाशपूर्वकः ।
त्यक्तोऽपि विषायोऽन्तःस्थो ज्ञानादेव निवर्तते ॥ २५ ॥
तत्त्यागपूर्वकः प्रश्नः कृतः स्वोत्साहबोधकः ।
नमनेनैव निर्धारं सामान्येन शुको जगौ ॥ २६ ॥

प्रकाशः—प्रश्नात्पूर्वं ममतानाशो निरूपितः, स सामान्यतः श्रद्धाप्रतिपादकः । ननु पूर्वमेव प्रायोपवेशनात् त्यक्ता राज्यादौ ममता, कथं त्विदानीं पुनस्त्याज्येत्याशङ्क्याह त्यक्तोऽपीति । ज्ञानं सर्वं हरिरिति । स एव भजनीय इति वा । उत्तमयोर्द्वितीय इति स्वोत्साहबोधक इत्युक्तं ज्ञानमात्रं प्रथमे । परित्यागसहितं द्वितीय इति । स्वाधिकारानुसारेण शुकस्योत्तरं नमनादिवाक्यैरुच्यते । नमनप्रार्थनाभ्यां चोत्साहोऽपि सिध्यति ॥ २५ ॥ २६ ॥

विधेः परिसङ्ख्यारूपेण द्वारतया । मूलस्य बाधपदस्य 'करणाधिकरणयोश्चे'ति करणार्थकत्वबोधनायाहुः बाधक इति । ननु करणव्युत्पन्नस्य बाधकपदस्य कथमुभयसङ्ग्राहकतेत्यपेक्षायामाहुः इन्द्रियेत्यादि । चद्वयमवधारणार्थकम् ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

एवं सार्धैस्त्रिभिस्तृतीयाध्यायार्थ उक्तः । अतः परं सार्धाभ्यां चतुर्थाध्यायार्थं वदन्तः प्राथमिकानामेकादशश्लोकानां पूर्वशेषित्वेऽप्युत्तरशेषत्वाच्चतुर्थाध्यायारम्भे तदुक्तिरित्याशयेनाहुः एवमित्यादि—

तत्राद्यानां सूतोक्तानां चतुर्णामर्थमाहुः—प्रश्नादित्यादि । द्वितीय इत्यादि । भजनीयत्वज्ञानपूर्वकः प्रश्नः, इति हेतोः, स्वोत्साहबोधकः, स्वस्य स्नेहेन श्रवणे य उत्साहो हर्षस्तद्बोधक इत्युक्तमित्यर्थः । अतः परं शुकवाक्यतात्पर्यं वदन्तोऽधिकारप्रकरणसमाप्तिबोधनाय तस्याधिकारस्योत्तमतायाः स्फुटीकरणाय चाहुः—ज्ञानमात्रमित्यादि । तथा च प्रथमे वक्तृत्वस्याभिमान उत्तरत्वेनोक्तकथनात्[1] शुकस्य तु नमनादिवाक्यैरेव कथनात्तदभिमानाभावो व्यासपादैर्बोधित इति परमवैराग्यसाहित्यादुत्तम इत्यर्थः । नन्वेतेन सर्वज्ञत्वविरक्तिसिद्धे शेषे द्वे कथं सिध्यत इत्यपेक्षायामाहुः नमनेत्यादि । उत्साह इति, कीर्तनोत्साहः । तथा च भगवन्नमनप्रार्थनाभ्यां भक्तत्वं, व्यासनमनेन श्रुतभागवतत्वं च बोधितम् । इति सर्वोऽप्यधिकार एतेन सिद्ध इत्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥

---

१. उत्तरकथनादित्यपि पाठः ।

उपसंहरति एवमुत्साहेति द्वाभ्याम्—

एवमुत्साहसंसिद्धिर्विश्वासार्थं कथावचः ।
एतज्ज्ञानं भागवतश्रवणादेव नान्यथा ॥ २७ ॥
इति नारदसन्देहो ब्रह्मवाक्यं तथोच्यता ।
विमर्शोऽपि ततः सिध्येदुत्पत्त्या सा त्रिधा मता ॥ २८ ॥

प्रकाशः—सर्वेषामेवोत्साहः सिद्धः । स्वत एव प्रमेयकथनं परित्यज्य ब्रह्मनारदसंवादक्षेपोऽपि विश्वासार्थः । तत्रापि नारदस्य प्रश्न एवं ज्ञापयतीत्याह एतज्ज्ञानमिति । सर्वशास्त्रार्थनिर्धारः सामान्येनोक्तोऽपि न सम्यगवगम्यते भागवतश्रवणव्यतिरेकेणेति सर्वज्ञस्यापि नारदस्य प्रश्नः। अत एव ब्रह्मणोऽप्युत्तरम् । अन्यथा परीक्षकवचनमिवोपेक्ष्यं स्यात् । तयोर्वचनानुवचनेनैव पूर्वोक्तस्यापि विमर्शः सिध्यति । एवमध्यायत्रयस्योत्पत्त्या विमर्शोऽर्थ इत्युक्त्वा तस्य प्रकरणस्याध्यायत्रयात्मकत्वे हेतुं वदन्नध्यायार्थान् विभजते सा त्रिधा मतेति ॥ २७ ॥ २८ ॥

तामेवाह अनित्य इति—

निबन्धः—अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः ।
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकटयं सत्त्वतः स्वतः ॥ २९ ॥
सूक्तार्थकथनं मध्ये भजनार्थं हि सर्वथा ।

प्रकाशः—नित्यापरिच्छिन्नतनावपि द्वेधा प्राकट्यम् । आवेशित्वेनावतारत्वेन

प्रत्याहारन्यायं प्रकरणसमाप्तिं च बोधयन्ति द्वाभ्यामित्यादि ।

अत्र सर्वेषामितिपदं प्रत्याहारन्यायबोधकम् । 'एतदेवे'तिश्लोकतात्पर्यमाहुः स्वत इत्यादि । एवं सार्धाभ्यां चतुर्थाध्यायार्थ उक्तः । अतः परं षड्भिः पञ्चमाध्यायार्थं तृतीयप्रकरणस्यावान्तरप्रकरणार्थं चाहुः तत्रापीत्यादि । तत्रापीति, पञ्चमाध्यायारम्भेऽपि । अत एवेति, एतज्ज्ञापनायैव । चतुर्थ्यास्तसिः । उत्तरस्य कथं तथात्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः अन्यथेत्यादि । पूर्वोक्तस्य सर्वरूपत्वस्य, व्यतिरिक्तरूपत्वस्य च ॥ २७ ॥ २८ ॥

तामिति, त्रिरूपां विधाम्—

आवेशित्वेनावतारत्वेन चेति । इदं 'सत्त्वत स्वतः' इत्यस्य व्याख्यानम् । सत्त्वं सत्ता अयसि वह्नेरिव सङ्क्रान्त्या विद्यमानता, तेन स्वं स्वेच्छया प्रादुर्भूतं भगवत्स्वरूपं

च । अनेन लोकेऽपि वस्तूत्पत्तिनिर्धारेण भजनं निर्धारितं भवति । अन्यकृता या काचिन्मूर्तिः प्रथमा, स्वात्मानमावाह्य भजनं द्वितीया, स्वत आविर्भूता तृतीयेति । तत्रापि नित्यस्थितावतारः । कादाचित्के त्वावेशः । विशेषोऽपि टीकया ज्ञातव्यः । इममर्थं सूचयति सूक्तार्थकथनं मध्य इति । प्रथमभजनं लौकिकं, द्वितीयं वैदिकं, तृतीयमान्तरानुभवासिद्धमिति ॥ २९ ॥

निबन्धः—तन्मूलत्वाद्धि सर्वस्य तज्जे तद्रूप एव च ॥ ३० ॥

मूलभक्त्यैव भजनमतः प्राकट्यसङ्कथा ।

तस्यापि मूलं कृष्णस्तु विमर्शो तस्य साधनम् ॥ ३१ ॥

माहात्म्यं च स्वरूपं च द्वयं तत्रैव रूपितम् ।

अनेन फलसिद्धिर्हि बहूनामिति कीर्तितम् ॥ ३२ ॥

तावन्मात्रत्वकथनमन्येषां वारयत्यपि ।

प्रकाशः—मध्यमभजनं च द्विरूपम् । वेदे सिद्धप्रकारेण ब्रह्मानुभवरूपं यज्ञरूपं

तेनेत्यर्थः । आवेशेऽपि विधाद्वयं पूर्वस्कन्धनिबन्ध उक्तम् । सत्त्वगुणजन्यशरीरस्य शुद्धमिश्रभेदेन द्वैविध्यात् । उत्पत्तित्रैविध्यकथनस्य फलान्तरमाहुः अनेनेत्यादि । अनेनेति, अध्यायत्रयेणोत्पत्तित्रयकथनेन । नन्वन्यनिर्धारेण कथमन्यस्य निर्धार इत्यत आहुः अन्येत्यादि । प्रथमेति, उत्पत्तिमती । भजनमिति, यत्रेति शेषः । सप्तम्यन्तो वा पाठः । तथा चावाह्या मूर्तिर्द्वितीयेत्यर्थः । स्वत आविर्भूतेति, वेङ्कटेशादिस्वरूपा । तत्रापीति, स्वत आविर्भूतेऽपि । तत्राविर्भावावेशौ पूजाप्रवाहतदभावाभ्यां ज्ञातव्यौ, सर्वनिर्णयोक्तस्वारस्यात् । नन्वेवं वस्तूत्पत्तिनिर्धारणे मूर्तिरूपनिर्धारो भवति, कथं भजननिर्धार इत्यत आहुः इममित्यादि । मध्य इति । प्रकरणं मध्यमे[1] षष्ठेऽध्याये । तथा च मूर्तित्वज्ञाने तत्त्वमध्यपातात्कार्यरूपविषयिणी तत्कृतिरिति तस्य भजनस्य लौकिकत्वम् । तत्रावाह्यत्वज्ञाने परिच्छेदनित्यत्वयोः स्फूर्त्या अंशत्व एव पर्यवसानान्मध्यमत्वं, वैदिकत्वं तु वाक्यात्प्राप्तेः स्फुटमेव । 'मदुद्धाराय कयाचिद्विधया प्रादुर्भूत' इत्यादिरूपेण अनुभावादिविषयेण च सिद्धत्वे उत्तमत्वमित्येवं भजनस्वरूपनिर्धारो द्वयोर्मध्ये सूक्तार्थभूतनित्यपरिच्छिन्नकथनेनोत्तरस्योत्कृष्टताज्ञापनात्सूचितो[2] भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

एवं पञ्चमषष्ठयोरर्थमुक्त्वा सप्तमस्य वदन्ति मध्येत्यादि । इदं 'तन्मूलत्वा'द्धिति

---

१. प्रकरणमध्यमे षष्ठ इत्यपि पाठः समीचीनोऽयम् । २. नोक्तस्येत्यपि पाठः ।

था। तत्र यज्ञरूपं तज्जम्। भक्तिमार्गेण भजनं मूलभक्त्यैवेति पुरुषोत्तमभक्तिसिद्ध्यर्थं प्राकट्यकथैवोक्ता सर्वत्रावतारेषु। अवताराणामपि मूलं कृष्ण इति बोधयितुं विमर्शे कृष्णस्य पुरुषोत्तमत्वं च साध्यते। अन्यथा साधनमनुपपन्नं स्यात्। अवतारान्तरवच्चरित्रमात्रमेव वक्तव्यं स्यात्। तत्र सिद्धमाह माहात्म्यमिति। 'इतरथार्जुनयोर्न भाव्य'मित्यादिना माहात्म्यम्। 'सितकृष्णकेशो यस्यांश' इति स्वरूपम्। कथापि तत्र निरूप्यत इति शङ्कां वारयति द्वयमिति। ननु 'ये च प्रलम्बे'त्यादयः सङ्क्षेपेण कथाश्रिताः कथार्थमेव निरूपिता इत्याशङ्क्याह अनेन फलसिद्धिरिति। कृष्णेनैव मोक्ष इत्यर्थः। गणनायाश्च प्रयोजनमन्येषां मोक्षनिवृत्तिः॥३०॥३१॥३२॥

एवमुत्पत्त्या विचारमुक्त्वा उपपत्त्या विचारार्थमध्यायत्रयमाह उपपत्त्येति—

निबन्धः--उपपत्त्या विचारोऽपि त्रिधा शङ्कोत्तरे फलम्॥ ३३॥

ब्रह्मणोऽपि हरिर्मूलमुपपत्तिः कथागता।
प्रदर्श्य कथनात्तस्य न मूलान्वेषणं मतम्॥ ३४॥
उक्तेऽर्थेऽनुपपत्तिश्च शिष्टप्रश्नस्तथैव च।
आक्षेपस्य समाधानमन्यत्स्थूलेऽतिदिश्यते॥ ३५॥
तस्मात्स्थूलश्रुतिः सिद्धा तत्स्वरूपमतः फलम्।
रूपतश्चाथतश्चैव तत्स्वरूपनिरूपणम्॥ ३६॥
लक्षणोक्त्या स्वरूपस्य त्रैविध्यं चार्थतः स्फुटम्।
आनन्त्याद्धि विशेषस्य स्थूले कथनतोऽपि च॥ ३७॥

प्रकाशः—अध्यायार्थान् विभजते शङ्कोत्तरे फलमिति। नन्वस्योपपत्तित्वं कथम्?

कारिकाव्याख्यानम्। तज्जमिति। लौकिके व्रीह्यादौ मोक्षणादिनालौकिके पदार्थे सन्निधापिते यज्ञो निर्वर्त्यत इति तथेत्यर्थः। ननु नारदप्रश्नोत्तरस्य द्वाभ्यामेव सिद्ध्यावतारानुक्रमादेः किम्प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः भक्तीत्यादि। कथं साध्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः तत्रेत्यादि। स्पष्टमग्रिमम्॥ ३०॥ ३१॥ ३२॥

एवं षड्भिरुत्पत्तिप्रकरणं विवृतम्। अतः परं शिष्टैः सार्धसप्तभिर्द्वितीयं विचारयन्ति एवमित्यादि—

शङ्केत्यादि। अत्राध्यायार्थविभागे अष्टमाध्यायस्याक्षेपकयुक्तिमत्त्वादुपपत्तिप्रकरणे

तत्राह ब्रह्मणोऽपि हरिर्मूलमिति। एषोपपत्तिः कथागता सामान्यतो मूलमित्यर्थः। सर्वस्य भगवत्त्वे भगवानेव वक्ष्यति 'अहमेवासमेवाग्रे' इति। ननु तस्यापि मूलान्तरमन्वेषणीयमिति कथमुपपत्तिरूपतेत्याशङ्क्याह प्रदर्श्य कथनात्तस्येति। भगवान् स्वस्य रूपं प्रदर्श्य पश्चात्स्वस्वरूपमाह। तेन सन्देहो नोत्पन्न इति न मूलान्तरापेक्षा। एतस्य प्रकरणस्योपपत्तित्वसाधने हेत्वन्तरमाह उक्तेऽर्थेऽनुपपत्तिश्चेति। योर्थ उत्पत्त्या निरूपितः स पुनः पूर्वपक्षीक्रियते। तत्सिद्ध्यर्थमप्यन्यान्यपि पृच्छयन्ते। आक्षेपस्य च वक्ता समाधानं करोति। अन्येषां चोत्तरं न प्रयच्छति। अन्यथा कथापक्ष एव स्यात्। तेषामपि परम्परोपयोगोऽस्तीति स्थूले भागवते तस्योत्तरमित्याह अन्यत्स्थूल इति। अनेनोपपत्त्यैव यत्सिद्धं तन्निरूपितमित्याह तस्मात्स्थूलश्रुतिरिति।

निवेशः। नवमस्य सिद्धान्तयुक्तिमत्वात्। तृतीयस्य फलाख्ययुक्तिमत्त्वादेत्यर्थः। फलस्य युक्तित्वं तात्पर्यनिर्णायकत्वाद् बोध्यम्। नन्वस्येत्यादि। पूर्वप्रकरणाध्यायेषूत्पत्तेः स्फुटत्वाद्युक्तमुत्पत्तिप्रकरणत्वम्। अत्र नवमे युक्तेरदर्शनात्कथमित्यर्थः। एषेत्यादि। ब्रह्मणः सर्वरूपत्वस्य पूर्वप्रकरणे नारदेनोक्तोर्णनाभिदृष्टान्तेनोक्तत्वात्तस्यापि भगवानेव मूलं चेत्सैवोर्णनाभिदृष्टान्तसिद्धा उपपत्तिर्मुखतो कथनादस्फुटापि कथासन्दर्भवशादवगता। पटस्य कार्पासमिव सामान्यतो हरिरेव मूलं उपादानं कारणमित्यर्थः। ननु मूलत्वमाधारत्वं, तथापि सम्भाव्यते यथा पादमूलमिति, तथा निमित्ततयाऽपि यथा 'कृष्णा मूलमनर्थानामि'ति। तथा अवश्यापेक्ष्यतयापि यथा 'धनमर्जय काकुत्स्थ धनमूलमिदं जगदि'ति। अतो न तावन्मात्रेण निर्णयः। तथा सत्यूर्णनाभिदृष्टान्तवाक्येऽप्यक्रम इतिविशेषणात्तावन्मात्र एव दृष्टान्तस्य नियन्तुं शक्यत्वाच्चेत्यत आहुः सर्वस्येत्यादि। वक्ष्यतीति, उपपत्तिं वक्ष्यति। तथा चैतदनुरोधेनोर्णनाभिदृष्टान्तोऽपि पूर्णो, न तु तावन्मात्र इति पूर्वोक्तयुक्तिरुपादानत्वे उपपत्तिर्निष्प्रत्यूहेत्यर्थः। अन्वेषणीयमिति। ब्रह्मसूत्रेषु 'परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशभ्य'[1]इतिवदन्वेषणीयम्। नोत्पन्न इति। तथा चेदानीन्तनानामुत्पद्यमानो भ्रान्तिमूलक एव, न शास्त्रविप्रतिपत्तिमूलक इत्यतो नान्विष्टमित्यर्थः। अन्यथेति, सर्वमुत्तरोक्तौ। तथा च तस्मादपि हेतोः प्रकरणस्योपपत्तित्वमित्यर्थः। नन्वन्येषामुत्तरादाने वक्तुरज्ञानं वा श्रोतुरन्याभिनिवेशादवैराग्यं वा स्फुटीभवतीति नानयोपपत्तित्वसिद्धिरित्याशङ्कायामाहुः तेषामपीत्यादि। को वा उपयोग इत्यपेक्षायामाहुः अनेनेत्यादि। निरूपितमिति, स्थूले निरूपितम्। तथा चोपपत्तित्वसाधन एव तस्याप्युपयोग इत्यर्थः। तस्याप्युपयोग्यस्यान्यत्फलमाहुः दशेत्यादि। 'इदं तत्स्वरूपमतः फल'मिति चतुर्थपादस्य

---

१ 'यावान् कल्पो विकल्प' इत्यादिना कल्पादिसूत्राणि। 'व्यपदेशादि'ति पाठः।

दशलक्षणं भागवतं श्रोतव्यमिति सिद्धम्। अतः फलाध्याये भागवतस्वरूपमेव निरूपितम्। तेन सर्वदा क्रियमाणैर्वा भागवतं श्रोतव्यमिति भागवतं फलत्वेन सिद्धम्। अतस्तस्य फलाध्याये रूपतश्चार्थतश्च स्वरूपनिरूपणम्। तदेव कथमित्याकाङ्क्षायामाह लक्षणोक्त्येति। दशलीलानां लक्षणकथनेन भागवतस्वरूपमुक्तम्। आध्यात्मिकादिभेदेनार्थस्यापि त्रैविध्यं स्फुटम्। नन्वर्थतः स्वरूपतो निरूपणे किं पुनः स्थूलं भागवतं श्रोतव्यमित्याशङ्क्याह आनन्त्यादिति। त्रयाणां विशेपस्यानन्त्यान्नात्र निरूपणम्। स्थूले च विशेपेण निरूपणम्। अतो लक्षणत्वेनैवात्र निरूपणं, विशेषतो ज्ञानं स्थूलभागवत एव ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

दशमाध्याये सिद्धमर्थमनुवदति सार्थकं च सुरूपं चेति—

निबन्धः—सार्थकं च सुरूपं च तस्माच्छ्रोतव्यता स्थिता।
तस्यांशश्रवणे चापि निःसन्देहफलं च तत्॥ ३८ ॥
तादृशार्थस्य सम्प्रश्नः कथाक्षेपार्थमुच्यते।
विघ्नसन्देहतः शीघ्रं स्वकृतार्थत्वसिद्धये ॥३९॥
शौनकस्य हि सम्प्रश्नः शुकोक्तिश्चापि तादृशी।
अतः सर्वोत्तममिदमिति वक्तुं तथा वचः ॥ ४० ॥

प्रकाशः—चकारात्फलरूपोऽप्यर्थो भगवत्प्रसादलक्षणः सङ्गृह्यते। द्वितीयचकारेण शब्दतोऽप्युत्तमता। एवं मुखतो माहात्म्यमुक्त्वा कैमुतिकन्यायेनापि माहात्म्यं वक्तुं स्थूलश्रोतारं विदुरमाक्षिपतीत्याह तस्यांशश्रवणे चापीति। लीलाद्वयश्रवणेनापि सम्पूर्णफलं सिध्यति, अतः शौनकेन विदुरकथा पृष्टा। 'यावतः कृतवान् प्रश्नान्' इति पूर्वं श्रुतत्वात्। 'यथा पुरस्ताद् व्याख्यास्ये' इतिस्थूलकथनप्रतिज्ञायां भा-

चव्याख्यानम्। अतः परं तत्र गमकं वदन्तो 'रूपतः फलत' इति कारिकां व्याकुर्वन्ति अतः फलेत्यादि। फलत्वेन सिद्धमिति, उपपत्तिविमर्शफलत्वेन सिद्धम्। तत एव दशमस्य फलाध्यायत्वं प्रकरणे प्रवेशश्चेत्यर्थः। तदेव कथमिति। ननु दशस्कन्धात्मकस्य स्थूलश्रीभागवतस्यैकेनाध्यायेन रूपतोऽर्थतश्च निरूपणं केन प्रकारेण ?। दशेत्यादि। तथा चैवं समासेन निरूपणमित्यर्थः। किं पुनरिति। प्रयोजनाभावात्कुत इत्यर्थः। स्थूलभागवत एवेति। तथा च आध्यात्मिकादीनां विशेषज्ञानस्य प्रयोजनस्य सत्त्वाच्छ्रोतव्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

१ 'श्रुतवान्' पाठः।

गवतं बहुधा प्रवृत्तमिति । यत्र शीघ्रं फलं तदेव कथयेति । कथाविशेषाक्षेपार्थं प्रश्न इत्यर्थः । शुकोपि तदेव वक्तुं प्रवृत्त इति सूतः शीघ्रमाह । अन्यथा विलम्बे शौनकः किञ्चिदन्यत्पृच्छेत्तदा स्वाभिप्रेतं न सिद्ध्येदिति । ननु शौनकः केनाभिप्रायेण तथा प्रश्नं कृतवान् ? तत्राह स्वकृतार्थत्वसिद्ध्ये शौनकस्य हि सम्प्रश्न इति । सर्वलीलाश्रवणं सम्भविष्यति न वेति । अयमेवाभिप्रायः शुकस्यापि । मध्ये राज्ञ उद्वेगे स्वस्य वा निमित्तान्तरापत्तौ वा कार्यं न सेत्स्यतीति सर्वोत्तमांशाक्षेपार्थमेव कथनम् । अतः सर्वोत्तममिदं वक्ष्यमाणं भागवतमिति फलितमित्यर्थः ॥ ३८ ॥ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितसप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणे द्वितीयस्कन्धार्थनिरूपणं समाप्तम् ।

आक्षिपतीति, निदर्शनत्वेनोपस्थापयतीत्यर्थः । आक्षेपार्थमिति, उपन्यासार्थम् । इदम्पदस्यैव व्याख्यानं वक्ष्यमाणमित्यादि ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

इति श्रीतत्त्वदीपप्रकाशावरणभङ्गे श्रीपुरुषोत्तमविरचिते द्वितीयस्कन्धविवरणं सम्पूर्णम् ॥



---

१ शीघ्रमिति । स्कन्धान्तरेऽनुपन्यस्य द्वितीयस्कन्ध एवोपन्यासात् शीघ्रपदं प्रयुक्तम् । इति द्वितीयस्कन्धलेखः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

अथ तृतीयस्कन्धार्थः ।

प्रकाशः—तृतीयस्कन्धनिबन्धनं चिकीर्षुरुक्तविवक्षितयोः सङ्गतिमाह अधिकारिष्विति ।

निबन्धः—अधिकारिषु साङ्गं हि श्रवणं सुनिरूपितम् ।
स्कन्धद्वयेन शेषेषु क्रियते विषयाभिधा ॥ १ ॥

प्रकाशः—अधिकारः प्रथमस्कन्धार्थः । साङ्गश्रवणविधिर्द्वितीयार्थः । तृतीयादिदशस्कन्धेषु श्रोतव्यविषयः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं दशानां साधारणमर्थमुक्त्वा तृतीयस्कन्धार्थमाह त्रयस्त्रिंशदथाध्यायास्तृतीये सर्गवर्णने इति,

निबन्धः—त्रयस्त्रिंशदथाध्यायास्तृतीये सर्गवर्णने ।
स्वाभिप्रेते सविशेषे स्वोपयुक्तार्थसंयुते ॥ २ ॥

एकदेशे सर्गप्रतिपादनव्यावृत्त्यर्थं 'त्रयस्त्रिंशदथाध्याया' इत्युक्तम् । सर्वेषां सर्ग एवार्थः "सर्गः कारणसम्भूतिः" इति वाक्यात् । सर्गश्च लौकिकालौकिकभेदेन द्विविध

अथ तृतीयस्कन्धप्रकाशावरणभङ्गः ।

श्रीकृष्णाय नमः । अथ तृतीयस्कन्धनिबन्धं व्याकुर्वन्तः प्रथमस्कन्धस्य हेतुतारूपां द्वितीयस्य विषयित्वरूपां शेषाणां विषयत्वरूपाञ्च सङ्गतिं स्फुटीकर्तुं प्रथमां कारिकां विवृण्वन्त्यधिकार इत्यादि ॥ १ ॥

एवमेकेन सङ्गतिरुक्ता । अतः परं सार्धत्रयेण स्कन्धार्थमाहुरेवं दशानामित्यादि । ननु स्कन्धार्थे वक्तव्ये प्रथमत एवाध्यायसङ्ख्याकथने किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुरेकदेश इत्यादि । "सर्गः कारणे"तिवाक्यं पुराणान्तरीयम् । तथा च, प्रत्यध्यायं तस्य तस्य कारणस्य सम्भूतेरुक्तत्वात्तथेत्यर्थः । नन्वेवं सत्यष्टाविंशतिसङ्ख्या युक्ता, न तु त्रयस्त्रिंशदित्यत आहुः सर्गश्चेत्यादि । तथा चैतानि कारणानि लौकिकरूपेणोत्पन्नानि लौकिकं देवत्वेनोत्पन्नानि च यज्ञं साधयन्तीन्येवं द्विविधसर्गसाधनात् सङ्ख्या युक्तैवेत्यर्थः । अत्र त्रयस्त्रिंशद्देवाः, "अग्निः, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यो, द्यौः, चन्द्रमाः, नक्षत्राणीति अष्टौ वसवः, दश प्राणाः, आत्मा, चेति एकादश रुद्राः, संवत्सरस्य द्वादश मासाः, आदित्याः, स्तनयित्नुः, पशवश्चेति, इन्द्रप्रजापती" इत्येवं बृहदारण्यकोक्ता ज्ञेयाः । 'स्तनयित्नु'पदेन मेघनादाभिमानी । 'आत्म'पदेन च मनो ज्ञेयम् । तत्र यज्ञप्रकरण एवोक्तत्वादेतेषां यज्ञसाधकत्वञ्च

---

१ "तथा" इति पाठः ।

इति । अलौकिके त्रयस्त्रिंशद्देवा सृष्टाः सन्तो यज्ञं साधयन्तीत्यविवादम् । लौकिकेप्यष्टाविंशतितत्त्वानि चतुर्विधभूतबीजानि कालश्चेति त्रयस्त्रिंशत्प्रकारा सृष्टिर्भवति । अत एव सर्गस्य विशेषणमाह स्वाभिप्रेत इति । न तु सर्गोऽयः कश्चित्सृष्टिसाधारणः । तत्र स्वाभिप्रेतः पूर्वमुक्तो लौकिकालौकिकभिन्नः । तत्रापि भगवद्रूपता सर्वत्रेति विशेषः । तत्रापि स्वोपयुक्तार्थसहितो मोक्षादिफलयुक्तः । जीवस्य हि द्विधा सृष्टिः, बहिः स्वरूपे च । बहिः सृष्टिर्लोके प्रसिद्धा । सा हि वस्तुतो जीवस्य नाशरूपत्वात्प्रलयो भवति । अतो मोक्ष एव मुख्यसृष्टिः । अधिकारिदेहव्यतिरेकेण स न भवतीति मोक्षार्थमुत्पत्तिरपि निरूप्यते । तत्र गृहस्थस्यैव मुक्तिः सन्दिग्धेति दम्पत्योर्मुक्तिनिरूपणम् । तत्र गृहस्थस्य

बोध्यम् । यज्ञस्य च "नायं लोकोस्त्ययज्ञस्ये'तिवाक्यात् फलोपयोगित्वम् । फलञ्चाभ्युदयनिःश्रेयसभेदेन द्विविधम् । तत्र वसूनां कर्मफलसाधकवस्त्वाश्रयत्वेन यज्ञोपयोगः[1] । रुद्राणां लोकान्तरगमनसाधकत्वेन, आदित्यानामायुर्हारकतया फलनियामकत्वेन, इन्द्रस्य दानदमदयाबोधकत्वेन, पशूनां यज्ञनिष्पादकत्वेन । तदत्र पञ्चप्रकरणैः सेत्स्यतीति तत्प्रकारं समासौ वक्ष्यामः । यैत्पुनर्द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यामष्टाविंशतितत्त्वानीत्युक्त्वा 'सर्गो द्विविधः, 'प्रत्येकसमुदायभेदेन । वैषम्यं त्रिविधं चतुर्विधं वा । प्रत्येकं विषमाः, समुदायेनापि विषमा भवन्तीति त्रयस्त्रिंशद्विधश्चतुर्स्त्रिंशद्विधो वे'त्युक्तम् । तत्र समुदायसर्गो यः सोऽलौकिकसर्गसङ्ग्राहकः, श्रौतानां देवानां सामुदायिकदेहाभिमानित्वात् । तदा स सङ्ख्याप्रयोजक एव, न तु घटको, यथात्र द्वौ, घटकस्तु प्रत्येकसर्ग एव । तदा वैषम्यचातुर्विध्येन सङ्ख्यापूर्त्तिः । यदा सोपि घटकस्तदा वैषम्यत्रैविध्यमिति न सङ्ख्याधिक्यम् । "चतुस्त्रिंशद्वे"त्युक्तिस्तु सर्गवैषम्याभ्यां कृतायां पूर्त्तावनादरसूचनाय । तेनात्रोक्त एव पूर्त्तिप्रकारो मुख्य इति सिद्धम् । तदेतदभिसन्धायाहुरत एवेत्यादि, अत एवेति । अत्रोक्तस्य प्रकारस्य तात्पर्यविषयत्वादेव यः कश्चिदिति । अव्याकृतं वा महान्तं वाऽऽरभ्योक्तः । स्वाभिप्रेत इति, द्वितीयस्कन्धे लक्षितो व्यासाभिप्रेतः । न "त्वव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः । भूतमात्रेन्द्रियार्थानां संभवः सर्ग उच्यत"[3] इति द्वादशस्कन्धे लक्षितः, तस्य पुराणान्तरसाधारण्यात् । "एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविद" इत्युपसंहारात्[4] । एतस्याभिप्रेतत्वे बीजं व्याकुर्वन्ति तत्रापीत्यादि, भगवद्रूपतेति । "यथा महान्ती"त्यत्रोक्तरीतिका तद्रूपता । एतादृशस्यैवाभिप्रेतत्वे किं बीजमित्यत आहुस्तत्रापि स्वोपयुक्तेत्यादि । स्वपदेन श्रोताऽत्र ज्ञेयः । ननु कथमस्यैव फलसाधकत्वमित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति जीवस्येत्यादि । नाशरूपत्वादिति । धात्वर्थविचारेण "तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति" इति प्रयोगेण चादर्शनरूपत्वात् । एतस्य

---

१ 'यज्ञोपयोगः' इति अध्याहार्यम्. २ स्कं० २-१०-४. ३ स्कं० १२-७-११. ४ स्कं० १२-७-२२.

शुक्तौ भगवत्सन्तोषः प्रयोजकः। तस्यापि[1] भक्तिः, ज्ञानं योगश्चाऽऽज्ञाकरणं च। तस्मादेतत्सर्वं सर्गमध्य इति स्वोपयुक्तार्थंत्युक्तम् ॥ २ ॥

प्रसिद्धिविरोधमाशङ्क्याह—लोके सर्गविसर्गाविति।

निबन्धः—लोके सर्गविसर्गौ हि यादृशौ नेह तौ मतौ ॥
किन्तु तौ सार्थकौ वाच्यौ तेन स्कन्धद्वयं ततम् ॥ ३ ॥

प्रकाशः—सार्थकौ पुरुषार्थपर्यवसायिनौ। तेनैकैका लीला स्वतन्त्रेति प्रत्येकमेकैकस्कन्धवाच्यता, तेन स्कन्धद्वयविस्तरः ॥ ३ ॥

तत्रापि मैत्रेयविदुरसंवादप्रकारेण लीलाकथनमुचितमित्याह—लीलाद्वयस्येति।

निबन्धः—लीलाद्वयस्य श्रवणात्सिद्धः क्षत्ताऽधिकारतः।
किं पुनः सकलश्रोतेत्यतस्तस्य कथा ततौ ॥ ४ ॥

प्रकाशः—सर्गलक्षणमाह तत्रेति।

निबन्धः—तत्र सर्गो रजोभाजो लीला कारणजन्मदा।
देवस्य तु द्विरूपत्वात्कारणानां त्रिरूपतः।
पञ्चधा सा स्वतो द्वेधा बन्धमोक्षविभागतः ॥ ५ ॥

प्रकाशः—"भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः। ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्"

मोक्षार्थत्वे गमकमाहुस्तत्रेत्यादि, तस्यापीति। सन्तोषस्यापि प्रयोजकमिति शेषः। तथा च जीवमोक्षोपयोगिसृष्टिनिरूपकत्वादस्याभिप्रेतत्वमित्यर्थः। एतेनाध्यायार्थानां परस्परं हेतुता प्रयोजकताऽङ्गतादिकं यथासम्भवं सङ्गतिरित्यपि बोधितम् ॥ २ ॥

प्रसिद्धिविरोधमाशङ्क्येति। ननु श्रीभागवतस्य सर्ववेदेतिहाससारत्वात् पुराणान्तरे यथा सर्गप्रतिसर्गावेकत्रैवोच्येते, तथैवात्रापि वक्तव्यौ, देहापादकत्वसामान्यात्। तयोर्भिन्नतया कथने तु तत्प्रसिद्धिविरोध इति तमाशङ्क्येत्यर्थः। समाधानग्रन्थस्तु प्रकटार्थ इति न व्याख्यायते ॥ ३ ॥

ननु तथापि संवादान्तरोपक्षेपस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुस्तत्रापीत्यादि। उचितमिति फलार्थोपोद्धतत्वादुचितम् ॥ ४ ॥

तत्रेत्यादि। एतेन 'भूतमात्रे'ति 'रजोभाज' इतिवाक्ययोर्विरोधः परिहृतः। भूतमात्रेत्यादि[2] एतेन लक्षणद्वयस्यापि विसर्गेतिव्यासत्वं 'सर्गः कारणसम्भूतिरि'ति तृतीयवाक्यस्थकारणपदमादाय परिहृतं बोध्यम्। तेन लक्षणत्रयमपि सङ्गतमिति साधितम्। ननु रजसैव

---

१ "भक्तिज्ञानं" इतिपाठः। २ तथा।

इति मूले लक्षणम्। तत्र गुणवैषम्यं रजसैव, तस्यैव सृष्टिकारणत्वात्। ब्रह्मण इति सन्देहाभावाय। भगवत इति भूतमात्रेन्द्रियधियो देहरूपाः; कार्या अपि भवन्तीति कारणजन्मदा लीलेत्युक्तम्। एवं व्याख्यानस्यार्थान्तरमभिप्रेतम्। रजोभाजोपि लीलासृष्टिर्मुख्यब्रह्मणोपि लीला। कालत्वेन कालस्यापि सृष्टिर्लीला। जीवोपि-कारणमिति तस्यापि स्वरूपस्थितिः सृष्टिप्रयोजनत्वेन सर्गमध्यपातिनी भवति। अगुणवैषम्याद्ब्रह्मणोपि जन्मेति व्याख्यानार्थं कारणानां जीवानां जन्म द्यति खण्डयतीति व्याख्यानम्। अतः प्रकरणानि विभजते, देवस्य तु द्विरूपत्वादिति गुणातीतसगुणभेदेन कारणानां तत्त्वजीवानां त्रयो भेदास्तेन पञ्चधा पञ्च प्रकरणानि भवन्ति। एकप्राधान्येऽन्यस्य विभूतित्वमिति स्थितिः। यथा तत्त्वसृष्टिर्गुणातीतविभूतिः, यथा सगुणसृष्टिर्विसर्गरूपा ब्रह्मप्रभृतीनामुत्पत्तिः, यथा वा दशविधा लीला कालस्य सृष्टिः, यथा तत्त्वानां लीला गुणसृष्टिः साङ्ख्यप्रकरणोक्ता, यथा जीवसृष्टिर्मतान्तरभाषया, एवं पञ्चविधापि लीला सर्गरूपा बन्धमोक्षविभेदेन द्विरूपा,

---

सर्गविसर्गयोः सम्भवे द्वयोरपि लौकिकत्वमेव सेत्स्यति न त्वलौकिकत्वमपीति, कथं तयोः फलपर्यवसायित्वमिति शङ्कायां सर्गलक्षणवाक्यत्रयविचारिते यत् सिद्ध्यति तदाहुरेवमित्यादि; अभिप्रेतमिति, शास्त्रकाराभिप्रेतम्। मुख्यब्रह्मण इति, "रजोभाजो भगवत" इति वाक्यस्थ-भगवत्पदस्यार्थः। तत्रत्यं लीलापदं व्याख्यातरीतिकलीलाचतुष्टयसङ्ग्राहकम्। मुख्यब्रह्मलीला-व्याख्यानाय अगुणवैषम्यादिति। एतेन श्रौती क्रमसृष्टिरपि सङ्गृहीता। तत्रापि द्यतीतिपदं "कारणसम्भूतिरि"ति वाक्यस्य सम्यक्त्वव्याख्यानरूपम्। एवं व्याख्याने बीजन्तु तत्तदध्यायादिषु तत्तन्निरूपणार्थापत्तिरेव। द्वितीयस्कन्धोक्तं लक्षणञ्च द्विविधसृष्ट्यङ्गीकारे बीजम्। अत्र च रजोभजने करणतया गुणवैषम्यस्य व्यापारतया भूतादिजन्मनः फलतया स्कन्धार्थत्वं बोध्यम्।

एवं सार्धत्रयेण स्कन्धार्थ उक्तः। स एव प्रकरणविभागे बीजमित्याशयेनाहुरत इत्यादि, विभजते इति। त्रयोदशभिर्विभजते। नन्वेकस्य प्रकरणेऽन्यस्यापि निरूपणदर्शनादयं प्रकरणविभागो न युक्त इति शङ्कायामाहुरेकेत्यादि। विभूतित्वमिति शेषत्वम्। एतदेवोदाहृत्य स्फुटीकुर्वन्ति यथेत्यादिना। तत्त्वसृष्टिरिति, पञ्चमाध्यायोक्ता। सगुणसृष्टिरिति सगुणविभूतिः। दशविधलीलेति, दशमाध्यायोक्तो दशविधः सर्गः कालविभूतिः। गुणसृष्टिः साङ्ख्यप्रकरणोक्तेति विंशाध्यायोक्ता महदादिसृष्टिः। जीवसृष्टिर्मतान्तरभाषयेति, चतुर्दशादिषडध्यायोक्ता मुक्तजीवसृष्टिर्मुक्तजीवविभूतिरित्यर्थः। एवमिति। कर्तृद्वैविध्येन कारणत्रैविध्येन च द्विरूपेति, स्वरूपतो द्विरूपा। ननु बन्धस्य देहस्वीकारात्मकस्यात्र प्रसिद्धत्वादत्र बन्धलीला युज्यते, मोक्षस्तु तत्त्यागरूपो नात्र दृश्यते। का वा मोक्षलीलेत्याकाङ्क्षायां तां स्फुटी-

सगुणस्य मोक्षलीलायोगः, गुणातीतस्य ज्ञानं, कालस्य भक्तिः, तत्त्वानां मोक्षः, जीवस्य वैराग्यमिति । तस्मादर्थभेदेन दशप्रकरणानि भवन्ति । तदाह बन्धमोक्षविभागत इति ॥ ५ ॥

तान् भेदान् स्पष्टयति गुणातीतादिति ।

निबन्धः—गुणातीतात्सृष्टिरेका सगुणाद् ब्रह्मणोऽपरा ॥६॥
कालो जीवस्तथा नाम तत्राऽपीशेच्छया भवः ।

प्रकाशः—तत्त्वानां वक्तव्यत्वेपि नामसृष्टेः परिग्रहार्थं नामेत्युक्तम् । तेषां पूर्ववत्स्वातन्त्र्यं वारयति तत्रापीशेच्छया भव इति न केवलं कालादेः ॥ ६½ ॥

ननु सर्गे भूम्युद्धारस्य कुत्रोपयोगस्तदाह सर्वाधारस्वरूपा या इति ।

निबन्धः—सर्वाधारस्वरूपा या तदर्थं भुव उद्धृतिः ॥ ७ ॥
मुक्तोऽपि जायते जीव इति शापकथा तता ॥ ७½ ॥

प्रकाशः—भूम्युद्धारः सर्वसृष्ट्युपयोगी सर्वेषामाधारभूतः साधारणः । तेन बन्धलीलान्ते निरूपितः । जीवप्रकरणं व्यर्थमित्याशङ्क्याह मुक्तोपि जायत इति । मुक्तिगौणीति केचित् । वस्तुतस्तु सनकादयो मुक्ता एव पूर्वं सिद्धज्ञाना एवोत्पन्ना, अग्रे ज्ञानोपदेशाभावात् । तथा वैकुण्ठवासिनामपि भक्तानां मुक्तानामीश्वरेच्छया सम्भवः । अतः शापकथा । एकः कर्ता अपरो विषय इति ॥ ७½ ॥

कुर्वन्ति सगुणस्येत्यादि । सगुणो हि तेन तेन भावेन तत्तत् सृजन् भयादिकं प्राप्नोति । तद्भावत्यागे च स्वरूपेऽवतिष्ठत इति चित्तवृत्तिनिरोधस्यैव तत्र कारणत्वमिति स तस्य मोक्षलीला । 'एवं मेने सन्तमि'त्यादिना अज्ञानादेव सृष्टेरुक्तत्वादज्ञानस्य च ज्ञानादेव निवृत्तेर्गुणातीतस्य ज्ञानमेव सा । एवं दशविधो वक्ष्यमाणः कालात्मको भजन्नेव मुच्यत इति भक्तिस्तस्य सा । तत्त्वानां प्रतिसङ्क्रम एव स्वरूपलाभ इति स तेषां सा । जीवस्य तु वैराग्यं स्फुटमेव, तथा च मोक्षजनका, अत्र मोक्षपदेनोच्यन्त इति ते तथेत्यर्थः ॥ ५½ ॥

तेषामित्यादि । कालजीवनामतत्त्वानां सगुणनिर्गुणब्रह्मवदुत्पत्तौ स्वातन्त्र्यं वारयतीत्यर्थः । मूले तत्रापीति, शब्दब्रह्मात्मके नाम्नीत्यर्थः ॥ ६½ ॥

तेनेति, निर्वाहकत्वेन । आहेति, उपोद्घातेन सार्थकत्वमाह । मुक्तिरिति, जयविजयमुक्तिः । ततापदस्यार्थमाहुरेकः कर्तेत्यादि । न च मोक्षोत्तरं बन्धस्य "न स पुनरावर्तत" इतिश्रुतिविरुद्धत्वात्तेषां शापतः पातरूपेण लिङ्गेन गौण्येव मुक्तिरङ्गीकार्येति वाच्यम्, "देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनामि"ति सप्तमस्कन्धीयवाक्यविरोधात् । अत्र स्वरूपावस्थानस्यैव

---

१ "तेषाम्" पाठः ।

निबन्धः—उपपत्तिरनेनोक्ता फलार्थं प्रक्रियान्तरम् ॥ ८ ॥
मतान्तरेण हि फलं राजसत्वान्निरूप्यते ।

प्रकाशः—एवं जीवोत्पत्तावुपपत्तिरेवोक्ता, न त्वयं प्रकारो भागवताभिमतस्तेषां जीवानां मोक्षार्थं प्रक्रियान्तरं साङ्ख्यप्रकरणम् । मतान्तरेण फलनिरूपणे हेतुमाह राजसत्वादिति ॥ ८½ ॥

तथा सति फले वैषम्यमाशङ्क्याह फले हि नास्तीति ।

निबन्धः—फले हि नास्ति वैषम्यमितीशस्योद्भवाभिधा ॥ ९ ॥
उपपत्तौ फले चैव तेनावतरणद्वयम् ।
क्रियाज्ञानविभेदेन कर्माधीनाऽन्यथा भवेत् ॥ १० ॥

प्रकाशः—यत ईश एवोद्भूय तत्रापि फलं प्रयच्छति । अतोऽस्यां लीलायामवतारद्वयम्, क्रियावतारो वराहो, ज्ञानावतारः कपिल इति । ननु सृष्टौ किमर्थमवतारस्तत्राह कर्माधीनाऽन्यथाभवेदिति ॥ १० ॥

नन्वपूर्वं निरूप्यते यन्मुक्तानां पुनरुत्पत्तिरिति तत्राह मुक्तेपीति ॥

निबन्धः—मुक्तेपि यदि नोत्पत्तिरुत्पन्ने मुक्तिरेव वा ।
तदा कृष्णेच्छया सृष्टिरित्यर्थो हि विरुध्यते ॥ ११ ॥

प्रकाशः—तदा ईश्वरत्वं व्याहतं भवेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

स्फुटत्वात् । न च क्रोधासम्भवः शङ्क्यः, तस्येश्वरेच्छयैव भवनात् । न चेच्छायां मानाभावः, "न विदुस्तच्चिकीर्षितमि"ति तत्रैव वाक्यात् ॥ ७½ ॥

तदेतदभिसन्धायाहुरेवमित्यादि । शापकथाविस्तारेण मुक्तजीवोत्पत्तावुपपत्तिरेवोक्ताऽतो न मुक्तिर्गौणीत्यर्थः । नन्वत्रैवकारेण कस्य व्यावृत्तिरित्यपेक्षायामाहुर्न त्वित्यादि । प्रकार इति उत्पत्तिप्रकारः । किमत्र गमकमित्यपेक्षायामाहुस्तेषामित्यादि । तेषामिति मुक्तियोग्यानाम् । तथा चानभिमतत्वे साङ्ख्यप्रक्रियाकथनमेव गमकमित्यर्थः । नन्वयमप्यभिमतः, अन्यथा पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येतेह जन्मभिरिति फलं नोक्तं स्यादित्याशङ्कायामाहुर्मतान्तरेत्यादि । अस्याः कथायां मतान्तरत्वन्तु "अथात्रापीतिहासोयं श्रुतो म" इति परोक्तिकथनादवसीयते । राजसत्वादिति, संरम्भित्वेन राजसत्वात् ॥ ८½ ॥

अत इति । मुक्तोत्पत्तिमुक्तफलयोर्भगवदधीनत्वज्ञापनस्यावश्यकत्वात् । कर्माधीनान्यथा भवेदिति, सृष्टाववतारामावे मुक्तोत्पत्तिः कर्माधीना भवेत् । अवतारे तु यथा स इच्छया, तथा सापीति बोधनायावतार इत्यर्थः ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

सृष्टिः सफलेति स्पष्टयति स्त्रीपुंसेति।

निबन्धः—स्त्रीपुंसमुक्तिकथनात्तदर्थं सृष्टिकृद्धरिः।
ऐहिकामुष्मिकफलं मोक्षं प्रीतः प्रयच्छति ॥१२॥
तस्मात्सृष्ट्यवतीर्णस्तु भजेत हरिमादरात्।

प्रकाशः—किमत्र स्कन्धार्थे फलितमित्याशङ्क्याह ऐहिकामुष्मिकफलमिति ॥ ११½ ॥

ननु साङ्ख्यप्रकरणे तदनुसारिणी सृष्टिः कथं नोक्ता, तत्राह साङ्ख्येनेति।

निबन्धः—साङ्ख्येन मुक्तिकथनात्सृष्टिः सामान्यतोदिता ॥ १३ ॥
तामसी राजसी चैव सात्त्विकीति क्रमात्त्रिधा।
गुणसृष्टेस्तन्मतत्वाद्गौणत्वान्न विरुध्यते ॥ १४ ॥

प्रकाशः—सामान्यतो मता या काचिदुक्तव्येत्युक्ता, उदितेति सन्धिरार्षख्यापकः। अत एव गौणी तदविरोधार्थं निरूपिता ॥ १४ ॥

ननु कर्दमस्य मुक्तौ साधनं नोक्तमिति चेत्तत्राह ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वादिति।

निबन्धः—ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वान्मुक्तिर्भोगादिसंयुता।
उपदेशेन च परा चतुर्भिर्नवभिः क्रमात् ॥ १५ ॥

प्रकाशः—उपदेशेन स्त्रीमुक्तिः ॥ १५ ॥

निबन्धः—चतुःप्रकरणी स्थौल्ये सौक्ष्म्ये तु दशधा मता।
अधिकारस्तथा सृष्टिरुपपत्तिः फलं तथा ॥ १६ ॥

प्रकाशः—तेन क्रमात्प्रकरणचतुष्टयं भवति। दश प्रकरणानि पूर्वं निरू-

---

स्त्रीपुंसेरित्यत्र मूले तदर्थमिति, गृहस्थमुक्त्यर्थम् ॥ १२½ ॥

तदनुसारिणीति, प्रकृतिपुरुषसंसर्गस्वभावजन्या। मूले, साङ्ख्येन मुक्तिकथनादिति, मुक्त्यर्थमत्र साङ्ख्यप्रक्रियोक्ता। मुक्तिस्तु परमा, तत्प्रकारकसृष्टिज्ञानान्न भवतीत्यतो नोक्तेत्यर्थः। तर्हि सत्त्वादिगुणजन्या किमित्युक्तेत्यत आहुरत एवेत्यादि। अत एवेति साङ्ख्येन मुक्तिकथनादेव। तथा चोभयसामञ्जस्यार्थमेवं निरूपितेत्यर्थः ॥ १४ ॥

पूर्वं निरूपितानीति, शुकोक्तरीत्या निरूपितानि। अस्मिन् पक्षेऽध्यायविभाग एवं प्रतिभाति। अधिकारेण सह षड्भिर्गुणातीतलीला। ततस्त्रिभिः सगुणलीला। ततो द्वाभ्यां कालस्य, तन्मध्य एव प्रथमे कालाधीनयोस्तत्त्वामुक्तजीवयोः सृष्टिः, ततो द्वादशे मुक्तजीवसृष्टिः,

पितानि । स्थूलानि गणयति अधिकार इति ॥ १६ ॥

निबन्धः—पञ्चधा सृष्टिरुक्ता हि तृतीया तु द्विधा मता ।
चतुर्थी तु त्रिधा प्रोक्ता दशैते सृष्टिसङ्गताः ॥ १७ ॥
अधिकारस्ततो भिन्नः स्कन्धद्वययुतः परः ॥ १७½ ॥

प्रकाशः—पञ्चधा सृष्टिः पूर्वमेवोक्ता । चतुर्णामेव दशधात्वमिति । तत्र सृष्टिः पञ्चविधा, उपपत्तिर्द्विधा । त्रिधा मुक्तिः । एवं त्रयाणां दश भेदाः । अधिकारस्तु ततो भिन्नः, तस्य स्कन्धद्वयोपयोगात्, स्कन्धद्वयमेकं प्रकरणवत् । तेन षष्ठ्यध्यायाः सर्गविसर्गयोः । अधिकारे चतुष्टयमिति । भगवतः कला निरूपिता भवन्ति ॥ १७½ ॥

एवं प्रकरणार्थं निरूप्य अधिकारेऽध्यायचतुष्टयमिति तत्र प्रथमाध्याये यादृशोऽधिकारः सपन्नस्तं प्रतिपादयितुमाह प्रतिबन्ध इति ।

ततः सप्तभिस्तदुपोद्घात इत्यष्टाध्याय्या मुक्तजीवसृष्टिरेवमेकोनविंशत्या पञ्चधा बन्धलीला । तत एकेन मोक्षोपोद्घातश्चतुर्भिः पुम्मुक्तिः, सा च तत्त्यक्तानां तत्त्वानां स्वस्वरूपापादकत्वात्तेषां मुक्तिरूपा । तत एकेन मुख्यभक्तिः, सा कालस्य मुक्तिलीला । ततो द्वाभ्यां ज्ञानं, सा गुणातीतस्य । तत एकेन योगः, स सगुणस्य । अग्रिमे याऽस्ति भक्तिः सा योगस्यैव शेषः । ततो द्वाभ्यां वैराग्यं, तज्जीवस्य मोक्षलीला । ततो द्वाभ्यां स्त्रीमुक्तिः, पूर्ववदेवेति चतुर्दशभिर्मोक्षलीलेति । गणयतीति, मैत्रेयाभिप्रेतपक्षेण गणयति ॥ १६ ॥

अत्राध्यायविभागमन्यथा वक्तुं पूर्वस्यास्माद्वैलक्षण्यं स्मारयन्ति पञ्चधेत्यादि । पूर्वमिति, बन्धलीलाविभागे, चतुर्णामिति, स्थूलप्रकरणानाम् । इति हेतौ । अत्रत्यविभागं स्पष्टयन्ति तत्रेत्यादि । आद्यांश्चतुरो विहाय पूर्ववदेव पञ्चधा सृष्टिर्द्वादशाध्यायावधिः । ततः सप्तभिर्बन्धोपपत्तिरेकेन मोक्षोपपत्तिरीत्यष्टाभिर्द्विधोपपत्तिस्ततो भक्तिसाङ्ख्ययोगैस्त्रिधा मुक्तिः, तत्र चतुर्भिः पुम्मुक्तिः साङ्ख्यफलरूपा । तत एकेन सफला मुख्यभक्तिः । ततो द्वाभ्यां साङ्ख्यम्, ततो द्वाभ्यां योगस्तच्छेषभूता भक्तिश्च । ततश्चतुर्भिर्वैराग्यसर्वनिर्द्धारौ सर्वशेषौ, योगफलभूता देवहूतिमुक्तिश्चेति प्रकरणत्रये दशभेदाः । नन्वस्मिन् पक्षेऽधिकारस्य प्रकरणित्वे किं बीजमत आहुरधिकारस्त्वित्यादि । ननु स्कन्धद्वये कुत एकाधिकार इत्यत आहुः स्कन्धेत्यादि । कलेत्यादि, तेन मैत्रेयोक्तिविचारे स्कन्धद्वयात्मकं भगवत्कलाप्रकरणं भवतीति तदैक्यादेकोधिकार इत्यर्थः । एवं त्रयोदशभिः प्रकरणार्थो निरूपितः ॥ १७½ ॥

---

‡ "एवं" इतिपाठः * प्रथमः १ कारिकात्मकः प्रथमः स्तबकः सप्तसप्ततिपृष्ठे, ३॥ कारिकात्मको द्वितीयः स्तबकोऽशीति पृष्ठे समाप्तोभूत् । अत्र तु १३ कारिकात्मकस्तृतीयः समाप्तः ।

निबन्धः—प्रतिबन्धो गृहासक्तिः शुद्धिस्तीर्थाटनं मता ॥ १८ ॥
बाह्या हरिकथाश्रुत्या तथा चाऽऽभ्यन्तरी मता ।
कृष्णप्रसादयुक्तश्चेदधिकारी परः स्मृतः ॥ १९ ॥

प्रकाशः—प्रतिबन्धनिवृत्तिः शुद्धिस्तीर्थाटनमिति । भगवदीयत्वेपि त्रयो गुणा अधिकाः । तेन पूर्वस्माद्विशिष्टोऽयं प्रथमः । तस्य भगवत्कथाश्रवणं चेत्ततोप्युत्तमो भवति । तत्राऽप्यान्तरश्चेद्भगवद्गुणो भवति तदा तृतीयः । भगवत्कृपायां चतुर्थ इति । भगवदीयत्वेपि चतुष्टयं चेत्परमोऽधिकारी भवति । बाह्या शुद्धिर्द्विधा, दोषनिवृत्तिरूपा गुणाधायिका च । तत्र प्रथमाध्यायार्थः गृहासक्तिरेव प्रतिबन्धः । अतस्तन्निवृत्तिर्वक्तव्येति शेषः ॥ १९ ॥

ननु क्षत्रियाद् भगवदीयाच्छूद्रः कथमधिकारी ततोप्युत्तमो वा कथं ? तत्राह शतं वर्षाणीति ।

निबन्धः—शतं वर्षाणि शूद्रत्वं पश्चाद्राजन्यताऽस्य हि ।
तावत्क्षत्ता ततो मन्त्री तस्मात्कृष्णसभोज्यता ॥ २० ॥
अतोऽधिकारस्तस्याऽत्र यथायुक्तं तु जीवनम् ।

प्रकाशः—"शापाद्वर्षशतं यमः" इति वाक्यात् । शतवर्षपर्यन्तं शूद्रत्वम् । अन्यथा ब्रह्मबीजस्य मुख्यशूद्रत्वं नोपपद्येत, राजत्वार्थं प्रार्थितत्वात् । क्षत्रियत्वमेव पश्चात् । अत एव मन्त्रादाह्वानम् । तस्याऽशूद्रत्वे हेत्वन्तरमप्याह कृष्णसभोज्यतेति । अतः क्षत्रियत्वात्तस्याऽधिकारः । ब्रह्मबीजत्वं चाऽधिकप्रयोजनम् । ननु स शतवर्षाण्येव जीवतीत्यभिप्रायेण कथं न शाप इत्यभिप्रायेणाह यथायुक्तमिति । जीवनं तु युक्त्या तस्य बहुकालं लक्ष्यते । स हि धृतराष्ट्रसमानः दुर्योधनसमानो भीमः । ततोपि कनिष्ठोऽर्जुनः । तत्समानः कृष्णः । तत्र च "पञ्चविंशाधिकशतम्" इति वाक्यम् । अतः सार्धं शतं वा तस्य जीवनं भवति ॥ २०½ ॥ *

एवं चतुर्णामर्थमुक्त्वा प्रथमाध्यायार्थमाह अपमानाद्धि निर्विण्ण इति ।

निबन्धः—अपमानाद्धि निर्विण्णो विशुद्धस्तीर्थसेवया ॥ २१ ॥

अतः परमध्यायार्थं वदन्त्येवमित्यादि । आहेति, सामान्यतोऽध्यायचतुष्टयार्थं त्रिभिराह । पूर्वस्मादिति परीक्षितः, प्रथम इति प्रथमाध्यायोक्तोधिकारी । एवमग्रेपि । भगवद्गुण इति, स च शोकनिवर्तकज्ञानरूप इति प्रतिभाति । तत्रेति प्रकरणे ॥ १९ ॥ २० ॥

अर्थमुक्त्वेति, शुकाशयगोचरमर्थं सामान्यत उक्त्वा । प्रथमाध्यायार्थमिति संवादोपयोगिनं तदर्थम् । आहेति चतुर्भिराह ॥ २२ ॥

---

* ३ कारिकात्मकश्चतुर्थः स्तवकः ।

क्षत्ता सत्सङ्गतः प्रीतः प्रश्नत्रितयकृद्धरेः ।
सामान्येन विशेषेण कुशलं चरितं तथा ॥ २२ ॥

प्रकाशः—स्वतो निर्विण्णः कदाचिदागच्छेदपि । अतो हेतुपूर्वको निर्वेदः साधनीयः, स चेन्निर्विण्णोऽन्यत्र तिष्ठेत्पुनरासक्तिर्भवेत् । अतस्तीर्थसेवैव कर्तव्या । तत्रापि तीर्थे देवताबुद्धिस्तदैव सेवा भवति । तत्रापि कामनाभावाय विशुद्ध इति । क्षत्तेति पूर्वमेव जितेन्द्रियता सिद्धा । सत्सङ्ग उद्धवसङ्गः, तेनैव प्रीतः, न तु प्रश्नार्थम् । तत्र प्रश्नत्रयं कृतवान्, भगवतः कुशलप्रश्नः सर्वेषां कुशलप्रश्नमिषेण भगवतः सामान्यप्रश्नश्चरितप्रश्नश्चेति । तदाह सामान्येनेति ॥ २२ ॥

उत्तरे क्रमेण उत्तराभावात्प्रकारमाह अन्तिमं मध्यतः कृत्वेति ।

निबन्धः--अन्तिमं मध्यतः कृत्वा द्वयोः सम्बन्धकारणात् ।
मारणे प्राप्तदोषस्य भक्तोद्धारेण वारणम् ॥ २३ ॥

प्रकाशः—अन्तिमं चरित्रं मध्यतो विशेषप्रश्नोत्तरमुक्त्वा सामान्योत्तरमनुक्त्वा मध्ये चरित्रमुक्तम् । "कृष्णद्युमणिनिम्लोचे" इति विशेषोत्तरं "राजँस्त्वयाऽनुपृष्टानाम्" इति सामान्योत्तरम् । मध्ये भगवतश्चरित्रं च द्विविधमपि निरूपितमित्यर्थः । तत्र हेतुः, सम्बन्धकारणादिति, भगवतश्चरित्रकथनव्यतिरेकेणोत्तरासम्भवात्सम्बन्धे कारणम् । ननु भगवतश्चरित्रं नेदं समीचीनं, भक्तानां बन्धूनां मारणादतः कथमधिकारसिद्ध्यर्थं तच्चरित्रमुक्तमित्याशङ्क्याह मारणे प्राप्तदोषस्येति । यद्यपीश्वरत्वान्न दोषस्तथापि प्रतीत्या दोषसम्भवेऽपि ते सर्वे भक्तास्तेन प्रकारेणोद्धृता इति दोषनिवृत्तिः ॥ २३ ॥

ननु तथापि विदुरः परीक्षिदपेक्षया कथमुत्तमो भगवदीयत्वस्य तुल्यत्वादित्याशङ्क्याह सेवनादिति ॥

निबन्धः--सेवनात् कृष्णदेवस्य तदाज्ञाकरणादपि ।
माहात्म्यस्य श्रुतत्वाच्च श्रेष्ठ उत्तमतो ह्ययम् ॥ २४ ॥
अतस्तस्य कथा प्रोक्ता कृष्णविश्वासदायिनी ॥ २४½ ॥

प्रकाशः—पूर्वं भगवत्सेवा तेन महती कृता । तदाज्ञाकरणं पाण्डवानां

इति सामान्योत्तरमिति एक जातीयकम् "अथ ते तदनुज्ञाता" इत्यादि श्लोकद्वयोक्तं सामान्योत्तरम् । द्विविधमिति बन्धमोक्षभेदेन द्विविधम् ॥ २३ ॥

भगवदीयत्वस्य तुल्यत्वादिति, भगवदीयत्वे सति गृहासक्त्यभावादीनां परीक्षित्युक्तत्वादिति भावः । उत्तमत्वमित्यादि, द्वितीयतृतीयाध्यायोक्तं श्रुतमाहात्म्यत्वरूपमुत्तम-

रक्षा । विशेषतो भगवन्माहात्म्यश्रुतिश्च । एतद्धेतुत्रयं परीक्षिति नास्तीति ततोऽप्ययमुत्तमः । उत्तमत्वं कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह कृष्णविश्वासदायिनीति । विश्वासस्याभिज्ञापिका निःशङ्कं प्रवृत्तिः ॥ २४½ ॥[1]

एवं प्रकरणार्थमुपपाद्य द्वितीयाध्यायार्थमाह द्वितीय इति ।

निबन्धः-द्वितीये तु तथाऽध्याये सामान्योत्तरमुच्यते ॥ २५ ॥
तदर्थं हरिमाहात्म्यमार्थिकं कृतमेव च ।

प्रकाशः—विशेषमाहात्म्यमेव प्रश्नस्य जीवपरत्वे सामान्यमाहात्म्यं भवति । तदैवमर्थः । भगवत्प्रश्नो जीवानां साधारणप्रश्नः, विशेषप्रश्नस्तु तत्तन्नाम्ना । अतो भगवतोऽन्यशेषत्वात्तत्र विश्वासार्थं भगवत आर्थिकं माहात्म्यं प्रथमम्, पश्चात्कृतं निरूप्यते ॥ २५½ ॥

तस्योत्तराङ्गत्वमाह कृतमिति ।

निबन्धः—कृतं यद्यप्युत्तराङ्गं साम्यात्सम्बन्धतोऽपि तत् ॥ २६ ॥
अत्रोक्तं फलसिद्ध्यर्थमुद्धवप्रेम चोच्यते ।

प्रकाशः—तृतीयाध्याये चरित्रमुक्तमिति । तत्साम्यादिदमप्युत्तरशेषत्वेनोच्यते । कथया कथा सम्बध्यत इति हेत्वन्तरम् । नन्वेवं सति किमत्र कथानिरूपणेनेत्याशङ्क्याह अत्रोक्तमिति । द्वितीयाध्याये विश्वासार्थं भगवत्कृतं फलमुक्तम्, तच्चरित्रेपि यथा भवति तदर्थं तत्सम्बद्धमुक्तम् । भगवतो वार्ताकथनमध्यायार्थः । तत्रोत्तरा-

---

त्वमधिकारे कस्मिन्नंश उपयुज्यते । प्रवृत्तिरिति, भगवद्वाक्यश्रवणार्था मैत्रेयोपसत्तौ प्रवृत्तिः ॥ २४½ ॥

एवं चतुर्भिः प्रथमाध्यायार्थ उक्तः । द्वितीयाध्यायार्थं त्रिभिराहुरेवं प्रकरणार्थमुपपाद्येति, अधिकारभेदव्युत्पादनेनोपपाद्य । ननु सर्वेषां कुशलप्रश्नमिषेण भगवत्प्रश्नो हि भगवतः सामान्यप्रश्नस्तदुत्तरं तृतीये "अथ ते तदनुज्ञाता" इत्यनेन वक्ष्यते, "कृष्णद्युमणि" इति तु विशेषोत्तरमतो द्वितीये कथं तस्योत्तरमित्याकाङ्क्षायामाहुर्विशेषेत्यादि । 'कच्चिद्वरूथाधिपतिरि'त्यादिनोक्तप्रश्नस्य जीवपरत्वे द्युमणिपदोक्तं विशेषमाहात्म्यं जीवसामर्थ्यसम्पादनाभिप्रायेण सामान्यमाहात्म्यं भवति तदेवमित्यर्थः । वक्ष्यमाणरीत्या प्रथमाध्याये प्रश्नद्वयम् । अत एवं प्रश्नविचाराद्भगवतो जीवशेषत्वात् तत्र भगवति विदुरस्य विश्वासार्थमीश्वरत्वबुद्धिदार्ढ्यार्थमर्थसम्बन्धि माहात्म्यं प्रथमं द्युमणिपदोक्तम् । तथा चैवं विचारे तत्सामान्योत्तरमित्यर्थः ॥२५½॥

फलमुक्तमिति, "अहो बकीय"मित्यादिना दयारूपं फलमुक्तम् । यथा भवतीति, यथा ज्ञानं भवति । तत्रेत्यादि, अध्यायार्थे माहात्म्यं कथाया माहात्म्यबोधकत्वञ्चेति द्वयं

---

1 इति ४ कारिकात्मकः पञ्चमः स्तवकः ।

ङ्गद्वयम् । विश्वासार्थं माहात्म्यम् । कथाया अपि तथात्वं च । पूर्वाङ्गमेकम् । परमा भक्तिः । अभक्तोक्ते सर्वथा न विश्वास इति उद्धवप्रेम चोच्यते ॥ २६½ ॥

तत्र श्लोकान् विभजते षड्भिरिति ।

निबन्धः—षड्भिस्तथैकेन पुनर्दशयुक् सप्तभिस्तथा ॥२७॥
दशभिश्च क्रमादत्र चत्वारोऽर्था निरूपिताः ॥२७½॥[1]
तृतीयेऽष्टाविंशतिभिश्चरित्रं केवलं कृतम् ॥ २८ ॥
विशेषस्योत्तरं तुर्ये श्लोकाभ्यां विंशतिः पुनः ।
भक्तोद्धारेऽविद्यमाने चत्वार्येकं वियोजकम् ॥ २९ ॥
द्वयोराज्ञाप्रसिद्ध्यर्थं पञ्च सन्देहवारणे ।
चतुर्भिः सङ्गमश्चेति षडर्थाः क्रमतोदिताः ॥ ३० ॥

प्रकाशः—विशेषस्य कुशलस्य । चतुर्थाध्याये उत्तरं श्लोकद्वयेन । तद्दोषपरिहाराय पुनर्भक्तोद्धारे विंशतिः । अविद्यमाने भक्तोद्धारे चत्वारि वाक्यानीति शेषः । एकं वियोजकम् । "इति सह विदुरेण" इति । उभयोरुद्धवविदुरयोः । सन्देहनिवृत्तिः परीक्षितः । चतुर्भिर्गुरुशिष्यङ्गमः । विद्यमानो भक्त उद्धवः । अविद्यमानो विदुरः, एतदकथने क्रूरत्वादभजनीयः स्यात् ॥ २९ ॥ ३० ॥

एवं श्रोतुरधिकारं निरूप्य वक्तुरधिकारमाह मैत्रेयस्यापीति ॥

निबन्धः—मैत्रेयस्यापि वक्तृत्वं श्रवणाज्ज्ञापनान्मतम्[2] ॥
अत एव हरिस्तस्य सङ्गं चक्रे स्वसिद्धये ॥ ३१ ॥[3]

तृतीयाध्यायोक्तकथाङ्गम् । तयोः प्रयोजनं विश्वास इत्यर्थः । पूर्वाङ्गमिति, सामान्योत्तरस्याङ्गम् । पूर्वे विश्वासदायिनीति यदुक्तं तदेतेन दृढीकृतम् ॥ २६½ ॥

एवं त्रिभिर्द्वितीयाध्यायार्थ उक्तः । अर्धेन तृतीयस्य, त्रिभिस्तुरीयस्यार्थं वदन्तो व्याकुर्वन्ति विशेषस्येत्यादि । अविद्यमानभक्तोद्धार इति, विदुरोद्धारे । सन्देहनिवृत्तिरिति, 'आज्ञाप्रसिद्ध्यर्थं'मित्यनेन मूले या भगवदाज्ञासिद्धिरुक्ता, तद्विषयकसन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः ॥ २९ ॥ ३० ॥

---

१ इति ३ कारिकात्मकः षष्ठः स्तवकः । २ श्रवणाद । ३ इति ३॥ कारिकात्मकः सप्तमः स्तवकः ।

प्रकाशः—श्रोतर्येवाऽनुप्रवेशः। ननु वक्तुः प्राधान्याद्भिन्नतया निरूपणमुचितं, तत्कथं श्रोतृशेपत्वमित्याशङ्क्याह अत एवेति। न हि मैत्रेयकृपया मैत्रेयो निकटे स्थापितः, किन्तु विदुरकृपया। अतो भगवन्मार्गे भक्त एव श्रेष्ठो नाऽन्य इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

एवं चतुर्भिरधिकारं निरूप्य श्रोतरि सिद्धे मुख्यसृष्टिं निरूपयतीत्याह अधिकार इति।

निबन्धः—अधिकारेऽथ संसिद्धे द्वाभ्यां सृष्टिर्निरूप्यते।
तत्त्वकार्यविभेदेन गुणातीता द्विधा हि सा ॥ ३२ ॥

प्रकाशः—उभयोर्भेदकमाह तत्त्वकार्यविभेदेनेति। कार्यं पुरुषशरीरम्। गुणातीता द्विधा हि सृष्टिः। अग्रे उभयोः कारणत्वाद् द्वयं कारणत्वेनैव निरूपितम् ॥ ३२ ॥

तत्र तत्त्वेषु सन्देहाभावात्समष्टेः कारणत्वं साधयति समष्टेरिति।

निबन्धः—समष्टेः कारणत्वं हि कर्माणि प्रति वर्णिनाम्।
प्रश्नत्रयं तृतीये तु द्वैविध्यं प्रथमे पुनः ॥ ३३ ॥
षड्भेदा नाऽवतारे हि साधनेनोपसंहृतिः।
द्वयोरपि विभेदेन प्रकटे ह्येक एव तु ॥ ३४ ॥
जन्माद्यः प्रवेशश्च प्रकारद्वयमेव च।

प्रकाशः—एवं प्रकरणाध्यायार्थं निरूप्य विचारमारभते। तत्र प्रथमं विदुरस्य प्रश्नः "सुखाय कर्माणि" (३-५-२) इति पञ्चदशभिः श्लोकैः। तत्र किं पृष्टमिति वि-

---

मूले श्रवणाऽऽज्ञापनादिति, श्रवणसहितादाज्ञापनात्। एवं त्रिभिश्चतुर्थाध्यायार्थ उक्तः। तावता सार्धैर्नवभिः प्रथमं प्रकरणं स्थूलपक्षे विभक्तम् ॥ ३१ ॥

अतः परं द्वादशाधिकशतेन बन्धसृष्टिप्रकरणं वदिष्यन्तस्तस्य प्रथमं प्रकारं नवभिः स्फुटीकर्तुमाहुरेवञ्चतुर्भिरित्यादि। निरूपयतीति, मैत्रेयो निरूपयति। उभयोः कारणत्वादिति, तत्त्वपुरुषशरीरयोर्जगत्कारणत्वात् ॥ ३२ ॥

साधयतीति, व्याख्येयग्रन्थे "हि"शब्देन मुखतोऽवर्त्तत ब्रह्मेत्यादीनामर्थं सङ्गृह्णन् साधतीत्यर्थः। एवमिति, गुणातीतत्वेन तत्त्वकार्यविभेदेन च नैतानि कर्माणीत्यादि, "श्रेयस्त्वं कतमद्राजन् कर्मणात्मन ईहसे, दुःखहानिः सुखावाप्तिश्रेयस्तन्नेह चेष्यते" इति प्राचीनबर्हिषं प्रति नारदवाक्यादित्यर्थः। नन्वत्र तान्येवाभिप्रेतानीति कथं ज्ञेयमित्यत आहुरन्यथेत्यादि।

चारणीयम् ।उत्तरत्वेन भगवल्लीलामाह उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपाम्। ततस्तदनुरोधेनैकः प्रश्नः कर्तव्य इति भवति तदभावाद्विचारः। तत्र प्रथमं कर्मफले सन्देहः, फलार्थं विहितानि कर्माणि क्रियमाणानि विपरीतं फलं साधयन्तीत्येकः प्रश्नः। तत्रांशत्रयमस्तीत्याह कर्माणि प्रति वर्णिनामिति। नैतानि कर्माणि लौकिकानि, किन्तु वैदिकानि। अन्यथा भ्रान्तस्य फलविपर्यये न किञ्चिद्दूषणम्। अतो वर्णिनामेव कर्माणि प्रति प्रश्नत्रयम्। कथं सुखं न जायते? दुःखाभावो वा उद्देश्यभेदेन। कथं वाऽसङ्कलितं दुःखं जायत? इति। अथ यदि कर्ममार्ग एतादृश एव तदा प्राणिना किं कर्तव्यमिति प्रथमः प्रश्नः। तत्र यद्युत्तरं भगवद्भजनं कर्तव्यमिति, तत्रापि भजनमपि कर्मेति, येन प्रकारेण कृतं भगवत्प्रीतिजनकं भवति तं प्रकारं कथयेति द्वितीयः प्रश्नः। अवतारचरितप्रश्नस्तृतीयः। अवतारव्यतिरेकेण कृते चरित्रे प्रश्नचतुष्टयम्—उत्पत्तिस्थितिप्रलया नानात्वमिति। कार्यप्रश्नः पञ्चमः। सर्वत्र भिन्नप्रकारकरणहेतुः प्रश्नः षष्ठः। एवमवतारचरित्रेण सह सप्त भवन्ति। एवं सति प्रश्नत्रयं भवति। जीवकर्माणि द्विविधानि, स्वार्थानि भगवदर्थानि चेति। भगवत्कर्माणि च तृतीयानि, तत्सामान्यतः प्रतिजानीते प्रश्नत्रयं भवति। एतत्पदं पूर्वेणापि सम्बध्यते, वर्णिनामित्यनेन तद् द्योतितं प्रश्नप्रथमश्लोकार्थत्वेन, साधारण्येन च प्रतिज्ञा प्रश्नत्रयमिति। तृतीये भगवत्कर्मप्रश्ने अवतारानवतारभेदेन द्वैविध्यम्। तत्राऽनवतारप्रश्ने षट् भेदाः। स एव प्रथम इति प्रथमे पुनरित्युक्तम्। पश्चादवताराः। उद्देशेन ग्रहणसन्देहं वारयति नाऽवतारे हीति। अतोऽनभिव्यक्तभगवत एव षट् प्रश्नाः कृताः, उपसंहारेपि निरूपिताः। "यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम्"(३-५-१६) इति गृहीतावतारस्य च तेन भगवत्कर्मस्वेव द्विविधेष्वपि तस्योपसंहार इति तत्रैवोत्तरमुक्तमिति न दोषः। यतः साधने जीवकर्तृककर्माणि नोपसंहृतिः। हेत्वन्तरमपि द्वयोरपि विभेदेनेति।

तथा च प्रश्नकर्तुः स्वभावविचारादेव ज्ञेयमित्यर्थः। कर्माणि प्रतीति कर्माणि लक्षीकृत्य। प्रथमः प्रश्न इति, उक्तप्रश्नत्रयघटितः 'सुखाय कर्माणि' इति पद्योक्तः। द्वितीय इति, 'तत्साधुवर्यादिशे'ति (३-५-४) पद्योक्तः। 'करोति कर्माणी'त्यादिभिः पञ्चपद्यैः सप्तप्रश्नानाहुरवतारेत्यादि। एवं सतीति, श्लोकाष्टकतात्पर्ये विचारिते सति। एतत्पदमित्यादि, "एतच्च नो वर्णय विप्रवर्ये"त्यत्रोक्तमेतत्पदं (३-५-९) "करोति कर्माणि कृतावतार" (३-५-५) इत्यादिग्रन्थेनापि सम्बध्यत इत्यर्थः। तद्द्योतितमिति, चकारसूचितं वैदिककर्मविषयत्वं द्योतितमित्यर्थः। स एव प्रथम इत्यादि, प्रश्ने पश्चादुक्तेपि उत्तरेऽनवतारप्रश्न एवोत्तरित इत्याशयेन प्राथम्यमुक्तमित्यर्थः। ग्रहणसन्देहमिति, प्राथम्यग्रहणसन्देहम्। हेत्वन्तरमपीति, द्वाभ्यामुपसंहृतिरूपं तत्रैवोत्तरोक्तौ

'तदस्य कौषारव' (३-५-१५) इति । "स विश्वजन्मस्थिती"ति (३-५-१६) । इदानीं प्रश्नान् गणयितुं प्रथम उद्देशप्रकारेण एक एव प्रश्न इत्याह प्रकटे श्लोक एव त्विति । प्रकटोऽवतारः । अप्रकटे षड्भेदान् वदति जन्माद्य इति, उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः यथा "ससर्जाग्रे" इत्यादिना। प्रवेशनानात्वे एकत्वेन गणिते । तदनन्तरं प्रकारद्वयप्रश्नः, "यैस्तत्त्वभेदैः," "येन प्रजानामि"ति ३-५१/२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

एवं भगवत्कर्मप्रश्नेषु क्रियमाणेषु पूर्वयोरुत्तरं न वक्तव्यमिति स्वरुच्या शास्त्रनिर्धारेण च निरूपयतीत्याह हेतूक्त्या शास्त्रनिर्धार इति ।

निबन्धः—हेतूक्त्या शास्त्रनिर्धारो भक्तत्वज्ञापनाय हि ॥ ३५ ॥
स्वरुचिश्चापि तत्रैव षट्सु सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

प्रकाशः—"कस्तृप्नुयात्" इति (३-५-११) चतुर्भिः प्रश्नैर्हेतूक्तिः । अनेनैव शास्त्रनिर्धारः। गृहासक्तिर्दुःखात्मकं संसारं प्रयच्छति। कर्माणि तु गृहासक्तिकार्याणि। अतो दुःखजनकत्वमुचितमेवेति । ननु स्वयं पृष्ट्वा स्वयमेव कथमुत्तरयतीत्याशङ्क्याह भक्तत्वज्ञापनाय हीति । भक्तो हि कर्मणामसारतां ज्ञात्वा भगवद्धर्मेषु रमते ततः कर्मप्रश्नस्तस्याऽयुक्तो भवति । एवं ज्ञापनेन स्वस्य भक्तत्वम् । रुच्यापीत्याह स्वरुचिश्चापीति। "परावरेषाम्" (३-५-१०) इति श्लोकेन स्वरुचिरुक्ता। 'मह्यमि'त्युपसंहारेपि । नन्ववतारचरित्रमपि नोत्तरे निरूप्यत इत्याशङ्क्याह षट्सु सर्वं प्रतिष्ठितमिति । स्थिताववताराणां प्रवेशं मन्यते । पुरुषे वाऽनुप्रवेशः ॥ ३५१/२ ॥

ननु "तत्साधुवर्यादिश वर्त्म शं नः" (३-५-४) इति प्रश्नोऽनुपपन्नः, प्रश्ने वा उत्तरे वा समानाभावादित्याशङ्क्य समाधत्ते इष्ट इति ।

निबन्धः—इष्टे प्रसिद्धान्यहेतोर्भगवत्प्रीणनेऽपि च ॥ ३६ ॥

हेत्वन्तरमित्यर्थः । प्रथमे उद्देशप्रकारेणेति, उद्देशप्रकारेण प्रथमे प्रश्ने ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

एवं व्याख्येयग्रन्थे "प्रकारद्वयमेव चे"त्यन्तेन श्रीभागवतस्थप्रश्नानां सङ्ग्रहात् पञ्चदशानां तात्पर्यमुक्तम् । अतः परमग्रिमाणां वक्तव्यम् । तत्र पूर्वयोः स्वार्थभगवदर्थकर्मप्रश्नयोरुत्तरं कुतो नोक्तमित्याकाङ्क्षायां प्रश्नमध्यगैः "कस्तृप्नुयादि"त्यादिभिश्चतुर्भिर्विदुरेणैव स्वतस्तदुत्तरस्य निर्धारितत्वान्नोक्तमित्याशयेनाहुरेवं भगवत्कर्मेत्यादि। पूर्वयोरिति, स्वार्थभगवदर्थकर्मणोः । इतीति, इदं निरूपयतीति, विदुरो निरूपयति । प्रश्नैरिति, प्रश्नगतैः श्लोकैः । मन्यत इति, मैत्रेयो मन्यते । अनुप्रवेशमिति, अनुप्रवेशं प्रवेशम् ॥ ३५१/२ ॥

इति प्रश्न इति, भगवदर्थककर्मप्रश्नः । मूले प्रसिद्धान्यहेतोरिति, वक्तव्यत्वादिति

उत्तमे पथि संप्रश्न आद्यावेतौ यथोत्तरम्।

प्रकाशः—इष्टे सुखदुःखाभावे भगवत्प्रीणने वा प्रसिद्धहेतोरभावादन्यो हेतुर्वक्तव्य इति लोकोपकारार्थं प्रश्न उचितः। अत एवाद्यावेतौ सर्वसाधारणौ लोकोपकारार्थं स्वार्थं च यतनीयमिति। नन्वस्योत्तराभावात्कथं प्रश्न इति, तत्राह यथोत्तरमिति। यथावदुत्तरम्। उत्तरवाक्ये प्रथमत एव "लोकान् साध्वनुगृह्णता"(३-५-१८) इति प्रशंसायाः कृतत्वात्। तृतीयोत्तरेणैवाऽऽद्योत्तरं यथावदुक्तमित्यर्थः॥ ३६½॥

तत्र हेतुः उत्तरत्वेन कथनादिति।

निबन्धः—उत्तरत्वेन कथनादुत्तरं कर्मणि स्थितम्॥ ३७॥
अतः सभाजनं तस्य तेनैवोत्तरमाद्ययोः।

प्रकाशः—तदेव स्पष्टयति उत्तरं कर्मणि स्थितम्। भगवच्चरित्रकथने पर्यवसितम्। अत एव सभाजनम्। तदुत्तरेणैव आद्ययोरप्युत्तरमिति, दुःखाभावः सुखावाप्तिः कथाश्रवणादेव, तेनैव भगवानपि तुष्यति॥ ३७½॥

ननु तत्त्वानां स्तुतिः कुत्रोपयुज्यते तत्राह कार्यसृष्टौ स्वतन्त्रत्वमिति।

निबन्धः—कार्यसृष्टौ स्वतन्त्रत्वं तेषां वारयितुं स्तुतिः॥ ३८॥
विशेषतस्तु कथनं ब्रह्मणोपि सुदुष्करम्।
श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं किञ्चिदुक्तमिति स्थितिः॥३९॥

प्रकाशः—पौत्रोत्पत्तौ पुत्राणामिव न प्रकृते तत्त्वानां स्वतन्त्रता। ननु सामान्यतो निरूपणं प्रकृतोपयोगि भारतादावप्येतावच्छ्रुतत्वादित्याशङ्क्याह विशेषतस्तु कथनमिति। तर्हि कथनस्य किं प्रयोजनं, तत्राह श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थमिति। श्रवणकीर्तनादेर्विषय एतादृश इति ज्ञापनार्थः॥ ३९॥

अवतारचरित्रस्याऽनन्तर्भावमाशङ्क्याह सर्वावतारबीजत्वादिति।

निबन्धः—सर्वावतारबीजत्वात्पुरुषेणैव तत्कथा।
गुणातीतात्सृष्टिलीला द्वयेनैवं निरूपिता॥ ४०॥*

शेषः। उत्तमे पथीति भक्तिमार्गे। आद्यावेताविति, आवश्यकाविति शेषः। तत्राहेति, तादृश्यामाशङ्कायामुत्तरग्रन्थे उत्तरं सूचितमस्तीत्याहेत्यर्थः। कुत्र सूचितमस्तीत्यपेक्षायामाहुरुत्तरवाक्य इत्यादि 'तुष्यती'त्यन्तेन। तृतीयोत्तरेणेति, भगवच्चरितप्रश्नोत्तरेण। एवं नवभिरध्यायद्वयार्थकथनेन सृष्टौ प्रथमः प्रकारः स्पष्टीकृतः॥ ३७॥ ३८॥ ३९॥ ४०॥

---

* इति ९ कारिकात्मकोष्टमः स्तबकः।

अध्यायद्वयार्थमुपसंहरति गुणातीतादिति ॥ ४० ॥

निबन्धः—सगुणां तु त्रयणाऽऽह पूर्वपक्षाधिकत्वतः ।
ततः कारणसम्भूतिः स्तुतिस्तस्य फलावधिः ॥ ४१ ॥

प्रकाशः—सगुणा तु लीला त्रिभिः । सृष्टिभगवतोर्मध्ये गुणानामधिकारत्वात् । ते हि पूर्वपक्षत्वेनैव मतान्तरभाषया सिद्धा निरूप्यन्त इति ज्ञापयितुमाह पूर्वपक्षाधिकत्वत इति । अत्रापि कारणसम्भूतिः कार्यसम्भूतिरित्यध्यायद्वयम् । तत्र कारणं ब्रह्मा, कार्यं सर्वं जगत् । तत्कालशेषत्वेन निरूपणीयमिति स्तोत्रमेव कार्यत्वेन निरूप्यते सफलम् ॥ ४१ ॥

एवं सामान्यतस्त्रयाणामध्यायानामर्था निरूपिताः । अधुना विचार्यन्ते । नन्वियं लीला विसर्गे प्रविशति न सर्ग इत्याशङ्क्याह एतद्विभूतिरूपत्वादिति ।

निबन्धः—एतद्विभूतिरूपत्वादन्येषां न विसर्गता ।
साधारण्येन कथनं प्रकृते नोपयुज्यते ॥ ४२ ॥

अतः परं सपादैकचत्वारिंशद्भिरध्यायत्रयार्थकथनेन द्वितीयप्रकारं स्फुटीकुर्वन्ति सगुणा तु त्रिभिरित्यादि । ननु पूर्वस्मिन्नपि प्रकरणे गुणानामेव मध्ये प्रवेशादत्रैव कुतोऽध्यायत्रयमित्यपेक्षायामाहुस्ते हीत्यादि । पञ्चमाध्याये मैत्रेयेण मायाविशेषणभूतगुणमयपदेन ये गुणाः सूचितास्ते द्वितीयस्कन्धे 'निर्गुणस्य गुणास्त्रय' इत्यनेनोक्ता मुख्याः । अत एव मायायास्तत्त्वानां च शक्तिमदभिन्नत्वाय भगवच्छक्तित्वमुक्तम् । सा वा एतस्य सन्द्रष्टुः शक्तिरिति । 'इति तासां स्वशक्तीनामि'ति[१] । अतस्तत्र भगवतः कर्तृता, तासामसमर्थतायाः सूचितत्वात् । परन्तु, भारताद्युक्तशब्दसाम्याद्विदुरेण तत्स्वरूपं न बुद्धमिति सप्तमाध्याये भिन्नगुणाभिप्रायेण विदुरेण[२] "लीलया वापि युज्येरन् निर्गणस्य गुणाः क्रिया" इत्यादिः पूर्वपक्षः कृतः । तदा मैत्रेयेणापि "परप्रसिद्धयाऽपरो बोधनीय" इति न्यायेन विदुरबोधनाय 'सेयं भगवतो माये'त्यादिना पृथक्पक्षमादायैव समाहितम् । तेन तस्य परितोषं बुध्वाऽष्टमे तानेवाऽऽदाय सप्तमाध्यायोक्तपुराणप्रश्नोत्तरमुच्यत इति मतान्तरसिद्धा एव निरूप्यन्त इति पूर्वपक्षाधिक्याद‌ध्यायत्रयमित्यर्थः । अत्र सगुणं ब्रह्मो[३]'हीन्द्रतल्पेऽधिशयानं' 'सोन्तः शरीरेर्पितभूतसूक्ष्म' इत्यादिना शयानं, ब्रह्मोदरेभिन्नतया गुणानामुक्तत्वात् ॥ ४१ ॥

एवञ्च, पूर्वपक्षः कारणसम्भवः कार्यसम्भवश्चेत्यध्यायत्रयार्थ इत्याहुरेवं सामान्यत इत्यादि । विसर्गे प्रविशतीति "विसर्गः पौरुषः स्मृत" इति महदादिसम्भूतशरीराभिमानिपुरुष-

---

१ स्कं० ३-६-७ २ स्कं० ३-७-२ ३ 'इन्द्रतल्पे' पाठः भागवते स्कं० ३-८-११

अतो विभूतिरूपेण सर्वेषां विनिरूपणम् ।
यादृशो हि विसर्गोऽत्र स चतुर्थे विविच्यते ॥ ४३ ॥

प्रकाशः—एतदिति प्रथमसृष्टिस्वरूपपुरुषरूपमुच्यते । अन्येषां ब्रह्मादीनाम् अस्ति विभूतित्वं, ब्रह्मादीनामस्ति च विसर्गता । उभयोः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह साधारण्येन कथनमिति । भागवतं हि सारोद्धारात्मकमुत्तमाधिकारसहितं च । तेन पुराणान्तरसाम्येन न विसर्गत्वेन निरूपणीयम् । तर्हि विसर्गो न वक्तव्य इत्याशङ्क्याह यादृशो हि विसर्ग इति । तस्य न विभूतित्वं सम्भविष्यतीति भावः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

गुणातीतात्सृष्टिलीला मैत्रेयेण स्वत एव निरूपिता भगवदाज्ञया । तावता विदुरस्याकाङ्क्षायां असमाप्तौ[1] सर्वसन्देहवारकं भागवतमेवेति सूतवत् शुकवद् भागवतमेवोपक्षिपति । तत्राऽस्य परम्परा शेषात्सङ्कर्षणात् । तथा सति ब्रह्मादिक्रमेण नाऽऽगतमिति कथं भागवतत्वमित्याशङ्क्याह कृष्णोक्तमिति ।

निबन्धः—कृष्णोक्तं तु पुराणं हि श्रीभागवतमुच्यते ।
अयमर्थस्त्वन्यमुखान्नोद्भविष्यति कर्हिचित् ॥ ४४ ॥

प्रकाशः—भगवता प्रोक्तं भागवतम् । गीतादीनामपि भागवतत्वमेव, परं न पुराणत्वम् । न ह्यन्यो भगवल्लीलां जानातीत्यभिप्रायेणाऽऽह अयमर्थं इति ॥४४॥

नन्वत्र परम्परायां पराशरान्मैत्रेयस्याऽध्ययनम् । स तु विष्णुपुराणमाहेति प्रसिद्धिस्तस्मादस्य न भागवतत्वमित्याशङ्क्याह वैष्णवादिपुराणानीति ।

निबन्धः—वैष्णवादिपुराणानि तच्छेषाणीति निश्चितम् ।
सर्वतोमुखमेतद्धि तदर्थं शेषतः कथा ॥ ४५ ॥
अर्थमात्रप्रधानत्वान्न दूषणमिहाऽण्वपि ।

जन्यब्रह्माद्युत्पत्तिविसर्ग इति लक्षणस्यात्रापि दर्शनात् प्रविशतीत्यर्थः । प्रथमसृष्टिस्वरूपमिति अष्टमाध्यायोक्तं सगुणब्रह्मरूपम् । विभूतित्वमिति, भगवदावेशित्वमिति सामान्यलक्षणं प्रतिभाति । अत्र तु, सप्तधा भगवत्सम्बन्धित्वाच्छेषत्वेन विभूतित्वमग्रे वक्तव्यम् ॥४२॥४३॥,

कथं भागवतत्वमिति, "प्रवर्तये भागवतं पुराण"मिति मूलोक्तं भागवतत्वं तल्लक्षणाभावात् कथमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

---

1 'समाप्तौ' पाठः ।

प्रकाशः—"त्रयोविंशति वैष्णवम्" इति । त्रयोविंशतिसहस्रपरिमितं पुराणं भिन्नमेव, तद्व्यासेनैव कृतम् । "अष्टादशपुराणानाम्" इति वाक्यात् । इयं तु पराशरसंहिता भिन्नैव । पराशरो हि भागवतं श्रुत्वा मैत्रेयाय तथा बोधितवान् । तस्मात्तदपि भागवतमेवेति न कोपि विरोधः । ननु तथापि परम्परा भिन्नैवेति कथं भागवतमिति चेत्तत्राह सर्वतोमुखमिति । भगवतो हि स्वरूपं (भगवत्तैव) भागवते वक्तव्यम् । तद्भगवान् स्वयमेव कदाचिद्वदति । कदाचित्सङ्कर्षणो वासुदेवस्यैव तत्त्वं वदति, "तत्त्वमतः परस्य" इति वाक्यात् । ननु तत्र वाक्यानुपूर्वी विसदृशी तत्कथमनयोरेकत्वं तत्राऽऽह अर्थमात्रप्रधानत्वादिति । सर्गादयोर्था यादृशा भागवते विवक्षितास्त एव पराशरवत्कृष्णेपि सन्तीति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ ४५½ ॥

केचित्पुनः सूक्ष्मं भागवतं भगवद्ब्रह्मसंवादपरम्परया समागतं द्वितीयस्कन्धमात्रम् । स्थूलं तु दशस्कन्धात्मकं शेषतः समागतमिति । तं पक्षं दूषयति स्थूलेति ।

निबन्धः—स्थूलसूक्ष्मविभेदेन केचिदाहुर्मृषैव तत् ॥ ४६ ॥
पञ्चमादन्यवक्तृत्वा तथा शास्त्रविरोधतः ।

प्रकाशः—पञ्चमस्कन्धादिकं न पराशरेणोक्तं, नापि व्यासः पराशराच्छ्रुत्वा पञ्चमादिकं कथयति । तथा सति 'कस्मै येन पुरे'ति श्लोकोक्ता समाप्तौ परम्परा विरुध्येत । मध्ये च मैत्रेयप्रवेशो व्यर्थः स्यात् । अतः सर्वतोमुखत्वख्यापनार्थमेव अर्थप्राधान्यविवक्षया शेषकथा निरूपितेति निश्चयः ॥ ४६½ ॥

एवं दूषणसमाधानमुक्त्वा प्रकृते सङ्गतिमाह गुणातीतादिति ।

निबन्धः—गुणातीतात्सृष्टिकथा स्वत उक्ताऽतिगोप्यतः ॥ ४७ ॥

"अष्टादशपुराणानामि"तिवाक्यादिति, एतेनाष्टादशपुराणानीति पाठो भ्रान्तिकल्पित इति ज्ञापितम् । एतस्य भ्रान्तिकल्पितत्वं मया "श्रीभागवतस्वरूपविषयकशङ्कानिरासवादे" निपुणतरं व्युत्पादितमिति, ततोऽवधारणीयम् । इयमिति, विष्णुपुराणत्वेन प्रसिद्धा । विसदृशीति, भगवतः सगुणत्वख्यापनादन्यादृशी ॥ ४५½ ॥

केचिदिति बोपदेवाद्याः । समागतमिति वदन्तीति शेषः । समाप्ताविति, द्वादशस्कन्धसमाप्तौ । विरुध्येतेति 'कस्मै येने'तिश्लोके 'अयमि'तीदमः प्रयोगेणास्यैव परम्परायास्तत्र कथनात्, परम्परायाञ्च शेषे प्रवेशाद्विरुध्येतेत्यर्थः ॥ ४६½ ॥

सङ्गतिमाहेति, प्रसङ्गरूपां सङ्गतिमाह । मूले, अतिगोप्यत इति, भावप्रधानो निर्देशः ॥ ४७½ ॥

---

१ मुद्रितोऽयं वादोऽनुवादसहितः । २ विरुध्येतेति पाठः श्रीपुरुषोत्तमानाम् । विरुध्यते इति पाठः । अन्येषु, ग्रन्थेषु,

कृष्णाज्ञया तन्मुखतः श्रुतत्वान्न स्वतन्त्रता ॥

प्रकाशः—एतत्पाराशरमुखान्न श्रुतमिति किमत्र मूलमित्याकाङ्क्षायामाह कृष्णाज्ञया तन्मुखत इति। अनेन मैत्रेयस्य कृष्णमुखादेव भागवतश्रवणमिति निरूपितम्। भगवान् आदिरूपेण ब्रह्मणे प्रोवाच, । अवतीर्य तु मैत्रेयोद्धवाभ्याम्। उद्धवात्परंपरा न स्पष्टा। मैत्रेयो विदुराय प्रोवाच ॥ ४७½ ॥

इदमत्यन्तशुद्धचित्तस्य फलजनकम्। विदुरस्तु नैवंविध इत्याह अत्यन्तशुद्धचित्तस्येति।

निबन्धः—अत्यन्तशुद्धचित्तस्य युक्तिर्नाऽपेक्ष्यते क्वचित् ॥ ४८ ॥
इति वक्तुर्न सन्देहः श्रोतुस्त्वस्तीति संशयः।

प्रकाशः—अनेन भागवतानां बहुत्वमपि ज्ञापितम्। भगवदीयो यः कश्चिद्भगवता प्रोक्तं कथयति तदेव भागवतमिति सामान्यलक्षणम् ॥ ४८½ ॥

युक्त्या पदार्थनिर्धारो लौकिकः। भागवतार्थस्त्वलौकिक इति। तथाऽप्यधिकाराभावे सोऽर्थो न स्फुरतीति सन्देहे जाते तन्निराकरणमवश्यं कर्तव्यम्। तत्र यावता यो मन्यते तथा तस्मै निरूपणीयमिति स्थितिः। तथा मैत्रेयोपि विदुरबुद्धिमाश्रित्य समाधत्ते। तत्र पूर्वपक्षं सिद्धान्तञ्चाह गुणातीतादिति।

निबन्धः—गुणातीतात्सृष्टिकथा सर्वथा नोपपद्यते ॥ ४९ ॥
कार्यकारणवैजात्याल्लोकहेतोरभावतः।
निरुपाधिकरूपे हि सन्देहद्वयमीरितम् ॥ ५० ॥

पूर्वपक्षं सिद्धान्तञ्चाहेति, ससमाध्यायोक्तं तदुभयमाहेत्यर्थः। तथा कल्पयन्निति, मोहनमात्रं[1] कल्पयन्। कारणमित्यादि, अयमर्थः ब्रह्म जगदुपादानं, जगदात्मकत्वात्, जगत्पूर्वरूपत्वाद्वा, यदेवं तदेवम्, घटात्मकघटपूर्वरूपमृद्वदितिसाधने, ब्रह्म न जगदुपादानं, जगद्विलक्षणत्वात्, घटविलक्षणतन्तुवदिति प्रतिपक्षोन्नयनं पूर्वहेतुना क्रियते। तथा ब्रह्म जगत्कर्तृ, तन्निरूपितक्रीडाकामत्वात्, मार्त्तिकक्रीडनकक्रीडाकामतत्कर्तृबालवदिति साधने, ब्रह्म न तत्क्रीडाकामं, अकामत्वाद्[2] वृद्धादिवदिति स्वरूपासिद्धत्वोन्नयनं द्वितीयेन हेतुना क्रियत इत्यत एवं सन्देहद्वयमित्यर्थः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

---

१ मेहनमिति क्वचित् पाठः २ "आ" इति लिखितम् हस्ताक्षरेऽशुद्धं भाति।

प्रकाशः—यथा बालः पुरुषस्य निषेकाज्जन्माज्ञात्वा भोजनमेहनावेव पश्यन्, तत्रापि तथा कल्पयन्, तदप्यनुपपन्नमिति संशयीभवति। तत्र वक्ता बालं यथाकथञ्चिद्बोधयति, वस्तुतस्तु न स सिद्धान्तः। किन्तु, यथा निरूपितं "भगवानेकं आसेदम्"[1] ३-५-२३ इति स एव सिद्धान्तः। विदुरस्य संशये हेतूनाह कार्यकारणवैजात्यादिति। कारणं गुणरहितम्। कार्यं सगुणमिति। लोकहेतुश्च कामः। एवं गुणातीते सन्देहद्वयम् ॥ ५० ॥

तत्परिहारार्थं यदि सोपाधिक एव जगत्कर्ता निरूप्यते तदा पूर्वोक्तदोषपरिहारो भवति। तथापि तदेव न सम्भवतीति तृतीयो दोषः समायातीत्याह सोपाधित्व इति।

निबन्धः—सोपाधित्वे परीहारस्तदेव न भवेदिति।
तृतीयो ब्रह्मगः सिद्धो जीवेऽप्येवमभेदतः ॥ ५१ ॥

प्रकाशः—एतस्य दूषणस्य समाधानाभावात् तृतीयो ब्रह्मगः सिद्ध इत्युक्तम्। इदमेव दूषणं ब्रह्मणो जीवभावेपि ॥ ५१ ॥

मायासम्बन्धे निरूपयितुं शक्ये हि दुर्भगत्वादिकं सम्भवतीति एतयोः समाधानं मायासम्बन्धे[2] निरूपयितुं शक्ये सति तत्कार्ये च निरूपयितुं शक्ये सति भवतीत्याह मायासम्बन्ध इति।

निबन्धः—मायासम्बन्धकार्यें हि परिहार्यें तयोः क्रमात्।
प्रथमस्य परीहारः षष्ठ्या नित्यतयोदितः ॥ ५२ ॥

प्रकाशः—एवमेका शङ्का ब्रह्मगा अपरा जीवगेति। पूर्वपक्षं निरूप्य सिद्धान्तं

तत्परीत्यादि, यदि च पूर्वोक्तदोषद्वयपरिहारार्थं पक्षः सोपाधित्वेन विशिष्यते तदा वैलक्षण्याकामत्वनिवृत्तौ प्रतिसाधनानवकाशात् परिहारो भवति। तथापि, ब्रह्म न सोपाधिकं पूर्णज्ञानत्वात्, यन्नैवं तन्नैवमस्मदादिवदित्यनुमानेन विशेषणमेव न सम्भवतीति साधकहेतुनामाश्रयासिद्धत्वेन प्रतिसाधनस्य पुनरुत्तेजनादुक्तहेतुकृतस्तृतीय आयातीत्यर्थः।

एवं जीवभावेपीति, ब्रह्मजीवभावानर्हम्, अनुपाधित्वात्, यन्नैवं तन्नैवमित्यनुमानात्। पूर्णज्ञानवत्त्वम् अनुपाधित्वञ्च दूषणमित्यर्थः। दूषणान्तरमाहुर्माययेत्यादि। तथा च, जीवो दुर्भगः क्लिष्टो भवितुं नार्हति, ब्रह्माभिन्नत्वात्, यद् यदभिन्नम्, तत् तदविरुद्धधर्मकम्, महाकाशाभिन्नघटाकाशवदित्यपि दूषणमित्यर्थः। इत्याहेति, इति हेतोः एते परिहार्ये इत्याशयेनाहेत्यर्थः ॥ ५१ ॥ ॥ ५२ ॥

---

१ "भगवतनेक" इतिपाठः। २ "मायासम्भवे" इतिपाठः।

निरूपयति प्रथमस्य परीहार इति । " सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते " ३-७-८ इति भगवतो मायायाश्च नित्य एव सम्बन्धः षष्ठ्या निरूपितः ॥ ५२ ॥

नन्वेवं सति भगवत्त्वहानिः स्यादित्याशङ्क्याह भगवत्त्वाविरोधित्वमिति ।

निबन्धः—भगवत्त्वाविरोधित्वं प्रकृत्यैव च सूचितम् ।
असमासात् प्रधानत्वं तेन नोपाधिसम्भवः ॥ ५३ ॥

प्रकाशः—भगवत्पदेनेत्यर्थः । ननु विक्षेपशक्तिपक्षेपि भगवत्त्वाविरोध उपपद्यत इत्याशङ्क्याह असमासात्प्रधानत्वमिति । भगवतो मायेति पदद्वयस्याऽसमासादेकार्थत्वाभावः । तेन न मायावैशिष्ट्यं भगवतः, किन्तु, सा पृथगेव दासीवत्तिष्ठतीत्युक्तम् (भवति) ॥ ५३ ॥

एवं भगवति परिहारमुक्त्वा जीवे परिहारमाह द्वितीयस्येति ।

निबन्धः—द्वितीयस्य परिहारे विरोधात्कार्यबाधनम् ।
विरोधमात्रमाहोस्विदाद्ये सेयं दर्शितः ॥ ५४ ॥

प्रकाशः—भगवतो मायेति पदद्वयेनैव प्रथमस्य परीहारः । द्वितीये पक्षं विकल्पयति विरोधात्कार्यबाधनं, आहोस्विद्विरोध एवेति । आद्ये समाधानं सेयं दर्शित इति । कार्यबाधनं कर्तुं न शक्यते संसारस्याऽसिद्धत्वात् । नन्वेतदेव न स्यादित्युच्यत इति चेद्भगवन्मायया तदुपपत्तिरिति बुध्यताम् ॥ ५४ ॥

मूले प्रकृत्येतिल्यबन्तम्, प्रस्तुत्येत्यर्थः । विक्षेपेत्यादि, तद्वैशिष्ट्येन मायावादिभिस्तथाङ्गीकारादुपपद्यते, तथाप्युपाधिसम्बन्ध एव पूर्वोक्तयुक्त्या नोपपद्यत इत्याशङ्क्यानुपाधित्वाविरुद्धं तत्सम्बन्धमाहेत्यर्थः । एकार्थत्वाभाव इति, शाकल्याभावः । तेनेत्यादि, तथा च, शुद्धं ब्रह्म, मायासम्बद्धस्वविलक्षणजगदुपादानम्, अनुपहितत्वेपि मायासम्बद्धत्वात् । यद् यदनुपहित्वेपि यत्सम्बद्धम्, तत्तत्सम्बद्धस्वविलक्षणकार्योपादानम्, नानावर्णदर्पणसम्बद्धस्वविलक्षणप्रकाशोपादानसूर्यवत् । शुद्धं ब्रह्म कामाभावे जगत्कर्तृ, अदूषकमायासम्बन्धेन क्रियावत्त्वात् । यद् यददूषकसम्बन्धेन क्रियावत् तत्कामाभावेपि कर्तृ । अयःकान्तसम्बन्धेन भ्रमदयोवदित्यनुमानाभ्यां परिहार इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

विरोधादित्यादि, ब्रह्मत्वविरोधाद्दुर्भगत्वादिबाधनं वा । ब्रह्मत्वदुर्भगत्वयोर्विरोधो वेत्यर्थः । नन्वेतदेवेत्यादि । कार्यस्य दृश्यमानत्वात्तद्विरोधेन ब्रह्मणो जीवरूपेण सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितत्वमेव न स्यात्, किन्तु जीवस्य भिन्नत्वमेवाङ्गीकार्यमित्युच्यत इति चेत्, मायया ।

---

१ विरोधो वेति पाठः ।

तथापि युक्तिविरोध इति द्वितीयपक्षे समाधानमाह द्वितीय इति ।

निबन्धः—द्वितीये भूषणं तस्या विरोधो न तु दूषणम् ।
विरुद्धकार्यसम्बन्धस्तत्कृतस्तेन वर्ण्यते ॥ ५५ ॥

प्रकाशः—कथं भूषणमित्याशङ्क्याह विरुद्धकार्यसम्बन्ध इति । मायया हि विरुद्धं कार्यं दृश्यते । शिरश्छिद्यते जीवति । अन्त्राणि निष्कास्यन्ते स्वस्थश्चेति ॥५५॥

नन्वत्रापि कोपपत्तिरित्याकाङ्क्षायामाह विरोधोपि प्रतीत्यैवेति ।

निबन्धः—विरोधोपि प्रतीत्यैव न वस्तुनि यतो बृहत् ।
दर्शनं ज्ञानिनोप्येवं जीवे सर्वस्य नेश्वरे ॥ ५६ ॥
इति दृष्टान्ततस्तस्य सत्ये भेदो निरूपितः ।
तन्निवृत्तिप्रतीकारो दुर्लभस्तेन तत्कथा ॥ ५७ ॥

प्रकाशः—सर्वभवनसमर्थत्वाद्ब्रह्मणस्तच्छक्तित्वान्मायायाश्च तथात्वम् । अयमात्मविपर्यय ईश्वरस्य कार्पण्यादिः स्वरूपे ज्ञाते न भविष्यतीत्याशङ्क्याह दर्शनं

विरुद्धभ्रमकर्त्र्या तदुपपत्तिरीश्वरत्वेपि कार्पण्याद्युपपत्तिरिति बुध्यताम् । तथा चैतस्यापि "सेयम्भगवतो माये"त्यनेनैवोत्तरं सिद्धमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

समाधानमाहेति, यत्र येनेत्यादिना समाधानमाहेत्यर्थः । दृश्यत इति, ऐन्द्रजालिकेषु दृश्यते ॥ ५५ ॥

अत्रापीति, युक्तिविरोधेपि । सर्वेत्यादि, तथा च, कार्पण्यबन्धनादिरूपेण माया भवतीति न कार्पण्यं न बन्धनमतो न वस्तुतो विरोध इत्यर्थः । वस्तुस्वरूपं मूले उक्तम्, यतो बृहदिति, यतो जीवोपि ब्रह्मात्मक एवेति, तथा च, विरुद्धधर्माणामध्यासमात्रत्वात् तावन्मात्रेण जीवानां वस्तुतो ब्रह्मभिन्नत्वं न कल्पयितुं शक्यत इति यत्र येनेत्यस्य तात्पर्यम् । नन्वयं कार्पण्यबन्धनादिभ्रमो जीवस्वरूपानभिज्ञस्य वा तदभिज्ञस्याऽपि वा ? । आद्ये तु समाधिरुपपद्यते, परन्त्वाद्य पक्ष एवासङ्गतः । ज्ञानिनापि मैत्रेयेण तदुक्तेः, उक्तीनाञ्चानुभवपूर्वकत्वात् । एवं सिद्धे उक्तभ्रमस्य साधारण्ये भ्रमरहितादीश्वरात्सिद्ध एव जीवस्य भेद इत्याशङ्कायां ज्ञानिनस्तादृशप्रतीतावपि न भेदसिद्धिरिति प्रतिपादयितुं "यदर्थेन विने"त्यादिश्लोकद्वयस्य तात्पर्यं वदन्त आहुः अयमित्यादि, उक्तरूपः । अर्थं विना भ्रमः ईश्वरस्य कार्यस्यादिः 'पराभिध्यान'सूत्रोक्तं यज्जीवबन्धरूपं कार्यं तस्यादिः, पूर्वकालीनः, स जीवस्वरूपे ईश्वराभिन्ने ज्ञाते न भविष्यतीत्याशङ्क्य ज्ञानतौल्येपि तत्समाधानमाहेत्यर्थः । अत्र कार्यस्यादिरित्यत्र कार्पण्यादिरिति पाठः

---

१ इदं विवरणं भा० ३-७-९ आरभ्य मैत्रेयोक्तेः । २ "धर्म"पाठः । ३ "उक्तानां" इति पाठः ।

ज्ञानिनोऽप्येवमिति। यस्तु जीवे ज्ञानी जीवस्वरूपाभिज्ञः। जीवस्वरूपं तु सर्वावस्थासु भासत एव, ईश्वरस्वरूपमेव परं न भासते। अतः स्वप्नद्रष्टा भगवानेवेति तेन सह स्वस्याऽभेदज्ञानात्स्वशिरश्छेदः स्वप्ने भासते। वस्तुतस्तु जीवस्वाप्नशरीरस्य शिरश्छेद ईश्वरेण दृश्यते, स्वयं च तदभेदात्पश्यति। सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरेव भेददर्शनम्। शारीरात्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तोऽन्वारूढ इति भेदेन निरूपणात्। ब्रह्मविदस्तत्र भेदेनाऽनुभवः। अन्यस्य त्वबोधस्तदाह इति दृष्टान्तत इति। स्वप्नदृष्टान्तेन सत्ये भगवत्स्वरूपे देहाच्छेदो निरूपितः। तत्र द्रष्टा भगवानेवेति। तर्हि शिरो जीवस्येत्यत्र किं प्रमाणम्? तत्र द्वितीयो दृष्टान्तो यथा जले चन्द्रमस इति। यस्तु देहादिसंसारे जलप्राये अहमिति मन्यते तस्यैव कम्पादिर्न त्वाकाशस्थस्य। अतोऽभेदेऽपि जीवस्यैव

प्रतिभाति। जीवस्वरूपाभिज्ञ इति, तस्याप्येवं स्वशिरश्छेदादिदर्शनम्भवतीति मूलेन सह योजना। ननु तत्र का वा उपपत्तिरित्याकाङ्क्षायामाहुर्जीवस्वरूपं त्वित्यादि। भासत एवेति, सर्वेषां भासत एव। अत इति, जीवस्वरूपस्य सर्वदा भानात्। भगवानेवेति, द्वितीयस्कन्धप्रथमाध्यायसमाप्तौ "स्वप्नजनेक्षितैक" इत्यस्य सुबोधिन्यां स्वप्नगोलकस्य मिथ्यात्वात्तदभावेनेन्द्रियलयेन च जीवस्याद्रष्टृत्वव्युत्पादनाद्भगवानेव। अभेदज्ञानादिति, भेदज्ञानाभावात्। तथा च, जीवस्वरूपानभिज्ञस्य निद्रया ईश्वरभेदस्फूर्त्यभावात्स्वशिरश्छेदो भासते। ज्ञानी तु तदभेदात् स्वयं पश्यतीति दर्शनमुभयोः समानम्। तथा च, यथा स्वाप्नदर्शनं जीवभेदापादकं न भवति, तथा जाग्रत्यपि कार्पण्यादिदर्शनं न जीवेश्वरभेदापादकमित्यर्थः। ननु यथा जीवस्वरूपज्ञानरहितः स्वप्ने ईश्वरभेदस्फूर्त्यभावात्स्वशिरश्छेदादिकं पश्यति, तद्वत् ज्ञान्यपि पश्यतु, न त्वभेदादित्यत आहुः सुषुप्तीत्यादि। तथा च, तत्रैवमिदं "सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त" इतिज्ञानित्ववचनात्। ज्ञानवत एव तत्र तथात्वादन्यत्राभेदादेव दर्शनम्, न तु भेदास्फूर्त्येत्यर्थः। नन्वेवं ज्ञानिनस्तत्र भेददर्शनम्, स्वप्ने भेदास्फूर्त्तिरेवाद्रियताम्, किमभेदाग्रहेणेत्यत आहुः ब्रह्मेत्यादि। अबोध इति, न बाह्यं वेदनान्तरमिति तत्र श्रवणादन्यस्याबोधः। तथा च, ज्ञानिनोऽवस्थान्तरे भेदस्फूर्त्यभावे अज्ञानस्य बीजत्वेन वक्तुमशक्यत्वात्, ज्ञानमेव बीजत्वेन वक्तव्यम्। तद्यदि ईश्वरभेदज्ञानं तथा, तदा सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरेव भेदबोधिकायाः श्रुतेर्विरोध इत्यवस्थान्तरे अभेदज्ञानमेव हेतुत्वेन वक्तव्यम्, तथा सति सिद्ध एवावस्थान्तरे ज्ञानिजीवस्य ईश्वराभेदस्तदेतत्स्वप्नदृष्टान्तेनाहेत्यर्थः। व्याकुर्वन्ति स्वप्नेत्यादि। इति दृष्टान्ततः सार्वविभक्तिकस्तृतीयार्थे तसिः। स्वप्नदृष्टान्तेन सत्ये भगवतः स्वरूपे द्रष्टरि सति तस्य ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च द्रष्टुः स्वाप्नादेहाच्छेदो निरूपित इति योजना। तथा च, तत्र स्वाप्नभ्रमो ज्ञान्यज्ञानिसाधारण इति मैत्रेयोक्तदृष्टान्तवाक्यबलेन जीवस्येश्वरभेद आपादयितुं न

तच्छिरः । अस्याऽनर्थस्य निवृत्तिः स्वतो न भवतीति तन्निवृत्त्युपाय उच्यत इत्याह तन्निवृत्तिप्रतिकार इति, "स वै निवृत्तिधर्मेण"(३-७-१२) इत्यादिना ॥५६॥५७॥

मार्गद्वयेनानर्थनिवृत्तिः, भक्तिमार्गेण ज्ञानमार्गेण च। तत्र प्रथमे शनैस्तिरोभाव इति मैत्रेयाभिप्रायः । सर्वतिरोभावस्तु भगवत्साक्षात्कारे । तदा न स्वप्नदर्शनम् । जागरणेपि न देहादावात्मबुद्धिः, किन्तु सुषुप्तिवत्सर्वदा ब्रह्मानन्दानुभवः ।

निबन्धः—निदर्शनं सुलभं साधनं च गूढा सूक्तिस्तेन वै तत्प्रकाशः ।
तदुक्तं वै दर्शनं यन्न भेद्यं सेवाहेतुः शास्त्रनिष्ठेयमाद्या ॥५८॥

प्रकाशः— तत्र प्रथमपक्षे मुक्तिर्वक्तव्येति मैत्रेयः कैमुतिकन्यायेन "अशेषसंक्लेशशमम्" ३ ७-१४ इति श्लोकेन निरूपयतीत्याह निदर्शनं सुलभमिति। दृष्टान्तोऽत्र सुलभः । सर्वेषामेव भगवद्गुणानुवादे परमानन्दानुभवात्। साधनं च सुलभं सर्वत्र सतां भगवद्गुणकीर्तनस्य नित्यत्वात्। चकारान्नात्र देशाद्यपेक्षा। नन्वेवं सति कथं न सर्वेषामनर्थो निवर्तते तत्राह गूढा सूक्तिरिति । समीचीना भगवच्चरित्रोक्तिः, गूढा गुप्ता । तेनैव हि भगवत्प्रकाशः स च दुर्लभ इति न सर्वमुक्तिः । अत एव भक्तिमार्गो दुर्लभ इति तद्दर्शनमुक्तम् । ज्ञानमार्ग उक्तः । तदपि तदेव दर्शनम् । यन्न भेद्यमात्मनो भेदं न भासयति । एवं मार्गद्वयस्यापि सेवा हेतुः । भगवत्सेवया द्वयमपि प्राप्यत इति । सापि सेवा शास्त्रनिष्ठा पञ्चरात्रोक्ता न स्वेच्छया यथाकथञ्चित्कृता । इयमाद्या प्रथमत एवं कर्तव्या । पश्चाद्भगवत्प्रसादे तदुक्तप्रकारेण स्वेच्छयापि सेवा भवतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

अयं सिद्धान्तो ज्ञातव्य इत्येवाभिप्रेत्य सर्वं पृष्टमित्याह तदर्थमेवेति ।

निबन्धः—तदर्थमेव सकलं पृष्टं दुर्लभसङ्गतः ।
अतोऽपि न विसर्गत्वमन्यशेषाद्यवीयसाम् ॥ ५९ ॥

शक्यत इति कार्पण्यादेर्मायिकत्वमेव विरोधपरिहारे उपपत्तिरित्यर्थः । द्वितीयदृष्टान्ततात्पर्यमाहुस्तर्हीत्यादि । तर्हीति जीवेश्वरयोरुभयोरपि स्वाप्नदेहाद्भिन्नत्वे । एवं जीवेश्वराभेदेपि जीवस्यैव भ्रान्त्या संसार इति श्लोकद्वयेन समर्थितम् । तथा सति तस्य निवृत्तिस्तत्कारणनिवृत्त्या भवति नान्यथेति कारणनिवृत्त्युपायोन्वेष्टव्यः । स को वेत्यपेक्षायां स वै निवृत्तीत्यादिकं वदतीत्याशयेनाहुः अस्येत्यादि ॥ ५६ ॥ ॥ ५७ ॥ शनैरिति, मार्गस्य दुर्लभत्वाच्छनैरिति मूलानुसारेण बोध्यम् ॥ ५८ ॥ सर्वं पृष्टमिति, विदुरेण पुनः सर्वं पृष्टम् ।

---

१ "कार्यादेः" अधिकम्।

प्रकाशः--अनेन सर्गत्वमेव समर्थितमित्याह अतोपि न विसर्गत्वमिति) यवीयसां ब्रह्मादीनां सृष्टिकर्तुर्भगवतो विभूतिशेषत्वात्। एवं पूर्वपक्षाध्याये विभूतिज्ञानार्थं प्रश्नः समर्थितः ॥ ५९ ॥

विभूतिज्ञानं च भागवतादेव भवतीति तस्य प्रस्तावनेत्याह श्रीभागवतमेवात्रेति ।

निबन्धः-श्रीभागवतमेवाऽत्र श्रोतव्यं नान्यदस्ति हि ।
स्वज्ञानख्यापनार्थं हि तदुपाख्यानमीरितम् ॥ ६० ॥

प्रकाशः—अन्यतः श्रवणं वारयितुं परम्परामाहेत्याह स्वज्ञानख्यापनार्थमिति ॥ ६० ॥

कथं ब्रह्मणो विभूतित्वमित्याशङ्क्याह तदुद्भवस्तदाज्ञस इति ।

निबन्धः-तदुद्भवस्तदाऽऽज्ञप्तस्तपसा तोषिते हरौ ।
स्तुते सम्प्रार्थिते चैवं बोधितः सर्वमेव हि ॥ ६१ ॥
चतुर्मुखश्चकारेदं यथापूर्वं तदाज्ञया ।
इति दर्शयितुं पृष्ट उपोद्घातं त्रिभिर्जगौ ॥ ६२ ॥

प्रकाशः--सप्तधा यो भगवत्सम्बन्धी स तस्य विभूतिः । आवेशी भवतीत्येके । अत्र गुणातीतात्सृष्टिमुक्त्वा सगुणात्सृष्टिर्वक्तव्या, सापि "विरिञ्चोपि तथा चक्रे" ३-१०-४ इति दशमाध्याये वक्तव्या । मध्येऽध्यायत्रयेण कथं सगुणात्सृष्टिरित्याशङ्कयाह इति दर्शयितुं पृष्ट इति । त्रिभिरुपोद्घातो निरूपितः । अनेन विभूतित्वनिरूपण एव तात्पर्यमिति ज्ञापितम् । यतः सृष्टिरल्पेनैवोक्ता ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

पद्मकल्पस्य विशेषतो निरूपणे हेतुमाह पद्मकल्प इति ।

निबन्धः-पद्मकल्पः सात्त्विकानां श्रेष्ठस्तं तत उक्तवान् ।

अनेनेति सप्तमाध्यायस्थेन 'तद्विभूतीर्वदस्वे'तिप्रश्नेन मूले "यवीयसान्न विसर्गत्वमि"-त्यन्वयः । एवं सप्तमाध्यायो विचारितः ॥ ५९ ॥

अष्टमाध्यायं विचारयन्ति विभूतिज्ञानमित्यादि । भवतीति, विभूतिर्भवति । सप्तप्रकारास्तु तदुद्भवत्वं तदाज्ञप्तत्वं तपसा तत्तोषकत्वं तत्स्तावकत्वं तत्प्रार्थयितृत्वं तद्बोधितत्वं तदाज्ञाकारित्वमित्येते मूलाद्बोध्याः ॥ ६० ॥

अत्रेति, सृष्टिप्रकरणे । इतीति इत्यादिभिः षड्भिः । अध्यायत्रयेणेति, सप्तमादित्रयेण । इति दर्शयितुमिति, उक्तप्रकारैः सप्तधा भगवत्सम्बन्धित्वेन विभूतित्वं दर्शयितुम्। अल्पेनेति, अष्टमाध्यायस्थेन "स पद्मकोश" इत्यादिश्लोकद्वयेन ॥६१॥६२॥

पूर्वस्य प्रलयं शिष्टं हेतुं चाह विशुद्धये ॥ ६३ ॥

प्रकाशः—पद्मकल्पात्पूर्वकल्पस्तामसो भवितुमर्हति । अतस्तस्य प्रलयो निरूप्यते, तत्र यः शिष्टः शेषशायी भगवान् स चोत्तरत्र हेतुत्वार्थं निरूप्यते । अतः पद्मकल्पोऽत्यन्तं शुद्धो भवति ॥ ६३ ॥

अत्र कल्पभेदेषु पदार्थानामन्यथात्वं दोषाय न भवतीति ज्ञापयितुं पृथिव्यास्त्रिरूपत्वमाह जघनाब्जपृथग्रूपैरिति ।

निबन्धः—जघनाब्जपृथग्रूपैस्त्रिधा भूमेर्निरूपणम् ।
ब्राह्मे पाद्मे वराहे च तेन नाऽन्योन्यदूषणम् ॥ ६४ ॥

प्रकाशः—ब्रह्मकल्पे विराजो जघनरूपा पृथिवी । पद्मकल्पे तस्यैव नाभिपद्मरूपा । वराहकल्पे तु पृथग्रूपा । तत्राप्यादिवराहकल्पे ब्रह्मणाऽतलादिपञ्चलोकानां हस्तेनोद्धृतिः कृता, पुष्करपर्णे च स्थापिता । सैव मग्ना पुनर्भगवतोद्धृता वराहकल्पे । अयं तु श्वेतवाराहकल्पस्ततोपि विसदृशस्तेन दृष्टश्रुतयोर्विरोधो न मन्तव्यः ॥ ६४ ॥

ननु बहूनां कल्पानां विद्यमानत्वात्कथं त्रयमेव निरूपितं तत्राह । प्राकृतं त्रयमेतदिति ।

निबन्धः—प्राकृतं त्रयमेतत्स्यादन्येष्वेकं यथोचितम् ।
अतस्त्रिधा भागवते भुवो रूपनिरूपणम् ॥ ६५ ॥

प्रकाशः—अन्ये कल्पा एतद्विकाराः । अत एतेषामन्यतरस्य तेषु पृथिव्यादीनां रूपं भवति । अत्र निदर्शनार्थमाह अतस्त्रिधा भागवत इति ॥ ६५ ॥

तेषु कल्पेष्वन्यानपि धर्मान् विवेचयति पुरुषावयवैरिति ।

निबन्धः—पुरुषावयवैः सर्वं यदा तस्य पृथङ्न हि ।
पृथिवी वा समुद्रा वा परिखामध्यवत्पुरम् ॥ ६६ ॥
तदा सर्वं हरिर्मानी न मानीत्यपरे विदुः ॥

प्रकाशः—ब्रह्मकल्पव्यवस्थेयम् । तदा भगवतः सकाशात्पृथिव्यादीनां न

पुष्करपर्णे च स्थापितेति, एतेन "तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयदि"ति श्रुतिः स्मारिता, पद्मकल्पीयाण्डस्थितिश्च बोधिता ॥६३॥६४॥

अतस्त्रिधेति मूले । अत इति, सर्ववेदेतिहाससाररूपत्वात् ॥ ६५ ॥

भिन्नतयाऽवस्थानम् । एकमेव विराड्रूपमावरणजलमध्ये परिखामध्यनगरमिव तिष्ठति। तस्मिन् कल्पे सर्वं हरिरेव शरीरत्वात्, यतः स मानी। अन्ये त्वाहुः, विराट्शरीरं भगवता नारायणेन लीलार्थं करणत्वेनैव गृहीतमिति । तस्मिन्पक्षे क्रीडाभाण्डं विश्वं न भगवत्स्वरूपमित्यर्थः। स्वस्यैव समवायित्वेपि कामधेन्वादिदृष्टान्तैर्न तत्राऽऽत्मस्फूर्तिः। किन्तु आत्मीयत्वेनैव स्फुरणम् ॥ ६६½ ॥

द्वितीयपक्षं निरूपयति यदेति ।

निबन्धः—यदा पद्मात्सर्वमिदं तदा पूर्वकथा न हि ॥ ६७ ॥
जलं च मध्यतः सृष्टमथवाऽण्डस्य मध्यगम् ॥ ६७½ ॥

प्रकाशः—पद्मकल्पपक्षे प्रलयजलमपि नास्ति। किन्तु तिरोहितो नारायणः केवलं नाभिपद्ममेव स्थलकमलवत्तिष्ठति। जलं च तन्मध्ये पुनः सृष्टम्। अण्डमध्ये वा

परिखामध्ये इत्यादि, द्वितीयकन्धे ब्रह्मकल्पस्य निरूपितत्वात्तत्रत्यसन्दर्भेण तथा तिष्ठतीत्यवसीयत इत्यर्थः। ननु मानित्वपक्षे भगवतो नात्मत्वेन जगत्स्फूर्त्तिः, तथा वचनाभावात्। अत आत्मीयत्वेनैव वक्तव्या, तथा सति कथं मानित्वमित्यत आहुः स्वस्यैवेत्यादि। तथा चात्मीयत्वेन स्फूर्त्तावपि न मानित्वहानिरित्यर्थः॥ ६६ ॥

एवं ब्रह्मकल्पीयविराड्व्यवस्थामुक्त्वा पद्मकल्पीयां वक्तुमाहुः द्वितीयपक्षमित्यादि। जलमपि नास्तीति । नवमाध्याये "कञ्जनाभस्तिरोदध" इत्युक्तेस्तदावरणभूतञ्जलमपि तिरोहितमतो नास्तीत्यर्थः। ननु तर्हि "न्यपाद्वायुं सहाम्भसे" त्युक्तस्य विरोध इत्याशङ्कायामाहुः जलं चेत्यादि । "तर्ह्येवं तन्नाभिसरःसरोजमात्मानमम्भःश्वसनं वियच्चे" ति वाक्ये नाभेः सरस्त्वनिरूपणेनं तत्र तत्पुनः सृष्टमित्यवगम्यते । अन्यथा नारायणनिवासभूतस्य महाजलस्य ब्रह्मणा मातुमशक्यत्वा"न्यपादि" त्युक्तिविरोधापत्तेः। ननु तत्र "विवृद्धविज्ञानबल" इति ब्रह्मविशेषणान्महाजलपानेपि न विरोध इत्याशङ्कायां पक्षान्तरमाहुः अण्डमध्ये वेत्यादि। तथा चैवं तज्जलसद्भावाङ्गीकारेपि तत्कल्पे अण्डनिर्भेदस्यानुक्तत्वादण्डसत्ताङ्गीकार्या। तथा सत्यावरणजलं तिष्ठत्यण्डोपरि। मध्ये विराजितिरोहिते मध्यस्थजलस्यैव न्यपादित्यनेन पानमुच्यत इति न कोपि विशेष इत्यर्थः। ब्रह्मकल्पादस्मिन् विशेषान्तरमाहुः तदेत्यादि। 'अनेन लोकान् प्राग्लीनान् कल्पितास्मी'तिवाक्यतः कमलात्सर्वम्।" एते मेवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिन" इतिवाक्यतः सर्वे भगवदंशा भगवन्मायासहिताश्चेति ज्ञेयमित्यर्थः। न चात्र कालसाहित्यं कुतो नोक्तमितिशङ्क्यम्, कालसाहित्यस्य ब्रह्मकल्पेपि सत्त्वात्, "कालं कर्म स्वभावं चे" तिवाक्यात्। एवं चोक्तवाक्ये कालमात्रस्योक्तत्वेपि परिणामजन्मनोः कार्ययोर्दर्शनात् स्वभावकर्मणोरपि साहित्यं विवक्षितं ज्ञेयम्। किञ्च, यथा द्वितीयस्कन्धे "अयन्तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृत" इतिवाक्याद्विकल्पसहितमहाकल्पस्य

विराजितिरोहिते कमलमात्रं प्रादुर्भूतं तिष्ठति । तदा कमलात्सर्वम् । सर्वे भगवदंशा भगवन्मायासहिताश्चेति ॥ ६७½ ॥

तृतीयकल्पमाह कदाचिज्जलवद्भूमिरिति ।

निबन्धः—कदाचिज्जलवद्भूमिः पृथगेव विनिर्मिता ॥ ६८ ॥
कटाहमूले गमनं तदा तस्या निरूप्यते ।
न समुद्रास्तदा सप्त न तथा विस्तृता च भूः ॥ ६९ ॥

प्रकाशः—यथा पद्मकल्पे जलनिर्माणमेवं वराहकल्पे भूनिर्माणम् । कटाहमूले रसातले तदा सप्तसमुद्राणां सद्भावे प्रमाणाभावात्पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा पृथिवी न भवति । ज्योतिःशास्त्रविरोधाच्च ॥ ६९ ॥

अन्यदपि वैलक्षण्यमाह न शेत इति ।

निबन्धः—न शेते प्रथमे कल्पे तिरोभावस्तु तस्य हि ।
द्वितीये शयनं तस्य तृतीयेपि क्वचिद्भवेत् ॥ ७० ॥

प्रकाशः—ननु ब्रह्मकल्पातिरिक्तकल्पेषु कथं सर्वस्य भगवन्मूलत्वं तत्राह तदुद्धारादिति ।

कथा, तथा "पाद्मं कल्पमथो शृण्वि"ति प्रतिज्ञाय तृतीयस्कन्धे कर्तृस्वरूपद्वैविध्यकथनादत्रापि महाकल्पे पाद्मे गुणातीतात्तद्विकल्पेषु सगुणादिति बोध्यम् ॥ ६७ ॥

एवं पाद्मकल्पव्यवस्थामुक्त्वा वाराहव्यवस्थामाहुः तृतीयेत्यादि । भूनिर्माणमिति, नारायणेन कृतमित्यर्थः । मूले तस्येति, आदिवाराहस्य ब्रह्मणश्च । तदेति, वाराहकल्पे । एवं च पद्मकल्पेपि पृथिवी ब्रह्मकल्पापेक्षया स्वल्पेतिप्रतिभाति, पद्मस्याण्डमध्यगत्वात् ॥६८॥६९॥

मूले, न शेते इति, ब्रह्मकल्पे गोलस्य ऊर्ध्वत्वात् शयनस्यानुक्तत्वात् तिरोभावस्योक्तत्वाच्च तथेत्यर्थः । (मूले) तस्येति, नारायणस्य । भगवतैवोद्धार इत्यादि । एतेन पद्मकल्पे अवयवांशत्वात्सर्वस्य भगवन्मूलत्वम् । वाराहकल्पेपि पूर्वमतलादिपञ्चोद्धारस्य तन्मज्जनस्य च कथनेन शेषलोकस्थितिसूचनात्पूर्वाण्डस्थितिसिद्धौ तदुद्धारादित्यनेन अवयवांशभूताया एवोद्धार आयातीति सर्वस्य परम्परया भगवन्मूलत्वमित्यर्थः । कः पूर्वपक्ष इत्यत आहुः विराज इत्यादि, तथा च 'विराडतिरिक्तः कः शेत' इति पूर्वपक्ष इत्यर्थः ।

---

१ "प्रतिज्ञाया" पाठः । २ "शृणु" इति क्रियापदस्य कर्म "पद्मकल्पम्" तस्य महाकल्पविकल्पभेदेन स्वरूपद्वैविध्यकथनात् ।

निबन्धः--तदुद्धारात्तदाधारात्तन्मूलं सर्वमत्र हि।
अयं नारायणः शेते पूर्वमृष्टं निपीय तु ॥ ७१ ॥

प्रकाशः—भगवतैवोद्धारः पृथिव्याः कृतः। पद्मकल्पे पद्मस्य स एवाऽऽधारः, अतस्तन्मूलत्वम्। एवं कल्पभेदेन विरोधं परिहृत्य "उदाप्लुतं विश्वम्" इत्यत्र कस्यचिच्छयनं निरूपितम्। तत्र पूर्वपक्षपरिहारार्थमाह अयं नारायणः शेत इति। विराजः शयनं न सम्भवतीति शङ्का। उत्तरं तु तिर्यग्गोलाभिप्रायेण। अस्यापि कल्पस्य पूर्वमपि पद्मकल्प एव। "अनेन लोकान् प्राग्लीनान्" इति वाक्यात् ॥ ७१ ॥

शयनस्थानमाह स्वाधार इति।

निबन्धः—स्वाधारेऽण्डकटाहे वा जलमध्ये तु तत्स्थितिः।
उदरस्थं जगत्सर्वं रजोरूपेण वर्तते ॥ ७२ ॥

प्रकाशः—स्वस्मिन्नेव जलं कल्पयित्वा तस्मिंन् शेते दैनंदिनप्रलयस्तादृशोपि भवति। अन्यथा नारायणस्य शयनं न सम्भवति। अथवा, यथाश्रुतानुरोधेन पक्षान्तरं कल्पनीयमित्याह अण्डकटाहे वेति। तदा निद्रानिमित्तं प्रलयोऽभूल्लोकत्रयस्य। तदा नारायणोऽपेक्षको भिन्न एव, पूर्वोक्तपुरुषाद्भिन्नस्तस्य वान्तर्यामिरूपः। उभयत्रापि

तिर्य्यगित्यादि। ज्योतिःशास्त्र इवास्मिन्नपि कल्पे तिर्यग्गोलोक्तौ विराजेपि शयनं सम्भवत्येवेति पूर्वपक्षपरिहार इत्यर्थः। 'उदाप्लुतमि'त्यनेनोक्तस्य कल्पस्य पद्मकल्पविकल्पत्वबोधनायाहुः अस्यापीत्यादि ॥ ७० ॥ ॥ ७१½ ॥

स्वस्मिन्नित्यादि। उदाप्लुतमित्यादि। सन्दर्भे स्वस्य लोकपद्माधारत्वमुक्त्वा तल्लोकपद्मे "स उ एव विष्णुः प्राविविशदि"त्यादिना स्वस्यैवाधेयत्वमुच्यत इति जलाधारत्वमपि तस्य सुवचमित्यर्थः। तादृश इति, सर्वप्रलयरूपः। ननु सर्वप्रलयरूपताकल्पनस्य किं प्रयोजनमत आहुः अन्यथेत्यादि। स्वाधारे स्वस्य शयनकल्पनं क्लिष्टमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि। यथा श्रुतानुरोधेनेति, अष्टमाध्याये अण्डनाशनिरूपणाभावात्तदनुरोधेन। नन्वस्मिन् पक्षे विराजः स्थितत्वेन सर्वलोकाप्ययाभावादन्तःशरीरे तत्स्थित्यभावे नारायणेन स्वान्तः किं दृष्टं? कश्च नारायण? इत्यपेक्षायामाहुः लोकत्रयेत्यादि। पूर्वोक्तपुरुषादिति विराट्शरीरात्। अनुक्तत्वाद्भेदोपि वक्तुमशक्य इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः तस्य वेत्यादि। नन्वेवं कल्पनात् क्लेशस्य किं प्रयोजनम्? यथा कथञ्चित् श्रुतमपि पापानि हरिष्यतीत्यत आहुः

१ "स्थिते" पाठः।

जलमध्य एव स्थितिः, यावत्सम्भवानां पदार्थानां हानोपादाने कर्तव्ये । अत्र विरोधमाशङ्क्य परिहरति उदरस्थं जगत्सर्वमिति । जले मग्नं जगदिति प्रथमतो निरूप्य " अन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्म " इति पुनरन्तर्निरूप्यते । तत्राधिभौतिकं नष्टम्, आध्यात्मिकमन्तःप्रवेशितमितिव्यवस्था । तदाह जगत्सर्वं रजोरूपेण वर्त्तत इति ॥७२॥

राजसत्वे हेतुमाह न मूढमिति ।

निबन्धः—न मूढं न प्रकाशं च कृष्णदृष्ट्या तदुद्गमः ।
सङ्कोचश्च विकाशश्च नाऽन्यथेति तथोद्गमः ॥ ७३ ॥

प्रकाशः—तस्य निर्गमने हेतुमाह कृष्णदृष्ट्येति । तत्रापि हेतुमाह सङ्कोचश्चेति । अन्यथा सङ्कोचविकाशौ न सम्भवतः ॥ ७३ ॥

अस्मिन् कल्पे तत्त्वानां न नियम इति ज्ञापयितुं स्थानापत्तिमाह प्रथमे तु महत्तत्त्वं यथेति ।

निबन्धः—प्रथमे तु महत्तत्त्वं यथा पद्मं तथाऽपरे ।
परिपालकरूपेण प्रविष्टो वेदरूपतः ॥ ७४ ॥
ब्रह्मा स्वयमभूद् द्वेधा स्वयमर्थोन्तरः पृथक् ।
अनन्तर्दृष्टितो भ्रान्तस्तद्दृष्ट्या तस्य दर्शनम् ॥ ७५ ॥

यावत्सम्भवानामित्यादि, यावान् सम्भवो येषां ते यावत्सम्भवास्तेषाम् । अत्र यावत्सम्भावनमिति पाठः प्रतिभाति । तथा च, विदुरेणापि संशयनिरासार्थं प्रयतितत्वादाधुनिकैरपि यावच्छक्यं विधेयमतस्तथेत्यर्थः । एवं विरोधद्वयं स्थानविषयकं स्वरूपविषयकं च परिहृतम् । जगद्विषयकं स्वरूपविषयकं परिहर्तुमाहुः अत्रेत्यादि ॥ ७२ ॥

कृष्णदृष्ट्येति । भगवद्विचारेण । तत्रापीति, विचारात्मकदृष्टावपि । अन्यथेति राजसत्वाभावे । तथा चोद्गमविचारे जगतो राजसत्वं हेतुरित्यर्थः ॥ ७३ ॥

अस्मिन्नित्यादि । प्राथमिकात्पद्मकल्पाद्विकल्परूपे अस्मिन् सर्वेषां तत्त्वानां नोत्पत्तिनियमः, कतिचनप्राचीनान्येव तिष्ठन्ति, कानिचिदेवोत्पद्यन्त इति ज्ञापयितुं विश्वव्यक्तिस्थानस्योत्पत्तिमाहेत्यर्थः । महत्तत्त्वेत्यादि । पूर्वन्तु मायायां पुरुषेण भगवद्वीर्यादुत्पन्नो महत्तत्वरूपो जगदङ्कुरस्ततोऽण्डात्पुरुष एव विश्वरूपः । तदिच्छामात्रेण चातुर्वर्ण्यपर्यन्ता

---

१ नान्यस्येति ।

प्रकाशः—महत्तत्त्वस्थानीयं पद्मं, तदेव जगदाधारम् । ततः कथं ब्रह्मोत्पत्तिरित्याशङ्क्य भगवानेव तत्र प्रविष्टो ब्रह्मरूपेण जातः, परं शब्दब्रह्मरूपेण प्रविष्टः । अतः पुरुषस्थानीयोऽप्ययं ततो न्यूनरूपतया व्यपदिश्यते । पद्मकल्पेऽयमेव विराट्स्थानीयः । अस्य शब्दब्रह्मात्मरूपस्य कार्यद्वयसिद्ध्यर्थं रूपद्वयमाह ब्रह्मा स्वयम्भूर्द्वेधेति । तत्रार्थरूपः स्वयं चतुर्मुख एव जातः । यतो रूपप्रपञ्चोद्भवः । अतः शब्दब्रह्मरूपोपि जातः । यतो वेदा जाताः । यद्यप्यभेदेन वचनं तथाऽप्यर्थाच्छब्दात्मकः पृथक् । नन्वेवं महतस्तस्य पद्मे समुद्भूतस्य कथं स्वकारणान्वेषणे भ्रमस्तत्राह अनन्तर्दृष्टितो भ्रान्त इति । यदा पुनस्तद्दृष्टिरन्तर्दृष्टिस्तदा तस्य दर्शनम् ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

तत्र यादृशो दृष्टस्तादृशमेव ब्रह्मस्वरूपमित्याह साकारमेवेति ।

निबन्धः—साकारमेव तद् ब्रह्म कारणं च तदेव हि ।
इति तद्वर्णनं स्तोत्रं तद्ब्रह्मत्वाय वर्ण्यते ॥ ७६ ॥

प्रकाशः—अस्मिन्कल्पे पद्मं ब्रह्मा च नाऽतोऽन्यत्किञ्चिदस्ति । एतस्य यत्कारणं तच्चेत्साकारं तदा ब्रह्मैव तथा । कारणान्वेषिणा हि कारणमेव दृश्यते । अतस्तदेव कारणमिति ज्ञात्वा भगवद्वर्णनं स्तोत्रं च । अस्मिन् स्तोत्रे भगवत्स्वरूपनिर्णयः ॥ ७६ ॥

सङ्ख्यापि स्तोत्रश्लोकानां ब्रह्मत्वनिर्णय इत्याह एकविंशतिभिरिति ।

निबन्धः--एकविंशतिभिर्नित्यं भजनं जन्मनः फलम् ॥
चतुर्भिः प्रार्थ्यते तावत्संसारे तद्धि दुर्लभम् ॥ ७७ ॥

प्रकाशः—"एकविंशो हि पुरुषो भवति दशहस्त्या अङ्गुलयो दशपद्या आत्मै·

दृष्टिः । अत्र तु, महत्तत्त्ववज्जगदङ्कुररूपं समन्ततो नाण्डोत्पत्तिस्तस्यात्र प्राचीनस्यैव विद्यमानत्वात्, अतः कथं ततो ब्रह्मोत्पत्तिरित्याशङ्क्येत्यर्थः । अत इति शब्दब्रह्मरूपत्वात् । कार्यद्वयसिद्ध्यर्थमिति नामरूपात्मककार्यद्वयसिद्ध्यर्थम् । पृथगिति, नामरूपयोरैक्याभावात्पृथगित्यर्थः । तस्य दर्शनमिति, कारणस्य दर्शनम् । ॥ ७५½ ॥ एवमष्टमाध्यायो विचारितः ।

नवमं विचारयन्ति । तत्र यादृश इत्यादि । अन्यदिति महत्तत्त्वादिकम् । स्तोत्रप्रयोजनमाहुः अस्मिन्नित्यादि । तथा च, स्वरूपनिर्णयाय स्तोत्रमित्यर्थः ॥ ७६½ ॥

---

१ पद्म । २ अन्तः पाठः क्वचिदुभयं नास्ति ।

कविंशः" इति। किमनेन सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाह नित्यं भजनम्, तदेव जन्मनः फलम्, तच्चतुर्भिः श्लोकैः प्रार्थ्यते, वस्तुतो भगवत्प्रसादः प्रार्थनीयः। तस्याप्येतत्कारणमिति तावदिदमेव प्रार्थ्यते। यतः संसारे दुर्लभमेतत्। भजनसिद्ध्यर्थं तत्र चत्वारोऽर्थाः प्रार्थिताः। तेनैवार्थाद्भजनं प्रार्थितं भवति ॥ ७७ ॥

तान् गणयति सात्त्विकत्वमिति।

निबन्धः--सात्त्विकत्वं गुणासक्तिर्वाचकाविस्मृतिस्तथा।
अनुद्वेगश्च सर्वत्र कृष्णतस्तद्धि नाऽन्यथा ॥ ७८ ॥

प्रकाशः—नन्वेतच्चतुष्टयं प्रमाणादेव साधनीयमित्याशङ्क्याह कृष्णतस्तद्धि नान्यथेति ॥ ७८ ॥

नन्वेवं प्रार्थनायां कथं न सिद्धवत्कारेण सर्वं दत्तवान्? किमिति साधनमुपदिष्टवानित्याशङ्क्याह प्रेम्णा न सेवनं यस्मादिति।

निबन्धः--प्रेम्णा न सेवनं यस्मादुपदेशस्ततः कृतः।
आद्ये तपस्ततो ज्ञानं तेनाऽन्यस्तत्फलं ततः ॥ ७९ ॥
द्विरूपं हृदयोत्साहस्तेनैवाऽविस्मृतिस्ततः।

प्रकाशः— ननु प्रार्थनानुसारेण नोत्तरं किन्तु "भूयस्त्वं तप आतिष्ठ" इत्यादिभिन्न एवोपदेश इत्याशङ्क्याह आद्ये तप इति, साधनं ह्युपदिश्यते सात्विकत्वं तपसा भवति। भगवद्गुणेष्वासक्तिर्ज्ञानेन भवति, तेनैव वाचकाविस्मृतिरपि, वेदानामविस्मरणम्। एतत्त्रितयसम्पत्तौ तत्फलमनुद्वेगः सेत्स्यति। अन्यदपि फलं भगवल्लीलापरिज्ञानम्। तस्मिन् सिद्धे हृदयोत्साहोऽपि वेदाविस्मरणमपि सम्यक् सेत्स्यति ॥ ७९½ ॥

अनुद्वेगे हेत्वन्तरमप्याह कृष्णासक्त्येति।

निबन्धः—कृष्णासक्त्या त्वनुद्वेगः प्रीतो भक्ते हरिः सदा ॥ ८० ॥

स्तोत्रे पञ्चविंशतिपद्यानीति शिष्टानां प्रयोजनं वक्तुमाहुः किमनेनेत्यादि। अनेनेति स्वरूपनिर्णयेन। ननु 'सोयं समस्तजगतामि'त्यादिषु चतुर्षु भजनप्रार्थनं न दृश्यत इति शङ्कानिरासायाहुः भजनसिद्ध्यर्थमित्यादि ॥ ७७ ॥ ७८½ ॥

भगवद्वाक्यतात्पर्यं वदन्ति नन्वेवं प्रार्थनायामित्यादि। साधनमिति, प्रार्थितानामर्थानां साधनम् ॥ ८० ॥

अतोऽष्टभिर्वचस्तेन तिरोभावाच्च नित्यता।

प्रकाशः—नन्वप्राप्ते कृष्णे सुतरामुद्वेगः स्यादत आह प्रीतो भक्ते हरिः सदेति। नित्यं प्रीतियुक्तभक्ते हरिः प्रीतः सन्नोद्वेगं प्रयच्छतीत्यर्थः॥ ८०॥

इममेवार्थं ज्ञापयितुमष्टभिः श्लोकैर्भगवद्वचनं निरूपितम्। तेनैव रूपेण तिरोभूत इति नित्यताऽपि तस्य। एवं नवमेनाध्यायेन ब्रह्मपितुर्ब्रह्मता साधिता॥८०½॥

ननु नवमाध्याय एव सगुणात्सृष्टिर्वक्तव्या तदर्थं प्रश्नश्च कर्तव्यस्तत्कथमत्रानुक्त्वा कालप्रकरणे दशमाध्याये प्रश्नोत्तरे इत्याशङ्क्याह चरित्रपरचित्तत्वादिति।

निबन्धः—चरित्रपरचित्तत्वादग्रे पृष्टं न पूर्वतः॥ ८१॥
अत एव गुरुः प्रीतः क्रमेणैवाऽऽह नाऽन्यथा।

प्रकाशः—उपोद्घातत्वेन भगवच्चरित्रं मध्ये प्रस्तुतम्, तत्परं चित्तं जातमिति तत्पूर्तिपर्यन्तं न किञ्चित्पृष्टमित्यर्थः। प्रश्नाभावादेवोत्तरमपि न। उत्तरत्रोच्यमानमपि पूर्वशेष एव भविष्यतीति भावः। अनेन भगवद्भक्तानां प्रसङ्गादपि भगवत्कथासम्पत्तौ प्रक्रान्त औदासीन्यं सूचितम्। तदेव भक्तत्वम्। एतत्परीक्षार्थमेव गुरुणा तथोक्तम्; 'प्रीतः प्रत्याह' इतिवाक्यात्, पश्चात्प्रश्नेन प्रीतस्तदाह अत एव गुरुरिति। प्रीतिलिङ्गमाह क्रमणैवाऽऽह नाऽन्यथेति। पूर्वसम्बद्धरूपेणैव प्रश्नोत्तरमाह न तु भिन्नतया। अन्यथा तथा प्रश्नान् पूर्वासम्बद्धानेव वदेत्॥ ८१½॥

यद्येक एव पद्मकल्पः स्यात्तदा "अनेन लोकान् प्राग्लीनान्" इति वाक्यं नोपपद्येत। अतस्तत्समर्थनार्थमाह पद्म कल्पाश्च बहव इति।

निबन्धः—पद्मकल्पाश्च बहवस्तेन ज्ञानं तथोदितम्॥ ८२॥
पद्मतः सर्वसम्भेदं ब्रह्मभेदं तथोक्तवान्।

अष्टभिरित्यादि। यद्यपि भगवदुक्तौ पञ्चदशश्लोकास्तथापि प्रार्थनानुकूलतया मुख्या एते उद्धृताः शेषास्त्वेतच्छेषाः। ननु क्रमादेषा सङ्ख्या। आद्ये तप इति, द्वितीयमारभ्यैव ग्रहणादिति॥ ८१॥ एवं नवमाध्यायो विचारितः।

दशमाध्यायं विचारयन्ति। ननु नवमेत्यादि। उत्तरत्रेति दशमाध्याये॥ ८२॥

नोपपद्येतेति, कल्पान्तरेऽस्याभावेनास्मिन् लोकलयाभावादन्यैः कपालैरेतद्घटवत्प्रागन्यत्र लीलानामनेन कर्तुमशक्यत्वान्नोपपद्येतेत्यर्थः। मूले, बहव इति। तथा चास्य पद्मकल्प-

प्रकाशः—किं तेन सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाह पद्मतः सर्वसम्भेदमिति। ननु "तस्यैव चाऽन्ते कल्पोऽभूद्" इतिवाक्यं विरुद्ध्येतेत्यत आह ब्रह्मभेदं तथोक्तवानिति। ब्रह्माण्डान्तरे भिन्नस्य ब्रह्मणः पूर्वपरार्धान्तपक्षे न दोषो भवतीति ब्रह्मभेदोऽप्यनेन सूचित इत्यर्थः ॥ ८२½ ॥

अथवा वर्षाभिप्रायोन्तशब्दः, तदा त्रिशतं षष्ठिर्ब्रह्मकल्पा भवन्ति, तदाह सामान्यतो विभागोयमिति।

निबन्धः--सामान्यतो विभागोयं सर्वेषामुक्तमेव हि ॥ ८३ ॥
सृष्टिर्द्विधापि सम्पूर्णा कारणानामतः कथा।

प्रकाशः—न तु चरमदिवसस्य। एवं कल्पान्तराणामपि विभागः सूचितो ज्ञातव्यः। अथवा, सगुणाद्ब्रह्मणः सृष्टिः कथं न विशेषाकारेणोक्तेत्याशङ्क्याह सामान्यत इति, सामान्यप्रकारेण सर्वेषामेवोक्तम्, एतवान् जीवलोकस्येति ॥८३॥

उपसंहरति सृष्टिर्द्विधापीति। विभूतिरत्र मुख्येति कालद्वारा सृष्टिं वक्तुमाह कारणानामतः कथेति ॥ ८३½ ॥

निबन्धः--कालो जीवश्च वै रूपे नाम्नि वैदिकमुच्यते ॥ ८४ ॥

विकल्पत्वाल्लयानुपपत्त्यभावेन वाक्योपपत्तिरित्यर्थः। सर्वसम्भेदमिति। सर्वत्र कार्ये पद्ममिश्रणमित्यर्थः। विरुद्ध्येतेति बहुत्वाङ्गीकारे कल्प इत्येकवचनव्याकोपाद्विरुध्येतेत्यर्थः। अनेनेति। परार्द्धान्तकल्पैकत्वकथनमुखेन ॥ ८२ ॥

एवमेतद्वाक्यद्वयोपपत्तावपि ब्रह्माण्डान्तरवृत्तान्तकथनप्रयोजनं न स्फुटमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि, प्रयोजनविशेषस्यास्फुटत्वेपि माहात्म्यज्ञापनरूपस्य सामान्यप्रयोजनस्य स्फुटत्वादिदं व्याख्यानमनर्थकमित्यरुच्या पक्षान्तरेण व्याकुर्वन्ति अथवेत्यादि। एवं सपादैकचत्वारिंशतिभिः सप्तमाद्यध्यायत्रयं दशमस्य नवश्लोकाश्च विचारिताः। तेन पञ्चविधसृष्टौ देवद्वैरूप्येण द्विधा सृष्टिः सम्पूर्णेत्याहुः उपसंहरतीति,। अतः परं त्रिधा कारणसृष्टिं पादोनैकषष्ठिभिर्वक्तुं प्रथमतः पादोनविंशतिभिः कालसृष्टिं तद्द्वारा तत्त्वसृष्टिमुक्तजीवसृष्टिं चाहुः विभूतिरित्यादि। ननु सर्गलक्षणे भूतादिपदैस्तत्त्वान्येवोक्तानीति कारणसम्भूतिवाक्येपि तान्येव ग्राह्याणि, तथा सति कालजीवयोः[1] सर्गकथनस्य कोऽभिप्राय इत्यतो मूलमाहुः कालेत्यादि ॥ ८४ ॥

---

१ " पद्म " पाठः। २ नास्ति।

कालस्य कार्यतो जन्म तदुपाधिवशादपि ।
अव्यक्तत्वात्कृष्णभावान्नोत्पत्तिः क्वापि तस्य तत् ॥८५॥
तथापि कारणत्वाद्धि प्रश्नो युक्तं तथोत्तरम् ।

प्रकाशः—तत्र कालस्याध्यायद्वयेन निरूपणं कथयन् भेदमाह कालस्य कार्यत इति। स्वभावतो जन्माभावे हेतुमाह अव्यक्तत्वादिति। 'जनी प्रादुर्भावे' इति धात्वर्थाभावाद्भगवदवतारत्वाच्च त्रिविधाऽप्युत्पत्तिर्नास्ति। तर्हि सृष्टौ कथं तत्कथेत्याशङ्क्याह तथापीति। कालस्य कारणत्वमनुभवसिद्धम्, "यद्भयाद्वाति वातोयम्" इत्यादिवाक्याच्च। अतः प्रश्न उत्तरं च युक्तम् ॥ ८५½ ॥

निबन्धः--लक्षणं च स्वरूपं च तस्य कारणताऽपि च ॥ ८६ ॥
सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वात्परिच्छेदकरः स्वयम् ।

प्रकाशः—कालस्य कारणत्वे यन्निमित्तं तदाह सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वादिति। कालेनैव परिच्छिन्नं कालेनैव क्रियते ॥ ८६½ ॥

कथमेवं सामर्थ्यमित्याशङ्क्यैतदर्थमेव कालरूपत्वमित्याह इदं कालस्य कालत्वमिति।

निबन्धः—इदं कालस्य कालत्वमाविर्भावादिकं स्वतः ॥ ८७ ॥
कार्यतः कालकथनात्सामान्येन निरूपणम् ।

प्रकाशः—रसाद्यभिनये हि केवलेनैव हस्तेन सर्वे पदार्थाश्चेष्टाविशेषेण प्रदर्श्यन्ते, अतः काल एव ब्रह्मणः सर्वभावेनाऽऽविर्भावे परिच्छेदहेतुः। केचन आविर्भावहेतुत्वेन वर्णयन्ति तन्निषेधार्थमाह आविर्भावादिकं स्वत इति। आविर्भावतिरोभावादिकं ब्रह्मणः स्वत एव, परिच्छेद एव परं कालात् ॥ ८७ ॥

रूपे तत्त्वात्मके रूपसर्गे, तथा च, तत्प्रमेयं वेदसारोद्धारात्मकत्वाद्वैदिकम्। तैत्तिरीये "सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि, कला मुहूर्ताः काष्ठाश्चाहोरात्राश्च सर्वशः। अर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरश्च कल्पन्ताम्" इत्युपाधित उत्पत्तेः श्रावितत्वादुच्यत इत्यर्थः। तत्-पदमग्रिमश्लोकादाकृष्यात्र योजनीयम्, तत्र तस्यानन्वयात्। त्रिविधाप्युत्पत्तिर्नास्तीति, अव्यक्तत्वात्प्राकट्यरूपा, भगवत्त्वात्समागमरूपा, अवतारत्वादुत्पत्तिरूपा, च नास्तीत्यर्थः॥८६॥

कालेनैव क्रियत इति, उपादानपदस्यार्थः, कर्तृक्रियाव्याप्तस्यैव[1] समवायिन उपादानत्वात् ॥ ८७ ॥

---

१ "व्यापृतस्य" पाठः।

कालो हि निरूपणीयः, स सामान्यविशेषप्रकारेणाऽध्यायद्वयेन निरूपणीयः, तत्र कार्यनिरूपणस्य कुत्रोपयोग इत्याशङ्कायामाह कार्यतः कालकथनादिति, कार्यनिरूपणमेव सामान्यतो निरूपणम् ॥ ८७½ ॥

नन्वत्र दशविधगणना किमिति कृता, सामान्यत एव कालकार्यत्वेन सर्वमेव जगद्वक्तव्यमित्याशङ्क्याह कञ्चित्प्रकारमाश्रित्येति ।

निबन्धः—कञ्चित्प्रकारमाश्रित्य बुद्धिसौकर्यसिद्धये ॥ ८८ ॥
खगानां[1] गणना प्रोक्ता भल्लूके लोमपक्षता ।
पक्षिजातिविशेषो वा तच्छब्देन तथोदितः[2] ॥ ८९ ॥

प्रकाशः—तथा सति सर्वं कार्यं न ज्ञातं भवति । बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं ततो गणना । तत्र खगानां गणनामध्ये भल्लूको गणितः, स च मृगविशेषो लोके प्रसिद्धो जाम्बवज्जातीयः । तस्य पक्षिषु गणना न युक्तेत्याशङ्क्याह भल्लूके लोमपक्षतेति । पक्षान्तरमाह पक्षिजातिविशेषो वेति ॥ ८९ ॥

ननु "अर्वाक् स्रोतस्तु नवमः" इत्यत्र कथं नराणामेकविधत्वं, मानुषेषु उत्तमा अपि "मध्यमा मानुषा ये तु" इत्यादिषु भेदेन गणनात् । तत्राह अकृत्रिमनराणां चेति ।

अत इति "योयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धोश्चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वमि"ति वाक्येन चेष्टारूपत्वात् । स्वत इति यथेदानीं तथा चाग्रे पश्चादप्येतदीदृशमित्यस्येदं तात्पर्यम् । सामान्यतो निरूपणमिति, तथा च, कालसत्तासाधने तदुपयोग इत्यर्थः । एतेन 'दिक्कालाकाशादिभ्य' इतिसाङ्ख्यप्रवचनसूत्रोक्तं निरस्तं ज्ञेयम्, सर्गादावाकाशाभावात् । न च स्वभावादेव गुणव्यतिकर इतिवाच्यम्, सर्गानादित्वापत्तेः । स्वभावस्यौत्सर्गित्वात् । न चेष्टापत्तिः । प्रतिसङ्क्रमाभावप्रसङ्गात् । कापिलैरपि तदङ्गीकारात् । तथा सति पुनः सङ्क्रमनिमित्ततया गुणक्षोभस्यावश्यकत्वेन क्षोभकस्य कालस्यार्थापत्त्यैव सिद्धेः । न च पुनः सङ्क्रमो नास्त्येवेति युक्तम्, तथा सति सदसत्तापत्त्यार्धवैनाशिकमतप्रवेशेन सिद्धान्तहानिप्रसङ्गात् । अतः सर्गादौ कालसाधकचिरक्षिप्रव्यवहारादिरूपकार्यान्तराभावेन क्षोभस्यैव तत्साधकत्वमतः सामान्यतो निरूपणमिति भावः ॥ ८७½ ॥

अतः परं सर्गो नवविध इत्यादिकं विचारयन्ति नन्वत्र दशेत्यादि ॥ ८९ ॥

---

१ "विधानाम्" पाठः । २ "यथोदितः" पाठः ।

निबन्धः—अकृत्रिमनराणां च त्रैविध्यं गुणतोपि हि।
ते जायस्व म्रियस्वेति मार्गगा एव कीर्तिताः॥ ९०॥

प्रकाशः—एते हि कालकार्यत्वेन कृत्रिमनरा गणिताः। अकृत्रिमाः सहजास्तु त्रिविधाः। उत्तमाः सात्त्विकाः। ते ज्ञाननिष्ठा भक्तिनिष्ठा वा। अन्येऽपि ज्ञातव्याः। तेषां कर्माधीनत्वमाह ते जायस्व म्रियस्वेति॥ ९०॥

आत्मानं लीलया सृजतीत्यभिप्रायमाह अनेकविधसृष्टिश्चेदिति।

निबन्धः—अनेकविधसृष्टिश्चेद्वैषम्यादि हरेर्भवेत्।
आत्मानं हि स्वयं चक्रे तेन नाऽत्रोक्तदूषणम्॥ ९१॥

प्रकाशः—नन्वेते दश प्रकाराः सर्वदा कालाज्जायन्ते आहोस्वित्सकृदित्याशङ्क्य सकृदेव कारणतया जाता इत्याह तत्तदुत्पत्तिहेतुत्वादिति।

निबन्धः—तत्तदुत्पत्तिहेतुत्वाद्भेदानां तत्कथा तता।
कार्यनाशोऽणुपर्यन्तं परमस्तेन स स्मृतः॥ ९२॥

प्रकाशः—तत्कथा कालकथा। परमाणुपदनिरुक्तिमाह कार्यनाशोऽणुपर्यन्तमिति। स्थौल्याभावे हि सूक्ष्मता सा यत्र पर्यवसिता स परमाणुः॥ ९२॥

तत्र कालस्य परमाणुत्व उपपत्तिमाह मानसोत्तरभूमेरिति।

निबन्धः—मानसोत्तरभूमेस्तु सोंशः सूर्यरथेन हि।
यावता क्रम्यते कालः परमाणुः स उच्यते॥ ९३॥
सर्वं नभोमण्डलं हि यावता क्रम्यते स तु।

कृत्रिमनरा इति भगवद्रूपा एवाभिनयेन दर्शिताः सर्व इत्यर्थः। अन्येपि ज्ञातव्या इति, भगवदुपासका अप्युत्तमत्वेन ज्ञातव्याः। तेषामिति मध्यमादीनाम्॥ ९०॥

मूले, नात्रोक्तदूषणमिति। अस्यां सृष्टौ तृतीयमार्गप्रवेशरूपं दूषणं नेत्यर्थः॥ ९१॥ एवं दशमाध्यायो विचारितः।

एकादशं विचारयन्ति। परमाणुपदेत्यादि। मूले० मानसोत्तरेत्यारभ्य संवत्सरः परः प्रोक्त इत्यन्तेन संवत्सरान्तस्य कालस्य सूर्यगत्यवच्छिन्नत्वात्सैव तच्छब्दप्रवृत्तिनिमि-

निबन्धः—संवत्सरः परः प्रोक्तस्तदावृत्तिरतः परम् ॥ ९४ ॥
षष्टि भेदा द्वादशात्मा तेन पञ्चात्मकः स्मृतः ।

प्रकाशः—पञ्चसंवत्सरादिभेदेषूपपत्तिमाह षष्टि भेदा इति । प्रभवादयः षष्टि भेदा बार्हस्पत्यमान एव सिद्धाः । तत्र बृहस्पतिर्द्वादशारं कालचक्रं द्वादशभिर्वर्षैराक्रामति, तस्य षष्टिवर्षेषु पञ्चवारमाक्रमणमिति संवत्सरादयः पञ्च ॥ ९४ ॥

सङ्ख्या च परपर्यन्ता न ततोऽधिका । संवत्सरगणनया ब्रह्मणो दिनं गणयितुमशक्यमिति युगकल्पना कृतेत्याह यत्राऽऽवृत्तिरिति ।

निबन्धः--यत्राऽऽवृत्तिर्न चैवास्ति परार्धानधिकत्वतः ॥ ९५ ॥
सङ्ख्यायास्तेन गणना युगादिभिरुदीर्यते ।

प्रकाशः—"यत्र धर्मो विधीयते" इत्यादिनिरूपणं कालनिरूपणे व्यर्थमित्याशङ्क्याह उत्पद्यमानसन्देह इति ।

निबन्धः--उत्पद्यमानसन्देहे धर्ममाह विभेदतः ॥ ९६ ॥
दिनरात्रिव्यवस्थायां कार्याकार्ये तु सर्वतः ।

प्रकाशः—"कृतकृत्याः प्रजाजात्या" इत्यादिधर्मैः कृतादिशब्दप्रवृत्तिः ।

त्तम् । संवत्सरादिपञ्चकशब्दप्रवृत्तौ तु टीकायां बृहस्पतिगतिर्निमित्तम् । युगतद्विशेषवाचकशब्दप्रवृत्तौ तु तदुभयगतिरप्रयोजिकेति तत्रोपायो वक्तव्य इति हृदिकृत्वाहुः यत्रेत्यादि ॥९४॥९५॥

व्यर्थमिति शब्दप्रवृत्त्यप्रयोजकत्वाद्व्यर्थम् । मूले० उत्पद्यमानेत्यादि । उत्पद्यमाने धर्मविषयके सन्देहे विभेदतः युगविभेदात् । धर्ममाह, तदुपपादनार्थं धर्ममुक्तवानित्यर्थः । तदिदं व्याकुर्वन्ति कृतकृत्या इत्यादि । तन्निरूपणार्थमिति, शब्दप्रवृत्तिनिमित्तनिरूपणार्थम्, तथा च तन्न व्यर्थमित्यर्थः । नन्वेवं सतीत्यादि । धर्मस्य युगविशेषवाचकशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सति सूर्यादिगतिवत्कृतादिष्वहोरात्रव्यवस्थायामपि धर्मप्रवृत्तिर्निमित्तं स्यादित्यर्थः । तत्तु साधारणमिति, कार्याकार्यविभजनं सर्वयुगेषु तुल्यम् । साधारण्यं व्याकुर्वन्ति दिवस इत्यादि । अतो न तत्कृताद्यहोरात्रवचनप्रवृत्तिनिमित्तम्, किन्तु, युगविशेषवाचकस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तमिति ज्ञापनायात्रैवोक्तमित्यर्थः । मूले० सर्वत इति, सार्वविभक्तिकस्तसिः । सर्वयुगेष्वित्यर्थः । साधारणे इति शेषः ॥ ९६ ॥

अतो मनुष्या अपि तन्निरूपणार्थं निरूपणीयाः। तेषां च धर्मभेदको धर्म एवेति धर्मनिरूपणम्। नन्वेवं सति कृतादिष्वहोरात्रमपि धर्मप्रवृत्तिः स्यात्तत्राह दिनरात्रिव्यवस्थायामिति, तत्तु साधारणं, दिवस एव कार्यं न रात्राविति ॥ ९६ ॥

निबन्धः—तत्राऽपि कार्यभेदान् हि वक्तुं धर्मादिवर्णनम् ॥ ९७ ॥
तत्सिद्धयै षड्विधत्वं हि ते हि भिन्ना यतः पृथक्।

प्रकाशः—किञ्च, रात्रौ दिवसे च कार्यविभेदाः प्रतिकल्पं भिन्नाः। अतोऽपि धर्मादिवर्णनं कर्तव्यम्। धर्मसिद्धयर्थमेव मन्वन्तरनिरूपणम्। मन्वन्तरस्य षड्विधत्वं षडङ्गनिरूपणार्थम्। यतस्ते मन्वादयः षडपि भिन्ना, देशादयो यतो भिन्नतया स्थिताः। अतः षण्णां योगे धर्मो भवतीतिसिद्धम् ॥ ९७ ॥

निबन्धः—सर्वेषां स्थितिसिद्धयर्थं भगवत्कृतिवर्णनम् ॥ ९८ ॥
तन्मूल एव प्रलयः शयने सर्वनिर्वृतिः।

प्रकाशः—यथाकथञ्चिदप्युत्पन्नाः परस्परं विरुद्धगुणा नाशं यास्यन्तीत्याशङ्क्य भगवता पालनमुक्तम्। तर्हि कदाचित्प्रलयो न स्यादित्याशङ्क्याह तन्मूल एव प्रलय इति, भगवतैव प्रलयः क्रियते। ननु परमदयालुः किमित्येवं करोतीत्याशङ्क्याह शयने सर्वनिर्वृतिरिति, निरन्तरमुत्पत्तिप्रलयाभ्यां पीडिता जीवा भगवच्छयन एव निर्वृतिं प्राप्नुवन्ति ॥ ९८½ ॥

एतच्छयनं पद्मकल्प एव भवतीत्याह पद्मानुसारीति।

निबन्धः—पद्मानुसारिशयनं ब्रह्मा त्वाण्डवपुः स्मृतः ॥ ९९ ॥

यथा युगविशेषव्यवस्था धर्मकृता, तथा कल्पविशेषव्यवस्थापीति ज्ञापनायाहुः किञ्चेत्यादि। एतेन तत्रापीत्यर्धं विवृतम्। तत्रापीति, कल्पभेदेपि। तत्सिद्धया इत्यर्द्धं व्याकुर्वन्ति धर्मसिद्धयर्थमित्यादि। भिन्नतया स्थिता इति भिन्नप्रकारेण स्थिताः ॥ ९७ ॥

सर्वेषामित्यर्द्धं विवृण्वन्ति यथाकथञ्चिदित्यादि। तर्हीति, भगवता रक्षणे क्रियमाणे सति ॥ ९८½ ॥

एतच्छयनमित्यादि। "अन्तः स तस्मिन् सरसी"तिपद्योक्तं शयनं पद्मकल्प एव भवति,

---

१ अहोरात्रादावपि। २ "सलिले" पाठः।

भोक्तृत्वं कर्तृता चैव तस्य भेदेन वर्ण्यते ।

प्रकाशः—नन्वेवं सति त्रिलोक्या नाशे "स्तूयमानो जनालयैः" इति वाक्यं नोपपन्नं स्यादत आह ब्रह्मा चाऽण्डवपुः स्मृत इति, ब्रह्माऽण्डविग्रहः, एवं लोकत्रये कल्पादिव्यवस्था, अन्यथा "तस्यैव चान्ते" इतिवाक्यं नोपपद्येत । नन्वेवं सति नाभिकमले को वा ब्रह्मा को वा सत्यलोक इति शङ्कायामाह भोक्तृत्वं कर्तृता चैवेति । अभिमानी ब्रह्माण्डविग्रह इत्यवोचाम । एवं त्रयो ब्रह्माणो भवन्ति ॥ ९९ ॥

दैनन्दिनप्रलये कर्तुर्ब्रह्मणः शयनोपायमाह पद्मे नोदरग इति,

निबन्धः—भोक्ता सत्ये द्वितीयस्तु पद्मे नोदरगः सुखी ॥ १०० ॥
प्रलयोऽयं समाख्यातः सर्गः पद्मे पुनस्तथा ॥

प्रकाशः—अनेनाऽभेदेन वर्णनपक्षो निवारितः । द्वितीयपद्मकल्पे पुनस्तथैव सर्गः । वाराहकल्पे त्वन्यथा, तां सृष्टिमग्रे वक्ष्यामः ॥ १०० ॥

नन्वेकेनैव सर्गेण भगवल्लीलासिद्धौ किमित्यनेकवर्णनं तत्राह अस्मिन्नण्ड इति ।

निबन्धः—अस्मिन्नण्डे त्रयोऽप्याऽसन् कल्पाः सर्वकथोक्तये १०१
तेषामुक्तिस्तथा चाद्ये नाम्ना रूपस्य वर्णनम् ॥

"तस्यैव चान्त" इत्युपसंहारनैकट्याद्ब्राह्मस्य नैकट्येपि तत्रैतादृशे जले शयनानुक्तेश्चास्मिन्नेव भवतीत्यर्थः । नन्वेवं सतीत्यादि, महर्लोकाधोवर्तिसलिले शयने सति त्रिलोक्या नाशे स्तूयमानवाक्योक्तानां स्तावकानामुपरिष्ठत्वेनाविनयप्रसक्त्या इदं वाक्यं नोपपन्नं स्यादित्यर्थः । ब्रह्माण्डविग्रह इति, तथा च, "कालेनानुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये" इत्यनेन य उक्तः, स सत्यलोके जनालयैः स्तूयमान आस्त इति ब्रह्मभेदान्नानुपपत्तिर्वाक्यस्येत्यर्थः । ब्रह्मद्वयकल्पने बीजमाहुः एवमित्यादि, एवं कल्पने क्रियमाणे लोकत्रयविषयिणी कल्पमन्वन्तरयुगव्यवस्था सिद्ध्यति । एवमकल्पने तु ब्रह्मकल्पे उत्पन्नस्यार्द्धायुर्भुक्तवतो ब्रह्मणो विद्यमानत्वात्तस्यैव चान्त इत्यत्र लोकसरोरुहं यदुक्तं तत्र को वा उत्पत्स्यते, अत एतदन्यथानुपपत्त्या ब्रह्मद्वयकल्पनमावश्यकमित्यर्थः । अभिमानीति, रजोगुणाभिमानी । एवमिति रजोभिमानिब्रह्माण्डभोक्तृलोकत्रयकर्तृभेदेनावस्थाभेदादाधिदैविकादिभेदेनेत्यर्थः ॥९९॥१०१॥

अन्यथा भगवानेव तेनाद्यो ब्राह्म उच्यते ॥ १०२ ॥

प्रकाशः—पौरुषोऽत्र विभूतिरूपः । सोऽस्मिन्नण्डे यादृशस्तादृशो वर्णनीयः । अतः सर्वेषां कथासिद्धये कल्पानामुक्तिः ॥१०१॥ तत्र प्रथमकल्पे ब्राह्मे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा छन्दोमयो निरूपितः, स नोपपद्यत इत्याशङ्क्य समाधानमाह तथा चाद्य इति । नामसृष्टिर्भिन्ना निरूपिता, सापि रूपसृष्टिपरतन्त्रेति न कोपि दोषः । आधिदैविकं वा रूपम् । अत एव "व्यक्ताव्यक्तात्मनः" इतिवचनम् । अन्यथा प्रकारान्तरेणेति पूर्वेणैव सम्बध्यते । आधिदैविकस्य शरीरित्वसम्पादकत्वं[1] भगवत एव युक्तं; नान्यस्तथा कर्तुं शक्नोति । इममर्थं शब्दप्रसिद्ध्यापि समर्थयते तेनाद्यो ब्राह्म उच्यत इति । ब्रह्मशब्देन भगवानेव ॥ १०२ ॥

कालनिरूपणप्रस्तावे सर्वप्रभुत्वं कालस्य निरूप्य अक्षरेपि प्रभुत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य आध्यात्मिकभेदानां तत्र प्रवृत्त्यभावमाह अतोऽधिकस्येति ।

निबन्धः—अतोऽधिकस्य गणना नास्ति कालस्य पूरुषे ।
तत्रोपपत्तिकथनमेवं कालो निरूपितः ॥ १०३ ॥

प्रकाशः—भेदे हि सङ्ख्या नियामिका, द्विपरार्द्धाधिकसङ्ख्याया अभावात् ।

पौरुष इति, विसर्गः । सर्वेषामिति, विभूतिरूपाणां ब्रह्मणामन्येषाञ्च । नोपपद्यत इति, रूपाभावात्कर्तृत्वेन नोपपद्यते । निरूपितेति, "तस्योष्णिगासील्लोमभ्य" इत्यादिना द्वादशाध्याये निरूपिता । इति न कोपि दोष इति, इति हेतोरन्यथानुपपत्त्या अर्थादेव रूपसिद्धेर्न कर्तृत्वानुपपत्तिदोष इत्यर्थः । नन्वेवं सति नामरूपसृष्टिकर्त्तारौ द्वावापद्येताम्, तथा सति मन्वादिपाठकोन्यः, तज्जनकोन्य इति बहु वैरूप्यं कल्पनायां स्यादित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः आधिदैविकं वेत्यादि । अन्यथेत्यस्य व्याख्यानं प्रकारान्तरेणेति । तथा चाधिदैविकत्वेन ब्रह्मकल्पे भगवानेव नामसृष्टिकर्त्तेत्यर्थः । निरूप्येति, द्विपरार्द्धान्त ईश्वर इतीश्वरपदेन निरूप्य । भविष्यतीति, कालस्य भविष्यति । एवं पादोनविंशतिभिः कालसृष्टिरेकादशेध्याये विचारिता ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

अतः परं सपादैः पञ्चदशभिर्जीवसृष्टिं निरूपयन्तो द्वादशाध्यायं विचारयन्ति । अतः परमित्यादि । मुक्तिप्रकरण इति । मुक्त्युपोद्घातरूपे विंशाध्याये । न कारणभूता इति । न सृष्टिकारणभूताः किन्तु तत्त्वाधीनत्वेन तत्त्वविभूतितया कार्यभूता इत्यर्थः ॥ १०३ ॥

---

१ शरीरत्व इति पाठः ।

कालप्रवृत्तिः पुरुषे नास्ति, "निमेष उपचर्यते" इति तत्रोपपत्तिः। अध्यायद्वयेन काल-प्रकरणं निरूपितमित्युपसंहरति एवं कालो निरूपित इति ॥ १०३ ॥

निबन्धः—अतः परं जीवसर्गो मुक्तामुक्तविभेदतः ।
मुक्तानां कारणत्वं हि तदिच्छावशगा यतः ॥ १०४ ॥

प्रकाशः—अतः परमेकेनाध्यायेन जीवा निरूप्यन्ते, तत्राऽमुक्ता जीवा मुक्तिप्रकरणे वक्तव्याः। ते न कारणभूताः। मुक्तास्तु जीवाः कारणभूता एकेनाध्यायेनोच्यन्ते। मुक्तानां कथं कारणत्वमित्याह मुक्तानामिति, मुक्ता हि भगवत्सन्निधाने तिष्ठन्ति, अतो यदा भगवान् सृष्टिं कर्तुमिच्छति तदा स्वलीलासिद्ध्यर्थं तान्प्रेरयति, अतो भगवदिच्छावशास्ते कारणभूता इत्यर्थः ॥ १०४ ॥

तत्र मुक्तानां द्वैविध्यमाह लोकातीता इति ।

निबन्धः—लोकातीता लौकिकाश्च तत्राऽऽद्या नाऽधिकारिणः ।
उत्पत्तिर्दुर्घटा तेषामविद्या निर्मिता ततः ॥ १०५ ॥

प्रकाशः—प्रथमानां मुक्तौ कारणत्वम्, सा हि जीवानां स्वरूपत (एव) आविर्भावरूपतेति पूर्वमुक्तम्, तत्र लोकातीता वैकुण्ठेपि विरक्तास्तिष्ठन्ति। अतः सृष्टौ ते नाऽधिकारिणः। मुक्त्यर्थं चोत्पादनीयाः। ज्ञानांशं त एव गृहीत्वावतरन्तीति, अतस्तान् व्यामोहयितुमविद्याया उत्पत्तिः ॥ १०५ ॥

निबन्धः—अभिमानी देवतेयं यतः सर्वं भविष्यति ।
मूलाविद्यावृत्तिरूपाः पञ्चैका वाऽत्र देवता ॥ १०६ ॥

प्रकाशः—सा हि आधिदैविकी, तेन सर्वानेव व्यामोहयिष्यतीति सर्वकार्य-सिद्धिः। अत्राऽविद्यायां पक्षद्वयमाह मूलेति। एकैव देवतेति सिद्धान्तः ॥

ननु लोकातीता यदि सृष्टौ न कारणभूता तदा सृष्टिप्रकरणे किमित्युच्यन्ते इत्याशङ्कायामाहुः प्रथमानामित्यादि। (मूले) उत्पत्तिर्दुर्घटेति व्याकुर्वन्ति अतस्तानित्यादि ॥१०४॥१०५

सिद्धान्त इति अविद्या पञ्चपर्वेत्येकत्वनिर्देशात् सिद्धान्तः।

---

१ चात्र पाठः।

लोकातीतोत्पादनार्थमुत्पादिता ॥ १०६ ॥

प्रथमं बाह्याभावाद्ब्रह्माणमेव मोहितवतीत्याह मूढ इति ।

निबन्धः--मूढस्तया चतुर्वक्त्रः कृष्णध्यानं चकार ह ।
लोकातीतास्ततो जाताः काये ध्यानं प्रतिष्ठितम् ॥ १०७ ॥

प्रकाशः—देवतारूपत्वान्न ध्यानप्रतिबन्धिका, लोकातीतानामुत्पत्त्यनन्तरं तद्ध्यानं सृष्टिप्रकरणे जातं, ब्रह्मणः शरीरे प्रतिष्ठितं तत्कार्यमग्रे भविष्यति ॥ १०७ ॥

मध्ये सनकादीनामुत्पत्त्यनन्तरं क्रोधो जात इत्याह सर्गावेशादिति ।

निबन्धः—सर्गावेशात्सन्निधानादविद्याकार्यसम्भवः ।
तदुत्पत्तिविचारेण नियन्तुमुपचक्रमे ॥ १०८ ॥

प्रकाशः—ब्रह्मणो हृदये सृष्टिराविष्टा तत्प्रतिबन्धे क्रोधस्फूर्तिर्युक्तैव । अविद्यासन्निधानमपि हेतुः । तथापीच्छाभावे कथमुत्पत्तिरित्याशङ्क्याह अविद्याकार्यसम्भव इति, क्रोधस्त्वविद्याकार्यं तत एवोत्पद्यते, स च क्रोध आधिदैविकः । आध्यात्मिकभ्रमात्तन्नियमनार्थं प्रवृत्त इत्याह तदुत्पत्तिविचारेणेति । सनकादयो महान्तो ज्ञानार्थमेवोत्पादिता इति तदुत्पत्तिविचारः ॥ १०८ ॥

निबन्धः—क्रोधे हि ध्यानसंयोगात्कृष्णांशः प्रविवेश ह ॥
तेनोभयस्य निःस्तारो ह्यन्यथैकस्य संक्षयः ॥ १०९ ॥

प्रकाशः—आधिदैविकः क्रोधो न नियम्यः । ततो नियमनार्थं व्यापृतो ब्रह्मशरीरं दग्धुमुद्यतः । तत्र पूर्वं ध्यानं प्रतिष्ठितमिति क्रोधस्य ध्यानेन सह सम्बन्धो जातः । ततो ध्यानयुक्ते क्रोधे कृष्णावतारः प्रविष्टः । ततो यज्जातं तदाह तेनोभयस्येति । सनकादीनां ब्रह्मशरीरस्य च ॥ १०९ ॥

तस्य रोदनमयुक्तमित्याशङ्क्याह उत्पत्स्यमानानिति ।

निबन्धः—उत्पत्स्यमानानखिलान् दृष्ट्वा रोदनमागतम् ।
संश्लिष्टवचनं प्राह ब्रह्मप्रीत्यै स्वयं पुनः ॥ ११० ॥

एकत्वं कार्यतोऽमिगमयन्ति[1] लोकेत्यादि ॥ १०६ ॥ ननु तया मोहने भगवद्ध्यानमेव कथं भवेदित्यत आहुः देवतेत्यादि ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ १०९ ॥
अयमंश इति, रोदनांशः । संश्लिष्टवचनत्वे किं गमकमित्यत आहुः तथा वचनस्येत्यादि ॥ ११०½ ॥

---

१ "निगमयन्ति" पाठः ।

संसारानुपयुक्तान् हि स्रक्ष्ये सर्वानिति स्मरन् ।

प्रकाशः—अयमंशः कृपारूपः । "नामानि कुरु मे धातः" इतिवाक्यं रोदनस्य नामादिकरणहेतुत्वार्थं न भवतीत्याह संश्लिष्टवचनमिति । तथावचनस्य प्रयोजनमन्यदप्यस्तीत्याह स्वयं पुनरिति । तदाज्ञाव्यतिरेकेण सृष्टिरशक्या, तस्यैव तत्राधिकारात् ॥ ११०३ ॥

निबन्धः—अतः शीघ्रमनेकेषामुत्पत्तिः प्रतिकूलतः ॥ १११ ॥
निवारणं तपोबोधः प्रतिबन्धनिवृत्तये ।

प्रकाशः—स तु पूर्ववद्ब्रह्मा विशेषानभिज्ञ आज्ञां दत्तवान्, तच्छीघ्रमनेकेषामुत्पादनम्, तैः कारणक्षये सृष्टिर्न भविष्यतीति निवारणम् ॥ १११ ॥

निवारितः प्रतिबन्धं करिष्यतीत्याशङ्क्य तपोबोधनम् ।

तपसा हि क्रोधकारणीभूताऽविद्या नाशमेष्यति, ततः शुद्धः क्रोधो यथायुक्तमेव कार्यं करिष्यतीति (ब्रह्म)वाक्यार्थः । तमाह उपाधिविनिवृत्त्यर्थमिति ।

निबन्धः—उपाधिविनिवृत्त्यर्थं कारणत्वान्न निर्गमः ॥ ११२ ॥
अतोऽभिनन्द्य कृष्णस्य ध्यानमेव चकार ह ।

प्रकाशः—नन्वेवं सति महादेवे क्रोधकारणीभूताऽविद्या तपसा कथं न दग्धा, दग्धायां वा कारणस्य नष्टत्वात्कथं न लयः, कथं केवलं प्रतिबन्धनिवृत्तिरेवेत्याशङ्क्याह कारणत्वान्न निर्गम इति, महादेवस्य कारणभूता सा । कार्यभूतं तु तपः । तेन कार्येण कारणस्य न निर्गम इत्यर्थः ॥ ११२ ॥ अतः प्रतिबन्धनिवृत्तिरेव जातेत्याह अतोऽभिनन्द्य कृष्णस्येति ॥ ११२३ ॥

एवं लोकातीतानामुत्पत्तिमुक्त्वा लौकिकाँश्चेत्स्वत एवोत्पादयेत्तदाऽभीष्टसिद्धिर्न भविष्यतीति तदुत्पादने प्रकारं कृतवानित्याह सृष्ट्यर्थमिति ।

निबन्धः—सृष्ट्यर्थं भगवद्ध्यानान्मरीच्याद्युद्भवः पृथक् ॥ ११३ ॥

पूर्ववदित्यस्य आज्ञां दत्तवानित्यनेन सम्बन्धः । मूले, प्रतिकूलत इतिभावप्रधानः, प्रतिकूलत्वादित्यर्थः ॥ ११११ ॥

वाक्यार्थ इति ब्रह्मवाक्यतात्पर्यम् । न निर्गम इति, न नाशः ॥ ११२३ ॥

प्रकारमिति पृथक्स्थानकत्वम् ॥ ११३ ॥

धर्मव्यवायसिद्ध्यर्थमेका स्त्री पुरुषाः परे।

प्रकाशः—पृथक् स्थानात्सर्वे उत्पादिताः। तत्प्रयोजनं धर्मव्यवायसिद्धिः। एवं सात्त्विकानां राजसानामुत्पत्तिमुक्त्वा तामसोत्पत्तिं करिष्यन् "पुत्रैर्निवारितः" इति वक्तुं कथं ब्रह्मणः सकाशात्तामसोत्पत्तिरित्याशङ्काव्युदासायाह एका स्त्रीति, वागेका स्त्री, अन्ये सर्वे पुरुषाः, आस्याद्वागिति ॥ ११३½ ॥

ततः किमत आह अविद्यासन्निधानादिति।

निबन्धः—अविद्यासन्निधानाद्धि सृष्ट्यावेशाच्च तद्धृदि ॥ ११४ ॥

जातः कामो मतिं चक्रे तस्यां सर्गाय भूयसे।

प्रकाशः—दोषत्रयात्तस्यां सर्गार्थं मतिं चक्रे। अविद्यासृष्ट्यावेशो हृदि कामोत्पत्तिः ॥ ११४½ ॥

निवारणे हेतुमाह अधर्मे धर्मनाशः स्यादिति।

निबन्धः—अधर्मे धर्मनाशः[1] स्यादिति कृष्णेन वारणम् ॥ ११५ ॥

तद्भावस्य परित्यागे सा रिरंसाभवत्तनुः।

प्रकाशः—तामसीमपि सृष्टिं भगवाननुमन्येत, यदि सा धर्मनाशिका न स्यात्। तथा सति पूर्वसृष्टिद्वयमपि गच्छेत्, अतो निवारणं युक्तम्। ननु तनुत्यागो नाम कः पदार्थस्तत्राह तद्भावस्य परित्याग इति, तनोः किं प्रकृतिकत्वमित्याकाङ्क्षायामाह सा रिरंसेति ॥ ११५½ ॥

ततस्तृतीया सृष्टिर्न जातेति तदर्थं ध्याने क्रियमाणे वेदानामुत्पत्तिर्जातेत्याह सृष्टिध्याने वाचकानामिति।

निबन्धः—सृष्टिध्याने वाचकानां प्रकारस्य समुद्गमः ॥ ११६ ॥

तन्मूलस्य च शब्दस्य ब्राह्मणो रूपकीर्तनम्।

प्रकाशः—प्रकारः पूर्वादिमुखतः। तेन शब्दानां प्रकारभेदः। लौकिका-

---

॥ ११४ ॥ ११५½ ॥

तत इति, रिरंसात्यागात्। तदर्थं ध्याने क्रियमाण इति, तामससृष्ट्यर्थं भगवद्ध्याने क्रियमाणे। प्रकारभेद इति, लौकिकालौकिकभेदः। सिद्धे इति, तामससृष्टित्वेन सिद्धे। अखण्डप्रवृत्त्यर्थमिति, नित्यसम्बन्धेन वाचकत्वार्थम् ॥ ११६½ ॥

---

१ 'अधर्मः सर्वनाशः' पाठः।

लौकिकभेदेन तृतीया सृष्टिः। तेन जीवानां रूपनामनी सिद्धे नाम्नामखण्डप्रवृत्त्यर्थं तन्मूलदेवतामाहेत्याह तन्मूलस्येति ॥ ११६३ ॥

एवं गुणसृष्टिमुक्त्वा केवलैः प्रपञ्चब्रह्मभावमाशङ्क्य सन्निपातसृष्टिं वक्तुं प्रवृत्त इति वदन् सन्निपातविरोधिनं परित्यक्तवानित्याह नामावेशं परित्यज्येति।

निबन्धः–नामावेशं परित्यज्य रूपावेशात्तु पूर्ववत् ॥ ११७ ॥
इच्छाध्याने समुद्भूते द्विधा चक्रतुरङ्गकम्।

प्रकाशः—ततोऽपरामुपादायेत्यादिना। तत्र ब्रह्मणोन्तःकरणं न सन्निपातरूपमिति भगवदपेक्षायां भगवदिच्छया तच्छरीरमेव द्विधाभूतं तदाह इच्छाध्याने इति ॥ ११७३ ॥

एवं चतुर्विधां सृष्टिं निरूप्योपसंहरति कारणत्वादिति।

निबन्धः–कारणत्वान्मुक्तजीवा एवमेके निरूपिताः ॥ ११८ ॥
नामोत्पत्तिश्च तच्छेषा

प्रकाश —अमुक्तानामुत्पत्तिः पूर्वमेवोक्ता॥ ११८॥ जीवप्रकरणे नामोत्पत्तेरयुक्तत्वमाशङ्क्य पुनः स्मारयति नामोत्पत्तिश्च तच्छेषेति।

इदानीं तृतीयः कल्प उच्यत इत्याह तृतीय इति।

तृतीयस्त्वधुनोच्यते
कल्पस्तत्र हि सृज्यानां न पूर्वस्माद्विशिष्यते ॥ ११९ ॥

प्रपञ्चब्रह्मभावमिति तस्य मुक्तिम्। अपरामिति, रूपसृष्टीच्छाम्। न सन्निपातरूपमिति "असदामनुजादि"तिवेदस्तुतिवाक्यान्मनुष्योपरिकिक्षास्थानां मनसः सत्वेन तथेत्यर्थः॥ ११७३। पूर्वमिति दशमाध्याये "सप्तमो मुख्यसर्ग" इत्यादौ ॥ ११८३॥

एवं सपादैः पञ्चदशभिर्द्वादशाध्यायविचारे मुक्तजीवसृष्टिर्निरूपिता।

अतः परं सप्तभिरध्यायैस्तदुपोद्घातस्तत्र पादोनैर्नवभिस्त्रयोदशाध्यायस्यार्थं विचारयन्ति। इदानीमित्यादि॥ ११९॥

"दपेक्षायाम्" पाठः

भूसंस्थानविशेषोस्ति तदेवात्रोच्यते परम् ।
ध्यानरूपो मनुर्जातः क्षत्तुः प्रश्नस्तु पूर्ववत् ॥ १२० ॥
पित्राज्ञयैव तद्धर्मस्त्वेधेत्येवं कथा तता ।

प्रकाशः—कालजीवौ निरूपितौ । तदर्थं ब्रह्मकल्पपद्मकल्पौ च निरूपितौ । अधुना भूमिर्निरूप्यते सापि सर्वकारणमिति । तदर्थं वाराहकल्पोपि निरूप्यते । अत्र आदित आरभ्य सर्वनिरूपणमाशङ्क्याह तत्र हि सृज्यानामिति । अतिदेशन्यायेन सर्वकल्पेषु साधारणधर्माः समायान्ति, विशेषधर्मा एव वक्तव्याः । ते चेत्कस्यचित्स्थाने समायान्ति तदा स्थानानां बाधः । तत्र भूसंस्थानं न पूर्ववदिति तदुच्यते, तेन पद्मजघनयोर्बाधः । पूर्वधर्माणामनुवृत्तिं ज्ञापयितुं मनोरत्र प्रयोजकत्वं निरूपयतीति तस्य भावमाह ध्यानरूपो मनुर्जात इति । पूर्वमिच्छाध्याने निरूपिते तत्रेच्छा शतरूपा । ध्यानं मनुः । तेन ब्रह्मणो विस्मरणेपि ध्यानमेव तं प्रेरयतीतिभावः । विभूतिविस्तारार्थं मनोरुत्पत्तिः, सा भगवल्लीलेति भक्तत्वज्ञापनाय प्रश्न इत्याह क्षत्तुः प्रश्न इति । सर्वं कामाच्चोदनया वा प्रवृत्तिः । तत्र कामप्रवृत्तौ वराहकल्पो न मोक्षपर्यवसायी भविष्यतीत्याशङ्क्य चोदनया प्रवृत्तिमाह पित्राज्ञयैवेति । "उत्पाद्य शासधर्मेण" इतिवाक्ये प्रजोत्पादनं पृथिवीपालनं यज्ञकरणमिति धर्मा उक्ताः । ते ब्रह्मण एव आज्ञया कृताः । एवं ज्ञापयितुं मनुब्रह्मसंवादप्रकार इत्यर्थः ॥ १२०३ ॥

नन्वत्र कल्पे का व्यवस्था । ब्रह्मा हि पूर्वकल्पे नाभिपद्मे स्थितः सृजति । तदभावे ब्रह्मणः सृष्टिरस्ति न वेति सन्देहः । सृष्टिकरणपक्षे किं मनुना कुत्र वा सृजतीत्येतज्ज्ञातव्यम्, तत्राह सत्ये स्थित इति ।

निबन्धः-सत्ये स्थितः सृजत्येवमित्यर्थो विनिरूप्यताम् ॥ १२१ ॥
स्थानमन्विष्य तु पुनर्गतस्य वचनं मनोः ।
दिनान्ते दर्शनात्पूर्वं सृजतः प्रातरेव हि ॥ १२२ ॥

तदर्थमिति, जीवनिरूपणार्थम् । तदर्थं वराहेति, भूमिनिरूपणार्थम् । मूले० सृज्यानामिति । 'सृष्टि'रिति शेषः । भावमिति सृष्टिप्रयोजकतानिरूपकं स्वरूपम् । सेति विभूतिः ॥ १२०३ ॥

---

१ ज्ञात पाठः ।

प्रकाशः—असर्गपक्षे "सृजतो मे क्षितिर्वार्भिः" इति वाक्यं विरुध्यते। अनेनैव वाक्येन पूर्वं ब्रह्मणा स्वयं भूमिरुद्धृतेतिज्ञातव्यम्। तस्यामेव पालनाज्ञापनम्। तथा सति या प्रियव्रतादीनां पूर्वं सृष्टिरुक्ता सा आदिवराहकल्प इत्येव ज्ञेया। विज्ञापनं तु द्वितीयदिवसे प्रातरित्याह स्थानमन्विष्येति। "आदेशेऽहं भगवतो वर्त्ते" इति ज्ञापनापेक्षा कथं ब्रह्मण इत्याशङ्क्याह दिनान्ते दर्शनात्पूर्वमिति। आदिवराहकल्पस्य दिनान्ते यावद्भूम्यादीनामदर्शनं भवति तावदेव ब्रह्मा सत्यलोके गतः। तत्रैव च सृष्टिं करोति तदा प्रातरेव मनोर्विज्ञापनमित्यर्थः॥१२२॥

निबन्धः—विज्ञापनेऽतिनैकटयात्तथा वचनमादरात्।
सर्वेन्द्रियनिरोधेन ध्यायतः परमात्मनः॥ १२३॥
प्रथमं श्वाससम्भेदस्तेन कृष्णस्तथोद्गतः।

नन्वेवं सति कथमिदानीमेव प्लाव्यमानेति वचनमुपपद्यते तत्राह अतिनैकट्यादिति। आदरादित्यग्रेण सम्बध्यते। पुनरुद्धारेपि पूर्ववदेव प्लवनं भविष्यतीति भगवद्ध्यानम्। यादृशो ध्यातस्तादृशस्तमज्ञापयित्वैव निर्गत इत्याह प्रथमं श्वाससम्भेद इति। भक्तस्य दुःखनिश्वासात्पूर्वमेव भगवानाविर्भवतीति ज्ञापितम्। अस्याऽवतारस्य स्वरूपमाह कृष्णस्तथोद्गत इति वराहरूपेण॥ १२३½॥

तथारूपे हेतुमाह यज्ञेन समता त्वस्येति।

निबन्धः—यज्ञेन समता त्वस्य जलाद्वस्तूद्धृतौ क्षमौ॥ १२४॥
गजो वा शूकरो वाऽपि यज्ञस्त्वेवंविधः पुनः।

प्रकाशः—यज्ञो हि मन्युशब्दवाच्यः। अत एव पशून्मारयति। वराहोपि तथा। "पशूनां वा एष मन्युः" इति श्रुतेः। हेत्वन्तरमप्याह जलाद्वस्तूद्धृताविति। अवश्यमेकं रूपं कर्त्तव्यं मग्नपृथिव्युद्धारार्थम्। तत्र गुणातीतकार्यं यज्ञादेव भवतीति गजरूपता न कृता॥ १२४॥

यज्ञस्य जगत्कारणत्वे युक्तिर्न वक्तव्येत्यत आह सृष्टाविति।

निबन्धः—सृष्टौ तत्कारणत्वं च कर्मरूपत्वतः स्फुटम्॥ १२५॥
ब्रह्मणोऽप्यवितर्क्यं हि रूपं भगवतो निजम्।

उद्धृतेति। पद्मरूपत्वेन भूसर्गाभावे प्लावनासम्भवादिति भावः॥ १२१—१२५½॥

---

१ विज्ञापितेति पाठः।

प्रकाशः—तर्ह्यस्य क्रियांशत्वमेवास्तु किमित्यवतारत्वमित्याशङ्क्याह ब्रह्मणोप्यवितर्क्यं हीति, एतादृशं रूपं निजमेव भवति ॥ १२५½ ॥

स्वरूपमाह एतदानन्दरूपं हीति।

निबन्धः-एतदानन्दरूपं हि क्रियांशज्ञमये तथा ॥ १२६ ॥
लक्षमात्रमियं भूमिः प्रायेणेति मतिर्मम।

प्रकाशः—अन्यथाप्रतीतौ हेतुमाह क्रियांशज्ञमय इति। भगवतः क्रियाशक्त्यवतार इति ज्ञापयितुं यज्ञानुकारिरूपपरिग्रहः। 'सलिले स्वखुराक्रान्ते' इति वचनात्पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा न भविष्यतीति लक्षमात्रमित्युक्तम्। जम्बूद्वीपस्यैव कर्मक्षेत्रत्वादियं च भूमिर्यज्ञार्थमेवेति। मतिर्ममेति नात्राऽन्यसम्मतिः। 'पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा' इतिवाक्यं कल्पान्तरपरम्, पञ्चसहस्रमात्रमेवेति ज्योतिर्विदः। तच्च विंशतिभागगणनयापि फलमायातीत्येतज्ज्ञापनार्थम्। इयं च भूमिर्ज्योतिश्चक्रमध्ये वर्तते ॥ १२६½ ॥

अत्र स्तोत्रप्रयोजनमाह यज्ञत्वबोधकमिति।

निबन्धः-यज्ञत्वबोधकं स्तोत्रं कथञ्चिन्मारणं त्विह ॥ १२७ ॥
उद्धृतिः स्थापनं स्तोत्रं मारणं चेति तत्क्रमः।

प्रकाशः—नाऽस्माकमत्र श्रद्धाभाव इति। हिरण्याक्षमारणं तु यथाकथञ्चित्। इदं प्रकरणं भूम्युद्धार एव पर्यवसितम्। नाऽत्र मारणमभिप्रेतम्। अन्यथावाक्यभेदः स्यात्। तस्मात्प्रधानानुरोधेनाऽन्येषां कालादिक्लृप्तिः। अकिञ्चित्करश्चाऽस्मिन्कल्पे दैत्यः। यज्ञश्च तस्य दाहक एव। अत आगमनमात्रेणैव मारणम् ॥ १२७ ॥

ननु भूमेर्लक्षमात्रत्वाङ्गीकारे ज्योतिःशास्त्रविरोध इत्यत आहुः पञ्चेत्यादि। अयमर्थः, ज्योतिःशास्त्रं हि शुभाशुभफलबोधनाय प्रवृत्तं, न तु वस्तुस्वरूपनिर्णयाय, फलं तु लक्षमात्रस्य विंशांशं पञ्चसहस्रात्मकमयवर्त्तेन कृत्वापि अङ्कानां सूक्ष्मतायां सुखेन बोधयितुं शक्यतेऽतो लक्षमात्राङ्गीकारेपि न विरोध इत्यर्थः। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। युक्त्यन्तरमाहुः इयञ्चेत्यादि। अस्माकमिति श्रोतॄणाम्। यथा कथञ्चिदिति, अनुप्रसङ्गपतितमित्यर्थः। अन्येषामिति स्थापनादीनाम्। एवं च उद्धृतिर्मारणं स्तोत्रं स्थापनमितिमूलानुसारी क्रमः ॥ १२७ ॥

एवं पादोनैर्नवभिस्त्रयोदशाध्यायो विचारितः।

मारणमुख्यपक्षे क्रममाह उद्धृतिरिति। स्तोत्रं यद्यपि सन्दिग्धं तथाप्युत्कर्षवर्णने तस्य दुःखं भवतीति पूर्वमुक्तम् ॥ १२७½ ॥

ननु कल्पादौ भूम्युद्धारस्तत्कुत्रत्यो हिरण्याक्ष इत्याशङ्कायामाह पूर्वकल्पेऽस्य जननमिति।

निबन्धः—पूर्वकल्पेऽस्य जननं रसायां प्रलये स्थितिः ॥ १२८ ॥
देवानामूर्ध्वगमनमन्येषां नाश एव हि।
ऋषीणां तत्सुतानां च ब्रह्मसाम्यमबाधके ॥ १२९ ॥

प्रकाशः—महाकल्प एव पूर्वसृष्टेर्नाशः। अवान्तरकल्पेषु तु त्रिलोक्यां विद्यमानानां मध्ये असुराणामधोगमनम्। देवानामूर्ध्वगमनम्। मनुष्याणां तु नाशः। मनुप्रभृतीनां देवत्वम्। ऋषीणामप्यूर्ध्वगमनम्। विशेषोप्यस्ति। सत्यलोके स्थितिः। तेन कश्यपस्योर्ध्वगमनं दितेरधोगमनमिति विमर्शः ॥ १२९ ॥

अत्र षडध्याया हिरण्याक्षवधप्रस्तावे निरूपिताः मतान्तरभाषासिद्धाः, अतो भागवतार्थेन न विरोधः। अत्रैषा व्यवस्था। प्रकृतकथायां प्रासङ्गिककथा चेद्विशेषाकारेण पृच्छ्यते तदा न तावन्मात्रं वक्तव्यम्। किन्तु यस्मिन् कल्पे तत्प्रमेयमुत्कृष्टतया सिद्धं तदेव वक्तव्यम्, भक्तिजननस्य प्रयोजकत्वादिति। अतो यस्मिन्कल्पे हिरण्याक्षादीनामुत्कर्षः स निरूप्यते। तत्र वैकुण्ठगतानां कथं पुनरावृत्तिः, ॥१२९॥

न च वक्तव्यं कृत्रिमवैकुण्ठगतानां पुनरावृत्तिरिति। तत्राह कृत्रिमेऽपि हि वैकुण्ठ इति।

निबन्धः—कृत्रिमेऽपि हि वैकुण्ठे मुक्तिरेव तथापि तु।
कृष्णेच्छया तु तज्जन्म नष्टानां गतिरीदृशी ॥ १३० ॥

प्रकाशः—ये 'अनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाऽऽराधयन् हरिम्' इति भगवदाराधनया वैकुण्ठगताः पुनरावृत्तिरहितमेव पदं प्राप्नुवन्ति, तथापि कृष्णेच्छया जयविजययोर्जन्म। तत्रेच्छायाः प्रयोजनं लोकज्ञापनम्। तत्र किं ज्ञापयतीत्याकाङ्क्षायामाह नष्टानां गतिरीदृशीति। त्रिलोक्यां हिरण्याक्षादिमुखमिन्द्रादेरपि

अतः परं सप्तदशभिः षडध्यायीं विचारयन्ति। (मारण)मुख्येत्यादि। मुख्यपक्ष इति। कल्पान्तरीयकथायां विदुरप्रश्नानुरोधेन यत्र मारणं मुख्यं तस्मिन्नित्यर्थः। नन्वष्टादशेऽध्याये उद्धृतिः स्थापनं मारणमिति त्रयमेवोक्तमिति क्रममध्ये स्तोत्रनिवेशो न युक्त इत्यत आहुः, स्तोत्रमित्यादि। तस्येति, हिरण्याक्षस्य। पूर्वमिति, सुबोधिन्याम्। तथा च तस्य दुःखजननेन तेजोभङ्गाय तदप्यौचित्यबलान्निवेश्यत इति नायुक्त इत्यर्थः ॥ १२८–१३० ॥

दुर्लभं, तद्वैकुण्ठच्युतानां निरूप्यते, सा हि तेषां परमाऽऽपत् । अनेन वैकुण्ठसुखस्तु-ल्यमितिभावः ॥ १३० ॥

निबन्धः-भूमावेव हि तद्युद्धमिच्छयाऽमुक्तिरस्य हि ।
मारणानन्तरं तस्य ह्युदरस्य विभेदनम् ॥ १३१ ॥

प्रकाशः—अस्मिन् पक्षे भूमावेव युद्धम् । भगवदिच्छयैव हिरण्याक्षस्याऽमुक्तिः । क्रियाशक्त्या हननाद्वा, मुक्त्यर्थमवतार एव, मुक्तिरिति वा । उदरभेदनेन न मारणं, किन्तु मारणानन्तरमुदरभेदः । अन्यथा प्राणा भगवन्मुखे प्रविशेयुः । पुनर्दैत्यत्वा-भावाय संस्कृतानामंशानां स्वस्मिन् प्रवेशनार्थमुदरभेदनम् ॥ १३१ ॥

हिरण्याक्षस्य माहात्म्यार्थमाह ब्रह्मणो दिनमेकं हीति ।

निबन्ध-ब्रह्मणो दिनमेकं हि तद्युद्धमिति लक्ष्यते ।
अथवा देववत्तस्य दिनं मेरुगतश्च सः ॥ १३२ ॥

प्रकाशः—अनेन वराहकल्पस्तेनैव समाप्त इतिज्ञापितम् । पश्चात् श्वेतवारा-हकल्पे सृष्टिर्हिरण्यकशिपुराज्यं चेति ज्ञापितम् । पक्षान्तरमाह अथवेति । तदा

ननु 'ये ये हताश्चक्रधरेणे'तिपाण्डवगीतावाक्ये भगवद्धतानां मुक्तेरुक्त-त्वाद्धिरण्याक्षस्य मुक्तिर्वक्तव्या, सा कथं नेत्यत आहुः भगवदिच्छयेत्यादि । 'न विदुस्तच्चिकीर्षितमि'तिवाक्ये किञ्चिच्चिकीर्षयैव तथाकृतेर्बोधनात्तयैव तथेत्यर्थः । वाक्ये चक्रपदेन हनने तस्य करणत्व एव मुक्तिरत्र तु करेण कर्णमूलेऽहन्निति साधनान्तरोपदेशान्न सेत्याशयेन पक्षान्तरमाहुः क्रियेत्यादि । सलतोसलकयोः प्रपदेन दन्तवक्त्रस्य कौमुदक्या हननेपि मुक्तेश्चक्रस्यापि न प्रयोजकत्वमित्याशयेन पक्षान्तरमाहुः मुक्त्यर्थमित्यादि । एतेनेच्छापक्ष एव दृढीकृतो बोध्यः । 'तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्रधरो ददारे'-त्यत्र दारणस्योक्तत्वाद्दंष्ट्र्या हननमाशङ्क्य नेत्याहुः, उदरेत्यादि । कुत एवमित्यत आहुः अन्यथेत्यादि । तथा च मुक्त्यभावादेवं ज्ञायत इत्यर्थः । तर्हि दारणं कुत इत्याकाङ्क्षा-यामाहुः पुनरित्यादि ॥ १३१ ॥ अनेनेति । लक्ष्यत इत्येकदिनयुद्धानुमानकथनेन । तच्चैवम्, आदिवाराहकल्पे प्रियव्रतादीनां जन्मनि निश्चिते तत्रैव हिरण्याक्षस्यापि जन्म, दिग्विजयः, समुद्र-क्रीडाः, ततो रात्रौ रसायां स्थितौ वरुणप्राप्तिरपररात्रे, ततः प्रातर्भूम्युद्धारे नारदादवगते युद्धा-रम्भो वराहकल्पादौ । "तत्राधुनैषोजितनाम न यावदेष वर्द्धते" तिवाक्यदर्शनात्तदन्यथानुपपत्त्या ज्ञेयम् । एवं कल्पने वाराहकल्पीयवृत्तान्तबोधकविष्णुपुराणस्थसृष्टिमन्वन्तरादिकथनव्याकोप

मासषट्कं युद्धम्। अस्मिन् पक्षे ब्रह्मवाक्यानां सङ्गत्यर्थमाह मेरुगतश्च स इति। भूमिस्थापनानन्तरं पूर्ववन्मेरावेव ब्रह्मा स्थितः॥ १३२॥

किमनेन सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाह षड्भिः संसारकथनमिति।

निबन्धः—षड्भिः संसारकथनमुत्पत्तिर्मरणं च सः।
उपाधिजननं पूर्वं स्थानभ्रंशश्च जन्म च॥ १३३॥
प्रादुर्भावः सर्वतश्च विनश्यत्ता नशिस्तथा।
ईश्वरेच्छैव षट्कस्य कारणं नान्यथा तु तत्॥ १३४॥

प्रकाशः—मुक्तानां जीवानां भगवदिच्छया संसारः। सा भगवद्रूपेति षड्भिरध्यायैः संसारो निरूप्यते। संसारस्वरूपमाह उत्पत्तिर्मरणं च स इति। उत्पत्तिस्त्रिभिरध्यायैर्मरणं च तथेति। 'अनित्ये जननमि'त्यादिना त्रिविधोत्पत्तिर्निरूपिता। "कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसङ्क्रमः" इति मरणमपि त्रिधा। तत्र बीजोत्पत्तिः प्रथमाध्यायार्थः। तत्र जीवसम्बन्धो द्वितीयाध्यायार्थः। भगवद्विभूत्यावेशस्तृतीयार्थ इति। अन्यथा तथा महत्त्वं नोपपद्येत। तदाह उपाधिजननमिति बीजजननम्। स्थानभ्रंशो वैकुण्ठात्क्षतिः जन्म प्रादुर्भावश्चैकेन। उत्कर्षस्य नाशरूपत्वमिति ज्ञापयितुं नाशाध्यायेषु निरूपणम्। वरुणवाक्येन नाशबीजकथनाद्विनश्यत्ता पञ्चमाध्यायार्थः। "नाशबीजं विनश्यत्ता विनाशश्चेति तद्विदा"। कथं मुजीवस्यैवम्भाव इत्याशङ्क्याह ईश्वरेच्छैव षट्कस्य कारणमिति॥ १३३॥ १३४॥

अन्यथा बाधकमाह दक्षकन्येति।

निबन्धः—दक्षकन्या ऋषेः पत्नी सन्ध्यायामग्निहोत्रिणम्।
निर्लज्जा बोधिता स्थातुं क्षणं न त्यक्तवत्यपि॥ १३५॥

प्रकाशः—सत्कुलोत्पन्ना ऋषेरतीन्द्रियद्रष्टुः पत्नी क्षणमात्रं स्थित्यर्थं याचिताऽपि न स्थितवती। न ह्येतद्भगवदिच्छाव्यतिरेकेण मर्यादया सिध्यति॥ १३५॥

इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि। मासषट्कमिति। 'अधुनैषे'त्यादिवाक्यबलादेव सङ्गवसायाद्वौ पूर्वोत्तरावधीकृत्य तथाङ्गीकार्यमित्यर्थः॥ १३२॥ अनेनेति अध्यायषट्केन। सेति भगवदिच्छा। विभूत्यावेशस्य तत्रास्फुटत्वात्तदर्थं गमकमाहुः अन्यथेत्यादि। तथा महत्त्वमिति, चतुर्थाध्यायोक्तं महत्त्वम्। प्रादुर्भाव इति। "तावादिदैत्यो सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषावि"त्यत्रोक्तः पौरुषप्रादुर्भाव आवेशकृतः। चतुर्थाध्यायस्य कथं नाशाध्यायत्वमित्यत आहुः वरुणेत्यादि। इदं मूले सर्वतश्चेति चकारेण सूचितम्। सर्वत इत्यनेन उत्पातसङ्ग्रहः॥१३३-१३४॥

अस्तु वा स्त्रियाः। मुनेरपि तथाभावो नोपपद्यत इत्याह मौनत्याग इति।

निबन्धः—मौनत्यागस्तयोर्भाषा स्तोत्रं तद्वश्यता तथा।
अन्यत्रागमनं तत्र प्रतीकाराकृतिर्मुनेः॥ १३६॥
स्वभावविनिवृत्त्यर्थं संवादस्तादृशः पुनः।

प्रकाशः—मुनौ षडर्था अनुपपन्नाः। पुनर्यो धर्मरूपः संवादः सोपि ज्ञापकः। नैतयोरयं स्वभाव इति। एवं प्रथमाध्यायार्थस्याऽयुक्तत्वमुपपादितम्॥ १३६३॥

तथापि द्वितीयाध्यायार्थस्याऽयुक्तत्वमाह सङ्क्षोभ इति।

निबन्धः—सङ्क्षोभो न क्वचिद्येषां काले देशे च वस्तुनि॥ १३७॥
ते कृष्णभावनायुक्ता वैकुण्ठे कृष्णभृत्ययोः।
सनन्दनादयः क्रुद्धाः शापं दुर्विषहं ददुः॥ १३८॥

प्रकाशः—वस्तुनि अयुक्तकरणे अवस्था च कृष्णभावनायुक्ता। स्वयं च क्रुद्धाः। शापश्च दुर्विषहः॥ १३८॥

एवं मुनीनामयुक्ततां निरूप्य जयविजयोरपि तथात्वमाह भगवद्भावसम्पन्ना इति द्वाभ्याम्।

निबन्धः—भगवद्भावसम्पन्ना भगवद्गुणतत्पराः।
लतापक्षिस्त्रियश्चापि निरहंमत्सराः शुभाः॥ १३९॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यं सर्वथा गतौ।
वैकुण्ठे भक्तसन्दर्शविघ्नं चक्रुश्च गर्वितौ॥ १४०॥
स्वभावविनिवृत्त्यर्थमुभयोश्च तथा कृतिः।

प्रकाशः—पूर्ववदत्रापि स्वभावनिवृत्त्यर्थं शापानन्तरचेष्टेत्याह स्वभावविनिवृत्त्यर्थमिति॥ १३९॥ १४०॥

अग्निहोत्रिणमिति। जानन्तीति शेषः। स्वभावविनिवृत्त्यर्थमित्यर्द्धस्यार्थमाहुः, पुनरित्यादि। उपपादितमिति। उत्पत्तेर्भगवदिच्छैकहेतुकत्वबोधनायोपपादितम्॥ १३५—१३६३॥

मूले चक्रुरिति। जयविजयकारिकाद्वयं त्वेवं योज्यम्। वैकुण्ठे भगवद्भावेत्यादिगुणयुक्ताः सर्वे सर्वथा सालोक्यादिचतुष्टयं येषां तादृशाः गतौ भगवद्दर्शनार्थकगतौ गमने भक्तसन्दर्शविघ्नं चक्रुः। इदं बहुवचनं वैकुण्ठस्थितान्यभक्तसमतयैतन्महत्त्वाभिप्रायेणोक्तम्। व्यासपादा ऊचुरितिवत्, विघ्नकरणे वैषम्याचन्महत्त्वं गतमित्येकत्वविवक्षया गर्वितावित्युक्तम्। चतुर्गुणोपाध्यायास्तु "विघ्नं चक्रुश्च गर्वितावि"ति निबन्धप्रतीकम्। तत्रेयं शङ्का। ननु गर्विताविति द्विवचनान्ते कर्त्तरि चक्रतुरिति वक्तुमुचितमिति चेत्तत्रायं समाधिः। 'कुर्भ्रश्चे'त्यौणादिक (२२) सूत्रेण कृधातोस्तृजादिवत्कालसामान्ये कुप्रत्ये कृते चक्रुरितिरूपम्। अकरोदिति चकारेति वा चक्रुः कर्ता। ननु करोतेस्तत्सूत्रे ग्रहणाऽभावात्कथं कुप्रत्ययः? कथं च द्वित्वम् कथं चाभ्याससंज्ञां विना तत्प्रयुक्तकार्याणीति चेत्तत्र ब्रूमः। उद्देश्यविधेययोः प्रायेण पाठतः क्रमिकत्वस्वीकाराद् भ्रूःकुश्चेतिवक्तव्ये प्राक्प्रत्ययनिर्देशाद् भ्रश्चेति प्रकृतिसंसृष्टेन चकारेण प्रकृत्यन्तरसमुच्चयाद्वाऽन्यस्मादपि धातोः कुप्रत्ययो भवतीतिसिद्धान्तात्,'योद्वेचे'त्यस्मात्सूत्राद् उणादेः२१द्वेग्रहणमनुवर्त्तत इति द्वित्वस्यापि सुवचत्वात्। 'पूर्वोभ्यास' (६. १. ४.) इति सूत्रेण षाष्ठद्वित्वप्रकरणस्थद्वित्वस्यैवाभ्याससंज्ञायाः प्राप्तावप्यत्र तु३-३-१'उणादयो बहुलमि'तिबहुलग्रहणादभ्याससंज्ञायाः सौलभ्याच्च। न च 'शः कित्सन्वच्चे'ति (२०उणादि)सूत्रात्सन्वदित्यनुवर्तमाने सत्यातिदेशिक्यभ्याससञ्ज्ञा सिध्यतीति वाच्यम्,तदनुवर्तमाने 'सन्यत'(७-४-७९)इतीत्वे कृते चिक्रुरित्यनिष्टरूपप्रसङ्गात्। न च व्युत्पत्तिपक्षे विघ्नमित्यनभिहिते कर्मणि द्वितीयानुपपन्नेति 'कृत्प्रत्यययोगे कर्तृकर्मणोः कृती'ति षष्ठ्यैव भाव्यमिति वाच्यम्। 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशत' इति परिभाषया द्वितीयाया अपि सौलभ्यात्। अत एव 'कृत्वापे'त्युणादि(१)सूत्रे करोतीति कारुरिति योगाभिप्रायेण मनोरमायां "राघवस्य ततः कार्यं कारुर्वानरपुङ्गवः। सर्ववानरसेनानामाश्वागमनमादिशदि"तिभाट्टिप्रयोगमुदाजह्रुर्भट्टोजिदीक्षिताः। अत एव च भट्टिकृतापि "बभूवे"तिवक्तव्येऽभूदित्युत्सर्गसूत्रोदाहरणं दत्तम्। 'अभून्नृपो विबुधसखः परन्तपः श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृतः, गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं सनातनः पितरमुपागमत्स्वयमि'ति। एतेनैतत्परिभाषामेव स्वीकृत्य लुङपवादकं लिटं विहाय लुङ्विलसितसर्गमुदाहृतवान् भट्टिकारः। ननु 'तदर्हमि'तिसूत्रेऽर्हशब्दः पचाद्यजन्तस्तद्योगे कर्मणि षष्ठी प्राप्ता सौत्रो विभक्तिव्यत्यय इत्येक इत्युक्त्वाऽन्ये तु "कर्तृकर्मणोरि"तिषष्ठ्या अनित्यत्वे लिङ्गमिदं, तेन 'धयैरामोदमुत्तममि'ति भट्टिप्रयोगः समाहित इत्याहुरित्युक्तं भट्टोजिदीक्षितैर्मनोरमायाम्। तत्कथं 'क्वचिदपवादविषयेपी'त्यस्य सञ्चारः कृत्प्रत्ययस्थले कृत इति चेत्सत्यम्, उपायस्योपायान्तराऽदूषकत्वात्। इदमेवाऽभिप्रेत्याऽभियुक्तैरुक्तम् "उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिता" इति। एतेन "सभयाः स्त्रीगिरः श्रुत्वा पुत्रस्नेहशुचाऽऽतुरौ, पितरावन्वतप्येतां

तृतीयाध्यायार्थोऽप्ययुक्त इत्याह मोहनमिति।

निबन्धः--मोहनं तदुपेक्षा च दुर्घटं पतनं तथा ॥ १४१ ॥
द्वेषोत्पत्तिस्तयोः कृष्णे सर्वं कृष्णेच्छयाऽभवत्।

प्रकाशः—मोहनवाक्यैः सनकादीनां मोहनम्। तयोरुपेक्षा। तथा वैकुण्ठा-दुर्घटं पतनम्। भगवति द्वेषोत्पत्तिः। अन्यथोत्तरत्र द्वेषबुद्धिर्न स्यात् ॥ १४१½ ॥

एवमध्यायत्रयार्थं दुर्घटत्वेन निरूप्य पुनरन्येषां तथात्वं निरूपयति अलौकिकी तदुत्पत्तिरिति।

निबन्धः--अलौकिकी तदुत्पत्तिर्वृद्धिर्दिग्विजयस्तथा ॥ १४२ ॥
स्वामिनो दुर्वचो वादो युद्धं ब्रह्मभ्रमस्तथा।
संमुखे मरणे कृष्णान्न मुक्तः किं ततोऽद्भुतम् ॥ १४३ ॥

प्रकाशः—न हि महत उत्पत्तौ दुर्निमित्तानि भवन्ति। वृद्धिर्दिग्विजयश्चा-लौकिकौ। पञ्चमाध्यायार्थानुपपत्तिमाह स्वामिनो दुर्वचो वाद इति। युद्धमपि स्वामिना सहाऽयुक्तम्। ब्रह्मणश्च भ्रमः सुतरामयुक्तः। षष्ठाध्यायार्थोऽप्ययुक्त इत्याह सम्मुखे मरणे कृष्णादिति ॥ १४३ ॥

पुत्रयोरबुधौ बलमि'तिश्रीभागवतं व्याख्यातमिति। तत्र बुध्यते'रिगुपधज्ञाप्रीकिरः क' इति कप्रत्यये नञ्तत्पुरुषे च कृते बलमबोद्धारावित्यर्थः। यद्वाऽस्मादेव धातोः, 'क्विप्चे'ति क्विपि तादृग्रूपं बोध्यम्। अन्यत्र पूर्ववत्। ननु चक्रुरिति प्रथमान्तस्य "गर्वितावि"तिद्विवचनान्तेन सामानाधिकरण्यमनुपपन्नमिति चेत्तन्न। यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती, एकराशौ समेष्यन्ति तदा भवति तत्कृतमि'ति श्रीभागवते कर्तृगतबहुत्वाऽभावेपि तद्रूपाऽनेकपदार्थ-सम्बन्धाऽभिप्रायेण 'समेष्यन्ती'तिबहुवचनानुपपन्नत्ववज्जयविजयोः पार्थक्येन सम्बन्धे एकवचनानुपपन्नत्वस्य खपुष्पायमाणत्वात्। अत एवोक्तं भट्टोजिदीक्षितैः कौमुद्यां 'तदस्मि-न्वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयत' इतिसूत्रे वृद्धिर्दीयत इत्यादिक्रमेण प्रत्येकं सम्बन्धा-देकवचनम्। ननु "व्यत्ययो बहुलमि"तिसूत्रे भाष्ये सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणामितिश्लोकवा-र्तिकेन छन्दसि तिङ्व्यत्यये कृते दीयन्त इति प्राप्ते दीयत इत्येकवचनप्रयोगः सेत्स्यतीति दृष्टान्तरूपा सम्मतिरसम्मता विदुषामिति चेन्न। लौकिकरीत्येव समाधाने प्रतिष्ठिते छान्दसत्व-कल्पनाया अगतिकगतित्वात्। 'वृद्धिरादैच्'सूत्रस्थभाष्योक्तस्य छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीत्य-तिदेशवाक्यस्य स्वीकारे आतिदेशिकच्छान्दसत्वकल्पनाया अतिशयितगौरवातिविशिष्टत्वा-च्चेत्यलमतिविस्तरेण। "विघ्नं चक्रू च गर्वितावि"तिपाठे तु न कश्चित्सन्देह इत्याहुः। अन्येषामितिचतुर्थाद्यध्यायानाम्। एवं सप्तदशभिः षडध्यायी विचारिता ॥ १४३ ॥

उपसंहरति सोपपत्तिकमिति ।

निबन्धः--सोपपत्तिकमाख्यानं जीवानां जननं हरिः ।
ऐहिकामुष्मिकफलं दातुं सृजति नाऽन्यथा ॥ १४४ ॥

प्रकाशः—हरिरेवोत्पादयत्यैहिकामुष्मिकफलदानार्थम् । अतः सर्गो लीला भवतीत्युक्तं भवति ॥ १४४ ॥

एवं भाषान्तरेण निरूप्य समाधिभाषायामप्ययमेवार्थ इति निरूपयितुमाह इति दर्शयितुमिति ।

निबन्धः—इति दर्शयितुं साङ्ख्यमते सृष्ट्यादिवर्णनम् ।
तेषां गुणप्रधानत्वाद्गौणी सृष्टिर्निरूप्यते ॥ १४५ ॥

तथा सति द्वादशाधिकशतेन बन्धसृष्टिलीला पञ्चभिः प्रकरणैश्चतुर्भिर्वा सूक्ष्मविभागे सम्यगुपपादिता । स्थूले विभागे त्वष्टभिरध्यायैः पञ्चधा सृष्टिः । सप्तभिर्बन्धोपपत्तिरित्येवं षड् अधिकारमादाय च सप्तप्रकरणान्युपपादितानि ॥ १४४ ॥

अतः परं द्विषष्ठिभिर्मोक्षलीलां पञ्चविधां वदिष्यन्तः सूक्ष्मविभागे स्थूलविभागे च या या यद्वक्तुरभिप्रेता सा सा मोक्षोपपत्तिर्विशेऽध्याये उच्यत इत्याशयेनाहुः एवं भाषान्तरेत्यादि । अयमिति । भगवदिच्छाया एवं प्राबल्यमित्युपपत्तिरूपः । मूले इति दर्शयितुमित्यस्य सोपपत्तिकमाख्यानमित्यनेनाप्यन्वयः । सोपपत्तिकमित्यस्य सृष्ट्यादिवर्णनमित्यनेनाप्यन्वयो बोध्यः । आदिपदेन "विससर्जात्मनः कायं नाभिनन्दंस्तमोमयम् जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिम्" भा. ३-२०-१९ इत्यादिनोक्तयोर्भावत्यागतद्ग्रहणयोर्ग्रहणमुपपत्तेः । स्वरूपमाहुः साङ्ख्यपुरुषा इति । ते च महदादिस्वराडन्ताः । एतेन मोक्षलीलोपोद्घातत्वमपि बोधितम् । साङ्ख्यानुसारेणेति महदादिसृष्टिप्रकारेण । नन्वेवं सति तावदेव वक्तव्यमग्रे यक्षरक्षःप्रभृत्यष्टादशसृष्टिभेदाः कुत उच्यन्त इत्याकाङ्क्षायामाहुः तत्रेत्यादि । एकादशप्रकारा इति, छायादियोगान्तकरणकाः । हेतुमिति, ऐहिकफलदानरूपं हेतुम् । मूले, तेषां गुणप्रधानत्वादिति । तेषामष्टादशानां रात्र्यादिरूपग्राहकत्वेन तत्तद्ब्रह्मतनुप्रधानकत्वात् । समासान्तस्तुवैकल्पिक इति तदनुक्तावप्यदोषः । अत एवेत्यादि । यतोग्रिमाध्यायेप्वैहिकामुष्मिकफलोक्तिर्दृश्यते । त एव प्रथमतोस्मिन्नध्याये छायादिब्रह्मगुणग्रहणेन तद्वती ऐहिकफलयुक्ता सृष्टिर्निरूप्यते । भगवान् जीवानैहिकामुष्मिकफलदानायोत्पादयतीति ज्ञापनायोच्यत इत्यर्थः । तथा च शुकोक्तिपक्षे भगवदिच्छैवात्र मोक्षोपोद्घातत्वेन बोध्यत इतिभावः ॥ १४५ ॥

प्रकाशः—साङ्ख्यपुरुषा जीवन्मुक्ताः। अतस्तन्मतानुसारेणोत्पन्ना मुक्त्यर्थमेव भवन्तीति सिद्धम्। तत्र सृष्टिभेदा एकादशप्रकाराः। तत्र हेतुमाह तेषां गुणप्रधानत्वादिति। अत एव प्रथमतो गौणी सृष्टिर्निरूप्यते ॥ १४५ ॥

अत्र शौनकानां भगवत्कथाप्रस्तावे मनुकथाप्रश्नो न युक्त इत्याशङ्क्याह प्रकारान्तरसम्प्रश्न इति।

निबन्धः-प्रकारान्तरसम्प्रश्नः स्वकृतः परतस्तथा।
भक्तकर्तृत्वतस्तस्य कृष्णलीलात्वमुच्यते ॥ १४६ ॥

प्रकाशः—अयमपि प्रश्नो भगवत्कथाया एव किं तु प्रकारान्तरेण। मनुर्भक्तस्तेन क्रियमाणं भगवत्प्रीतिजनकमेव भवतीति लीलाहेतुत्वात्सा लीलैव ॥ १४६ ॥

"एवमुग्रश्रवाः पृष्टः" इति व्यासवाक्यं नोपपद्यत इत्याशङ्क्याह प्रक्रियान्तरबोधायेति।

निबन्धः--प्रक्रियान्तरबोधाय व्यासोक्तिः शुकसूतयोः।
एकरूपत्वकथनादेकोक्तिः पाक्षिकोऽन्ययोः ॥ १४७ ॥

प्रकाशः—तथा शुकसूतयोरप्युक्तिः शुकवाक्येनैव निरूप्यते। अन्यथा सूतो विदूरवाक्यं न वदेत्। शुकश्च वदेदिति। एकोक्तौ हेतुः एकरूपत्वकथनं, शब्दतोऽर्थतश्च समानम्। अन्ययोः परीक्षिच्छुकयोः पाक्षिकोऽत्र ज्ञातव्यः। यथा शौनकेन पृष्टं तथा राज्ञा पृष्टं, यथा सूतेनोच्चरितं तथा शुकेनेति तुल्यत्वादेकः पक्षः कश्चिदुक्त इति ॥ १४७।

मनुकथा प्रश्न इति। 'महीं प्रतिष्ठामध्यास्ये'त्येकश्लोकोक्तो न युक्तः। 'किमन्वपृच्छन्मैत्रेयमि'त्यादिना तेषां भगवत्कथास्वेवासक्तिदर्शनादसङ्गत इत्यर्थः। मूले प्रकारान्तरेत्यादि। स्वकृतः शौनककृतः प्रकारान्तरसंप्रश्नः परतस्तथा मैत्रेयतः प्रकारान्तरकथनार्थ इत्यर्थः। उच्यत इति मैत्रेयेणोच्यते। तदेतद् व्याकुर्वते अयमित्यादि ॥ १४६ ॥

नोपपद्यत इति प्रस्तावस्य प्रागेव कृतत्वात्सङ्गतिविच्छेदस्याभावेन नोपपद्यत इत्यर्थः। समाधिं व्याकुर्वन्ति तथेत्यादि। तथेति। पूर्वप्रकरणं समाप्तम्॥ प्रकरणान्तरमारभ्यत इति बोधनार्थं यथा व्यासोक्तिस्तथा शुकसूतयोरपि तदर्थमुक्तिरितिबोधयितुं शुकमुखेनैव व्यासेनोच्यते। तथा च सङ्गतिविच्छेदाभावेपि प्रकरणान्तररूपविशेषबोधनाय व्यासवाक्यमुपपन्नमेवेत्यर्थः। ननु शुकमुखेन वदतीत्यत्र किं मानमत आहुः अन्यथेत्यादि। विदुरसंवादस्य सूतेनानुपक्रान्तत्वात्स न वदेत्। शुकश्चोपक्रान्तत्वाद्वदेदत उपक्रमबलाज् ज्ञायते, शुकमुखेन वदतीति स एव मानमित्यर्थः। हेतुरित्यस्यैव विवरणं एकरूपत्वकथनमिति। पाक्षिक इत्यस्य विवरणं शब्दतोर्थतश्च समानम् इति। तस्यैव तात्पर्यमाहुः यथेत्यादि ॥ १४७ ॥

साङ्ख्यमतसृष्टिः कस्मिन् कल्पे जातेत्याकाङ्क्षायामाह आण्डकोशे पद्मकल्प इति।

निबन्धः—आण्डकोशे पद्मकल्पो विशेषेणोच्यतेऽधुना।

साङ्ख्याचार्यास्तु कल्पेऽस्मिन्मुक्तिमार्गे हरीच्छया १४८
ज्ञानमेकप्रकारेण हृदि प्राप्य परं गताः।

प्रकाशः—ब्रह्माण्डमध्ये यः पद्मकल्पः केवलाद्भिन्नस्तस्मिन्नेव साङ्ख्यमतं प्रसिद्धम्। तत्रैव ते सिद्धा इति हेतुः। ननु तेषां ज्ञानं तत्त्वसूत्रे निन्दितमिति कथं मुक्तिरित्याकाङ्क्षायामाह हरीच्छया ज्ञानमेकप्रकारेणेति॥ १४८½॥

निबन्धः—इति दर्शयितुं साङ्ख्ये कल्पस्याऽस्य च वर्णनम्॥१४९॥
पञ्चशः प्राकृतोत्पत्तिस्तत्त्वत्वज्ञापनाय हि।

प्रकाशः—अस्य कल्पस्य पद्मकल्पस्य। चकाराद्वराहकल्पस्य च वर्णनम्। अन्यथा प्रकृते तेन मार्गेण मुक्तिर्न स्यात्। तस्य सृष्टिप्रकारस्य पूर्वस्माद्वैलक्षण्यं ज्ञापयितुमाह पञ्चशः प्राकृतोत्पत्तिरिति। "पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्मन्" इत्यग्रे वक्ष्यति। तथा सङ्ख्यायुक्तत्वकथने साङ्ख्यं मतं भवति। तत्त्वता च पदार्थानां भवति॥ १४९½॥

केवलादिति यत्र लोकत्रयप्रलयजलमध्ये पद्मं भवति तस्मात्। अत्र साङ्ख्याचार्यास्तु इत्यादिनोक्तं गमकमाहुः तत्रैवेत्यादि। "तस्य नाभेरभूत्पद्मं सोनुप्रविष्ट" इति प्रथमाध्याय उक्त्वा अग्रिमाध्यायेषु स्त्रीपुंमुक्तिरुच्यते। अतस्तथा ज्ञायत इत्यर्थः। मूले ज्ञानमेकेत्यादि। एतेन तत्त्वसूत्रोक्तनिन्दाया भगवदीयसाङ्ख्यव्यतिरिक्तविषयत्वमिति श्रीभागवताशयो ज्ञापितः॥ १४८॥

वराहकल्पस्य चेति। एकादशाध्याये पद्मकल्पवद्वाराहकल्पस्यापि प्रस्तुतत्वेनात्र पद्मोक्त्या तत्समभिव्याहृतस्य तस्यापि स्मारणात् तथेत्यर्थः। स्मारणप्रयोजनमाहुः अन्यथेत्यादि। प्रकृत इति श्वेतवाराहकल्पे। पूर्वस्मादिति। "भगवानेक आसेदमि'त्यादिना पञ्चमाध्यायोक्तात्। ननु प्रकृतिपुरुषमहदाद्या ये तत्रोच्यन्ते, त एवात्रापि सन्तीति किमत्र वैलक्षण्यमित्यपेक्षायामाहुः पञ्चभिरित्यादि। समाससाङ्ख्ये हि अष्टौ प्रकृतयः, षोडशविकारा, पुरुष इत्युपक्रम्य एतत्परं याथातथ्यमिति कथनात्सङ्ख्यायोगेन तेषाम्भिन्नतया तत्त्वता कथनेन मतप्रवृत्तिः सिद्धा। तथैवात्रापि पञ्चभिरित्यादिना सिद्धा। पूर्वत्र भगवन्तमुपक्रम्य तच्छक्तित्वेन तेषामुक्तिरिति स्फुटमेव वैलक्षण्यमित्यर्थः। सैवसृष्टिः प्रकारान्तरेणेति 'दैवेन दुर्वितर्क्येणे'त्यादिनानापदार्थोक्तिकथनपूर्वकं सृष्टिकथनान्नेयं पूर्वोक्तसृष्टिः किन्तु साङ्ख्यसृष्टिरेव मुक्त्युपोद्घातत्वेन रूप्यत इत्यर्थः। एतेन मैत्रेयोक्तौ सृष्टेरनेन प्रकारेण गौणीत्वं, न तु पूर्वोक्तप्रकारेणेति बोधितम्। एवं षड्भिः कारिकाभिर्द्विविधाप्युपपत्तिर्निरूपिता॥ १५०॥

अस्मिन्मते सृष्टेर्विस्तरेणाऽकथने हेतुः उपलक्षणमात्रत्वादिति ।

उपलक्षणमात्रत्वादल्पोक्तिर्न विरुध्यते ॥ १५० ॥
तत्रैका दशधा सृष्टिः स्वभावगुणकार्यतः ।

प्रकाशः--सैव सृष्टिः प्रकारान्तरेण निरूप्यत इति निरूपकं वाक्यमुपलक्षकं भवति । तत्रैकस्मिन्नेवाध्याये एकादशधा सृष्टिर्निरूपितेत्याह तत्रेति । स्वभावगुणानां कार्यभेदात् । तत्र स्वभावस्य भेदद्वयम् । गुणानां नव भेदा इति ॥ १५०½ ॥

तानेवाह त्रैगुण्यमिति ।

निबन्धः—त्रैगुण्यं निर्गुणावस्था भगवच्चिन्तनं तथा ॥ १५१ ॥
एवमेकादश प्रोक्ताः स्वभावे विस्तृतिः स्फुटा ।

प्रकाशः—निर्गुणावस्था दशमं ज्ञानरूपम् । भगवच्चिन्तनमेकादशरूपमिति उपसंहरति एवमिति । गुणसृष्टिरेकाध्याये सङ्क्षेपेणोक्ता । स्वभावसृष्टिस्तु ज्ञान-भक्तिभेदेन चतुर्भिर्नवभिः क्रमाद्विस्तरेणोक्ता स्वयमेव अग्रे स्फुटा भविष्यति ॥१५१½॥

तत्र प्रथमं तामसादिभेदानाह यक्षरक्षांसीति ।

निबन्धः—यक्षरक्षांसि देवाश्च दैत्याश्च प्रथमास्त्रयः ॥ १५२ ॥
उपाधिरपि तेषां हि तथेति प्रतिपादितम् ।

प्रकाशः—अत्राविद्योत्पत्तिः पूर्ववदेव । विशेषस्त्वत्र यक्षरक्षसामप्युत्पत्तिर-विद्यया सह । तथा भावान्तरेण देवानामप्युत्पत्तिः ॥ १५२½ ॥

निबन्धः—विलक्षणत्वसिद्ध्यर्थं देहत्यागः प्रजापतेः ॥ १५३ ॥
तत्तत्कालाभिमानिन्यो देवतास्ताः पृथक् स्थिताः ।

प्रकाशः--तत्रापि तनुत्यागो भावान्तरग्रहणार्थः । तनूनां स्वरूपमाह तत्त-त्कालाभिमानिन्य इति ॥ १५३ ॥

ननु पञ्चपर्वाविद्योत्पत्त्यनन्तरं किमिति देहं त्यक्तवाँस्तत्राह देवतोपाधि-सम्बन्धादिति ।

निबन्धः—देवतोपाधिसम्बन्धात्कार्योत्पत्त्याऽतिविह्वलः ॥ १५४ ॥
तामसत्वात्तु ते मूढा वाक्यमात्रेण संस्थिताः ।

अतः परमष्टमिस्तच्छेषमाहुः तत्रैकेत्यादि । स्वभावस्येति ब्रह्मस्वभावस्य । निर्गुणा-वस्थेत्यादि । तेन मनुसृष्टिः ऋषिसृष्टिश्च स्वाभाविकीत्युक्तम् । पूर्ववदेवेति, एकादशाध्यायवदेव । तर्हि किं पूर्वस्माद्वैलक्षण्यमत आहुः विशेष इत्यादि । मूले-उपाधिरिति, तज्जनकं ब्रह्मशरीरम् ॥ १५२ ॥

प्रकाशः—देवतारूपा पञ्चपर्वाऽविद्या, सा ब्रह्मण उपाधिरूपा जाता यदा, तदैव यक्षरक्षसामुत्पत्तिस्ततस्तान्विसदृशान् दृष्ट्वा भयविह्वलः सन् तनुमुत्ससर्जेति मन्तव्यम्। तदा भगवदिच्छया जातास्ते ब्रह्मा तत्र सहत इति भगवत्प्रेरणया भक्षयितुं प्रवृत्ताः। तर्हि कथं निवृत्ता इत्याशङ्क्याह तामसत्वादिति। "अहो मे यक्षरक्षांसि" इति वाक्यमात्रेण निवृत्ताः॥ १५४३॥

देवपक्षस्तु सुगम इत्याह सात्त्विक इति।

निबन्धः--सात्त्विके नास्ति शङ्कैव राजसेषु महान् श्रमः ॥१५५॥
पृथक् स्थितां देवतां हि वर्णयन्ति कुबुद्धयः।

प्रकाशः—राजसेषु महान् श्रमः। अतो यभनमारभ्य भगवदाज्ञया तनुत्यागपर्यन्ता कथा निरूपिता। अन्यास्तनवः शीघ्रमेव कालरूपतामापन्नाः कालभेदेनैव व्यवह्रियन्ते। रजसा राजसी त्वेषा तनुर्न सन्ध्यायामेकभावतामापन्ना किन्तु पृथक् स्थिता कियत्कालम्, अतस्तां वर्णयन्तीत्याह पृथगिति। पश्चात्कालेन सहैक्ये दैत्यानां निवृत्तिरिति भावः॥ १५५३॥

द्वितीयं त्रिकमाह गन्धर्वाश्चेति।

निबन्धः--गन्धर्वाश्च पिशाचाश्च पितरस्त्रिविधा गुणैः ॥ १५६ ॥
सत्त्वं तमो रजश्चेति न तैर्दोषोऽस्वभावतः।

प्रकाशः—तत्र गुणक्रममाह सत्त्वमिति। तेषु दोषा न वर्णिताः। तत्र हेतुः अस्वभावत इति। तेषां गुणत्वेपि न दोषस्वभावत्वम्। दोषरूपेणेतरप्रवेशाभावादिति भावः॥ १५६३॥

तृतीयं त्रिकमाह सिद्धाश्चेति।

निबन्धः--सिद्धाश्च किन्नराः सर्पाः सत्त्वादिभिरुदीरिताः ॥ १५७॥

प्रकाशः—का निर्गुणावस्थेत्याकाङ्क्षायामाह कृतकृत्यता च नैर्गुण्यमिति॥

किमितीति, प्रथमं अविद्यां कृत्वा न त्यक्तवान्—इदानीं किमितीत्यर्थः। तत्र सहते इति, तदुत्पत्तिं नाभिनन्दति॥ १५५॥

अन्यास्तनव इति। यद्यपि पूर्वं रात्र्यहनी द्वे एव तनू उक्ते, तथापि क्रमसम्बन्धात् प्रमुखत इतिपदेन मध्ये प्रातःसन्ध्याप्यायाति, अग्रे सायंसन्ध्यावर्णनाच्चेतिबोधनाय बहुत्वमुक्तम्। रजसा राजसीति, एतेनैतत्पूर्वयोस्तन्वोः सात्विकीत्वं तामसतामसीत्वं च बोधितम्॥ १५६॥

कृतकृत्यता च नैर्गुण्यं कृष्णत्वं तपआदिभिः।
ऋषिभावस्ततो भाव्यो नाऽन्यत्र विरमेद्बुधः॥ १५८॥

कृतकृत्यता नाम स्वस्यैव परमपुरुषार्थता। तपआदिभिस्तु कृष्णत्वम्। प्रकृते स ऋषिभावः। ततो ब्रह्मणापि स भावो भाव्यः। ततः किमित आह नाऽन्यत्र विरमेद्बुध इति। अन्यथा सृष्टिं कुर्यादेव ब्रह्मा न विरमेत्। एवमेकाध्यायार्थो निरूपितः॥ १५८॥

अतः परं ज्ञानभक्त्योर्विस्तारं वक्तुं त्रयोदशाध्याया इति तत्र भेदद्वयमाह चतुर्भिरिति।

चतुर्भिः सुखपूर्वा हि पुम्मुक्तिर्नवभिः स्त्रियाः।
एकस्य तु स्वतः सिद्धं ज्ञानं कृष्णप्रसादतः॥ १५९॥

प्रकाशः—ननु कथमेवमेकस्याल्पमपरस्य बह्विति तत्राह एकस्य तु स्वतः सिद्धमिति। पुरुषस्य तु पुरुषार्थचतुष्टयसिद्ध्यर्थं चत्वारोऽध्यायाः। तत्रापि तस्य साधनरूपं ज्ञानं स्वतः सिद्धम्। भगवत्कृपयैव पुरुषार्थानां ससाधनानां सिद्धेः॥ १५९॥

निबन्धः--अन्यस्या उपदेशे हि स्त्रीत्वात्सर्वं प्रकाश्यते।
नवकन्याः कारणत्वात्स्त्रीजीवा अत्र बोधिताः॥ १६०॥

प्रकाशः—अनेनैव स्त्रिया अपि धर्मार्थकामाः सिद्धाः, सहभावात्। मोक्षः परं पृथक् वक्तव्यः, स केवल एव भवति न मिथुनीभावे। अतो बहुवक्तव्यत्वाभावात्पुम्मुक्तिरेकेन। स्त्रीमुक्तिस्तु अन्तःकरणदोषाणां नवानां गुणरूपाणां त्याजनार्थं नवभिरध्यायैर्बह्वेव साधनजातं निरूप्यत इत्याह अन्यस्या उपदेशे ह्येति। नन्वत्र नवकन्यानामुक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याह नव कन्या इति। स्त्रीजीवाः प्रकृतिपरवशाः॥१६०॥

अग्रिमविभागे गुणस्वरूपानुक्तिस्तु गुणानां स्वभावरूपत्वाभावादित्याशयेनाहुः अस्वभावत इति। भाव्य इति भावनीयः। निरूपित इति, चतुर्दशभिः कारिकाभिरुक्तः॥१५८॥

सार्द्धेन मुक्तिप्रकरणार्थं विभजन्ति अतः परमित्यादि॥ १५९॥

चतुर्भिः पुम्मुक्तिप्रकरणार्थं विचारयन्ति नन्वत्र न देत्यादि। अत्र जीवपदेन केवलश्चिदंशो नोच्यते, किन्तु सलिङ्ग उच्यते। "एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडशविस्तृतम्। एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयत" इति चतुर्थस्कन्धवाक्यात्॥ १६०॥

ननु जीवानां कारणत्वं पूर्वमेव निरूपितं, पुनः किमर्थं निरूप्यत इत्याशङ्क्याह प्रकृतेः कारणत्वायेति।

निबन्धः--प्रकृतेः कारणत्वाय मायाशक्तिर्हि तादृशी।
रमणौपयिकरूपा हि शुद्धसत्त्वादिभेदतः ॥ १६१ ॥

प्रकाशः—स्त्रीजीवो हि प्रकृत्यधीनः। अतस्तस्य कारणत्वे प्रकृतेः कारणत्वं सिद्ध्यति, तथापि नवानां क्वोपयोग इत्याशङ्क्याह मायाशक्तिर्हि तादृशीति, सा हि गुणमयी प्रत्येकं गुणानां त्रैविध्यान्नवरूपेतिभावः। ननु स्त्रीत्वं नाम किमित्याकाङ्क्षायामाह रमणौपयिकरूपा हीति। प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका। तत्र गुणप्राधान्ये क्रोधादिवशानामपि स्त्रीत्वं स्यात्। गुणातिरिक्ता तु प्रकृतिर्नास्तीति मतं निराक्रियते।

"गुणभावं परित्यज्य स्वरूपेण स्थिता तु या ॥
पुरुषं रमयन्ती सा स्त्रीरूपेति निगद्यते ॥ १ ॥
पुरुषस्य च तस्याश्च सर्वतत्त्वेष्वथांशवः ॥
पृथक् सन्ति ततो यत्र दृष्टादृष्टादिकारणात् ॥ २ ॥
भोग्यभावत्वमापन्नाः प्रकृत्यंशाः समागताः ॥
बीजभावं प्राप्नुवन्ति तद्वृद्धौ स्त्रीभवे तु सा" ॥ ३ ॥

एवमभिप्रेत्याह शुद्धसत्त्वादिभेदत इति। मिश्राणामेव गुणत्वम्। सत्त्वप्राधान्ये देवस्त्रीत्वम्, रजःप्राधान्ये मनुष्यस्त्रीत्वम्, तमःप्राधान्ये पशुस्त्रीत्वमिति॥१६१॥

कारणत्वं सिद्ध्यतीति। मुक्तिप्रकरणे एतदुक्त्या मुक्तावपि सात्त्विकज्ञानद्वारा प्रकृतेः कारणत्वं सिद्ध्यतीत्येतदर्थं निरूप्यत इत्यर्थः। इदं च "यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तमि"-त्यस्य सुबोधिन्यां व्युत्पादितम्।

ननु स्त्रीत्वं नाम किमितीति। "भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशादि"तिवाक्यात्प्रकृतिपारवश्यस्य देहिमात्रे विद्यमानत्वान्नैव सङ्क्याकाः केपि देहिनो भवन्तु, कुतो हेतोस्तेषु स्त्रीत्वं नामेत्यर्थः। तत्प्रयोजनमाहुः प्रकृतिरित्यादि। तथा च तन्मतनिराकरणायात्र स्त्रीत्वमुच्यत इत्यर्थः। तत्स्वरूपं सपरिकरं कारिकाभिराहुः गुणभावेत्यादि। स्वरूपेणेति शक्तिरूपेण। अंशव इति अंशाः। दृष्टादृष्टादिकारणादिति। दृष्टं व्यञ्जनम्, अदृष्टं धर्माधर्मौ, आदिपदेन विद्या पूर्वप्रज्ञा च 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चेतिश्रुतेः। ॥ १६१ ॥

मूले आनन्दांशस्वरूपेपोति० भोग्यत्वमितिशेषः। * अवस्तुत इति। आगुन्तुकात्

---

*इदं "शुद्धसत्त्वाद्यवस्तुत" एवं पाठव्याख्यानमितिप्रतिभाति।

निबन्धः--आनन्दांशस्वरूपेपि शुद्धसत्त्वादिरूपतः।
शक्तिप्राधान्यतः स्त्रीत्वं तत्त्वतः पुरुषाकृतिः ॥१६२॥

प्रकाशः—आनन्दांशस्तत्र प्रविष्ट इति भोग्यत्वम्। यद्यपि पुरुषेऽप्यानन्दांशः प्रविशति स्त्रियाः पुरुषो भोग्य इति तथापि गुणाः प्रबला इति शक्तिप्राधान्यतः स्त्रीत्वम्। पुरुषाकृतिस्तु तत्त्वतः परमार्थतः। पुरुषांशसमवाये पुरुषत्वमिति भावः॥१६२॥

किमत्र नियामकमित्यत आह मोहकत्वमतः स्त्रीणामिति।

निबन्धः--मोहकत्वमतः स्त्रीणां शक्त्याकृतिविशेषतः।
विसर्गस्याऽत्र सम्प्रश्न उत्तरत्रोपयुज्यते ॥ १६३ ॥

प्रकाशः—पुरुषं मोहयन्ती यतः, अतः प्रकृत्याकृतित्वं स्त्रीणामित्यर्थः। ननु सर्गलीलायां मनुवंशादे रुच्यादेर्वंशप्रश्नः कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह विसर्गस्याऽत्र सम्प्रश्न इति ॥ १६३ ॥

नन्वेवं सति मध्ये कर्दमचरित्रमत्र किमर्थं निरूपितं तत्राह नित्यसम्बन्धतासिद्ध्या इति,

निबन्धः--नित्यसम्बन्धतासिद्ध्यै कर्दमोऽत्रैव योजितः।

प्रकाशः—प्रकृतिपुरुषयोर्नित्यः सम्बन्ध इति ज्ञापयितुं कर्दमस्य कथा। सम्बन्धस्तु सर्गे उपयुज्यते। भिन्नतया प्रसिद्धावपि स्वभावत एव परस्पराकाङ्क्षा मुक्तौ। अतोयमर्थो निरूपणीय इति कर्दमः सर्गे निरूपितः। सहजयोरपि विश्लेषे मुक्तिर्भवतीति(न्यायेन) त्यागेनोभयोर्मुक्तिकथनं च युक्तं भवति।

एवं प्रकरणार्थं शोधयित्वा प्रथमाध्याये तपसा भगवत्तोषस्य प्रयोजनमाह सर्वस्येति। अत एव प्रकरणादौ भगवत्तोषार्थं कर्दमप्रवृत्तिः॥ १६४½ ॥

सर्वस्य कारणं कृष्णप्रसाद इति तत्कथा ॥ १६४ ॥

उत्तरत्रेति अग्रिमस्कन्धे विवृतौ। एवं प्रकरणार्थो विचारितः ॥ १६३ ॥

अतः परं द्वाभ्यामेकविंशाध्यायस्यार्थमाहुः एवमित्यादि। स्वार्थमिति, मूलस्थसर्गशेपदस विवरणमिदम्। ॥ १६५ ॥

ननु केन तुष्टो भगवानित्याकाङ्क्षायामाह भक्तानां निर्णय इति।

निबन्धः--भक्तानां निर्णयस्तोत्रे सर्गार्थमुपयुज्यते।
कामितं च हरिः पूर्वं स्वयमेव विधास्यति ॥ १६५ ॥
व्यर्थं वचनमित्यर्थं बोधयत्युत्तरं वदन्।

प्रकाशः—भगवान् तपसा न तुष्टः। नापि स्तोत्रेण, किन्तु यथार्थभाषणेन, तत्रापि स्वगृहधर्मकथनेन, तदा हि भक्तानां निर्णय इति। तथावचनस्य प्रयोजनं स्वार्थम्। महतो निष्कपटभजने प्रसादो भवति। भगवत्प्रसादस्याऽनित्यतामाशङ्क्य समाधानमाह कामितमिति। पूर्वमेव करणान्न कारणसाध्यत्वम्। कारणमपि प्रसाद एव। भगवदीयपदार्थभोगार्थं शरीरेन्द्रियसंस्कारतपआदीनां कार्यम्। अतो भगवन्तं प्रति प्रार्थनावचनं व्यर्थम्। एतद्भगवद्वचनादेवावगम्यते। अन्यथा वृत्तान्तं न कथयेत् ॥ १६५३ ॥

नन्वीश्वरप्रेरणाव्यतिरेकेण कथं पदार्थसिद्धिः। प्रेरणायां वा को हेतुः? निर्हेतुकत्वे वा सर्वेष्वेव पदार्थसिद्धिः स्यादित्याशङ्क्याह पुरुषार्थाः स्वयं सर्वे इति।

निबन्धः--पुरुषार्थाः स्वयं सर्वे समायान्ति हरिप्रिये ॥ १६६
इति दर्शयितुं राज्ञः स्वयमुद्यम्य याचनम्।

प्रकाशः—भगवत्प्रियत्वमेव साध्यं नाऽन्यत्। तेनैव सर्वसिद्धिरितिभावः॥१६६३

कर्दमस्य कन्यावर्णनमयुक्तमित्याशङ्क्याह दुहितुर्वर्णनं प्रीत्या इति।

निबन्धः--दुहितुर्वर्णनं प्रीत्यै राज्ञो भक्तत्वतः समम् ॥ १६७ ॥
भक्तिश्च कार्यशुद्ध्यै हि तपश्चैव स्वमुक्तये।

प्रकाशः—राजकर्तृत्वं वा वर्णनमपिप्रीत्यै। ननु सकृदुपभोगप्रतिज्ञायामपि कथं कन्यादानं तत्राह राज्ञो भक्तत्वतः सममिति। सर्वेषां पुरुषार्थसिद्धिर्भवत्विति समता। ननु विवाहानन्तरं कथं भक्तिः? कथं वा तपः? इत्याशङ्क्याह भक्तिश्चेति। अन्यथा कार्यदोषेणापि कारणं दुष्टं भवेत्। पुत्रापचारे पितुर्नरकवत्। कार्यं दुहितरः। चकारेण भक्तेर्नान्तरीयकार्यधर्मा गृह्यन्ते। तपसो भिन्नं प्रयोजनमाह स्वमुक्त्य इति। चकारात्तस्या अपि शुद्धये। अथवा तपसोपि भक्तिसङ्ग्रहः। तस्यास्तु तपः पूर्ववत्संस्कारार्थम् ॥ १६७३ ॥

सार्द्धेन द्वाविंशाध्यायस्यार्थमाहुः नन्वीश्वरेत्यादि ॥ १६६ ॥

त्रयोविंशस्यार्थं सप्तभिराहुः ननु विवाहेत्यादि। कथं भक्तिरिति, कथं देवहूतिकृतं भजनम्। नान्तरीयकधर्मा इति, इङ्गितकोविदत्वादयः। पूर्ववदिति, कार्यशुद्धिजननाय ॥ १६७ ॥

प्रार्थिताधिककरणे हेतुमाह अलौकिकस्य करणादिति ।

निबन्धः—अलौकिकस्य करणादनासक्तिः फलिष्यति ॥ १६८ ॥
ध्यानं भगवतो योगो भगवत्प्रेषितं च तत् ।
कन्याश्चैव तथा ज्ञानं तत्कृपातोऽस्य जायते ॥ १६९ ॥
स्त्रिया माहात्म्यबुद्ध्यर्थमृषिकर्तृत्वमुच्यते ।

प्रकाशः—विमानादिनिर्माणमलौकिकमन्यथा चित्ते अनासक्तिर्न भविष्यति । "कर्दमो योगमास्थितः" इत्यत्र योगपदार्थमाह ध्यानं भगवतो योग इति । अन्यथा भगवत्प्रसादजन्यत्वं न स्यात् बन्धश्च भवेत् । तर्हि कथं विमानोत्पत्तिस्तत्राह भगवत्प्रेषितं च तदिति । विमानं तामसं, कन्या राजस्यो, ज्ञानं सात्त्विकमिति । नन्वेवं सति किमिति स्पष्टं नोच्यते तत्राह स्त्रिया इति १६८ । १६९½ ॥

तथापि नियतोपपत्तिर्वक्तव्येत्याशङ्क्याह अत एव ऋषौ यात इति ।

निबन्धः—अत एव ऋषौ यातेऽप्यवस्थानं तु तस्य हि ॥१७०॥
कायव्यूहेन नवधा स्वरूपकरणं मतम् ।

प्रकाशः—यस्माद्भगवता प्रेषितं न योगेन ऋषिणा जातम् । अन्यथा भोगार्थं सृष्टा भोगाभावे गच्छेयुः । अत्र "नोधा विधाय रूपं स्वम्" इति निरूपितं तत्कथं नवधा निरूपणमित्याकाङ्क्षायामाह कायव्यूहेनेति । अग्रे परस्परविवाहसिद्ध्यर्थं भिन्नपारम्पर्यकथनाय नवरूपाणि । गौण्येवैषा सृष्टिः । गुणातीता तु भगवद्रूपा । अतः कायव्यूहं कृत्वा नवधा बीजाधानं कृतवान् । १७०½ ॥

नन्वेवं क्रियमाणे देवहूतिः कथं मन्यत इत्याशङ्क्याह समानत्वान्न वैषम्यमिति ।

निबन्धः—समानत्वान्न वैषम्यं दोषाभावः फलं ततः । १७१ ॥
रेतःसेकः क्रमेणैव सूक्ष्मत्वात्स न दृश्यते ॥

प्रकाशः—अत एव दोषाभावोपि । फलं तु रेतःसेकलक्षणं भिन्नं भिन्नं जातमेव । ननु सेकभेदे कथं तस्याऽज्ञानं तत्राह सूक्ष्मत्वादिति । कालः सूक्ष्म इति भेदो न दृश्यते ॥ १७१½ ॥

अनासक्तिरिति, देवहूत्या अनाशक्तिः ॥ १७० ॥

एवं करणे प्रयोजनान्याह मरीच्यादीति ।

निबन्धः—मरीच्यादिविवाहेच्छां बह्वपत्ये स्त्रियास्तथा ॥ १७२ ॥
स्ववाक्यं च ऋतं कर्तुं गमनं स्त्रीविरक्तये ।

प्रकाशः—मैथुनधर्मेणैव सृष्टिर्भवत्विति भगवदिच्छया मरीच्यादीनां भार्यापेक्षया स्त्रिया अपि बह्वपत्येच्छा । स्ववाक्यं "यावत्तेजो विभृयादात्मनो मे" इति । नन्वेवमपि वाक्यं स्वकीयं न कृतं तेजस एकत्वाभावात्, प्रत्युत बहुपुरुषसम्बन्धेन स्वस्य स्त्रियाश्च दोषजननमिति चेन्नैवम् 'आत्मनो मे' इत्यत्राहङ्कारो व्याख्येयः । स च त्रिगुणात्मक इति नवरूपाणि भवन्ति । साङ्ख्यप्रक्रिया चेयम् । जात्यपेक्षया चैकवचनम् । मन्वादीनां चित्तपरीक्षार्थमेव तथा वचनमिति युक्तमुत्पश्यामः । नन्वेवं समर्थस्य योगेन देहत्यागेपि मुक्तिसम्भवात्कथं वनगमनमित्याशङ्क्याह गमनं स्त्रीविरक्तय इति । वस्तुतस्तु योगेपि त्यागोऽपेक्षितः । गृहत्यागेनाऽर्द्धं कैवल्यं भवति । ततोऽर्धे देहान्तःकरणभेदेन द्विधा कृत्वा चेत्त्यजति तदैव कैवल्यमिति योगसाङ्ख्ययोर्निष्कर्षः । भगवन्मार्गे त्वन्यथा पराश्रयत्वात् । यथा भगवानेव फलं तट्टीकायामुपपादितमिति विरम्यते ॥ १७२ ॥

ननु कपिलावतारस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह विरक्तो ज्ञानसिद्ध्यर्थमिति ।

निबन्धः—विरक्तो ज्ञानसिद्ध्यर्थं कृष्णं भावयते यदि । १७३ ॥
ज्ञानांशश्च तदा व्यक्तो येन सर्वं फलिष्यति ।

प्रकाशः—अनेन 'यावत्तेजः' इत्यत्रैव वाक्यं पर्यवसितं ज्ञेयम् । नव रूपाणि त्वन्यानि ॥ १७४ ॥

एतत्सर्वं ब्रह्मणोऽभिप्रेतमिति ब्रह्मगमनम् । लोकप्रतीत्यर्थं प्रयोजनान्तरमप्याह अवतार इति ।

भिन्नपारम्पर्यकथनायेति, भारद्वाजशृङ्गभारद्वाजवद्भिन्नगोत्रत्वकथनायेति ।॥ १७२ ॥

एवं करण इति, बहुसृष्टिकरणे । मूले । ऋतमित्यत्र लिङ्गविपरिणामो बोध्यः । युक्तमिति तत्र तात्पर्याभावाद्युक्तमित्यर्थः । तत इति, गृहत्यागानन्तरम् । ॥ १७३ ॥

सार्द्धैस्त्रिभिश्चतुर्विंशाध्यायस्यार्थमाहुः ननु कपिलेत्यादि । विरक्त इत्यादि । तथा च, सर्वफलदानार्थं कपिलावतार इत्यर्थः॥१७४॥

निबन्धः—अवतारो हरेर्यावान् तत्र ब्रह्मा स्वयं व्रजेत् ॥ १७४ ॥
वरादनुक्तेप्येवं हि स्तुतिः पूर्णे तु सर्वतः ।
बोधनं सर्वबोधाय गमनं सर्वबोधकम् ॥ १७५ ॥
पुत्रेपि च हरौ सर्वत्यागादावश्यकी भजिः ।

प्रकाशः—नन्वेवं सति सर्वत्र तद्गमनं वक्तव्यं स्यात्तत्राह वरादनुक्तेप्येवं हीति । "यद्यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः" इति प्रार्थनया वरो दत्तः । अतोऽनुक्तेपि स्थले ब्रह्मगमनं ज्ञातव्यम् । परं मुख्यतया स्तुतिः पूर्णे कृष्ण एव । कन्यादानबोधनं भगवानयमिति च बोधनं सर्वेषामेव बोधाय । दम्पत्योस्तु बोधः पूर्वमेव सिद्धः । ननु मरीच्यादीनां विवाहानन्तरं यद्गमनमुक्तं तस्य कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षायामाह गमनं सर्वबोधकमिति । अन्यथा स्वेच्छया स्त्रीणां पतिसम्बन्ध इत्यस्मिन् कल्पे बोधितं स्यात् । हरेर्ज्ञानरूपस्य परित्यागेन गमनमयुक्तमित्याशङ्क्याह पुत्रेपि च हराविति ॥ १७५ ॥ ॥ १७६ ॥

पुम्मुक्तिमुपसंहरति एवमिति ।

निबन्धः— एवं चतुर्भिर्भोगादिमुक्त्यन्तं पुंसि वर्णितम् ॥ १७६ ॥
वैराग्यादिः स्त्रियाः प्रोक्ता मुक्तिर्नवभिरुत्तमा ।

प्रकाशः—अतः परमेकेनाऽध्यायेन स्त्रीमुक्तिर्वक्तव्येत्याशङ्क्याह वैराग्यादिरिति । वैराग्यादयोऽत्र विशेषतो वक्तव्या इति नैकेन वक्तुं शक्याः । पुंमुक्तेः सकाशाद्धीना भविष्यतीत्याशङ्क्याह उत्तमेति, साधनप्रकारैरुत्तमा ॥ १७७ ॥

ननु कपिलेन औपनिषदं परित्यज्य किमिति साङ्ख्यं ज्ञानमुपदिष्टमित्यत आह यदौपनिषदं ज्ञानमिति ।

वरो दत्त इति । "ऋषिमाद्यं न बध्नाती"ति रजोबन्धाभावरूपो वरो दत्तः । कृष्ण एवेति । ब्रह्मकृतस्तोत्राभावात्तथावसीयत इत्यर्थः । बोधनमिति, ब्रह्मकृतं बोधनम् । अन्यथेत्यादि । यदि मरीच्यादयः स्वस्वाश्रमेषु न गच्छेयुस्तदास्त्यनुरोधेनावस्थाने तथास्यादित्यर्थः । मूले आवश्यकी भजिरिति । तथा च, भजनार्थं गमनमित्यर्थः । १७५–१७६ ॥

उपसंहरतीति, अष्टादशभिरुक्त्वोपसंहरतीत्यर्थः । अतः परमित्यादि । ननु द्वितीयमुक्तिर्बहुभिरध्यायैः कुत उच्यते त्रिवर्गस्य पूर्वमेव सिद्धत्वादेकेनैवेत्याशङ्क्येत्यर्थः । हीनेति, अधिकारजाघन्याद्धीनेत्यर्थः । साधनप्रकारैरिति, योगभक्तिसाङ्ख्यज्ञानैः ॥ १७७ ॥

निबन्धः—यदौपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा।
वर्णिनामेव तद्धि स्यात्स्त्रीशूद्राणां ततोऽन्यथा ॥१७८॥

प्रकाशः—गार्गी मैत्रेयीप्रभृतीनां भर्त्रा सह यज्ञसम्बन्धो वेदसम्बन्धोऽस्तीति तासां मुख्यमेव ज्ञानम्, कर्दमस्य तु न तथा। अन्यथा "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनाम्" इत्यत्र स्त्रीग्रहणं व्यर्थं स्यात्। भागवतज्ञानमपि त्रैवर्णिकानामेव उपासनायाः प्राधान्यात्। यदेव भगवता ब्रह्मणे प्रोच्यते तत्त्रैवर्णिकानामेवेति ज्ञातव्यम् ॥ १७८ ॥

निबन्धः—विदुरस्याऽधिकारोऽत्र प्राधान्याद्बीजरूपयोः।
अतः साङ्ख्यप्रकारेण तस्यै ज्ञानमुदीर्यते ॥ १७९ ॥

प्रकाशः—अत्र मुख्यप्रकरणी विदुरस्तस्याऽप्यनुगुणं साङ्ख्यमेव ज्ञानम्, ननु अतिशूद्रस्य साङ्ख्येपि नाधिकार इत्याशङ्क्याह प्राधान्याद्विजरूपयोरिति। बीजं ब्राह्मणस्य। रूपं क्षत्रियस्य ॥ १७९ ॥

ननु स्त्रीणामौपनिषदज्ञानानधिकारे गार्गी कथं ब्रह्मवादिनी वयुना धारिण्यौ पितृकन्ये च मैत्रेयी च कथमुपदिष्टेत्यत आहुः गार्गीत्यादि। मैत्रेय्यादीनां यज्ञसम्बन्धो, गार्ग्यादीनां वेदसम्बन्धः युगान्तरे स्त्रीणामप्युपनयनस्य धर्मशास्त्रेषूक्तत्वात्। कर्दमस्य तु न यज्ञसम्बन्धो, न च देवहूत्या वेदसम्बन्ध इत्यत औपनिषदं नोपदिष्टमित्यर्थः। ननु "विवाहस्तु समन्त्रक" इतिवाक्यात् स्त्रीणां विवाह एवोपनयनस्थानीय इति तावताप्यधिकारसिद्धेर्यज्ञादिसम्बन्ध एवो-पदेष्टव्यं नेतरथेत्यत्र किं गमकमित्यपेक्षायामाहुः अन्यथेत्यादि। तर्हि श्रीभागवतीयमेव कुतो नोपदिष्टमित्यपेक्षायामाहुः भागवतेत्यादि। (तत्र हेतुः उपासनाया इति, मननादेः। नन्वेवं सति शुकेन "तस्माद्भारते"त्यत्र सर्वसाधारणतया श्रवणमुपदिश्य श्रीभागवतं किमित्यु-पदिष्टम्, द्वादशस्कन्धे च "विप्रोऽधीत्याप्नुयात्प्रज्ञा"मित्यत्र "शूद्रः शुद्ध्येत पातकादि"ति शूद्रस्य पाठफलं किमित्युक्तमित्यपेक्षायामाहुः यदेवेत्यादि।) ॥ १७८ ॥

नन्वेवं सति मैत्रेयेण 'भगवानेक आसेद'मित्यादिना भागवतं ज्ञानं विदुराय किमित्युक्तम् भगवता च किमिति तदर्थमाज्ञप्तमित्यत आहुः अत्रेत्यादि। अनुगुणमिति मैत्रेयेण कथनेपि तस्य हृदयारूढं तन्नाभूदिति तदनधिकारमवगत्य "उदाप्लुतमि"त्यादिना साङ्ख्यमिश्रितं सगुणसम्बन्ध्येवोक्तमतस्तस्येदमेवानुगुणम्। भगवता तु ज्ञानोपदेशायाज्ञप्तम्, न तु निर्बन्धेन साक्षात्स्वोक्तज्ञानोपदेशाय। यदि तथा स्यान्मैत्रेयोपि निर्बन्धेन तदेव वदेत्। अत इदमेव तदनुगुणमिति शुद्धभागवतज्ञानेपि नाधिकार इत्यर्थः। अतिशूद्रस्येति। "दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः। असुर्यः शूद्र" इति श्रुतेर्जातिशूद्रस्य ॥ १७९ ॥

प्रमेयबलमाश्रित्य समाधानमाह यथा कथञ्चिदिति।

निबन्धः—यथाकथञ्चिदात्मा हि ज्ञायतां साधने दृढे।
ज्ञाने वा भक्तियोगे वा फलं भवति सर्वथा ॥ १८० ॥
अतोऽत्र त्रितयं प्रोक्तं योगेनैषा परं गता।

प्रकाशः— साङ्ख्ययोगौ भक्तिमार्गश्चेति त्रयमुपदिष्टम्। तत्रैषा योगेन परङ्गता। तेन त्यागाभावेपि न दोषः—भगवतो गमनेपि ॥ १८० ॥

ननु देवहूतिः कथं "निर्विण्णातितराम्" इत्यादिवाक्यं कथयति, किमर्थं चेत्याकाङ्क्षायामाह गुरूपसत्त्येति द्वाभ्याम्।

निबन्धः—गुरूपसत्त्या निर्विण्णो हेयांशं पञ्चायेद्गुरौ ॥ १८१ ॥
श्रद्धाभक्तियुतस्तस्मै तत्त्वं वाच्यं न चाऽन्यथा।
भर्तुश्च ब्रह्मणो वाक्याद्भगवत्त्वं तु तस्य हि ॥१८२॥
साङ्ख्यप्रणेतृतां चैव ज्ञातवत्याऽऽह तादृशम्।

प्रकाशः—तत्र प्रथमे प्रकार उच्यते। तथा वचने हेतुस्तु ब्रह्मणो वाक्याद्भर्तुश्च तस्य भगवत्त्वं निश्चितम्। अतो भगवति तथा वचनं नाद्भुतम् ॥१८२½॥

सामान्य(तो) भर्त्रा साङ्ख्यप्रकारो निरूपितः, अतः प्रकारकथनमित्याह देहादिष्वात्मविज्ञानादिति।

प्रमेयबलमाश्रित्येति। ननु यद्येवं तदा निर्बन्धेन भगवदुक्तमेवोपदेष्टव्यम्, साङ्ख्यज्ञानस्य का वाऽनुगुणतेत्यत आहुः प्रमेयेत्यादि। तथा च, फले तात्पर्यम्, तत्तु त्रितयान्यतमेन येन केनचित्साधनेन भविष्यतीत्यतो न निर्बन्ध इत्यर्थः। ननु विदुरकर्दमयोरर्द्धकैवल्यादुचितं ज्ञानम्, देवहूतेस्तु तदभावात्कथन्तादित्यत आहुः तत्रैषेत्यादि। ननु तथापि भगवतो गमने कथं तदनुमतिः "स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोनुमतो ययावि"ति, तत्राहुः भगवतो गमनेपीति, अनुमतिर्हि भक्तिविरुद्धा, न तु योगसाङ्ख्यविरुद्धाऽतो न दोष इत्यर्थः। एवं चतुर्भिः प्रकरणार्थो विचारितः ॥ १८०½ ॥

अतः परं सार्द्धत्रयोदशभिः पञ्चविंशाध्यायार्थं विचारयन्ति।

नन्वित्यादि। प्रथम इति साङ्ख्ये (प्रथमश्लोके वा)। एवं देवहूत्युक्त्या "निर्विण्णे"त्यादिश्लोकचतुष्टयार्थ उक्तः। "त्वं त्वे"तिपञ्चमस्यार्थं वक्तुं देवहूतेरापाततस्तज्ज्ञानमस्तीत्यतः प्रश्न इत्याहुः सामान्य इत्यादि। निरूपित इति। "धृतव्रतासी"त्यादि-

निबन्धः—देहादिष्वात्मविज्ञानान्मोहस्तेनेह संसृतिः ॥१८३॥
मोहाभावः साङ्ख्ययोगस्तद्धेतुस्तेन याचितौ ।

प्रकाशः—मोह एव संसारस्तदभावः साङ्ख्यात्, तद्धेतुः कपिल एवेति तेन कारणेन याचितौ प्रकृतिपुरुषौ ज्ञातौ ॥ १८३ ई ॥

प्रकृतिपुरुषयोर्विवेके प्रार्थिते योगादिकथनमयुक्तमित्याशङ्क्य ससाधनमुपदिशतीत्याह शाब्दं साङ्ख्यमिति त्रिभिः ।

निबन्धः—शाब्दं साङ्ख्यं नोपयोगि सहकारि तु चेतसः ॥१८४॥
ज्ञानशङ्कानिवृत्तिश्च मनसः सहकारिणी ।
अतो हि यादृशं चेतः साक्षात्कारे प्रयोजकम् ॥१८५॥
तादृशं साधनैः साध्यमित्याह गुरुरादृतः ।
अतो दोषनिवृत्त्यर्थं योगः प्रथममुच्यते ॥१८६॥
निर्दुष्टमेव रमते समता लिङ्गमस्य हि ।

प्रकाशः—तत्रादौ योगो मुख्यो दोषनिवर्त्तकत्वात् । दोषनिवृत्तिपर्यन्तं स कर्तव्यस्तदभिज्ञापकमाह समता लिङ्गमस्य हीति ॥ १८६ ई

केवलयोगेनापि कार्यं न सिद्ध्यतीति तदर्थं भक्तिमाहेत्याह शुष्कयोग इति,

निबन्धः—शुष्कयोगे नैव शक्यं स्वनिर्वाहोऽपि दुर्लभः॥१८७॥
अतो भक्तिर्भगवति विना सद्भिर्न सा क्वचित् ।

प्रकाशः—भक्तिरहितो योगो न चित्तशोधकः तस्य स्वनिर्वाहोपि सन्दिग्धः । योगोऽपि न सिद्ध्येदित्यर्थः । तत्राऽपि भगवत्येव भक्तिः सर्वसाधिका[1] । सापि स्वत उत्पन्ना अन्यदर्शनजनिता वा न पुरुषार्थपर्यवसायिनीत्यभिप्रायेणाऽऽह विना सद्भिर्न सा क्वचदिति । नूतनसन्देहानां तत एव निवारणसम्भवात् ॥१८७ ई ॥

श्लोकद्वयेन चतुर्विंशे निरूपितः । प्रकारकथनमितिसाङ्ख्यरीत्या प्रश्नः । याचिताविति, भर्तृवाक्यादापातत्तो ज्ञातौ प्रकृतिपुरुषौ विशषतो ज्ञानाय प्रार्थितावित्यर्थः ॥ १८३ ॥ देवहूतिवाक्यार्थमुक्त्वा भगवद्वाक्यतात्पर्यमाहुः प्रकृतीत्यादि । उपदिशतीति । प्रकृतिपुरुषज्ञानमुपदिशति । तत्रेति, साधनेषु ॥ १८७ ॥ विलोमविधिं प्रदर्शयन्ति

१ सर्वतोऽधिका ।

निबन्धः—सन्तश्च लक्षणैरेव सङ्गश्च हरिवाचकः ॥१८८॥
अतो विलोमविधिना साक्षात्कारः फलिष्यति ।

प्रकाशः—सन्तोपि न लोकप्रसिद्धया स्वरुच्या वा मन्तव्याः, किं तु लक्षणैरेव ज्ञातव्याः । सङ्गोपि भगवत्कथार्थमेव । कथायामेव तत्साधने वा । एवं शृङ्खलारूपेण पदार्थान्निरूप्य पर्यवसानमाह अतो विलोमविधिनेति ।

सत्सङ्गे कथाश्रवणे तदुक्तप्रकारेण योगसिद्धौ चित्तनैर्मल्ये तद्धर्मरुच्या सद्भावे सम्पन्ने भगवत्साक्षात्कारस्ततः सर्वज्ञता ततः स्वरूपज्ञानमिति विलोमविधिः ॥ १८८½ ॥

साङ्ख्ये भक्तेरङ्गत्वं निरूप्य स्वमार्गे प्रधानरूपतेत्याह भक्त्यैव हि सतां सर्वमिति ।

निबन्धः—भक्त्यैव हि सतां सर्वमित्यर्थादुक्तमित्यवैत् ॥१८९॥
अतो भक्तिं च योगं च द्वयं पृच्छति सा पुनः ।
श्रद्धया पृष्टमित्याह भक्तिं ज्ञानं च तस्य तत् ॥१९०॥
प्रतिज्ञातं त्रयं तस्मात्साङ्ख्ये ज्ञानं फलं तथा ।

प्रकाशः—मां प्रति तु प्रसङ्गादेवोक्तवानित्यवैद्देवहूतिः । तेन सङ्गार्थं न यत्नं कृतवती । पुनर्विशेषप्रश्ने अयमेव हेतुः । मां प्रति यदि वक्ष्यति तदा भक्तियोगो योगो वा मया कर्तव्य इति वेद एव साधारण्येन पदार्थान्निरूपयति । अन्ये पुनः प्रष्टुरधिकारानुसारेणेति तदाह अतो भक्तिं च योगं चेति । भक्त्या प्रश्ने पुत्रभावो गत इति सन्तुष्टः सन् चतुष्टयमाह । भक्तिरात्मानात्मविवेको ज्ञानं योगश्चेति । तत्राऽऽत्मानात्मविवेकस्याङ्गत्वात्त्रयं प्रतिज्ञातं "विदित्वार्थम्" इतिश्लोके । तत्त्वाम्नायं साङ्ख्यम् । भक्तिवितानेन सहितो योगश्च । तेन त्रयं भवति । नन्वेवं सति प्रथमनिर्दिष्टं साङ्ख्यमनिरूप्य कथं भक्तिनिरूपणं तत्राह साङ्ख्ये ज्ञानं फलमिति । ज्ञानं हि मुख्यम् । तच्च प्रतिज्ञातं मन्तव्यम् । अन्यथा केवलसाङ्ख्यप्रतिज्ञा व्यर्था स्यात् । अतः ससाधनस्य ज्ञानस्य बहुवक्तव्यत्वाद्भक्तेः प्रथमं निरूपणमित्यर्थः ॥ १९० ½ ॥

सत्सङ्ग इत्यादि ॥१८८॥ ननु भक्तेः साङ्ख्याङ्गत्वे "अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी"—त्यादिना भक्तेर्मुख्यत्वं किमित्युक्तमित्यत आहुः साङ्ख्येत्यादि । नन्वेवं सति देवहूत्या भक्तिप्रकार एव पुनः कुतो न पृष्ट इत्यत आहुः मां प्रतीत्यादि । अयमिति प्रासङ्गिकत्वज्ञानम् । तदाहेति, वेदवैलक्षण्यज्ञापनायाहेत्यर्थः । निरूपणेनैवेति अष्टाविंशे

एवं प्रतिज्ञां सन्दिग्धां मत्वा स्पष्टमाह एवं चतुर्भिरध्यायैरिति ।

निबन्धः—एवं चतुर्भिरध्यायैश्चतुष्टयमुदीर्यते ॥१९१॥

भक्तावनधिकारित्वमस्या अर्थादुदीरितम् ।
त्रयं तदर्थमेवाऽऽह कृतिर्योगे प्रतिष्ठिता ॥१९२॥

प्रकाशः—प्रथमाध्याये भक्तिः साङ्ख्यज्ञानयोगा उत्तरत्र । ननु भक्तेरसहायशूरत्वात्किं चतुष्टयनिरूपणेनेत्याशङ्क्याह भक्तावनधिकारित्वमिति । न हि देवहूत्यर्थं भक्तिर्निरूपिता स्त्रीत्वात्सत्सङ्गाभावात् । "अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि" इति भिन्नप्रक्रमेण देवहूत्यर्थमेव साङ्ख्यादेरुक्तत्वाच्च । तत्रापि साङ्ख्ययोगयोः प्रकारभेदाद् देवहूत्याः किम्,को मार्गः सिद्ध इत्याकाङ्क्षायामाह कृतिर्योगे प्रतिष्ठितेति । भक्तिमार्गवत्साङ्ख्यस्यापि तदनुपयोगो निरूपणेनैव ज्ञायत इति साङ्ख्यनिरूपणमिति भावः ॥१९२॥

नाऽत्र भक्तिस्वरूपं निरूप्यते किं तु सर्वोपि मार्ग इत्याह भक्तिमार्गस्येति,

निबन्धः—भक्तिमार्गस्य निर्धारस्त्रयोदशभिरीर्यते ।

द्वाभ्यां त्रिभिस्तथा चाऽग्रे त्रयमेकैकतस्तथा ॥१९३॥

सफले लक्षणे मोक्षे लोकेष्वैहिकवस्तुषु ।
हेतौ च सम्मतौ सर्वनिर्धारे क्रमतो मतैः ॥१९४॥

प्रकाशः—देवानामित्यादिभिः । त्रयोदशश्लोकानामवान्तरविनियोगमाह—अत्र सप्त पदार्था निरूप्यन्ते । भक्तेः स्वरूपं, नान्तरीयकं फलं मोक्षः, लोकेषु भयाभावनिर्धारः, लोकानां विशेषणमैहिकवस्तुष्विति ज्ञानविषयत्वे तु नैवमिति भावः । हेतुश्च सम्मतिश्च महतां सर्वनिधारश्चेति । तत्र श्लोकानां विभागः । द्वाभ्यां भक्तिस्वरूपं निरूप्यते । 'नैकात्मताम्' इत्यादित्रिभिरानुषङ्गिकं फलम् । 'अतो विभूतिम्' इति द्वाभ्यां सालोक्यलक्षणो मोक्षः । तथा चाऽग्रे द्वाभ्यामिति योजना । पुनर्द्वाभ्यां मोक्षनिर्धारः, एवं मोक्षे भेदद्वयं सर्वभावभजनवैराग्यभेदेन । तथा सति

"योगस्य लक्षणं वक्ष्य" इत्यादिना योगनिरूपणेन, "सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन योगयुगि"त्युपसंहारे(अ० ३३)योगात्कृतार्थता निरूपणेन च । साङ्ख्यनिरूपणमिति, अङ्गत्वेन साङ्ख्यनिरूपणम् ॥ १९२ ॥ ऐहिकवस्तुष्विति ऐहिकं वस्तु येष्वित्यर्थः । द्वाभ्यां तेषु भयाभावनिर्द्धारः । ज्ञानेत्यादि । भगवतः ज्ञानविषयत्वे तु न भयमित्यर्थः । हेतुरिति भयहेतुः । अस्मिन्पक्षेऽष्टावर्थाः । तत्र श्लोकानामित्युक्ते पक्षे सप्तार्था ज्ञेयाः ।

एवं सार्द्धैस्त्रयोदशभिः पञ्चविंशाध्यायार्थ उक्तः ॥ १९४ ॥

द्वाभ्यां प्रत्येकं त्रयं सिद्धं भवतीति । अग्रिमाणामेकैकत इति एकेनैकेन निरूपणम् । एवं सप्त वा अष्टौ वा अर्था निरूपिता भवन्ति, एवं सोपपत्तिको भक्तिमार्गो निरूपितः ॥१९४॥

तत्र देवहूतेरनधिकारमाह सङ्गाभावादिति ।

निबन्धः—सङ्गाभावान्मुमुक्षुत्वात्त्यागाशक्तेरशक्तितः ।
अयुक्ता मुख्यभक्तौ हि तेनार्थान्तरमुच्यते ॥१९५॥

प्रकाशः—सत्सङ्गाभावात् । मुमुक्षुत्वमपि बाधकम् । बाधकरूपाणां स्त्रीणां त्यागश्च कर्तव्यः । स्वस्य च वैराग्यमशक्यं स्त्रीत्वात् । अतो मुख्यभक्तावयोग्या तेन साङ्ख्यादिकं निरूप्यते ॥ १९५ ॥

साङ्ख्यनिरूपणप्रस्तावे ज्ञानमपि प्रतिज्ञायत इत्याह द्वयं तत्र प्रतिज्ञातमिति ।

निबन्धः—द्वयं तत्र प्रतिज्ञातं हेतुः षड्भिर्द्वितीयके ।
सर्वभिन्नतया ज्ञानं खण्डं स्त्रीणां तदेव हि ॥१९६॥
वेदानधिकृतानां च साङ्ख्यं तस्मान्निरूप्यते ।

प्रकाशः—"अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि" "ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय इति" द्वाभ्याम् । ज्ञानार्थमध्यासः षड्भिः श्लोकैर्निरूप्यते । अनेनासङ्गतिः परिहृता "अनादिरात्मा" इत्यादीनाम् । ननु सर्वं ब्रह्मेत्येवं ज्ञानं बोधनीयं किं सङ्घातविलक्षणात्मज्ञानेनेत्याशङ्क्याह सर्वभिन्नतयेति । इदं हि खण्डज्ञानं स्त्रीणां मुख्ये ज्ञानेऽधिकाराभावाद्युक्तम् । अनधिकारे हेतुः वेदानधिकृतानां चेति । अध्याससमर्थनार्थं साङ्ख्यनिरूपणम्, वस्तुतो भेदे हि अध्यासो भवतीति तदाह साङ्ख्यं तस्मान्निरूप्यत इति ॥१९६½॥

तत्र यदुक्तं तदाह उत्पत्त्येति ।

निबन्धः—उत्पत्त्या चोपपत्त्या च सर्वभेदो निरूपितः ॥१९७॥
तदर्थमेव सम्प्रश्नो भेदात्संसारभिन्नता ।

प्रकाशः—ज्ञानार्थं साङ्ख्यनिरूपणमित्यत्र हेतुमाह तदर्थमेव सम्प्रश्न इति भेदज्ञानं बाधकं मत्वा समाधानमाह भेदात्संसारभिन्नतेति । अनर्थरूपात्संसारात्स्वस्य भिन्नतया ज्ञानं मुख्यानधिकृतेषु न बाधकमित्यर्थः ॥ १९७ ॥

सार्धैस्त्रिभिः षड्विंशाध्यायार्थमाहुः । तत्र देवहूतेरित्यादि । अशक्यमिति स्वानधीनम् । अनेनेति उपोद्घातत्वप्रकारेण ॥ १९६ ॥

"प्रकृतिस्थोऽपि पुरुष" इत्यध्यायार्थमाह साधनान्युपपत्तिश्चेति ।

निबन्धः—साधानन्युपपत्तिश्च स्वरूपार्थं तथोच्यते ॥१९८॥
अष्टाङ्गश्च तथा योगः कर्त्तव्यत्वाच्च विस्तृतः ।

प्रकाशः—उपपत्तिः प्रथमतः । "यमादिभिः" इति साधनानि । विचारोऽपि साधनमिति चकारार्थः । तेन "पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन्" इत्याद्युपपद्यते । "योगस्य लक्षणम्" इत्यध्यायार्थमाह अष्टाङ्गश्चेति । तस्याः कर्तव्यत्वाद्विस्तरेण कथनम् ॥ १९८ ½ ॥

ततो वैराग्यभक्त्योः प्रश्नानुपपत्तिमाशङ्क्य साधयति वैराग्येति ।

निबन्धः—वैराग्यभक्तयोः सम्प्रश्नः साधनत्वाद्विशेषतः ॥१९९॥
तत्त्वैर्द्वितीयनिर्धारो दशभिः कारणं परे ।

प्रकाशः—विशेषत इति । उभयाभावे योगो न सिद्ध्यतीति भक्त्यध्याये भयहेतोर्माहात्म्यनिरूपणं भक्तावपि माहात्म्यमङ्गमिति बोधनार्थम् । तत्र भक्तिस्वरूपनिरूपणमष्टाविंशतिश्लोकैः सार्धैः "भक्तियोगश्च योगश्च" इत्यतः प्राक्तनैः माहात्म्यं दशभिः श्लोकैः ॥ १९९ ½ ॥

वैराग्यमध्यायद्वयेनोच्यत इत्याह मृत्युजन्मविभेदेनेति ।

निबन्धः—मृत्युजन्मविभेदेन दोषो वैराग्यबोधकः ॥ २०० ॥
तेनाऽध्यायद्वयं प्रोक्तं यच्छ्रुत्वाऽभयमाप्नुयात् ।

प्रकाशः—भयाद्वैराग्यम् । तत्र प्रथमाध्याये मृत्युर्निरूपितः । स च जन्मावधिरिति "पुनरत्राव्रजेत्" इत्युक्तम् ॥ २०० ½ ॥

गर्भस्तुतेरुपयोगमाह सङ्गत्यागं विनेति ।

निबन्धः—सङ्गत्यागं विना ज्ञानं नोपयोगाय कल्पते ॥२०१॥
इति दर्शयितुं स्तोत्रं यतः सर्वोपि तादृशः ।

अर्द्धेन सप्तत्रिंशाध्यायार्थमाहुः प्रकृतिस्थ इत्यादि । अर्द्धेनाष्टाविंशाध्यायार्थमाहुः योगस्येत्यादि ॥ १९८ ॥ ऊनत्रिंशाध्यायस्यार्थमाहुरेकेन । तत इत्यादि । आशङ्क्येति स्वस्य कर्त्तव्यत्वाभावादाशङ्क्य । भयहेतोरिति, कालस्य । भक्तावित्यादि । 'कारणं' 'पर' इति पदद्वयव्याख्यानमिदम् ॥ १९९ ॥

प्रकाशः—सर्वेषामेव गर्भे ज्ञानं भवति। अन्यथा तादृशस्यैव संसारकथनं नोपपद्येत। तस्माद्वैराग्यप्रकरणे ज्ञानस्याऽप्रयोजकता निरूपिता॥ २०१ ३॥

अध्यायद्वयेन सिद्धमाह तस्मात्सर्वपरित्यागादिति।

निबन्धः—तस्मात्सर्वपरित्यागाद् भ्रमणं साधनं महत्॥२०२॥
एवं त्रिभिर्द्वयं प्रोक्तं सर्वनिर्धारकं परम्।

प्रकाशः—"अथ यो गृहमेधीयान्" इत्यध्यायार्थमाह सर्वनिर्धारकं परमिति। राजसानां सात्त्विकानां तामसानां च निर्धारो निरूपितः। सात्त्विकनिरूपणे ब्रह्मादीनां निरूपणम्। "ये त्विहाऽऽसक्तमनसः" इति तामसाः। "तस्मात्त्वम्" इति निर्गुणावस्था। एवं सर्वनिर्धारो विस्तरेणैकस्मिन्नध्याये निरूपितः। सङ्क्षेपेण निरूपणार्थमन्तिमाध्यायार्थः॥२९२३॥

"नैतत्खलाय" इत्यादिश्लोकानां प्रकृतोपयोगमाह भविता सर्वथैवैतदिति।

निबन्धः—भविता सर्वथैवैतत्संवादस्य निबन्धनम्॥ २०३॥
गुणदोषास्त्वतस्तस्य विविच्यन्ते ह्यनेकधा।

प्रकाशः—अयं संवादो व्यासादिभिर्भागवतादाववश्यं निरूपणीयः। अतो गुणदोषा निरूप्यन्ते। प्रकृते तु नोपयोगः। अतः सङ्गत्यभावो न दोषाय॥२०३३॥

अध्यायाष्टकार्थमुपसंहरति एवमिति।

निबन्धः—एवं व्यासप्रकारेण तत्त्वमुक्तं विभागशः॥२०४॥
समासेन तथैकस्मिन् सफलं पूरणं तथा।

प्रकाशः—विस्तारप्रकारेण सर्ववस्तुनिर्धारार्थं तत्त्वमुक्तम्ः सुखप्रतिपत्त्यर्थं सङ्क्षेपेणाऽऽह तस्याफलत्वमाशङ्क्य सारोद्धारत्वज्ञापनाय शीघ्रं फलसिद्धिमाह सफलमिति॥ २०४ ३॥

त्रिंशैकत्रिंशाध्याययोरर्थं पादोनैस्त्रिभिराहुः वैराग्येत्यादि॥ २०१॥

मूले, एवं त्रिभिर्द्वयं प्रोक्तमिति मृत्युजन्मस्तोत्रैः वैराग्यं भ्रमणरूपं च साधनं प्रोक्तमित्यर्थः।

द्वात्रिंशाध्यायस्यार्थं द्वाभ्यामाहुः अथेत्यादि। निर्द्धार इति, स्वरूपनिर्द्धारः फलनिर्द्धारः॥ २०२॥

अवान्तराध्यायार्थमाह गुरुप्रसादेति।

निबन्धः—गुरुप्रसादसिद्ध्यर्थं स्तोत्रं वागेव स स्मृतः ॥२०५॥
प्रतिपत्तिमकृत्वा चेल्लीना को वेद किं भवेत्।
इत्यब्धारणया देहं जलं चक्रे महामतिः ॥२०६॥
अवतारचरित्रत्वाच्छ्रवणे फलमुच्यते ॥ २०६ १/२ ॥

प्रकाशः—स्तोत्रं देवहूतिकृतम्। स्तोत्रमात्रेणैव तोषे हेतुमाह वागेवेति। "ज्ञानकलावतीर्णः" इति सरस्वतीरूपः कपिलः। देहस्य संस्कारस्तथा कथं कृत

सार्द्धद्वाभ्यां त्रयस्त्रिंशाध्यायार्थमाहुः सुखेत्यादि। तस्येति सङ्क्षेपतो निरूपणस्य। ज्ञानकलेत्यादि, *"यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदती"तिश्रुत्या परापश्यन्तीमध्यमावैखरीप्रकारेण च ज्ञानकलाया एव वाग्रूपत्वात्तथेत्यर्थः। तिर्यग्गताविति समुद्रगामित्वे। अग्निभाव इति, "सोऽग्निरभवदि"तिश्रुत्या देवतारूपत्वेन अग्नेराप इतिश्रुतेः। कारणप्रतिसङ्क्रमेण वा तथाभावे। अत्र तिर्यग्गतावग्निभाव इत्युभाभ्यामलौकिकसर्गीया पञ्चप्रकरणी सार्यते। अष्टभिर्वासवमेकादशभी रौद्रम्,द्वादशभिरादित्यमेकेनैन्द्रमेकेन प्राजापत्यमिति। तत्रान्तिमे तिर्यक्त्वसामान्येन पशुभावबोधनाद्यज्ञनिष्पादकत्वं तस्य। भगवत्सायुज्ये च "माद्दक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाये"ति पशुपाशविमुक्त्या फलाप्तिरुच्यते। न च साक्षात्पशुत्वं विना तत्सामान्येन यज्ञनिष्पादकत्वमप्राणिकमिति शङ्क्यम्। मधूदके द्रवत्वसामान्यात्पयोविकारः स्यात्। आज्यं वा वर्णसामान्यादित्यादिषु तत्तत्सामान्येनैव विध्यन्तं गृहीत्वा यज्ञनिष्पत्तिदर्शनात्। जरामर्याग्निहोत्रस्याध्यात्मिकसामग्र्यैव सिद्धेः, प्रकृते च योगस्यैव यज्ञत्वात्। "द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञा" इति गीतायां तस्यापि यज्ञत्वेन कथनात्। एवं यज्ञान्तरेपि द्रष्टव्यमतो न काचिदनुपपत्तिः। एवं कालस्य देवभावे भवति तथैवोपान्त्ये सर्वनिर्द्धाराद्दमबोधकत्वेन ततो भूतबीजस्यैन्द्रत्वे यज्ञनिष्पत्तिः। ऊनत्रिंशे योगशेषभक्त्या त्रिंशैकत्रिंशयोर्वैराग्येण च त्रयाणां भूतबीजानां देवभावः। अष्टाविंशे योगेन मनसो देवभावः। पञ्चविंशे मुख्यभक्त्या षड्विंशसप्तविंशयोः साङ्ख्येन त्रैगुण्यस्य विंशाध्यायमारभ्य पञ्चभिर्भूतानाम्। एवं विंशाध्यायमारभ्यैकत्रिंशावधिकैर्द्वादशभिर्महाभूतत्रैगुण्यमतस्त्रिविधभूतबीजानां पूर्वोक्तरीत्या आदित्यत्वे यज्ञनिष्पत्तिः। तथा नवममारभ्योनविंशतिपर्यन्तैरेकादशभिः

---

१ " पूर्णता " पाठः। * "आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति सम्प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। इति शुद्धपुस्तकेऽधिकम्।

इत्याशङ्क्याह प्रतिपत्तिमकृत्वेति। स्वस्य स्त्रीत्वाद्गुरोश्च सरस्वतीरूपत्वात्तिर्यग्गतावपि जलधारणैव कृता। अग्निभावेऽप्यूर्ध्वगतिर्गुरुसायुज्याद्भविष्यति इति ज्ञात्वैव तथाकृतवतीत्याह महामतिरिति कथाया अपि सफलत्वमाह ॥२०५॥२०६३॥

इति श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचिते सप्रकाशतत्त्वार्थ-
दीपनिबन्धे श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणे
तृतीयस्कन्धार्थनिरूपणं
समाप्तम्॥

क्रमेण पुरुषस्य दशेन्द्रियाणां च देवभावेन रुद्रत्वे यज्ञनिष्पत्तिः। प्रथमतोऽष्टभिर्मूलप्रकृतिप्रकृतिविकृतीनां देवभावेन वसुत्वे यज्ञनिष्पत्तिरित्येवं प्रतिभाति। यदत्रासदुक्तं तत्प्रभुभिस्तदीयैः कृपया क्षन्तव्यं विचारणीयं चेति विज्ञप्तिः। अवतारचरित्रत्वादित्यर्द्धस्यार्थमाहुः कथाया इत्यादि ॥ २०६३ ॥

इति श्रीगो०दशदिगन्तविजयिश्रीपीताम्बरात्मज श्रीपुरुषोत्तमविरचिते
श्रीतत्त्वदीपप्रकाशावरणभङ्गे तृतीयस्कन्धावरणभङ्गः सम्पूर्णः॥

॥ तृतीयस्कन्धः सम्पूर्णः ॥

श्रीकृष्णः

भागवतार्थप्रकरणे

चतुर्थस्कन्धविवरणं प्रारभ्यते.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

अलौकिकं विसर्गं वदन् अनौचित्यमाशङ्क्य सर्गोऽप्येवमेव वर्णित इति पूर्वस्कन्धार्थमुक्तमनुवदति एवं सर्ग इति ॥

निबन्धः—एवं सर्गस्तृतीये तु सफलः सुनिरूपितः ॥

अथैकत्रिंशताध्यायैर्विसर्गस्तुर्य उच्यते ॥ १ ॥

अथ चतुर्थस्कन्धप्रकाशावरणभङ्गः ।

श्रीकृष्णाय नमः । अथ चतुर्थस्कन्धार्थं निबध्नन्तो विसर्गस्यैकदेशत्वात्तस्य समाप्तौ 'एतद्यः शृणुयाद्राजन्नि'त्यनेन फलकथनस्याङ्गे 'फलश्रुतिरर्थवाद' इति मीमांसकप्रसिद्ध्या स्तुत्यतिरिक्तप्रयोजनाभावेन विसर्गस्य च बाह्यलीलात्वात्स्तुत्यत्वाभावेन तत्कथनस्यानुचितत्वमाशङ्क्य "पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः, तैरर्जितानि पुण्यानि तद्वदेव भवन्ति हि" "अहोहि वाक्ये चतुरक्षरे द्वे पुण्यस्य पापस्य निदानभूते-उच्चारणादेव नृणां मुनीन्द्रा नारायणश्चेति तदर्थवाद" इति नारदीये तत्प्रसिद्धिनिन्दासरणान्नानौचित्यमितिवक्तुमत्र तृतीयस्कन्धार्थानुवादो, न तु सङ्गतिबोधनार्थम्, द्वयोस्तादात्म्यस्य पूर्वमुक्तत्वेन सङ्गतेस्तत्रैव सिद्धत्वादित्याशयेनाहुः अलौकिकमित्यादि । एवमेवेति । 'य इदमभिशृणोति, योभिधत्ते, कपिलमुनेर्मतमि'त्यनेन सर्गैकदेशफलकथनपूर्वकमलौकिकत्वेनैव ।

[यद्वा प्रथमद्वितीययोरधिकारः साङ्गश्रवणविधिश्च प्रतिपाद्यस्तृतीयादिदशस्कन्धेषु श्रोतव्यविषयः, सर्गादिरुच्यते । तत्र पूर्वोक्ताधिकारिणां श्रवणादिविषयत्वेन लौकिकसर्गविसर्गादिनिरूपणमनुचित्तं, नह्यलौकिके विषये प्रसक्तानामधिकारिणां लौकिकसर्गादिविषयाः प्रीतिकाराः साधका वा भवन्ति, भिन्नाधिकारादित्यनौचिती भासते, तन्निवारणार्थं सर्गविसर्गयोरत्रालौकिकत्वमवश्यं वाच्यं, अधिकारबलादिति । तदिदमभिप्रेत्योक्तमलौकिकं विसर्गं वदन्नित्यादि । ननु पूर्वस्कन्धार्थानुवादः किमर्थमित्याकाङ्क्षायामाहुः । अनौचित्यमाशङ्क्येति । अलौकिकानामधिकारिणां श्रवणादिविषयतया लौकिकसर्गवर्णनमनौचितीं स्पृशेदिति तन्मास्पृशत्विति पूर्वस्कन्धे सर्गोऽप्यनौचितीनिवृत्त्यर्थमलौकिकत्वेन निरूपितो यथा, तथात्रापि विसर्गोऽप्यलौकिक एव निरूप्यते इति ज्ञापयितुं पूर्वस्कन्धार्थानुवाद इत्यर्थः । तदेतत्तृतीयारम्भे स्पष्टमुक्तं "त्रयस्त्रिंशदध्यायास्तृतीये सर्गवर्णने" इत्यादिकारिकाद्वयेनेति । तेन पौराणिकीसृष्टिर्वैदिकसृष्टिवदलौकिकी, आधिदैविकरूपत्वादित्युक्तं भवति ।]

प्रकाशः—अनेन सर्वा लीलाः शृङ्खलारूपा अपि प्रत्येकं सफलाः ॥ तेनैकदेशसमुदाययोः सर्वत्र फलसिद्धिर्ज्ञापिता ॥ अथेति भिन्नप्रक्रमे ॥ तेन लौकिको विविधः सर्गो निराकृतः ॥ विशिष्टः सर्गो हि विसर्गो देवतारूपः ॥ ते[1] च वसुरुद्रादित्यरूपा देवाः ॥ भगवतो लीलाया विपरीतत्वाद्धसवोन्ते निरूप्यन्ते ॥ रुद्रा मध्ये ॥ आदित्या आदौ ॥ अत एकत्रिंशदध्यायाश्चतुर्थे स्कन्धे ॥ १ ॥

विसर्गलक्षणमाह सर्वयुक्तरजोभाज इति ॥

निबन्धः—सर्वयुक्तरजोभाजो लीला कार्यस्य जन्मदा ॥
विसर्गो लौकिको ह्यत्र कार्यं बुद्ध्या चतुर्विधम् ॥ २ ॥

प्रकाशः—सर्वैर्जीवैर्युक्तं यद्रजः क्रियाशक्तिस्तेनाऽत्रोत्पद्यमानाः सर्वसामर्थ्ययुक्ता भविष्यन्तीति विशिष्टत्वम् ॥ कार्यपदं मुक्तजीवाभिप्रायम् ॥ अत्रोत्पन्नाः सामर्थ्यं प्रकटीकृत्य मुक्ता भविष्यन्ति ॥ अतो लौकिको विसर्गः ॥ एवं स्कन्धार्थं निरूप्य प्रकरणभेदार्थमाह कार्यं बुद्ध्या चतुर्विधमिति ॥ यद्यपि भगवत्सामर्थ्यमनन्तम्, तथापि,सद्बुद्ध्या धर्मार्थकाममोक्षा एव साध्या इति कार्यं चतुर्विधम् ॥२॥

अनेनेति, एकदेशफलकथनेन लौकिको विविधः सर्ग इति, "पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः विसर्गोयं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरमि'ति द्वादशस्कन्धोक्तो महापुराणान्तरसम्बन्धी ॥ १ ॥ सर्वैर्जीवैरिति, अमुक्तजीवैः । तेनेति, क्रियाशक्तिसंसर्गेण । अत्रेति, विसर्गलीलायाम् मुक्ता भविष्यन्तीति, न च दक्षे फलव्यभिचारः दोषः शङ्क्यः तस्य सर्गे उत्पन्नत्वेनाऽदोषत्वात । नापि सत्याम्, तस्या अपि द्वितीयजन्मपर्यन्तं सामर्थ्यप्रकटनमित्यदोषात् । नापि सपरिकरे अधर्मे, तेषामपि देवतात्वेन स्वाधिकारसमाप्त्यनन्तरं फलस्याबाधात् । अत एव कठवल्ल्यां मृत्योर्ब्रह्मवित्त्वोक्तिरपि सङ्गच्छते । एवमन्यत्राप्यूह्यमिति न कोपि शङ्कालेशः । अत्र लक्षणे सर्वयुक्तपदं सर्गलीलोत्पन्नानाममुक्तानां जीवानां विसर्गे सहकारित्वबोधनाय । रजोभाज इति पदं मैत्रेयेण भागवतमुपक्रम्य रजोभाजो लीलानां कथनात्तन्मध्यपातित्वेन निर्गुणलीलात्वव्युदासाय । एतेनास्मिन् लक्षणे प्रमाणमुक्तम् । उपक्रमोपसंहारयोरर्थनिर्णयकत्वात् । मैत्रेयोक्तीनामेतत्स्कन्धान्त एव पूर्णत्वादिति । अत्र यद्यपि व्याख्यानान्तरं नास्ति, तथापि कारणसाम्यान्मुक्तिफलस्य पूर्ववत्कथनाच्च पूर्वतौल्येन मुख्यलीलाया अपि सङ्ग्राह्यतया "एतस्माज्जायते प्राण" इति साक्षात्सृष्टिन्यायेन विसर्गस्यापि तथात्वाय तथा व्याख्यातव्यम् । प्रकरणभेदार्थमाहेति, अत्र रजोभाजोलीलायाः पूर्ववत्करणत्वेन गुणवैषम्यस्य

---

१ तेन ।

भागवते विसर्गलक्षणं तथा नोक्तमित्याशङ्क्याह पौरुषस्त्वयमेवोक्त इति ॥

निबन्धः—पौरुषस्त्वयमेवोक्तो माहात्म्यं सर्वथा यतः ॥
वंशः प्रसङ्गसिद्ध्यर्थं लौकिकानुग्रहादपि ॥ ३ ॥
साधारणो न वै वाच्यः सारोद्धारत्वतोऽस्य हि ॥

प्रकाशः—" विसर्गः पौरुषः स्मृतः " इति लक्षणम् ॥ तत्र पौरुषपदं न पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिमाह, किन्तु माहात्म्यं सर्वथा यतो ज्ञातं भवति तेन पुरुषाकारो विसर्गः ॥ एवं सति वंशेन कथं प्रारम्भस्तत्राह वंशः प्रसङ्गसिद्ध्यर्थमिति ॥ असम्बद्धार्थकथने लीलानां परिज्ञानं न भवतीति प्रसङ्गो वक्तव्यः ॥ लौकिकाश्च कथाश्रोतारोऽनुग्राह्याः ॥ एवं स्वाभिमेतं विसर्गमुक्त्वा साधारणं निषेधति साधारण इति ॥ "सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्" इतिवाक्यात्[1] ॥ ३ ॥ प्रकरणैर्विशिष्टं स्कन्धार्थमाह धर्मार्थेति ॥

व्यापारत्वेन कार्यरूपभूतमात्रेन्द्रियधीजन्मनश्च फलत्वेन स्कन्धार्थत्वम् । तत्र यथा पूर्वस्कन्धेषु व्यापाररूपः फलरूपो वा सामान्य एव स्कन्धार्थः प्रकारविशेषवैशिष्ट्येन प्रकरणभेदकः, तथा नात्र, किन्तु, फलरूपो द्वारविशेषवैशिष्ट्येन भेदक इति तद्विभागार्थं द्वारभूतमर्थमाहेत्यर्थः । कार्यं चतुर्विधमिति, सामर्थ्यकार्यं चतुर्विधम् । तथा च, तद्द्वारा प्रकरणचतुष्टयविभाग इत्यर्थः ॥ २ ॥

ननु द्वितीयस्कन्धोक्तं लक्षणं विहायेदं मैत्रेयोक्त्यनुसारि लक्षणं किमित्यादृतमित्याकाङ्क्षायां कण्ठोक्तलक्षणसिद्ध्यर्थमेवादृतमित्याशयेनाहुः भागवत इत्यादि, आहेति एतस्य तस्मिन्नुपयोगमाह तत्र पौरुषेत्यादि । विसर्गलक्षणात्पूर्वं तस्मिन्नेव श्लोके सर्गलक्षणे जन्मपदादस्मिन्नपि तद्विवक्षायां पौरुषमिति नपुंसकं प्रयुञ्ज्यादस्मिन् स्कन्धे च तामेव वदेदतस्तदुभयाभावात्तदुत्पत्तिर्न विवक्षिता, किन्तु, पुरुषमाहात्म्यज्ञापकोऽर्थो विवक्षितस्तेन हेतुना पुरुषकारोस्माभिरेतदर्थं आदृतः । स च फलं पुरुषार्थत्वादिति न्यायेन पुरुषशेष इति पुरुषजन्माक्षिपतीत्येतदर्थमेव तदादृतमित्यर्थः । एवं सतीति, ननु विविधसर्गस्यावाच्यत्वे सति । असम्बद्धेत्यादि । तथा चैतदुभयार्थं वंशेन प्रारम्भो न तु विसर्गत्वज्ञापनार्थमनुपपत्तेरुक्तत्वादित्यर्थः । प्रकारान्तरेणापि तस्यावाच्यत्वमाहुः, एवं स्वेत्यादि । तथा चेतोपि केवला विविधोत्पत्तिर्न विसर्गः, किन्तु, माहात्म्यज्ञापकत्वविशिष्टो यः सर्गः स एव विसर्गत्वेनात्र विवक्षित इत्यर्थः । कथमेतस्य माहात्म्यज्ञापकत्वमित्यपेक्षायामाहुः प्रकरणैरित्यादि । तथा

१ वचनात् ।

निबन्धः—धर्मार्थकाममोक्षाख्यं कार्यं कृष्णाङ्घ्रिसेवया ॥ ४ ॥
सिद्धयेत सर्वजीवानां नाऽन्यथेत्यस्य सम्भवः ॥

प्रकाशः—अस्य स्कन्धस्य सम्भवः ॥ ४ ॥

विविच्य धर्माद्यधिकारिण आह धर्म इति ॥

निबन्धः—धर्मः सिद्धस्तु दक्षस्य ध्रुवस्याऽर्थस्तथा पृथोः ॥ ५ ॥
कामः प्रचेतसां मोक्षः सुरुच्यादेर्न सिद्धयति ॥

प्रकाशः—पृथोः कामः ॥ पूर्वं दक्षस्याऽपि न धर्मसिद्धिः ॥ सुरुचेर्नाऽर्थसिद्धिः ॥ इन्द्रस्य न कामसिद्धिः ॥ पूर्वं पुरञ्जनस्याऽपि न मोक्षः ॥ अतः कृष्णाङ्घ्रिसेवयैव पुरुषार्थसिद्धिर्नाऽन्यथेति समर्थितम् ॥ ५ ॥

विसर्गस्यार्थान्तरत्वमाशङ्क्य निराकरोति विसर्ग इति ॥

निबन्धः—विसर्गः पौरुषो वाच्यः पुरुषार्थः स नेतरः ॥ ६ ॥
तत्कर्तारोऽथवा वाच्या विशिष्टत्वं तदेव हि ।

मतान्तरमाशङ्क्य निराकरोति स्त्रीबालेति ॥

निबन्धः—स्त्रीबालयुववृद्धानां प्रक्रियेति मतिर्वृथा ॥ ७ ॥
स्त्रिया न कापि संसिद्धिस्तत्त्वं नाऽत्र प्रयोजकम् ॥
सेन्द्रियत्वं न चाऽन्यद्धि भजनाङ्गं विवेकिनाम् ॥ ८ ॥

प्रकाशः—स्त्री सती ॥ बाली ध्रुवः ॥ युवा पृथुः ॥ वृद्धः प्राचीनबर्हिः ॥ एवं स्त्रीपुम्भेदोऽवस्थाभेदश्च विसर्गार्थ इत्युक्तं भवति ॥ एवं मतिर्वृथा ॥ सर्वथा साक्षाद्भगवत्कृतं कार्यं कथं पुरुषार्थरहितं वेदे अनर्थपर्यवसायि वा ॥ तस्मात्स्त्रिया

चैवं माहात्म्यज्ञापकत्वमित्यर्थः । येन भगवन्माहात्म्यं ज्ञायेत ॥ ३-४ ॥ तत्कार्यं कस्य सिद्धमित्यपेक्षायामाहुः विविच्येत्यादि ॥ ५ ॥ ननु विशिष्टः सर्गो विसर्गश्चेत्तदा यत्किंचिद्वैशिष्ट्येऽपि तथात्वसम्भवान्माहात्म्यज्ञापनत्वरूपवैशिष्ट्यस्यैवादरे किं बीजमित्यत आहुः विसर्गस्येत्यादि । "अस्यां वै श्रूयमाणायामि"तिवाक्यादत्र भक्त्युत्पादकं यत्तदेव वैशिष्ट्यं विवक्षितमत इदमाद्रियत इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

एवं सार्द्धैः पड्भिः स्कन्धार्थः प्रकरणार्थश्च निर्द्धारितः । प्रकरणार्थे मतान्तरस्य विद्यमानत्वात्तन्निरासं विना स न निर्णेतुं शक्य इति तदर्थं यतन्ते मतान्तरमित्यादि विसर्गार्थ इति । वैशिष्ट्यप्रयोजकः प्रकरणार्थः । पर्य्यवसायि वेति भवतीति शेषः । स्वरूपत

न प्रकरणित्वम् ॥ स्वरूपतस्तु स्त्रीत्वं न प्रयोजकम् ॥ भजने तु इन्द्रियत्वमेव प्रयोजकमित्याह सेन्द्रियत्वमिति ॥ मनुष्याधिकारपक्षस्तु भ्रान्तपरिकल्पितो वानरादीनामप्यधिकारात् ॥ ८ ॥

तर्हि स्त्रीसतीप्रसङ्गः कथं प्रथमप्रकरणे कृत इत्याशङ्क्याह स्त्रीणामनर्थहेतुत्वमिति ॥

निबन्धः—स्त्रीणामनर्थहेतुत्वं न भार्यापरमेव हि ॥
पुत्र्या मातुस्तथाऽन्यस्या देवताया अपि स्फुटम् ॥
पुरुषार्थविरोधित्वकथनाय तथा वचः ॥ ९३ ॥

प्रकाशः—पुरुषार्थविरोधित्वात्तासां कथनम् ॥ ९३ ॥

प्रथमप्रकरणे सप्ताऽध्यायाः ॥ द्वितीये पञ्च ॥ उभौ मिलितावादित्यः ॥ तत्र सप्तसङ्ख्यायां प्रयोजकमाह सप्ततन्तुरिति ॥

इत्यादि । स्वरूपानिरूपणात्स्वरूपतो न प्रकरणित्वप्रयोजकम् । ननु मास्तु फलित्वेन स्वरूपेण वा तथात्वम् । तथापि भजनोपयोगित्वेन तथात्वे किं बाधकमत आहुः भजन इत्यादि, "को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् । न भजेत्सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैरि'तिवाक्यात्तथेति न स्त्रीत्वादेस्तत्प्रयोजकत्वमित्यर्थः । नन्विन्द्रियवत्त्वमपि न केवलं प्रयोजकं तथा सति पशूनामप्यधिकारापत्तेः । अतस्तदपि मनुष्यत्वेन विशेषणीयं शास्त्रस्य मनुष्याधिकारत्वात्, तथा सति तद्गतधर्मस्य स्त्रीत्वस्य कुतो न प्रयोजकत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः, मनुष्येत्यादि । वानरादीत्यादिपदेनर्क्षपक्षिगजादिसङ्ग्रहः । तथा च, विवेकित्वमेव प्रयोजकं न तु जातिविशेषवैशिष्ट्यम्, अतो न स्त्र्यादेः प्रकरणित्वमित्यर्थः । न च तत्त्वसूत्रविरोधः शङ्क्यः, 'तदुपर्यपि चे'ति चकारेण मनुष्यतो हीनानामपि सङ्ग्रहात् । हनुमदादिषु तथा दर्शनाच्चेति । एवं त्रिभिः परमतनिराकरणेन प्रकरणार्थो निर्णीतः ॥ ९३ ॥

अतः परन्तेष्वध्यायान्विभजन्ते प्रथमेत्यादि । उभावित्यादि । एतेन त्रिप्रकरणीपक्षोपि सङ्गृहीतः । तथा सति तृतीये एकादशे तुरीयेष्टावित्यर्थादुक्तम् । तेन यथा सर्गलीलायां देवभावेन त्रयस्त्रिंशतां यज्ञसाधकतया फलोपकारित्वं तथाऽत्रैकत्रिंशतां

निबन्धः—सप्ततन्तुर्यतो यज्ञो धर्मे सप्त ततः कृता ॥ १० ॥
धर्मः सिद्ध्येद्धरेरेव नाऽन्यथेति निरूप्यते ॥
दक्षो मुख्यो यतो धर्मे ततस्तस्य कथा तता ॥११॥

प्रकाशः—तन्तुशब्दः सूत्रे सन्ततौ च वर्तते ॥ यज्ञश्च सूत्रात्मकत्वात्तन्तुर्भवति सन्ततिरूपश्च ॥ अतो ज्योतिष्टोमः सप्तसंस्थो भवतीति सप्ततन्तुः ॥ अतो धर्मप्रकरणे सप्ताऽध्यायाः ॥ वाजपेयो गणनार्थं सप्तम इति ॥ तस्याऽप्युत्तराङ्गभूते बृहस्पतिसवे विघ्नो निरूप्यते ॥ तस्य प्रयोजनमाह धर्मः सिद्ध्येदिति ॥ वसिष्ठादिषु विद्यमानेषु दक्षनिरूपणस्य प्रयोजनमाह दक्ष इति ॥ अन्वर्थनामा कर्ममार्गे दक्षः ॥ ११ ॥

अत्र प्रकरणे कथानां धर्मोपयोगं वक्तुमाह पीठिकासहित इति ॥

निबन्धः—पीठिकासहितोऽनर्थः प्रसङ्गः पोषकैर्युतः ॥
प्रथमेऽनन्तरे हेतुर्भावित्वज्ञापनाय हि ॥ १२ ॥

प्रकाशः—तत्र प्रथमाध्याये अनर्थप्रसङ्गः सतीसम्बन्धो निरूप्यते ॥ द्वितीयाध्याये तु तस्य प्रसङ्गस्य कार्यमनर्थहेतुरङ्कुरवच्छापकथा ॥ तस्य प्रयोजनमाह भावित्वज्ञापनाय हीति ॥ अन्यथाङ्कुरोत्पत्त्यभावे बीजात्फलं न भवेत् ॥१२॥

द्विपत्ररूपस्तृतीयाध्यायार्थं इत्याह तृतीय इति ॥

निबन्धः—तृतीयेऽनर्थसम्भूतिः स्वशक्त्या च निवारणम् ॥
चतुर्थे पञ्चमे नाशः षष्ठे पूर्वाङ्गमुत्तरे ॥ १३ ॥
सप्तमे यज्ञसंसिद्धिर्विष्णोः स्तोत्रे विनिर्णयः ॥

तथात्वं बोधितम् । सूत्रात्मकत्वादिति । अङ्गकर्मणां क्रमिकत्वेन फलावश्यंभावसूचकत्वेन च तथात्वात् । सप्तसंस्थ इति, अग्निष्टोमोत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडश्यतिरात्र आप्तोर्यामोवाजपेयश्चेतिसप्तसंस्थः । ननु वाजपेयात्पूर्वं बृहस्पतिसवस्यापि सत्त्वात्कथं सप्तेत्यत आहुः वाजपेयेत्यादि । बृहस्पतिसवस्य ततः पूर्वंपश्चाच्च करणात्स वाजेपयस्यैवाङ्गभूत इति गणनार्थं वाजपेय एव सप्तम इत्यर्थः ॥ १० ॥ धर्मःसिद्ध्येदित्यर्द्धस्यार्थमाहुः तस्यापीत्यादि । तस्य प्रयोजनमिति विघ्नस्य प्रयोजनम् ॥११॥ ननु सप्ताध्यायीरूपधर्मप्रकरणं चेत्प्रथमत एव धर्मः कुतो नोच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः अत्रेत्यादि ॥ १२ ॥

---

१ कृतः ।

प्रकाशः—अनर्थवृक्षस्य सम्यग्भूतिरुद्गमो द्वेषस्थिरीकरणात्। द्वेषो न कर्तव्य इति ख्यापनमनर्थहेतुत्वज्ञापनाय। अतः स्वशक्त्या कन्यकया स्वबुद्ध्या निवारणमुक्तम्। चतुर्थाध्यायार्थो न सतीमरणं किन्तु द्वेषस्यानर्थहेतोरवान्तर-व्यापारः। पञ्चमे यज्ञस्य नाशः पाङ्क्तत्वात्। षष्ठे सिद्धेः पूर्वाङ्गम्। उत्तरं रूपं सिद्धिः। यज्ञस्य सप्ततन्तोः सप्तमे सिद्धिः। तत्रैव स्तोत्रे विष्णोरेव सिद्धिरित्यंशः समर्थितः। एवं सप्ताध्यायार्था निरूपिताः॥ १३½॥

अधुना प्रथमाध्याये प्रासङ्गिका बहवोऽर्था वर्तन्ते तेषां धर्मोपयोगं वक्तुमाह षड्भिरिति।

निबन्धः—षड्भिर्मन्वादिभिर्धर्मः प्रथमे त्वस्य सम्भवः॥ १४॥
अतः प्रथमषट्कस्य स्वरूपं प्रथमं जगौ॥

प्रकाशः-प्रथमं मन्वन्तरनिरूपणं धर्महेतुत्वात्। "मन्वन्तराणि सद्धर्मः" इति वाक्यात्। अस्यापि हेतुमाह प्रथमे त्वस्य सम्भव इति प्रथमाध्याये मन्वन्तरस्य षड्विधस्यापि सम्भवः। तेन धर्मे स्पष्ट एव हेतुः। अनेन कालो हेतुत्वेन निरूपितः॥ १४½॥

कथमुद्गम इत्यपेक्षायामाहुः द्वेषेत्यादि। शिववाक्येषु तथाभानात्स एवार्थ इत्यर्थः। ननु नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षाया गृहात्प्रतियादित्यादिवाक्येषु द्वेषं न कुर्याद् गृह एव तिष्ठेदिति तात्पर्यं प्रतीयत इति कथं द्वेषस्थिरीकरणमर्थ इत्यत आहुः द्वेषो नेत्यादि। अनर्थत्वख्यापनायेति। सतीगमनस्य द्वेषस्य वा तथात्वख्यापनाय, 'यदि वृजीष्यसी'त्यन्तिमश्लोके तथाभानादुक्तरूप एवाध्यायार्थ इत्यर्थः। अत इति अनर्थहेतुत्वात्। कन्यकयेत्यत्र कल्पनयेतिपाठः प्रतिभाति। चतुर्थाध्यायार्थ इत्यादि। सतीमरणं सतीमरण-त्वेन रूपेण नार्थः, किन्तु, द्वेषावान्तरव्यापारत्वेनार्थ इत्यर्थः। न च द्वेषस्या-न्यनिष्ठत्वात्सतीमरणस्य च तज्जन्यत्वाभावेन कथं व्यापारत्वमिति शङ्क्यम्। तज्जन्यत्वस्यातन्त्रत्वेन द्वारत्वस्यैव तथात्वादिति। पाङ्क्तत्वादिति। अग्निहोत्रादिपञ्चात्मक-त्वात्। पूर्वाङ्गमिति रुद्रभागकल्पनेनानुनयः। 'यज्ञस्ते रुद्रभागेन कल्पतामद्य यज्ञहन्नि'ति। 'इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्ररुद्राभिमर्शितम्, कीर्त्यमाने हृषीकेशे सन्निन्ये यज्ञभावन' इत्युभयवाक्यदर्शनाद्यज्ञसिद्धिः केनेत्याशङ्कायामाहुः तत्रैवेत्यादि। तथा च, यदि रुद्रभागेनैव सिद्धिः स्यात्तथा स्तोत्रं न स्यादतो यज्ञसिद्धिर्भगवत एव, रुद्रभागकल्पनं तु प्रतिबन्धकाभाव-रूपमित्यर्थः। निरूपिता इति चतुर्भिरुक्ताः॥ १३½॥ मूले षड्भिरिति, आद्यश्लोक-त्रयादग्रिमैः षड्भिः। षड्विधस्येति, भगवदवतारेन्द्रमनुतत्पुत्रदेवर्षिभेदेन षड्विधस्य। हेतुत्वेनेति यज्ञात्मकधर्महेतुत्वेन॥ १४–१५॥

कर्त्तारश्च कर्दमजामातरो निरूप्यन्त इत्याह येऽग्निमन्त इति ।

निबन्धः–येऽग्निमन्तोऽतिसम्पुष्टा ऋत्विजस्ते हि सम्मताः ॥ १५ ॥
अतो वंशः पृथक् प्रोक्तः सर्वेषां समनुक्रमात् ॥

प्रकाशः–ते धर्मात्मान इति ज्ञापयितुं वंशो निरूप्यते । धर्माभिमानिन्या देवताया निरूपणं स्पष्टमेव ॥ १५३ ॥

एवं कथासङ्गतिमुक्त्वा अनुपपत्तिपरिहारार्थमपेक्षितमर्थं निरूपयन् रुचिं निरूपयति पूर्वकल्प इति ।

निबन्धः–पूर्वकल्पे ऋषिः सिद्धः सत्ये चैव व्यवस्थितः ॥१६॥
रुचिर्ब्रह्मसुतैस्तुल्यस्तेनाऽयं पुत्रिकापतिः ॥

प्रकाशः–दैनन्दिनकल्पेषु निरूप्यमाणकल्पात्पूर्वकल्पे रुचेरुत्पत्तिः । प्रलये सत्यलोके स्थितः । तस्य कारणात्वाभावान्न तृतीयस्कन्धे निरूपणम् । अत्र तस्य कीर्तनं प्रयोजनायेति । हीनत्वाभावायाह ब्रह्मसुतैस्तुल्य इति । अनेन किञ्चिद्धीनतापि निरूपिता । तत आह तेनाऽयं पुत्रिकापतिरिति । अन्यथा सर्वोत्तमो न पुत्रिकापतिर्भवेत् ॥ १६३ ॥

तत्रोत्पन्नयोर्विवाहो न युक्त इत्याह लक्ष्मीनारायणो भोक्तेति ।

निबन्धः–लक्ष्मीनारायणो भोक्ता यज्ञस्याऽवततार ह ॥ १७ ॥
इन्द्राधिकारी जीवानामभावादंशतः पृथक् ॥

कथासङ्गतिमिति, अत्र प्रथमे प्रकरणे धर्म उच्यत इति तत्कथासङ्गतिं निरूप्य कर्मसचिवानामभावे धर्मो न सिद्ध्यतीति तदनुपपत्तिपरिहारार्थमपेक्षितमर्थं सचिवसम्पत्तिरूपं निरूपयन्निन्द्रसिद्ध्यर्थं रुचिं वदन्तीत्यर्थः । कारणत्वाभावादिति, मुक्तत्वेनामुक्तत्वेन च सर्गकारणत्वेनाविवक्षितत्वात् । अनेनेति, तुल्यत्वकथनेन । अन्यथा पुत्रिकाधर्मं नाङ्गीकुर्यात् । स्वस्योत्तमत्वाभिमाने तदङ्गीकारस्यासम्भवादिति ॥ १६ ॥ लक्ष्मीनारायण इति, शास्त्रस्य जीवाधिकारत्वेन भगवति तस्याप्रवृत्तेर्नायुक्तत्वम्, सम्बन्धनित्यत्वादिति । पञ्चविधत्वादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी, पञ्चविधत्वमालोच्येत्यर्थः । मूले–अभावादंशतः पृथगिति। अभावं दृष्ट्वा अंशतः पृथगवततारेति

---

१ व्यवस्थितः । २ तत्र ।

देवानाप्यभावेन स्वांशान् पुत्राँश्चकार ह ॥ १८ ॥

प्रकाशः—अनेन यज्ञप्रकरणे भोक्ता च निरूपित इति प्रयोजनान्तरम्। तस्य मन्वन्तरस्य पञ्चविधत्वात् षड्विधत्वाभावे हेतुमाह इन्द्राधिकारिजीवानाम्िति ॥ १७-१८ ॥

षड्विधत्वमाह यज्ञस्येति ॥

निबन्धः—यज्ञस्य तु द्विरूपत्वात् षड्विधत्वं भुजिद्वयात् ॥
क्रियाज्ञानोभयैस्त्रेधा धर्मायावतरिष्यति ॥ १९ ॥

प्रकाशः—अंशावतारित्वेन सर्वभोक्तृत्वमिन्द्रत्वेन हविर्भोक्तृत्वं चेति भुजिद्वयम्। अत्राऽध्यायेऽवतारत्रयं निरूपितम्। तस्य कथमुपयोग इत्याकाङ्क्षायामाह क्रियाज्ञानोभयैरिति क्रियावतारो यज्ञः। ज्ञानावतारो दत्तः। उभयावतारो नारायण इति धर्मार्थं त्रेधाऽवतरणम् ॥ १९ ॥

नारायणदत्तयोर्नैकमन्वन्तरोपयोग इति विशेषमाह नारायण इति।

निबन्धः—नारायणस्तथा दत्तः सर्वसाधारणौ मतौ ॥
क्रियाशक्त्यवतारस्तु तत्र तत्र भविष्यति ॥ २० ॥

प्रकाशः—अतो मन्वन्तरान्तरेषु न ज्ञानोभयावतरणनिरूपणम्। प्रथमस्तु वक्ष्यत इत्याह क्रियाशक्त्यवतारस्त्विति ॥ २० ॥ ननु धर्मप्रकरणे भगवद्भजननिरूपणस्याऽत्रेरुपाख्यानं किंप्रयोजनमित्याशङ्कायामाह अवश्येति।

निबन्धः—अवश्या कार्यसृष्टिर्हि बन्धोपि न भवेद्यथा ॥
अतः सर्वत्र सृष्टो हि भगवद्भजनाभिधा ॥ २१ ॥

प्रकाशः—नन्वत्रेः सर्वज्ञस्य भगवद्भजनं परित्यज्य कथं साधारणभजनं तत्राऽऽह

सम्बन्धः ॥ १७ ॥ १८ ॥ षड्विधत्वमाहेति। ननु तथापि स्वरूपभेदाभावात्कथं षड्विधत्वमित्याकाङ्क्षायां भोगभेदेन तथात्वमाहेत्यर्थः। कथमुपयोग इति, केन रूपेण धर्मोपयोगः ॥१९॥ विशेषमाहेति। सर्वसाधारण्यरूपं विशेषमुभयोराह अत इति, मन्वन्तरमात्रे त्रेधोपयोगापेक्षायामपि द्वयोर्विद्यमानत्वात्। प्रथमस्त्वित्यादि अतो न न्यूनतेति भावः ॥२०॥ मूले, बन्धोपि न भवेद्यथा। अत इति। बन्धभावोपि विसर्गस्य भगवत्कृतत्वादावश्यकः। अत उभयोरपेक्षितत्वादित्यर्थः। भगवद्भजननिरूपणस्येति। प्रपत्तिरूपस्य तत्प्रवणचेतोरूपस्य वेत्यर्थः॥२१॥

धर्मप्रकरणत्वादिति ।

निबन्धः—धर्मप्रकरणत्वाच्च निश्चयो नाऽभवत्पुरा ॥
अत्रेः सामान्यरूपेण भजनं तेन वर्णितम् ॥ २२ ॥

प्रकाशः—कर्ममार्गे सर्वे देवास्तुल्याः । परब्रह्मणोऽपि देवत्वमेव ॥ २२ ॥

तथापि त्रयाणामागमने को हेतुस्तत्राऽऽह कर्मण इति ।

निबन्धः—कर्मणस्त्रिविधत्वाय त्रयाणां सम्भवाभिधा ।
अधिदेवं त्रिधा यस्मात्त्रैविध्ये धर्मकर्मणि ॥ २३ ॥

प्रकाशः—त्रिविधसञ्ज्ञापनाय ॥ २३ ॥

उत्तरं हरिणैवोक्तं त्रयाणां ज्ञानरूपम्, तत्र हेतुः-बोधोऽपि हरिणेति ।

निबन्धः—बोधोपि हरिणा पश्चादेवं द्वेषापनुत्तये ॥
तस्मादन्यतरद्द्वेषे नेतरत्कर्म सिद्ध्यति ॥ २४ ॥

प्रकाशः—अथवा दक्षं प्रति भगवद्वाक्यं सप्तमे वक्ष्यते । तदप्यत्र सम्मतित्वेनोच्यते । फलितमाह तस्मादिति ॥ २४ ॥

नन्वत्र भागवते ऋषयो निरूप्यमाणाः सर्वज्ञास्ते कथमन्यथाऽन्यथा परस्पर-विरुद्धानर्थान् वदन्ति । कथं कर्दमो विष्णुमेव सेवते । कथमत्रिः साधारण इत्याशङ्क्याह सर्वेषामिति ।

निबन्धः—सर्वेषां ब्रह्मवित्त्वेऽपि यन्निष्ठा यस्य तद्वचः ॥
अतो हि भगवाँस्तेषु क्रियांशादिभिरुद्गतः ॥ २५ ॥

प्रकाशः—सर्वज्ञत्वेपि स्वभावभेदाद्रुचिर्भिन्ना । अतो रुच्यनुसारेण तेषां

धर्मप्रकरणत्वादित्यस्य विवरणं कर्ममार्ग इत्यादि ॥ २२ ॥ तथापीति 'य एव जगदीश्वर' इति वाक्यादत्रेः परब्रह्मस्वरूपनिश्चयाभावेपि ब्रह्मादीनां परब्रह्मस्वरूपनिश्चयसद्भावात्। कर्मण इति, तपोरूपस्यात्रिकर्मणः। मूलान्वयस्तु, धर्मकर्मणि त्रैविध्ये यस्मादधिदैवं त्रिधा, तस्माद् दत्तादीनां त्रयाणां सम्भवाभिधेति।तथा च यस्मात्फलत्रैविध्येन कर्मत्रैविध्यमनुमीयते तेन च कर्माधिदैवत्रैविध्यं, तेन हेतुना त्रयाणामागमनम् । तथा च, तेषां परब्रह्मस्वरूपज्ञत्वेप्यत्रे-स्तदभावात्तस्यात्रित्वेन त्रयाणामाकाङ्क्षया सोमपस्यैव ध्यातत्वाच्च तदनुरोधेन तथेत्यर्थः । उत्तरं हरिणैवेति, यद्यपि मूले, ऊचुरित्युक्तं, तथाप्येकदा त्रिभिः कथने चित्तविक्षेपात्तदभावाय तथेत्यर्थः ॥ २३ ॥ तथापि हरिणेत्यस्यानिश्चयात्पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि । तथा च, सप्तमानुरोधेनात्रापि हरेरेवोत्तरदातृत्वमङ्गीकार्यमित्यर्थः ॥ २४ ॥ रुच्यनुसारेणेति

तथा वचनमित्यर्थः। ननु रुच्यनुसारेण वस्तु कथमन्यथा भवेत्। तेन मिथ्यावचनमेव केषाञ्चिद्भवितुं युक्तमित्याशङ्क्याह अतो हि भगवानिति। भगवानेव तथा रूपाणि कृतवान्। तेन न प्रमेये तथा तथावचनं दोषाय ॥२५॥

इदानीं नारायणावतारस्य दत्तस्य चरित्रे उपपत्तिमाह धर्म इति।

निबन्धः—धर्मे समाधिरुत्कृष्टो ज्ञाने साध्यं तपः परम् ॥
गुणाभिमानिज्ञानं हि खण्डे तन्मत ईश्वरः ॥ २६ ॥

प्रकाशः—"अयं हि परमो धर्मः" इति वाक्यात्पितृवृद्ध्यर्थं नारायणः समाधिं कृतवान, दत्तश्च ज्ञानावतार इति तपश्च। ननु दत्तात्रेयो न भगवदवतारो गुणाभिमानिदेवत्वाद्यथा चन्द्र इत्याशङ्क्याऽऽह गुणाभिमानिज्ञानं हीति। खण्डसिद्धान्त एव विष्णोर्गुणाभिमानित्वम्। मुख्यसिद्धान्ते तु सत्त्वेप्यऽवतार एव। यथा नराद्यवतारः-यथा मत्स्यत्वादिप्राकट्यं तथाभिमानित्वप्राकट्यमिति। तथापि सन्देहात्कथं जीवमध्ये भगवदवतार इत्याशङ्क्याह तन्मत ईश्वर इति। खण्डमते

तदुक्तमेकादशे स्कन्धे, "कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसञ्ज्ञिते"त्युपक्रम्य सर्वेषां भृग्वादीनां मनोः सकाशाद्वेदाध्ययनं वेदवेतृत्वं चोक्त्वा, अर्थकथनविषये "तेषां प्रकृतिवैचित्र्याच्छ्रुत्यर्थो वहुधोदित" इति "यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति ही"ति च। तथा च प्रमेयनिर्णये भगवत एव वाक्यं प्रमाणं नान्यस्य "किं विधत्ते किमाचष्टे" इत्यादिश्लोकत्रयेण तत्र भगवतैव तथानिर्णयस्य कृतत्वादितिभावः। तेन नेत्यादि। तथा चान्धहस्तिन्यायेन तेषां तावन्मात्रज्ञानान्न मिथ्यावादित्वं, भगवतः सर्वरूपत्वाच्च न प्रमेये विरोध इति तथा वचनं न दोषायेत्यर्थः। अत एव गीतायां "येप्यन्यदेवताभक्ता" इत्याद्युक्तम्, अतो मुख्यसिद्धान्तेनुपपत्तिलेशोपि नेतिभावः ॥ २५ ॥ इदानीमिति ऋषिस्वरूपतद्वचनविरोधपरिहारानन्तरम्। उपपत्तिमिति, धर्मोपयोगबोधिकामुपपत्तिम्। गुणाभिमानिज्ञानमिति, एते गुणाभिमानिन इति ज्ञानम्। तत्कुत्र सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाहुः खण्डसिद्धान्ते इति, ब्रह्मविष्णुरुद्रेषु चैतन्यं भिन्नमिति सिद्धान्ते। सत्त्वेपीति, अपिशब्दाद्रजस्तमसोरपि। ननु यदि चैतन्यैक्यं, तदा तत्तद्ध्याने स स एव न प्रकटीभवेत्, नियामकाभावादित्यत आहुः यथा मत्स्येत्यादि। तथा च "यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ती"ति न्यायात्प्राकट्यमिति भावनाया नियामकत्वात्तथा प्राकट्येऽपि न चैतन्यभेदापत्तिरित्यर्थः। तथापि सन्देहादिति,

वैष्णवे स एवेश्वरस्तेन न सन्देहः ॥ २६ ॥

मुख्यसिद्धान्ते अंशतोऽविभक्त इति विष्णुर्भगवानेव । तत्र हेतुः तस्य सर्वकृत्येति ।

निबन्धः—अविभक्तोंशतस्तस्य सर्वकृत्या स्वतः फलम् ॥
नांशतोऽभिमतेः पुष्टया कार्यासिद्धेर्विभागशः ॥ २७ ॥
अतः सामन्यतो वाऽत्र दोषाभावेपि सिद्धयति ॥

प्रकाशः—स एव हि सर्वं करोति । उत्पत्तिविनाशौ यथाकथञ्चिदपि भवतः । स्थितौ तु सर्वा कृतिरपेक्ष्यत इति स्वतः परमेश्वरादेव सर्वं फलं नांशतः अभिमानात् । अन्यथा तामसान्न पालयेत् । हेत्वन्तरमाह पुष्टया कार्यासिद्धेरिति ।

सोमदुर्वाससोरवतारत्वाप्रसिद्धया सन्देहात् । स एवेत्यादि, गुणाभिमान्येवेश्वर इति दत्तस्य जीवमध्ये प्राकट्येपि नावतारत्वे सन्देह इत्यर्थः ॥२६॥ नन्वेवं सति खण्डसिद्धान्तान्मुख्यसिद्धान्ते को विशेष इत्यत आहुः मुख्येत्यादि । ब्रह्मशिवौ तु विभक्तत्वादंशाविति न भगवद्रूपावित्यर्थः । नन्वेतौ विभक्तौ विष्णुरविभक्त इति कथं निश्चेयमित्याकाङ्क्षायामाहुः तत्र हेतुरित्यादि । "स एव हि सर्वं करोती"ति, "यतो वा इमानी"त्यादिश्रुत्या ईश्वर एव सर्वं करोति, अंशस्तु प्रतिनियतं कार्यम्, यथान्तर्यामी । ननु त्रयाणां प्रतिनियतकार्यकारित्वस्यैव स्मरणात् स्थितिकर्तरि विष्णावेव कथं सर्वकर्तृत्वमत आहुः उत्पत्तीत्यादि । यथाकथञ्चिदिति, अभिमानेपि । सर्वा कृतिरिति, स्थित्यर्थं त्रयीद्विषां हननं तदनुसारिणामुत्पादनं स्थापितानामभिवृद्धयर्थं तत्तदभीष्टदानमित्यादिरूपा । तथा च, यद्यभिमानी स्यात्तदा स्थापनमात्रमेव कुर्यान्न हननमुत्पादनं च, तत्करणाच्चानभिमानित्वं निश्चीयते । तेन चाविभाग इति स ईश्वर इत्यर्थः । ननु स्ववर्गपालनं स्वीयसृष्टत्वं शिवेप्यस्तीति नैकान्ततोऽनभिमानित्वं तेन निश्चेतुं शक्यमित्यत आहुः अन्यथेत्यादि । तथा च, यदि विभक्तोभिमानी स्यात्, *पारक्यपालनं न कुर्यादतस्तेषां पालनात्तद्व्यतिरेकनिश्चय इत्यर्थः । ननु तामसादिकल्पेषु शिवब्रह्मणोरपि तथात्वं स्मर्यत एवेति चेत्तत्राहुः हेत्वन्तरमाहेति । कार्यमिति । दशमस्कन्धोक्तं सविनयं भृगुस्तवनादिकार्यम् । अन्यथेति पदमत्रापि सम्बध्यते । यद्ययं तथा स्यादिदं कार्यं न कुर्यात्, तथा च, तयोः सत्त्वयोगेन परिपालकत्वेऽप्येतादृशकार्यकर्तृत्वेन भूयस्त्वपरीक्षणस्य क्वाप्यस्मरणाद्विष्णावेवानभिमानित्वस्य सत्त्वाधिक्यस्य वा निश्चय इत्ययमेव तथेत्यर्थः । ननु शिवरात्रिव्रतकथायां भिल्लमूत्रितस्य बिल्वपत्रपातस्य च शिवेनाभिषेकपूजात्वेनाङ्गीकारकथनात्तत्रापि सत्त्वाधिक्यं निर्णीयत एवेति चेन्न, तत्र लिङ्गव्यवधानेन तथाङ्गीकृतेः साक्षात्तथात्वाभावादित्याशयेन

१ अभिमानत्वात् । * "पारक्यपालनं कुर्यात्" इति शुद्धप्रतिफलके पाठः ।

पुष्टिमार्गेण कार्यं च न कुर्यात्। विभागश्च सर्वमार्गप्रवर्त्तनं न स्यात्। अतो ब्रह्मादीनां सामान्यतो वाञ्छाऽपि सिद्ध्यति। स्वत एवोत्तमत्वात्तुल्यत्वादि-दोषाभावश्च। तस्मात्सुष्ठूक्तं दत्तात्रेयस्य भगवत्त्वम् ॥ २७ ॥

ननु सोमादिषु ब्रह्मादीनां धर्मा न दृश्यन्ते उत्पत्त्यादयः। तत्कथ-मवतार इत्याशङ्क्याह भिन्ना जाता इति।

निबन्धः–भिन्ना जातास्त एवात्र भेदे कार्यस्य सम्भवात् ॥ २८ ॥
अधिकाभिमतित्यागादंशतस्ते हि जज्ञिरे ॥

प्रकाशः—त एवैते परं भिन्नप्रकारेण जाताः तत्र हेतुः, भेदे कार्यस्य सम्भवादिति। एवं प्रकारेणाऽवतारे स्वाभिप्रेतं कार्यं न सिद्ध्यति। तत्कार्यं वंशकरणम्। योगेन रक्षा। तपसा चानुग्रहनिग्रहौ। कथमेवमत आह अधिकाभिमतित्यागादिति। अंशत एव जाता इति नात्यन्तं गुणाभिमान-स्तेषु ॥ २८ ॥

एवं धर्मे परम्परोपयुक्तान्निरूप्य दक्षे साक्षाद्धर्मोपयोगं विचारयति, अत्यन्त-धार्मिको दक्ष इति।

निबन्धः–अत्यन्तं धार्मिको दक्षः पितृदेवव्रतः पुमान् ॥ २९ ॥
अभिमानी च तेनाऽस्य कन्याः षोडश ताः स्मृताः ॥

हेत्वन्तरमाहुः, विभागश इत्यादि। अन्यथेति पदमत्राप्यनुषज्यते। तयोः कार्यस्य कल्पसन्ध्यारूपोल्प एव कालस्तत्र प्रथमकाल उत्पत्तिवैयग्र्यान्न सर्वमार्गप्रवर्त्तनमिति 'एष आत्मपथोऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा, तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मायाभृतमि''त्यादिवाक्येषु नाशप्रवर्त्तनबोधकपदादिभिरवसीयते। यदि तयोस्तादृशसामर्थ्यं स्यात् स्वस्वकालेवतीर्य कुर्यातां, तदा प्रवृत्तिः स्यादेव, यद्वयमपि तथा स्यादेतत्कालेपि सा न स्यात्। अतो न विभक्त इति निश्चेयमित्यर्थः। अन्यमप्युत्कर्षगमकमाहुः, अत इत्यादि। सामान्यतो वाञ्छेति, अवतरणाद्याकाङ्क्षा। यद्युत्कृष्टो न स्यादेतदवतारादिकं तेषामाकाङ्क्षितं न स्यात् यत एवम्, अत उत्कृष्ट इत्यर्थः। एतेनान्यस्यापि सिद्धिमाहुः स्वत इत्यादि। इदं यथा तथा प्रहस्ते भिन्दिपाले च निपुणतरमुपपादितं मयेत्युपरम्यते। एवं विष्णावीश्वरत्वं साधयित्वा प्रस्तुतमाहुः तस्मादित्यादि भिन्नप्रकारेणेति गुणाभिमानं तिरोधाप्य ॥२७॥२८॥ अभिमानित्वेनेति, धर्माभिमानत्वेन। मूले, पितृदेवव्रत इति, रजोमिश्रो गृहासक्तः ॥२९–३०–३१॥

प्रकाशः—अभिमानित्वेन तामसः । तेनाऽस्य षोडशकलस्य मनोमयस्य कन्याः षोडश जाताः । पञ्चदश सगुणाः । एकाऽतिरिक्ता चेति ॥ २९ ॥

धर्माय त्रयोदशसमर्पणे हेतुमाह सर्वेष्विति ।

निबन्धः–सर्वेषु धर्मो मासेषु तज्जाता शुद्धिरेव च ॥ ३० ॥
त्रयोदश ततः कन्यास्ता धर्माय समर्पिताः ॥

प्रकाशः—कालोयं धर्मे निमित्तमिति । मासाभिमान्यः शुद्ध्यभिमानिनी चेति ताः ॥ ३० ॥

परमा सिद्धिः सत्त्वेनेति प्रार्थनाभावेपि शुद्धसत्त्वे भगवदवतारो जात इत्याह सत्त्वमूर्त्ताविति ।

निबन्धः–सत्त्वमूर्त्तौ हरेर्जन्म धर्मादाकल्परक्षणे ॥ ३१ ॥
केवलो धर्ममार्गो हि नाऽत्यन्तमुपयुज्यते ॥
इति दर्शयितुं रूपद्वयेनाविरभूद्धरिः ॥ ३२ ॥

प्रकाशः—मूर्त्तिरित्येकदेशनाम सत्यादिवत् । अवतारप्रयोजनमाकल्पान्तं रक्षणम् । अयं विशिष्टः सर्ग इति न केवलं पुष्टिरहितो धर्म उपयुज्यते अत उभयज्ञापनार्थं रूपद्वयेनाऽवतीर्ण इत्याह केवल इति ॥ ३२ ॥

स्वरूपद्वयस्वरूपमाह सर्वातिरिक्तरूपेणेति ।

निबन्धः–सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशधारकः ॥
तपोतिरिक्तकार्यं तु पूर्णे कृष्णे न चाऽन्यथा ॥ ३३ ॥

प्रकाशः– सर्वकार्यैककर्तृत्वात्सर्वरूपो नारायणः पुष्टिकार्यैककर्तृत्वादतिरिक्तोवतारः । तत्राऽधिकारमाशङ्क्य परिहरति स्वावेशधारक इति । नरस्तु तादृशमंशं

उभयज्ञापनार्थमिति. मार्गद्वयसम्बन्धिक्रियाज्ञानयोर्ज्ञापनार्थम् ॥ ३२ ॥
सर्वातिरिक्तरूपेणेति । सर्वरूपं ब्रह्माण्डात्मकप्रथमपुरुषरूपम्, अतिरिक्तमन्तर्यामिरूपम् । तथा च, सर्वसहितातिरिक्तरूपेणेत्यर्थः। नन्वे'तन्नानावताराणां बीजमि'त्युपक्रम्यावतारकथने,नरनारायणयोः कथनात् कथमतिरिक्तावतारत्वावगम इत्यत आहुः सर्वकार्यैककर्तृत्वादित्यादि । "यो वै भारतवर्षेस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् । धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तप"इतिवाक्येन सहस्रकवचवधेन च सर्वोपकारकरणादुर्वशीदानलक्षणपुष्टिकार्यकरणाच्च यथायथं सर्वरूपत्व-

विभर्ति न त्ववतार इत्यर्थः। "ताविमौ वै भगवतः" इति मूलवाक्यं कृष्णः स्वयं भगवानेतेन विरुद्ध्यत इति समाधत्ते तपोतिरिक्तकार्यं त्विति। मार्गद्वयस्थापनार्थमवतीर्णोऽपि पूर्णप्राकट्याभावे कार्यं न सेत्स्यतीति पूर्णे कृष्ण एव प्रविष्टावंशाविति मूलार्थः ॥ ३३ ॥

मतिरिक्तरूपत्वं चावगन्तव्यमित्यर्थः। नन्वत्र "मूर्त्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी, ययोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत्सुनिर्वृतमि"ति द्वयोर्जन्मोपक्रम्य परमोत्सवकथनादुभयोरवतारत्वमादरणीयं, न तु नारायण एव द्विरूपत्वम्, तथा चैकैककार्यकर्तृत्वमुभयोरुभयकर्तृत्वं वा युक्तमित्याशयेनाहुः तत्राधिकारमित्यादि। नरे तादृशकार्यकर्तृत्वयोग्यतामित्यर्थः। तादृशमिति। प्रथमपुरुषीयं धर्मरक्षोपयोगिनमंशम्। अयं भावः। "एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी"इति व"तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी" स्कं० १–३ इत्यत्रावतारद्वयानङ्गीकारान्न द्वयोः पृथगवतारत्वम्, किन्तु द्वावेकोवतार उतैकस्मिन्नावेश एक एवावतार इति वक्तव्यम्। तत्र प्रत्यक्षविरोधादत्रत्यब्रह्मादिकर्तृकस्तुता "वेतेन धर्मसदनेन ऋषिमूर्त्तिना"इत्येकवचनाद्, एकादशेपि (अ० ४) "धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्टमूर्त्यां नारायण" इत्यारभ्य "ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्त्रास विस्मित" इत्येतैर्नारायणस्यैव माहात्म्यकथनाच्च प्रथमपक्षो दुर्घट इति नारायणस्यैवावतारत्वम्, नरस्य तु तादृशांशधारकत्वमित्युभयसामञ्जस्यायाङ्गीक्रियत इति। एवमेकं विरोधं परिहृत्य विरोधान्तरं परिहर्तुमाहुः ताविमावित्यादि। तप इत्यादि। द्रोणपर्वणि भगवता, "चतुर्मूर्त्तिरहं शश्वल्लोकत्राणार्थमुद्यतः, आत्मानं प्रविभज्याहं लोकानां हितमादधे। एकमूर्त्तिस्तपश्चर्यां कुरुते मे भुवि स्थिता, अपरा पश्यति जगत्कुर्वाणं साध्वसाधुना, अपरा कुरुते कर्म मानुष्यं लोकसंस्थिता, शेते चतुर्थी च परा निद्रां वर्षसहस्रकीम्। या सा वर्षसहस्रान्ते मूर्त्तिरुत्तिष्ठते मम,वराहेभ्यो वरान्श्रेष्ठांस्तस्मै काले ददाति से"तिमूर्त्तीनां प्रतिनियतकार्यबोधनान्नारायणांशेन तन्मात्रकार्यं तप आदिकमेव कार्यम्, नत्वतिरिक्तं मुक्तिभक्त्यादिदानरूपम्, अत्र चातिरिक्तं "यत एतद्विमुच्यते" "भक्तियोगवितानार्थमि"त्यादिभिरुक्तं दर्शितं च तथेति कार्यलिङ्गकानुमानबला"त्कृष्णस्तु भगवान्स्वमि"ति वाक्यं न स्तावकमित्यर्थः। तथा सति कथं विरोधपरिहार इत्यत आहुः मार्गेत्यादि। पुष्टिमर्यादयोः स्थापनाय, यद्यपि नारायणोऽवतीर्णस्तथापि पुरुषोत्तमप्राकट्याभावे तथेत्युभयसामञ्जस्यायैतद्वाक्यमेवं व्याख्येयमित्यर्थः। * मूलयोजना तु, तौ पूर्वोक्तौ नरनारायणाविमावेतत्कल्पीयौ वै निश्चयेन कार्यबलात्, भगवतो हरेरंशौ नत्ववतारबीजपुंस एव, मूलभूते कृष्णे आगतौ प्रविष्टौ, च पुनः भुवो भारव्ययाय कृष्णौ "कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यय" इति कार्योपहिस्य तमसः कृष्णवर्णत्वेन तादृशौ सन्तौ

---

* भागवतपद्ययोजना तु।

एतस्मात् स्वाहास्वधोत्पतिं समर्थयन्नेवाग्निपित्रोस्तद्दाने हेतुमाह पितृदेवेति ।

निबन्धः–पितृदेवव्रतत्वाच्च स्वाहान्ये सर्वदेवता ॥

तथा चाग्निः पितॄणां तु नोपायस्तेन तत्तथा ॥ ३४ ॥

प्रकाशः—अन्या स्वधा ते उभे जाते इति शेषः । स्वाहाया अग्निसमर्पणे हेतुः सर्वदेवतेति । यतः स्वाहा सर्वदेवतारूपा । अग्निरपि तथा "अग्निः सर्वा देवता" इतिश्रुतेः । अतस्तस्मै सा दत्तेत्यर्थः । पितॄणामेकरूपस्याभावात्सर्वेभ्य एव सा दत्ता तुशब्देन स्वधायाः सर्वपितृरूपतया सा व्यवच्छिद्यते ॥ ३४ ॥

भवाय सत्याः समर्पणे हेतुमाह अभिमानेति ।

निबन्धः–अभिमानांशमादाय दीपकज्जलवत्परा ॥

षोडशी कन्यका जाता ब्रह्मावेत्य विचार्य च ॥ ३५ ॥

तदधिष्ठातृदेवाय दापयामास सिद्धये ॥

अभिमानेन सम्बन्धस्तेन द्वेषः प्रवर्धितः ॥ ३६ ॥

प्रकाशः—ननु धर्मिणं विहाय केवलधर्मस्यैव कथमुत्पत्तिः सम्भवतीत्यत आह दीपकज्जलवदिति । यथा तेजसः स्वतः शुद्धत्वेन स्नेहजत्वे तन्मलरूपं कज्जलं पृथक् भवति तथा वैदिककर्मणोपि सर्ववस्तुयाथात्म्यप्रकाशकस्य सदोषकर्तृकत्वेनाऽत्र तद्दोषभूतोभिमानः पृथक् जात इत्यर्थः । अत एव तस्याः स्वजनकगृहभर्तृमालिन्यहेतुत्वं

यदुकुरूद्वहौ जाताविति । तथा चोभयरूपविशिष्टो नारायणांशो भगवत्येव स्थितः । नरांशस्तु भगवति प्रविश्य ततोर्जुने प्रविष्ट इति बोध्यम् । तदुक्तं तन्त्रे, "अर्जुने तु नरावेशः कृष्णो नारायणः स्वयमि"ति श्रीधरीयात् । अत्र स्वयमित्यनेन मूलरूपमुच्यते, अवतारस्य बद्रिकाश्रमे सत्वादिति । अत्र सर्वत्र तत्तद्वाक्यबोधितकार्यलिङ्गकानुमानमेव मानमिति न कोपि चोद्यावसरः । ॥ ३३ ॥

एतदन्तं श्रीमदाचार्यैः कृता व्याख्या, एतदग्रे प्राभवीया ।+

सर्वदेवतारूपेति, सर्वदेवतायास्तादृशेत्यर्थः । तद्वदिति कज्जलवत् ॥ ३५ ॥

एवं द्वाविंशतिभिः प्रथमाध्यायो विचारितः ।

× श्रीपुरुषोत्तमचरणा इदमेवमाज्ञापयन्ति, इतोग्रे श्रीप्रभुचरणैः प्रकाशो विरचित इति ।

नाशशापकारणात्। षोडशत्वं च। तस्य अन्तभाग एवोत्पत्तेः। ब्रह्मा तस्या एवं रूपत्वं ज्ञात्वा तामसत्वेन स्वमूलकारणेऽर्पिता सती न स्वकार्यसमर्था भविष्यति स्वमूलकारणतैलार्पिततद्वद्, अन्यत्र स्थापिता तु वायूपनीततद्वत्कालवशात्सर्वत्र स्वप्रचारं करिष्यतीति विचार्य तदधिष्ठातृदेवाय शिवाय दापयामासेत्यर्थः। सिद्धये स्वरूपसिद्धय इत्यर्थः। सात्त्विकादिभ्यो दाने तामसत्वेन तस्याः स्वरूपनाश-प्रसङ्गादिति भावः। यद्वा। सिद्धिः स्वमूलरूपे लयः।

(अ० २) शिवद्वेषहेतुमाह, अभिमानेति। तस्या भिन्नत्वेन स्थितत्वात्तत्रापि तत्कार्यमिति भावः॥ ३५॥ ३६॥

नन्वत्र तत्सम्बन्धेन द्वेषो युक्तो दक्षस्य त्वभिमानस्य पृथग्भावात्कथं स इत्याशङ्क्याऽस्याप्यभिमानं सम्बन्धहेतुमाह, दुहितुरिति।

निबन्धः—दुहितुः स्मरणान्नित्यमभिमानो विवर्द्धते॥
द्वेषश्च धर्माकरणात्कर्तुश्चाऽनादराद्वहिः॥ ३७॥
उद्बोधविनिवृत्त्यर्थमदृष्ट्यै धर्मकर्मणि॥
सम्बन्धविनिवृत्त्यर्थं शापमाहाधिदैविके॥ ३८॥

प्रकाशः—अत एव द्वेषश्च। ननु शापे को हेतुस्तत्राप्येवंविधशापे को हेतुस्तत्राह धर्माकरणादिति। स्वयं वैदिकधर्माकरणात्तद्धर्मकर्तुर्दक्षस्यानादराच्चेतिहेतुद्वयं शिवनिष्ठं शापे। द्वेषस्यान्तःसत्त्वेन तस्य हविर्भागित्वे दर्शननियमेन तत्सम्भवे च वहिरपि द्वेषोद्बोधः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं धर्मरूपे कर्मणि तस्याऽदर्शनाय तादृशे कर्मणि सम्बन्धनिवारणं शापं दत्तवानित्यर्थः॥ ३७॥ ३८॥

ननु प्रभौ तूष्णीम्भूते स्वस्यापि तथैवोचितं तत्कथं नन्दिशाप इत्यत आह धर्म इति।

निबन्धः—धर्मोऽसहिष्णुस्तु नन्दिरधिदैवनिराकृतिम्॥
फलहानिमुवाचादौ साधनानामतः परम्॥ ३९॥

प्रकाशः—तुशब्देन शिवव्यवच्छेदः। शिवस्य सहिष्णुत्वेपि नन्दिनो धर्मरूपत्वेन स्वाधिदैवनिराकृतिमसहिष्णोः शापोक्तिरित्यर्थः। फलहानिस्तत्त्ववैमुख्यम्।

अतः परं नवभिर्द्वितीयाध्यायार्थं विचारयन्ति। शिवद्वेषेत्यादि। तत्रापीति शिवेपि ॥३५॥३६॥३७॥३८॥ स्वाधिदैवनिराकृतिमिति, धर्मस्य मूलं वेदः शिवस्तद्रूपो "वेदः शिवः शिवो वेद" इतिवाक्यात्। अतो धर्मनियामकत्वात्तदेवं तस्य निराकृतिमित्यर्थः।

---

१ षोडशी। २ शत।

सर्वस्यापि धर्मस्य तत्फलकत्वात्। धर्मेणाऽतथाभावेपि सत्सङ्गादिनापि कदाचिद्वैराग्यादिसाधनसम्पत्तौ तत्प्राप्तिः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमपि पृथक्साधनहानिशापः। अन्यथा साधनानां स्वतोऽपुरुषार्थत्वात्फलाभावकथनेनैव चारितार्थ्यात्तद्धानिकथनं व्यर्थं स्यात्॥ ३९॥

नन्वेवं कथं ब्राह्मणानां सर्वनाशं कृतवाँस्तत्राह दैवाभाव इति।

निबन्धः—दैवाभावे धर्महानिरित्येवं सुनिरूपितः।

सम्बन्धवारकृद्धर्मे तन्नाशासहनो भृगुः॥ ४०॥

अदृष्ट्यै धर्मरूपत्वे दर्शनात्क्षोभसम्भवः॥ ४०½॥

प्रकाशः—नन्दिना स्वयमधिकं किञ्चिन्नोक्तं किन्तु दक्षशापकृताधिदैवसम्बन्धाभावे धर्मस्य स्वत एव हीनत्वात्तत्फलाभावोप्यनुक्तसिद्ध एव स्पष्टतयोक्तोऽनेनेत्यर्थः। अत एव सुनिरूपित इत्युक्तम्। भृगुशापे हेतुमाह तन्नाशासहन इति। धर्मनाशासहन इत्यर्थः। तत्र हेतुः भृगुरिति। धर्मरूपब्रह्मशरीरत्वग्रूपत्वादिति भावः। प्रथमतो हि त्वच्येव बाह्यदुःखसम्भवः। अत एव धर्मे तत्सम्बन्धवारणकर्ता जातः। अत्र हेतुः अदृष्ट्या इति। विपरीते बाधकमाह धर्मरूपत्व इति॥ ४०½॥

पञ्चभिर्भृगूक्तार्थमनुवदति सार्धेन मुख्य इति।

निबन्धः—मुख्ये तदप्रवेशश्च तस्याधर्मत्वमेव च॥ ४१॥

अधर्मे परिनिष्ठा च तथा कापालिकावधि॥

तदुपाधेः स्वधर्मेऽस्मिन्नाधिदैवत्वमेव च॥ ४२॥

प्रकाशः—वैदिके तद्धर्मस्याऽप्रवेश उक्त इति ज्ञेयम्। चकारात्तत्कर्तॄणामपि। तस्य धर्मस्येत्यर्थः। एवकारेणेतरव्यवच्छेदः। चकारात्तेषामपि। अग्रिमचकारान्नरकोऽपि।

तत्फलकत्वादिति, तत्त्वज्ञानफलत्वात्॥ ३९॥ मूले, सम्बन्धवारकृदिति वारो वारणं, तत्कर्त्ता। धर्मरूपत्व इति, शिवभागदानस्य तथात्वे। अत्रेति शिव इत्यर्थः। ४०½॥ पञ्चभिर्भृगूक्तार्थमिति। "भवव्रते"त्यादिपञ्चश्लोकैर्भृगुणोक्तस्यार्थम्। एकेन श्लोकद्वयोक्तमर्थमुक्त्वा अर्धेन व्याख्यानभेदैस्त्रयाणामर्थं सङ्गृह्णन्ति तदुपाधेरित्यादि। तत्र हि "ब्रह्म च ब्राह्मणाँश्चे"ति श्लोके वेदनिन्दया पाषण्डित्वमुक्तम्। एष एव हीति द्वितीये भगवत्प्रमाणकस्य वेदमार्गस्य सनातनत्वमुक्तम्। तद्ब्रह्मपरममिति तृतीये च तादृशवेदमार्गगर्हणेन भूतनाथदैवत्र[1]-

---

१ तत्र।

" यत्र दैवं सुरासवम् " इत्यनेन कापालिकाद्यधित्वम्। तेषां तथात्वात्। तदुपाधिः पाषण्डत्वोपाधिः। पाषण्डत्वप्रयोजको वेदनिन्देति यावत्। यद्वा। तदुपाधेस्तेषां पाषण्डिनां स्वमते निन्द्यत्वेनाऽधर्मतावच्छेदक उपाधिर्वेदस्तस्य स्वमत आधिदैवत्यमित्यर्थः। यद्वा। तद्ब्रह्म, उपाधिः पाषण्डित्वावच्छेदको धर्मस्तन्निन्दा, तयोः समाहारस्तथा। तथा च स्वधर्मे वेदस्याधिदैवत्वम्। अस्मिन् पाषण्डधर्मे तन्निन्दायास्तथात्वं मुख्यत्वमिति। यद्वा। तत्पदेनाशौचवेदनिन्दादिकमुच्यते। तत्र स्वयं तदुक्तधर्माकरणात्तत्प्रयोजकत्वाद्दकुशरीरो वा शिव एव तस्य तथात्वमिति "दैवं वो यत्र भूतराट्" इति वाक्यात्। एवकारेणेतरव्यवच्छेदः। चाद्वक्तृत्वमपि ॥४२॥

अस्य शापस्य पूर्वस्मादाधिक्यमाह, एतस्येति

निबन्धः—एतस्य प्रतिघातस्तु न कदाचिद्भविष्यति ॥
शिवद्वेषनिवृत्त्या तु धर्मः सिद्ध्येदपि क्वचित् ॥ ४३ ॥

प्रकाशः—" ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम् " इति वाक्यादिति भावः। एतेन वेदानुसारेण भगवद्भजनं विहाय नाऽन्यमार्गे यतनीयमिति सूचितम्। ननु नन्दिनापि धर्मसम्बन्धवारणात्कथं निस्तार इत्यत आह शिवद्वेषेति। "सम्मुह्यन्तु हरद्विषः" इतिवाक्यात्तद्द्वेषयुक्तेष्वेव तस्या शापात्तन्निवृत्तौ धर्मः सिद्ध्येदित्यर्थः। अपीति सम्भावनायाम्। पूर्वोक्तवैपरीत्ये सम्भावनापि नास्तीति भावः। क्वचिदिति यदि भगवति समर्पितं भवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

पाषण्डमार्गगमनमुक्तम्। तत्र प्रथमे पाषण्डित्वप्रयोजिकाया वेदनिन्दाया वैदिकधर्मे न नियामकत्वमित्युक्तम्। तेन "गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा, माध्व्या चोन्मथितात्मान" इति पादत्रयोक्तदोषपरिहारादकिञ्चित्करत्वमुक्तमित्येकोर्थः। द्वितीयमाहुः। यद्वा, तदुपाधेरित्यादि। तथा च "युष्मन्मते गिर" इति वाक्याद्वेदो धर्मस्याधर्मतावच्छेदकः सोऽस्मन्मते तस्य धर्मतावच्छेदक इति वेदानुसरणे पूर्वोक्तदोषाऽसम्बन्धाच्छापोऽकिञ्चित्कर इत्यर्थः। अस्मिन्व्याख्याने 'एष एव हीं'ति श्लोको बीजम्। एवं व्याख्यानद्वयेन 'ब्रह्म च ब्राह्मणाँश्चे'ति श्लोकतात्पर्यमुक्तम्। अग्रिमव्याख्यानद्वयेन 'तद्ब्रह्म परमं शुद्धमि'त्यस्य तात्पर्यमाहुः यद्वा तद्ब्रह्मेत्यादि। तयोः समाहार इति, तत्सहितो धर्मस्तद्धर्म इति समासबोधितं साहित्यम्। वेदतन्निन्दयोरेककार्यान्वयाभावात्साहित्यमसङ्गतमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः यद्वा, तत्पदेनेत्यादि। स्वयमिति, नन्दी ॥ तथात्वमिति, विगर्ह्यपाषण्डं यातेति कथनात्पाषण्डाधिदैवत्वम्। वक्तृत्वमिति, पाषण्डशास्त्रवक्तृत्वम्। तेनात्रेदं सिद्धम्।

शिवस्य पूर्वज्ञानत्वेन कथं वैमनस्येन गमनमित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह द्वैतेति।

निबन्धः—द्वैतोत्पत्त्या शिवः किञ्चिद्विमना न हि पूर्ववत् ॥

अन्तरायसमुत्पत्त्या भीतास्ते कृष्णसात्कृतम् ॥ ४४ ॥

सत्रं विधाय तत्तीर्थे स्नाता निर्मलतां ययुः ॥ ४४½ ॥

प्रकाशः—पाषण्डधर्मोत्पत्त्या शिवो विमना जात इत्यर्थः। तथापि स्वस्य न काचित्क्षतिरिति किञ्चिदेव तथा। नन्वेवं सति वैमनस्यमयुक्तम्, धर्मस्यापि सत्त्वादित्यत आह न हीति। पूर्वं यथा धर्मप्रचारस्तथाग्रे न हीत्यर्थः। पाषण्डानां प्रचुरत्वादिति भावः। कालमर्यादया तथात्वे स्वस्य वैमनस्यं न स्यात् स्वनिमित्तं तथात्वे युक्तमेव तथात्वमिति हिशब्द आह। ननु नन्दिशापे सति कथं सत्रसमाप्तिरित्यत आह, अन्तरायेति। सत्रमध्य एव सत्रनाशकविघ्नोत्पत्त्या भीताः सन्त ऋपित्वेन भगवतैव निर्दोषत्वेन तत्सिद्धं ज्ञात्वा तदधीनं तत्र समर्पितं तदैकेज्यं च कृत्वेति तत्र समाप्तौ साधनमुक्तम्। तत्तीर्थे भगवत्तीर्थे, गङ्गया त्वलौकिकशरीरसम्पत्तिर्भविष्यति पूर्वदोषनिवृत्तिश्च सर्वदोषनिवर्तकचरणरजोयुक्तत्वात्। कालिन्दी पुष्टिमार्गीयेति मर्यादया तथाभावेपि पुष्ट्यैव सर्वं करिष्यतीति विचार्य तदुभयसङ्गमे स्नाता निर्मलतां ययुरित्यग्रिमधर्मसम्पत्तौ हेतुरुक्तः ॥ ४४½ ॥

(अ० ३) अतः परं तृतीयाध्यायार्थं [1]विचारयन् कर्मजनिताभिमानरूपसतीसम्बन्धप्रयुक्तत्वेन द्वेषस्य शापेन कर्मसम्बन्धाभावे च तत्प्रयुक्तद्वेषः शिवेऽसम्भावितः

शैवव्रतकर्तॄणां शैवव्रतस्य च वैदिकधर्मेष्वप्रवेशस्तत्कर्तॄणां तदनुसारिणां च पाषण्डित्वम्, अन्ते कापालिकत्वम्। न चात्र कापालिकस्यैव निन्दा न तु व्रतान्तरस्येतिवाच्यम्। "नष्टशौचा मूढधिय" इति शिवदीक्षावतां पृथक्शापवैयर्थ्यापत्तेः। तद्दीक्षारहितानामपि व्रतधारणतद्धार्यनुसरणमात्रेणापि सच्छास्त्रपरिपन्थित्वे शापान्तरं विनापि तत्सम्भवात्। तथा वेदवैदिकधर्मनिन्दाकरणेन तादृशशापभवनाद्वेदनिन्दायाः पाषण्डताजननद्वारा नरकहेतुत्वमिति। अपीति सम्भावनायामित्यादि। तथा च शिवद्वेषो न कार्य इत्येव मुख्यः पक्ष इत्यर्थः ॥ ४२॥४३॥४४½ ॥

एवं सत्रिणां नैर्मल्यकथनान्तेन द्वितीयाध्यायार्थ उक्तः।

अतः परं तृतीयाध्यायार्थंसाधिकैः सप्तभिः विचारयन्ति, अतः परमित्यादि।

---

[1] न तत्र।

दक्षेऽप्यत एवासम्भावित इत्यत्र द्वेषनिरूपणमनुपपन्नमित्याशङ्क्य शापेनेत्यादिनाऽनूद्य समाधत्ते ।

निबन्धः—शापेन धर्मसम्बन्धे वारितेपि शरीरतः ॥ ४५ ॥
सम्बन्धसत्तया द्वेषो ह्यानिमित्तं विवर्द्धते ॥
सम्बन्धस्य द्विरूपत्वादुभयोर्द्वेषसङ्कथा ॥ ४६ ॥

प्रकाशः—शरीरत इति । कारणसम्बन्धाभावेऽपि प्राचीनतत्कार्याभिमानरूपसतीशरीरस्य स्वजन्यत्वात्तत्सत्तया तत्प्रयुक्तसम्बन्धस्याऽपि सत्त्वाद् द्वेषोप्यानिमित्तं निमित्तभूतसतीशरीरं मर्यादीकृत्य विशेषेण वर्द्धत इत्यर्थः । शिवे हेतुमाह सम्बन्धस्येति ॥ ४६ ॥

ननु महद्द्वेषिणं ब्रह्मा कथमभिषिक्तवानित्याशङ्क्य तथाकरणे तस्याभिप्रायमाह अतिवृद्ध्येति ।

निबन्धः—अतिवृद्ध्या पतन् द्वेषं त्यक्ष्यतीति चतुर्मुखः ॥
मानवृद्ध्यधिकारं हि दत्तवान् धर्मनाशकम् ॥ ४७ ॥

प्रकाशः—महद्द्वेषेण पतनस्यावश्यकत्वेऽप्यतिवृद्धौ मानस्य शीघ्रं पतन् पाते तद्द्वेषस्य हेतुत्वं ज्ञात्वा तं त्यक्ष्यतीति विचार्य मानस्य वृद्धिर्यस्मात्तादृशमधिकारं दत्तवानित्यर्थः । अधिकारस्य महद्विषयत्वाद्धर्मनाशकत्वम् । तत्र तदवमाननसम्भवाच्छिवावमानकर्तुस्तादृशाधिकारो युक्त एवेति हिशब्दार्थः । तेन शिवद्वेषजपातसहायकरणं ब्रह्मण उक्तम् । अत एव दक्षप्रतीत्या मानदानं स्वाभिप्रायस्त्वेतादृश इति सर्वतोमुखमेतत्करणमिति ज्ञापनाय चतुर्मुख इत्युक्तम् ॥ ४७ ॥

तेनाभिमानोऽभूत् । कर्मणा वाजपेयेनाप्यभूत् ब्रह्मिष्ठाभिभावनेन चेत्युक्तानुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः । तत्र हेतुः वाजपेय इति ।

निबन्धः—कर्म्मणा चाऽभिमानोऽभूद्वाजपेयो यतोऽधिकः ॥
बृहस्पतिसवो मुख्यः क्रममात्रमिहोच्यते ॥ ४८ ॥
सा काष्ठा ब्राह्मणस्योक्ता चितिरङ्गमसत्रिणाम् ॥ ४८३ ॥

महद्विषयत्वादिति प्रजापतिविषयत्वात् ॥ ४७ ॥ ननु वाजपेयात् पूर्वमपि बृहस्पतिसवस्य

---

१ ष्यानिमित्तम् । २ तथा ।

प्रकाशः—सर्वेभ्यः कर्मभ्य इति शेषः । तदा बृहस्पतिसवकरणं किमर्थमित्यत आह बृहस्पतिसव इति । ब्राह्मणस्याऽयमेव मुख्य इत्येतत्करणार्थमेव तत्करणं "वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत" इति विधिवाक्यात् । एतदेवाह क्रममात्रमिति । अत्र सर्वत्र हेतुः सा काष्ठेति उत्कर्षावधिरित्यर्थः । अस्यैतादृशत्वेनैतत्करणेऽन्यस्य वाजपेयादेः करणासम्भवेन तस्य च सर्वाधिकत्वेनोच्छित्तिर्मा भूदिति पूर्वकर्तव्यत्वेन विधिरिति भावः । ननु वाजपेयेऽग्निचयनस्य च्छान्दोग्य उक्तत्वात्कथं न तत्कृतिरित्यत आह चितिरिति अस्य सत्रित्वान्न करणापेक्षेति भावः ॥ ४८½ ॥

ननु "अपहतपाप्मा स्वाध्यायः" इति श्रुतेः कथं वैदिके कर्मणि तत्राऽप्युत्कर्षकाष्ठाभूते ब्रह्मिष्ठब्राह्मणकर्तृके नाश इत्यत आह दैवादित्यादि ।

निबन्धः—दैवा"न्निर्ऋतिगृहीते देवयजने"ऽभवन्मखः ॥ ४९ ॥

तेन नाशस्ततो नाऽत्र वैदिकेऽपि हि दूषणम् ॥

प्रकाशः—"निर्ऋतिगृहीते देवयजने याजयेद्यं कामयेत निर्ऋत्याऽस्य यज्ञं ग्राहयेयमित्येतद्वै निर्ऋतिगृहीतं देवयजनं यत्सदृश्यै सत्याऋक्षं निर्ऋत्यैवाऽस्य यज्ञं ग्राहयति" इति श्रुतेस्तादृग्देवयजने मखस्य जातत्वान्नाशस्याऽऽवश्यकत्वे तन्नाशे वैदिके मार्गे न दूषणमित्यर्थः । श्रुत्युक्तत्वात्तत्प्रत्युत भूषणमितिभावः । इममेवाऽर्थं हिशब्देनाऽऽह । भृग्वादीनां सर्वज्ञत्वेन कथं तादृग्देवयजनसम्पत्तिरित्यत उक्तं दैवादिति । भगवदिच्छातो दक्षादिदुरदृष्टाद्वेत्यर्थः । एतेनाऽधिकारकर्म तादृग्देवयजनरूपं दोषत्रयमुक्तम् ॥ ४९½ ॥

ननु "तस्मिन् ब्रह्मर्षय" इत्यादिना दक्षयज्ञोत्सवनिरूपणस्य किं प्रयोजनं कथं वा पतिभक्तायाः सत्यास्तद्गमने गमनाभिलाषेत्याशङ्क्य तदभिप्रायमाह, उच्छ्रितिरिति ।

निबन्धः—उच्छ्रितिः शिवविद्विषे नेयं भवति कस्यचित् ॥ ५० ॥

अतः सा विघ्नकर्त्री हि तत्प्रारब्धविनिर्मिता ॥

अधिदेवो महादेवस्तेन वारणमुक्तवान् ॥ ५१ ॥

विहितत्वात्तन्मात्रकरणेपि काष्ठासिद्धेर्वाजपेयकरणं किमर्थमित्याशङ्कायां 'वाजपेयेनेष्ट्वे'ति-वाक्यतात्पर्यमाहुः अस्येत्यादि । अधिकारकर्मेत्यत्र दोषत्रयगणने कर्मपदेन ब्रह्मिष्ठाभिभवरूपं कर्मज्ञेयम् ॥ ४८½ ॥

प्रकाशः—अयमर्थः । "हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः" इति वाक्याच्छिवविद्वेषे सतीदृश्युन्नतिरसम्भावितेति जानन्ती तां दृष्ट्वा विघ्नकरणार्थमेव प्रवृत्तेति ज्ञापयितुं तन्निरूपणमिति तादृशुच्छ्रित्यदर्शने विघ्नमेव न कुर्यादिति भावः । पतिभक्तत्वाद्युक्तं तत्करणमिति हिशब्दार्थः । तदुन्नतौ कोपपत्तिरित्यत आह तत्प्रारब्धेति । भगवद्दत्तव्यावृत्त्यर्थं च । तथा सति तत्र विघ्नकरणमशक्यमेव स्यात् । अथवा यतः सा विघ्नकर्त्री जाता तत्तस्मात्कारणात्प्रारब्धविनिर्मितैवोच्छ्रितिर्न भगवत्कृतेत्यर्थः । ननु प्रारब्धस्य भोगैकनाश्यत्वेन तन्निर्मितायाः कथमेतन्नाश्यत्वम्, न च तत्प्रारब्धं तावदेवेति वाच्यम्, स्वकारणाभावादेव तदभावे सत्यास्तत्राऽहेतुत्वापातात्, न च कारणनाश एवाऽनया कृत इति वाच्यम् । अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः । "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते" (अ. ४-१-१९) इतितत्त्वसूत्रविरोधात् । न च द्वारत्वम् । स्वतन्त्रकर्तृत्वोक्तिविरोधात् । अग्रे च तस्य भोगकथनाच्चेति चेत्सत्यम् । नाऽत्र प्रारब्धनाश उच्यते किन्तु सर्वकर्मदहनतत्त्वज्ञानाप्रतिबद्धस्याऽपि प्रारब्धजनितभोगारम्भस्य महद्द्वेषेण प्रतिबन्धो जात इति महद्द्वेषस्याऽधिकबलत्वमिति सम्प्रदायविदः । वस्तुतस्तु महद्द्वेषेण तस्य शुभप्रारब्धमपि नष्टम् । न च तस्या अप्रयोजकत्वम् । द्वेषस्य स्वजनितत्वेन तस्मिन् फलपर्यवसायित्वकर्तृत्वादेतस्याः । न च तत्त्वसूत्रविरोधस्तयोरीदृग्भिन्नतद्विषयत्वात् । अत एव

सतीदृशीति, सति ईदृशीति पदच्छेदो बोध्यः । ननूच्छ्रितेः शिवद्वेषोत्तरकालीनत्वात्तस्मिन् सति तदसम्भवकथनमित्याशङ्क्य तत्सत्त्वेपि तद्भवनहेतुकथनाय पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि । तत्राहेतुत्वापादादिति, उन्नतिविघ्ने अहेतुत्वापातात् । कारणनाश इति प्रारब्धनाशः । अनारब्ध इत्यादि। अ० ४-१-१५ सूत्रार्थस्तु, पूर्वे पूर्वसूत्रोक्ते पुण्यपापे अनारब्धकार्ये न आरब्धं भोगायतनशरीरलक्षणं कार्यं याभ्यां तादृशे एव ज्ञानेन दह्येते, न त्वारब्धकार्ये दह्येते, ननु ज्ञानस्य सर्वकर्मनाशकत्वं पूर्वं साधितमिति तस्मिन्कथं तददाह इत्यत आह तदवधेरिति, तद् आरब्धकार्यस्य कर्मणः अदहनम्, अवधेः सर्वकारणपूर्वावधिभूताया भगवदिच्छायाः सकाशादिति, इच्छा च देहसत्तानुमेयेति । भोगेन त्विति अ० ४-१-१९ सूत्रार्थस्तु, प्रारब्धभोगेन स्थूललिङ्गशरीरे दूरीकृत्य "अथ सम्पद्यते" अलौकिकभोगेन सम्पन्नो भवतीति । तथा च ज्ञानेनापि चेन्न प्रारब्धनाशस्तदा कथमनयेत्यर्थः । महद्द्वेषस्य साम्प्रदायिकाभिमतबलापेक्षयाप्यधिकबलत्वं बोधयितुं सिद्धान्तपक्षमाहुः वस्तुत इत्यादि । ननु महद्द्वेषेण शुभप्रारब्धे नष्टे निष्प्रतिबन्धेनाशुभप्रारब्धेनैव तस्य क्लेशो भावीति तस्या न स्वातन्त्र्येणोच्छ्रितिविघ्नकर्तृत्वमित्यत आहुः न च तस्या इत्यादि । तस्मिन्निति द्वेषे । तयोरित्यादि । तत्त्वसूत्रयोर्महद्द्वेषा-

तादृक्प्रारब्धदक्षशरीरनाशोपि। अग्रिमा सम्पत्तिस्तु भगवतैव दत्ता जीवनमपि। अत एव भगवान् बादरायणो महता प्रबन्धेन तत्त्वज्ञानिनस्तूभयकर्मनाशं प्रतिपाद्याऽऽह " अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः " इति हि यस्मात्कारणात्पूर्वोक्तश्रुतिविलक्षणाऽन्यापि श्रुतिरस्ति. अतो हेतोरेकेषां पुरुषाणामुभयोः प्रारब्धाप्रारब्धयोर्नाशो भवतीत्यर्थः। श्रुतिस्तु। " तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम् " इति। स्पष्टार्थेयम्। न च काम्यकर्मविषयेयमिति वाच्यम्। "तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशाद् " (अ. ४-१-१३) इतिसूत्रेण ज्ञानप्राप्त्यन्तरं पूर्वोत्तरपापसम्बन्धाभाव-मुक्त्वा "इतरस्याऽप्येवमसंश्लेषः पाते तु" (अ. ४-१-१४) इतिसूत्रेण पुण्यस्याप्यविशेषेण तथोक्तत्वात्तत्कथनेनैव काम्यस्याऽप्युक्तत्वात्पुनस्तत्कथनमनुपपन्नमेव स्यात्। किञ्चैवं " द्विषन्तः पापकृत्याम्" इतिपदं निरर्थकं स्यात्। पापस्य काम्यस्याऽसम्भवात्। उभयशब्दस्य च व्यासजैमिनिपरत्वमसङ्गतम्। सन्निधौ जैमिनेरश्रुतत्वात्। सामान्य-शब्दस्योपस्थितार्थार्थकत्वनियमात्। न च पुण्यपापयोरमूर्त्तत्वेन यथाश्रुतार्थस्याऽ-सम्भवाद् ब्रह्मविदि सौहार्दकरणद्वेषाकरणयोरेव श्रुतेस्तात्पर्यमिति वाच्यम्। एका-दश्युपवासाशक्तस्य पत्नीकृतोपवासदानेन तत्पुण्यप्राप्तेः। पूरोश्च ययातिजराप्राप्तेः श्रवणादत्रापि तथासम्भवात्। ननु तदुद्देशेन कृतकर्मणा तस्मिन्नेव पुण्यमुत्पद्यत इति चेन्न। पुण्यदानवैयर्थ्यापातात्। जरायामेवं वक्तुमशक्यत्वाच्च। किञ्च। तदनुद्देशेनाऽपि कृतैकादशीरात्रिजागरणपुण्यलेशदानेन प्रेतत्वमुक्तिश्रवणाच्च। न चोपा-ख्यानानामयथार्थत्वम्, बाधकाभावात्। ननूक्तममूर्त्तत्वमिति चेद्। अत्रेदं विचारणीयम्।

समानाधिकरणं यदारब्धकार्यम्, कर्म तद्विषयत्वात्। किमत्र गमकमित्यपेक्षायामाहुः अत एवेत्यादि। तथा च यदि तत्त्वसूत्रयोरारब्धकार्ययावत्कर्मविषयत्वं स्याद्दक्षशरीरनाशोपि न स्यादतस्तथेत्यर्थः। नन्वेवं महद्द्वेषस्यातिबलत्वे अग्रिमा सम्पत्तिरपि न स्यादतः साम्प्रदायिकोक्तं मध्यबलत्वमेव साधीय इत्यत आहुः अग्रिमेत्यादि। ननु अग्रिमसम्पत्तेर्भगवत्कृतत्वे किं गमकमत आहुः अत एवेत्यादि। न च काम्येत्यादि। तथा च, दक्षदेहस्य नित्यकर्मसिद्धत्वान्महद्द्वेषस्य न तन्नाशकत्वम्, किन्तु, भोगप्रतिबन्धकत्वमित्येवं युक्तमित्यर्थः। तथोक्तत्वादिति,। असम्बन्ध-स्योक्तत्वात्। काम्यस्यासम्भवादिति, काम्यत्वासम्भवात्। उभयशब्दस्येति, 'अतोन्येषामि'ति सूत्रस्थोभयशब्दस्य। यथा श्रुतार्थस्येति पुण्यपापयोरन्योन्य सङ्क्रमस्य×। अयथार्थत्वमिति, असदर्थवादत्वम्। अमूर्त्तत्वमिति। बाधकमितिशेषः। भिन्नविषयत्वे विषयत्वेपि

---

१ पुस्तकान्तरेषु किञ्चेतिपदं नास्ति। × " अन्यत्र सङ्क्रमस्य " पाठः। २ अ० ४-१-१७।

लौकिकी युक्तिरलौकिकार्थनिरूपणे बाधिका न वेति। किमत्र युक्तम्,नेति, कुतः, भिन्नविषयत्वात्। अन्यथा स्वकृतकर्मणान्यस्मिन् फलभोगस्य युक्तिबाधितत्वेन तवाऽपि प्रवृत्त्यनुपपत्तिरन्योद्देशेन कर्मकरणे गयाश्राद्धादिषु च, वचनमेव तत्र साधकमिति चेत्तुल्यम्। ननु स्यादेवं यदि "सुहृदः साधुकृत्याम्" इत्यादिषु पूर्वं वाक्यार्थबोधः स्यात्। स एव न सम्भवति। अमूर्त्तत्वेनाऽयोग्यताज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वात्। अन्यथाऽनलः शीतल इत्यत्राप्यन्वयबोधः स्यात्। अतोऽन्योर्थः कल्प्यते प्रमाणवाक्यत्वादिति चेन्न, अनवबोधात्। तथा हि। न हि पित्तदूनरसनेन्द्रियस्येदं प्रथमतया सितां भक्षयतः सिता मिष्टेति वाक्येऽयोग्यताज्ञानमस्तीति तद्वाक्यं बाधितार्थं भवति। न ह्यविद्यावलिप्तबुद्धीनामनुभवादिकं ब्रह्मविदनुभूतिविषयं श्रौतमर्थं बाधितुमर्हति। अत एव "पुत्रा दायमुपयन्ति" इत्युक्त्वा तदुक्तमेतत्साम्यसूचनार्थम्। तेन महदनुग्रहादन्याप्रतिबध्यशुभफलप्राप्तिर्विनापि पुण्यम्।तद्द्वेषात्ताद्दशदुःखप्राप्तिर्विनापि पापमितिफलितम्। एवमेव दक्षेऽपि। प्रकरणार्थोऽप्यत एव सङ्गच्छते। भगवतैव धर्मसिद्धिरितिरूपस्तेन महद्द्वेषतदनुग्रहासहकृतयोरेव शुभाशुभप्रारब्धयोर्भोगैकनाश्यत्वमित्यलं विस्तरेण। अथवा, सत्या विघ्नकरणावश्यकत्वे हेतुमाह तत्प्रारब्धेति। तद्भाविविघ्नजनकं यत्प्रारब्धं तन्निर्मिता सतीत्यर्थः। पत्यर्थमेव तथा प्रवृत्तावस्थास्तेन निवारणं कुत इत्यत आह अधिदेव इति। यज्ञस्य सत्या अप्यधिदेवः शिव इत्यस्यास्तत्र गमनेऽस्या अपि नाशो यज्ञस्यापीत्युभयरक्षणार्थं निवारणमुक्तवान्, न तु कृतवान्॥५१॥

बाधकत्वाङ्गीकारे प्रतिबन्दीमाहुः अन्यथेत्यादि। अन्यथेति अमूर्तत्वस्य बाधकत्वे। वचनमिति, विधिरूपम्, तुल्यमिति, भूतार्थवादरूपवचनमत्रापि साधकम्, तस्य स्वार्थप्रामाण्यात्। नानवबोधादिति, किमत्र बोधस्याप्राप्तिरापद्यते, उत प्राप्तस्य बाधः। नाद्यः, प्रत्यक्षबाधात्। आपातबोधाभावे प्रतिबन्धकल्पनाया एवाशक्यत्वात्। द्वितीयश्चेत् तव बोधाभावो न वाक्यस्य बाधितार्थत्वं साधयितुमीष्ट इत्याशयेनाहु स्तथा हीत्यादि। बोधे गमकमाहुः, अत एवेत्यादि। तथा च, पूर्ववाक्यश्रवणोत्तरं अग्रिमवाक्ययोः क्रियाकाङ्क्षाया उपयन्तीति क्रियया पूरणे कृतेन्वयबोधसम्भवस्तदुत्तरमयोग्यताज्ञाने तस्य बाधसम्भावना, सा च वाक्यपूर्वापरभाव(विचार)दशायां वाक्यप्रमाबलादेवापयान्ती (?) विचारकाणां बोधदार्ढ्यमेवाधत्ते न तु तमपनयतीत्यर्थः। सिद्धमाहुः तेनेत्यादि, विस्तरेणेत्यन्तम्। नन्वेवं शुभे प्रारब्धे महदद्वेषेच्छाप्ययुक्तेत्याशङ्क्य तस्य द्विविधमपि प्रारब्धमस्तीति वक्तुं पक्षान्तरमाहुः अथवा सत्या इत्यादि। एवं सतीचरितादितात्पर्य्यमुक्त्वा शिववाक्यतात्पर्य्यमाहुः पत्यर्थमित्यादि, यज्ञस्य सत्या अप्यधिदेव इति 'आवोराजान मध्वरस्य रुद्रमि'ति श्रुतेरहङ्काराधिष्ठातृत्वाच्च तथेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

(अ० ४) तत्र हेतुः स्वगृह इति ।

निबन्धः-स्वगृहे मरणे तस्या द्वेषवृद्धिर्भवेत्परा ॥
उपेक्षिता ततश्चक्रे स्वकार्यं सा तु सर्वतः॥५२॥

प्रकाशः--दुःखभरेण मरणमत्राऽप्यावश्यकम् । परन्तु तत्र मृतौ वक्ष्यमाणप्रकारेण कदाचिद् द्वेषनिवृत्तिः स्यादत्र मृतौ तु मद्द्वेषान्मत्पुत्र्यपि मद्गृहमाजिगमिषतीति मारिता शिवेनेति ज्ञात्वाऽधिकमेव द्वेषं कुर्यादिति न स्थापिता। तत्रापि मरणस्यावश्यकत्वान्नानुज्ञोचितेति उपेक्षितेत्यर्थः। (अ० ३ पूर्णः-अ० ४ प्रारम्भः) तुशब्दः शिवस्य तूष्णींभावेऽपि सती न तथेति भिन्नप्रक्रमार्थः। स्वकार्यं स्वस्यैवाऽसाधारणं कार्यम्। न हि सतीशरीरनाशः शिवेन दक्षेणाऽन्येन वा कर्तुं शक्यः। न च तन्नाशं विना तद्द्वेषनाशः कदाचित्, पातिव्रत्यरक्षया पतिभक्त्या नन्दिशापसत्यत्वप्रयोजकतया च सर्वत इत्युक्तम्। जन्मान्तरेऽपि तस्यैव भजनात् । तद्द्वेषिजनितदेहस्याऽप्यनङ्गीकारादजमुखत्वप्रयोजकदक्षशिरश्छेदोपयोगित्वात् ।

देहत्यागानन्तरं तस्या गतिमाह ध्यानादिति।

निबन्धः-ध्यानात्प्रविष्टा सा पत्यौ नारदो देवगुह्यकृत् ॥
सेवकानां स्वकथनं लज्जया प्रेषणादपि ॥ ५३ ॥

प्रकाशः--(अ० ५) ननु यज्ञादिनाशकं सतीमृतिश्रावणं नारदस्याऽयुक्तमित्यत आह नारद इति। सती त्वभिमानरूपेति स्वशरीरं दग्धवती। अधुना च शिवदेहे प्रविष्टा। अत्राऽपि तथा कृतौ देवानां महदनिष्टं स्यादिति तस्मात्तदूरीकरणार्थं स्फुटमहितकरणेऽपि गुप्ततया हितं चिकीर्षुस्तथोक्तवानित्यर्थः। लज्जा पराभवेन स्वजीवनेन च। अपिशब्दाद्भयात् ॥ ५३ ॥

तत्र हेतुरिति, निवारणाकरणे हेतुः ॥ ५२ ॥

एवं उपेक्षिता तत इत्यन्तैः सप्तभिस्तृतीयाध्यार्थ उक्तः।

अतः परं "चक्रे स्वकार्यं सा तु सर्वतः। ध्यानात् प्रविष्टा सा पत्यावि"त्यन्तेनार्द्धेन चतुर्थाध्यायार्थमुक्त्वा, नारद इत्यारभ्य पादोनैर्नवभिः पञ्चमाध्यायार्थमाहुः ननु यज्ञादीत्यादि। मूले, सेवकानामिति. सम्बन्धमात्रविवक्षया तृतीयार्थे षष्ठी। सेवकैस्तदकथनमित्यर्थः। अकथने हेतुत्रयमाहुः लज्जेत्यादि ॥ ५३॥५४॥५५॥५६ ॥

तदा नारदविचारितं जातमित्याह स्वप्रविष्टेति ।

निबन्धः—स्वप्रविष्टनिराकृत्यै जटामुत्कृत्य निर्ममे ॥
वीरभद्रं द्वेषयुतमभिमानं सुदुर्जयम् ॥ ५४ ॥

प्रकाशः—अभिमानः कस्याऽप्यधो न तिष्ठतीति जटास्थ इति तस्याः कृन्तनं द्वेषयुतं कार्यसहितम् । अधिकारकर्मादिजनितदक्षाभिमानेनाऽस्याभिभवमाशङ्क्याह सुदुर्जयमिति । सुदुर्जयोऽयं तु तस्यापि तथेत्युपसर्गः ॥ ५४ ॥

तद्द्वारा यज्ञनाशने शिवे दोषमाशङ्क्य तदभावायाऽऽह दैवेति ।

निबन्धः—दैवहीनो यतो यज्ञस्ततो नष्टोऽभिमानतः ॥
तदभिव्यक्तिकर्तॄणां साधनानां तु संक्षयः ॥ ५५ ॥

प्रकाशः—यथा शिरोहीनो देहः स्वजनितकृमिभिर्विशीर्यते तथा प्रधानरूपदैवहीनो यज्ञः स्वजनिताभिमानरूपवीरभद्रेण नष्ट इत्यर्थः । तेन दक्षदोषेणैव दक्षयज्ञो नष्टो न तु शिवेनेति भावः । तादृशयज्ञाभिव्यक्तिकर्तॄणां शालापात्रादीनां तथाकरणं पुनस्तादृग्ज्ञानभिव्यञ्जनार्थम् ॥ ५५ ॥

दक्षस्यैव शिरश्छेदे हेतुमाह प्रधानत्वादिति ।

निबन्धः—प्रधानत्वाच्छिरस्तस्य छिन्नं यज्ञोऽस्य भावतः ॥
यजमानत्वमापन्नस्तेन तस्याऽपि संक्षयः ॥ ५६ ॥

प्रकाशः—हेत्वन्तरमाह यज्ञेति । "यज्ञो वै यजमानः" इति श्रुतेः । "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" इति वाक्याच्च । तस्य यज्ञविषयकरतितो यज्ञस्तत्त्वं प्राप्त इति तदच्छेदे यज्ञस्य सर्वात्मना न नाश इति तथा कृतिरित्यर्थः । फलितमाह तेनेति । तस्यापि यज्ञस्याऽपीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

सञ्ज्ञापनेनैव तन्मारणे हेतुमाह प्राणा इति ।

निबन्धः—प्राणास्तत्रैव चेल्लीना मोक्षे ब्रह्मविदो यथा ॥
तदौदनत्वमत्राऽपि तथा सञ्ज्ञपनं मतम् ॥ ५७ ॥

सञ्ज्ञपनेनेति । विशसनीयपशोरिव मुखनासामुद्रणेन । तदात्मनीति, यजमानात्मनि । तदाधेयविशेषस्येति, सञ्ज्ञपनविध्याधेयशक्तिविशेषस्य । तथेति, आधेयशक्तिरूपः । तदुक्तिरिति, दृष्टान्तोक्तिः ॥ ५७ ॥

प्रकाशः—" नाऽस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्तीहैव समवलीयन्ते प्राणाः " " ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इति श्रुत्युक्तप्रकारेण मोक्षे यथा ब्रह्मविदः प्राणा ब्रह्मण्येव लीनाश्चेत्स्युस्तदा तस्यौदनत्वम् । ×भगवद्भोजनयोग्यता भगवदन्तःप्रवेशयोग्यतेति यावत् । "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च" इतिश्रुतिरत्राऽनुसन्धेया । तथा दक्षप्राणा अपि यज्ञभावनया यज्ञभूततदात्मन्येव चेल्लीना भवन्ति तदा "यज्ञो वै विष्णुः" इतिश्रुतेर्यज्ञ एव सन् स्वाधिदेवयज्ञरूपे विष्णौ लीनः सन् पुनरुत्पत्तिशङ्कारहितो भवतीति हेतोस्तथेत्यर्थः । ननु " नास्य प्राणाः" इत्यादिश्रुतेर्ब्रह्मविदि तथात्वं युक्तमत्र तथात्वे कोपपत्तिरित्यत आह अत्रापीति । साक्षात्तादृशश्रुत्यभावेऽपि पश्वालम्भने प्रकारान्तरसम्भवेपि यत्सञ्ज्ञपनविधिरेवोक्तस्तेन तदाधेयविशेषस्यावश्यवाच्यत्वे विश्वजिन्न्यायेन तथैवान्तःश्वासतयोपरतज्ञानमार्गीयस्य ज्ञानरूपात्मनिलयं प्रसिद्धं दृष्टान्तीकृत्य कर्ममार्गीयत्वेनास्य यज्ञरूपात्मनिलय एव तथेति कर्मिणामभिमतमित्यर्थः । प्रसिद्धिनिरूपणार्थमेव पूर्वार्द्धे तदुक्तिरिति ज्ञेयम् ॥ ५७ ॥

तथापि साक्षाद्यज्ञं विहायौचारिकं किमिति कृतवानित्यत आह साक्षादिति ।

निबन्धः—साक्षाद्यज्ञशिरश्छेदो न युक्तो भगवत्त्वतः ॥
यज्ञस्य यजमानत्वात्तच्छेदो योजनं तथा ॥ ५८ ॥

प्रकाशः—अत एव यथा साक्षाद्यज्ञे तथाऽनुचितत्वेन तदतिदेशवति तथाकरणमेवं साक्षाद्यजमानशिरो योजयितुं दग्धत्वेनाशक्यत्वात् " यजमानः पशुः " इति श्रुत्या तत्त्वेनातिदिष्टपशुशिरोयोजनमित्याह योजनं तथेति ॥ ५८ ॥

ननु तदेव कुतो न रक्षितं दग्धं वेत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह ज्ञानेन्द्रियाणामिति ।

निबन्धः—ज्ञानेन्द्रियाणां सर्वेषां स्थानं मूर्धा विभागशः ॥
अदग्धे पूर्ववत्तस्य दोषः सम्भवतीति हि ॥ ५९ ॥
राक्षसानां तु तद्भागो दक्षिणाग्नौ ततोऽजुहोत् ।

प्रकाशः—तस्य ज्ञानेन्द्रियाणामेव दुष्टत्वेन शिरसश्च तदाश्रयत्वेन तददाहे तद्योजने पुनः शिवद्वेषं कुर्यादिति तदभावाय दग्धमित्यर्थः । तत्संस्कारवत्त्वेन तेषां पुनस्तथात्वं

तथा करणमिति सञ्ज्ञपनम् ॥ ५८ ॥ दग्धं वेति । कुतो न योजितमितिशेषः । ननु दग्धयोजने को दोष इत्यत आहुः तत्संस्कारेत्यादि ।

× ' भजनयोग्यता " इतिपाठः ।

युक्तमेवेति हिशब्दार्थः। दक्षिणाग्नावेव होमे हेतुमाह राक्षसानामिति। तत्पूर्वोक्तधर्मविशिष्टं शिरस्तामसत्वेन राक्षसानां भागो भवति ततो हेतो "दक्षिणेऽग्नौ जुहोति भ्रातृव्यमेव वरुणपाशेन ग्राहयतीति" "अग्नये रुद्रवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद्" इत्यादिभिश्च श्रुतिभिर्दक्षिणाग्नावेव क्रूरहोमस्योक्तत्वात्स क्रूर इति तस्मिन्नेवाऽजुहोदित्यर्थः ॥ ५९३ ॥

ननु सूचनादिदोषमात्रेण भगादीनां नेत्राद्युत्पाटनं न युक्तमित्यत आह पापसाम्येनेति।

निबन्धः—पापसाम्येन देहेषु च्छेदस्तेन पशोर्यथा ॥ ६० ॥
तथैव कृतवाँश्छेदं नाऽन्यथेत्यस्य सम्भवः ॥

प्रकाशः—"कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुस्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम्" इतिवाक्यादनुज्ञातृणामेषां नेत्रादिसूचनादीनां दक्षपापसाम्येन ऋषीणां देहेषु तथेत्यर्थः। तर्हि यथैषां नान्येन्द्रिययोजनं तथा दक्षेपि युक्तमित्यत आह पशोरित्यादि। अन्यथा अस्त्रशस्त्रादिभिर्न कृतवानिति हेतोर्दक्षस्य पुनर्जीवनमित्यर्थः। अयं भावः। यथा क्रोधभरयुक्तद्वेषेण स्वसामर्थ्यसचिवशस्त्रादिभिश्च तेषु च्छेदस्तथैव चेदस्मिन्नपि स्यात्तथैव स्यात्। किन्तु शस्त्रादिवैफल्यजविस्मयध्यानादिभिश्च रोषभरस्य क्षीणत्वेन स्वाम्याज्ञया च वधस्याऽऽवश्यकत्वेन तत्साधनं तत्कर्मानुरूपमेव ज्ञात्वा तथा कृतवानिति तत्सञ्ज्ञप्तपशूनां देहान्तरप्राप्तिवदस्यापि तथात्वमिति नन्दिशापसत्यत्वार्थमीश्वरेच्छयैव तद्वैफल्यम्। ननु वैधहिंसाया धर्मत्वेन कथं तत्प्रकारस्यैतद्वधहेतुत्वं पापवदित्यत उक्तं तेनेति, पूर्वोक्तहेतुना। पापसाम्येन। अत्र लौकिकपशुहिंसापापसाम्येनेत्यर्थः। अधिदेवरहितत्वेन तन्मखस्य वैदिकत्वाभावाल्लौकिकत्वेऽपि तत्सारूप्येण मखपदप्रयोग इति भावः॥६०३॥

अस्थित्या इति।

निबन्धः—अस्थित्यै कस्यचित्तत्र तथाऽनुपकृतिः फलम् ॥ ६१ ॥
मण्डपज्वालनस्येति गमनं कृतकृत्यता ॥

तत्साधनमिति वधसाधनम्, योजनकर्मानुरूपम्। तद्वैफल्यमिति। सञ्ज्ञपनस्य मुक्तिफलकत्वाभावः। कथमित्यस्य पापवदित्यनेन योजना, पापस्य यथा न धर्मत्वम्, तथाऽस्याप्यवैधत्वान्नेत्यर्थः। एतदेव विवृण्वन्ति पूर्वोक्तेत्यादि ॥ ६०३ ॥

एवं पादोननवभिः पञ्चमाध्यायार्थ उक्तः।

प्रकाशः—ज्वालनमिति शेषः। मुख्यं फलमाह तथेति। तत्र च्छायार्थमपि कस्याप्युपवेशने तदुपकृतिजनितधर्मोऽस्मिन्नागच्छेत्सोपि मा भूदिति मण्डपज्वालनं कृतमित्यर्थः। फलितमाह कृतकृत्यतेति। नाऽतः परमत्र कार्यमस्तीति हेतोर्गमनमित्यर्थः॥६१॥

अथ षष्ठाध्यायार्थं विचारयन् ब्रह्मण एवान्तिकगमने तेषां हेतुमाह। "गमनं बोधनं स्थानवर्णनं स्तवनं तथा। प्रार्थनं चेति पञ्चार्थाः क्रमेणैव निरूपिताः (१) त्रिभिश्चतुर्भिस्त्रिंशद्भिस्त्र्यधिकैरष्टभिस्तथा। चतुर्भिश्च क्रमेणाऽत्र तत्तात्पर्यं निरूप्यते"। (२) अपराधेपीति।

निबन्धः—अपराधेपि जनकः प्रसीदति न चेतरः॥ ६२ ॥
इति ब्रह्मसभां जग्मुर्बोधनं त्वैक्यदर्शने॥ ६२½ ॥

प्रकाश—अपराधेन तथा भूत्वाऽप्यन्यान्तिकगमनेऽन्यः कोपमेव करोति। पिता तु तथात्वेपि स्वभावादेव प्रसीदतीति हेतोस्तथेत्यर्थः। चस्त्वर्थः। बोधनप्रयोजनमाह बोधनं त्विति। ते तु पितृत्वेनाऽस्मत्पक्षपातं कृत्वा शिवे तदनुरूपं किञ्चित्करिष्यति ब्रह्मेति शिवे दोषदृष्ट्य एवाऽऽगतास्तथा सति नाऽनर्थनिवृत्तिरिति स्वस्मिन् शिवे च तेषामैक्यज्ञाननिमित्तं बोधनं कृतवानित्यर्थः॥ ६२½ ॥

तत्र गत्वा शिवं दरिद्रं दृष्ट्वाऽस्मत्कृतहविर्भागप्रतिबन्धेनाऽयमेवं जात इति गर्वेपि कृते न सम्यगिति तदैश्वर्यज्ञापनार्थं वनादिवर्णनमित्याह निर्गतित्वेति।

निबन्धः—निर्गतित्वव्युदासाय सख्युः स्वस्य च सर्वशः॥ ६३ ॥
वनादिसर्वरूपाणां वर्णनं स्तवनं तथा॥

प्रकाशः—सख्युर्धनदस्य। स्वस्य शिवस्य। आदिशब्देनाऽद्रिपुरीनदीवाप्यादय उच्यन्ते। तेषां सर्वाणि यानि रूपाणि पुष्पफलसौगन्ध्यखगमृगसुरस्त्रीविलासमुन्यादिचतुर्वर्गोपयोगीनि। तेषां तथा स्तुतिप्रयोजनमाह स्तवनमिति तथा ब्रह्मत्वनिरूपणेन तन्माहात्म्यज्ञापनार्थमित्यर्थः॥ ६३ ॥

एतच्चैकेनैव श्लोकेन निरूपितमित्यग्रिमाणां प्रयोजनमाह ब्रह्मत्वायेति।

निबन्धः—ब्रह्मत्वायोपपत्तिश्च तथैव प्रार्थनं कृतम्। ६४ ॥
यज्ञसिद्धिं चकारेशो न तथाऽभगवत्त्वतः॥

प्रकाशः—चकारात्क्रोधाभावेपि यथा सर्वकर्तृत्वेन ब्रह्मत्वं निरूपितं तथा तेनैव धर्मेणैतेष्ववयवसृष्टिमपि करोत्विति प्रार्थनमपि कृतमित्याह तथेति। देवावयवानां

अतः परं सार्द्धाभ्यां षष्ठाध्यायार्थं विचारयन्ति। मूले—ऐक्यदर्शन इति सप्तमी चतुर्थ्यर्थे। एतदिति, परमशिवत्वेन ब्रह्माभिन्नत्वम्॥ ६२॥

भगवत्सृष्टिगतत्वेनाऽलौकिकत्वात्तथैवोचितमिति भावः।

(अ. ७) न तथेति। यथा प्रार्थनं न तथेत्यर्थः। तत्र हेतुः, अभगवत्त्वत इति पूर्णभगवत्त्वाभावादित्यर्थः। तथा च संहारशक्तिमात्रवत्त्वेन तमोगुणमात्राधिकृतत्वेन च न तादृगुत्सृष्टिसामर्थ्यमितिभावः॥ ६४½॥

तर्हि प्रार्थनया भगवद्द्वारा कुतो न कृतवानित्याशङ्क्य तथाकारणे बाधकमाह, अन्यथेति।

निबन्धः—अन्यथा दण्डहानिः स्यादन्यथाकरणं स्वतः॥ ६५॥

सान्निध्ये सर्वसंसिद्धिरिति सर्वैः समागमः॥

प्रकाशः—प्रार्थनानुरूपकरणे दण्डः कृतोप्यकृत एव स्यादित्यर्थः। किञ्च। अन्येन तथाकरणे स्वस्य यथापूर्वं समाधानमुचितं न तु स्वकृत इत्याशयवानाह, अन्यथाकरणमिति। अथवा दक्षादिमूर्द्धादिच्छेदे स्वकृतस्य देवैः सह हविर्भागप्राप्तिनिषेधस्यैव हेतुत्वात्स्वकृत एव दक्षादित एवाऽन्यथाकरणमित्यर्थः। तथा च तस्य यतो न यथापूर्वविधानं ततोऽत्रापि तथा। यथोच्छिष्टदानं तथान्योच्छिष्टैरिन्द्रियैरेव तत्कार्यदानमपीतिभावः। सान्निध्य इति। वचनेनैव सर्वकार्यसिद्धावपि यज्ञसिद्ध्या फलोपधानलक्षणा सम्यक्सिद्धिः सान्निध्ये शिवादीनां भवेदिति सर्वैः शिवादिभिः सह देवयजने समागम इत्यर्थः॥ ६५½॥

दक्षस्याजमुखकरणं शिवस्याऽयुक्तमित्याशङ्क्य तस्य तात्पर्यमाहुः यजमान इति।

निबन्धः—यजमानः पशुश्चैव तौ पशुर्देवपोषणात्॥ ६६॥

सवनीयपशुर्मुख्यः शिष्टं तस्य शिरः परम्॥

अपेक्षितं तदेवाऽत्र तेन सन्धानमीरितम्॥ ६७॥

प्रकाशः—एवकारेण लौकिकपशुव्यावृत्तिः। देवपोषणस्य हेतोरविशेषात्तावुभावपि

एवं षष्ठाध्यायं विचार्य सार्द्धैर्दशभिः सप्तमाध्यायं विचारयन्ति न तथेत्यादि। पूर्णेत्यादि, स्तुत्युपक्रमे "जाने त्वामीश विश्वस्ये"त्यनेन ब्रह्मत्वमुक्त्वाऽग्रे "भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया दुरन्तयाऽस्पृष्टमतिरि"तिकथनेन तथात्वादित्यर्थः। तत्र गमकमप्याहुः तथा चेत्यादि। तथा चैतज्ज्ञापनायैवेयं कथनया विधया निरूपितेति हृदयम्। स्वकृत एवेति दक्षकृतस्य। तस्येत्यादि। दक्षादेर्यतो न प्राक्सिद्धरुद्रभागदानविधानम्। ननु

---

१ करणेऽयुक्तिम्। २ पद्यः

पशुरूपावित्यर्थः । एकवचनं त्वेकस्यैवोभयत्र प्रयोजकत्वादुक्तम् । उपनिषत्सु 'यथा पशुः परपोषक एवं यजमानोऽपि पश्वादिद्वारा देवपोषक इति यजमानः पशुः' इत्युक्तत्वादितिभावः । अत एव नाऽयुक्तमितिभावः । तत्र कस्य पशोः शिरो योजितव्यमित्याकाङ्क्षायां देवपोषणहेतुत्वेन सवनीयपशोरेव मुख्यत्वेन यजमानशिरस्त्वयोग्यत्वात्तदवयवानां च पूर्वमेव हुतत्वेन शिरोमात्रावशेषादत्र च तस्यैवापेक्षितत्वात्तस्यैव योजनमुक्तं मूल इत्याह सवनीयेतिश्लोकेन ॥ ६७ ॥

ननु मध्ये वैष्णवयागस्य किं प्रयोजनमित्यत आह यज्ञ इति ।

निबन्धः--यज्ञस्तिरोहितः सर्वो विघ्नाद्दोषात्तथा मृतेः ॥
पुनः कृतिरशक्या हि कालादेर्विनिवर्त्तितः ॥ ६८ ॥

प्रकाशः—सर्वं आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिकदैविकश्च । तत्र क्रमेण हेतुमाह विघ्नादित्यादिना । अग्निशामनादिरूपविघ्नादाद्यः । रुद्रगणस्पर्शदोषाद् द्वितीयः । यजमानमृतेस्तृतीयः । पुनस्तादृक्क्रियया यज्ञप्रादुर्भावकरणे बाधकमाह कालादेरिति । कालः प्रातःसवनादिः । आदिशब्देन प्राग्वंशादिदेशप्रोक्षितद्रव्यादय उच्यन्ते ॥ ६८ ॥

निबन्धः—तस्मादशक्यसम्प्राप्तौ वैदिकत्वप्रसिद्धये ॥
पुरोडाशं निरवपन् वैष्णवं सत्त्वमात्रतः ॥ ६९ ॥

प्रकाशः—यस्मात्साधनोच्छित्तिस्तस्मादशक्यसम्प्राप्तौ सत्यां विष्णुरेव पालकत्वेन यज्ञं पालयिष्यतीति विष्णुभजनेऽवश्यकर्त्तव्ये स्तोत्रादिना करणे चावैदिकत्वेन यागामध्यपातो भविष्यतीति स्वकृतस्य वैदिकत्वसिद्ध्यर्थं वैष्णवं पुरोडाशं निरवपन्निितिसम्बन्धः। नन्वस्य यागस्य प्रधानाङ्गत्वेनैव करणाद्यज्ञस्य सर्वात्मनाभावे कुत्राङ्गत्वमित्यत आह सत्त्वमात्रत इति । पूर्वोक्तत्रितयरूपतिरोभावेऽपि यस्यैतत्त्रितयं रूपं तस्य यज्ञस्वरूपस्य धर्मिमात्रस्य सत्तारूपेण सत्त्वात्तन्मात्राद्धेतोस्तत्करणमित्यर्थः ॥ ६९ ॥

तर्हि व्यर्थमित्यत आह विशिष्टमिति ।

देवपोषणादेव पशुत्वेभिप्रेते 'अथ योऽन्यां देवतामि'ति श्रुतौ द्विवचनमुक्तं स्यान्नत्वेकवचनमित्याकाङ्क्षायामाहुः एकवचनं त्वित्यादि । नायुक्तमिति पशुशिरोयोजनं नायुक्तम् । तस्यैवापेक्षितत्वादिति, देवपोषणस्यैवापेक्षितत्वात् ॥६७॥६८॥६९॥७०॥७१॥

निबन्धः—विशिष्टं तत्तिरोभूतं विष्णुः सर्वोपपत्तये ॥
ध्यातः सत्त्वं तिरोधाय तथा प्रादुरभूद्धरिः ॥ ७० ॥

प्रकाशः— तद्यज्ञस्वरूपं देशकालादिविशिष्टं तिरोभूतमित्यर्थः । तादृशस्यैव कार्यसाधकत्वात्तदभिव्यक्त्यर्थं करणमितिभावः । नन्वष्टभुजप्रादुर्भावस्य किं प्रयोजनमित्यत आह सर्वोपपत्तये ध्यात इति । यज्ञस्वरूपसम्पत्तिदोषाभावपालनाद्युपपत्तय इत्यर्थः । विष्णुर्हि सतो यज्ञादेः पालकः । अत्र यज्ञस्वरूपसत्तामपि विधाय स पालनीय इति द्विगुणक्रियाशक्तिप्रादुर्भाव इतिभावः । एतेन कर्मणैव फलमितिनिरस्तम् । प्रादुर्भावप्रकारमाह सत्त्वमिति । शुद्धसत्त्वं तिरोन्तरायरूपमधिष्ठानरूपमिति यावत् । तत्कृत्वा तत्र प्रादुर्भूत इत्यर्थः ॥ ७० ॥

अवतारनामाह प्रभुरूपमिति ।

निबन्धः—प्रभुरूपमिदं प्रोक्तं सर्वमेतेन सिद्ध्यति ॥
सर्वोत्तमत्वबोधाय वर्णनं स्तोत्रमेव च ॥ ७१ ॥

प्रकाशः--प्रोक्तमिति प्रमाणसूचनम् । शुद्धसत्त्वावतारगणनायां "कल्किर्धन्वन्तरिः प्रभुः" इत्युक्तत्वात् । कार्यमाह सर्वमिति । सर्वं पूर्वोक्तम् । ननु यज्ञसिद्धिमात्रस्योद्देश्यत्वात्तस्य च स्वरूपमात्रेणैव सम्भवाद्विशेषवर्णनस्तोत्रयोः किं प्रयोजनमित्यत आह सर्वेति । एवकारेण स्तोत्रस्याऽऽवश्यकतोक्ता । चकारात्प्रणामादिः । अत एव सर्वैर्न यज्ञसिद्धिरितिभावः ॥ ७१ ॥

ननु प्रधानमुख्यतयैकमेव स्तोत्रं सर्वेषामुचितं तत्कथं प्रत्येकं पृथक्स्तोत्रकरणमित्यत आह दोषहानिरिति ।

निबन्धः--दोषहानिः पृथग् वाच्या स्तोत्रभेदास्ततः स्मृताः ॥
एकोनविंशतिर्भेदाः कृष्णावतरणात्तथा ॥ ७२ ॥
मुख्यं धर्मविरुद्धं च तत्प्रतिप्रसवं विना ॥

प्रकाशः--स्तोत्रं हि स्वस्वापराधनिवृत्त्यर्थं स च प्रत्येकं भिन्न इति तन्निवृत्तिरपि तथैवेति स्तोत्रभेदोक्तिरित्यर्थः । तत्र कियन्तो भेदा इत्याकाङ्क्षायां भ्रमाभावायाह, एकोनविंशतिरिति । दक्षादिब्राह्मणान्तैरुक्तास्तावन्तः प्रकारा इत्यर्थः ॥७२॥ ननु यथा यज्ञदोषनिवृत्त्यर्थं वैदिकमेव कर्म कृतं तथा स्वस्वदोषनिवृत्त्यर्थमपि तथैवोचितं तत्सम्बन्धित्वात्सर्वेषामित्यत आह कृष्णेति । भगवत्प्राप्तौ हीतरसाधनकरणं न तु प्राप्तावपि ।

यतोऽयं कृष्णः सदानन्दरूपः। अतो यथाकथञ्चित्सम्बन्धेनैव सत्त्वेन दोषनिवर्त्तकस्यानन्दत्वेन च धर्मादिगुणसम्पादकस्यावतरणात्सेवकत्वेन च सर्वेषां स्वस्वदैन्यख्यापनेनैव दोषनिराकरणं तदपेक्षया मुख्यमित्यर्थः। स्तोत्रकरणे तूपपत्तिमुक्त्वा कर्मकरणे बाधकमाह मुख्यं धर्मविरुद्धमिति। यथा मुख्ययागनाशे "वैष्णवं त्रिकपालं निर्वपेद्" इति प्रतिप्रसवो विष्णुयागस्य, तथैतेषां दोषनाशहेतुकर्मणः प्रतिप्रसवाभावात्तदर्थं तत्करणं धर्ममार्गविरुद्धमित्यर्थः। चकाराद्भगवत्प्रादुर्भावानन्तरं तत्करणं भगवन्मार्गविरुद्धमपि ॥ ७२½ ॥

प्रकरणार्थमुपसंहरति धर्म इति।

निबन्धः--धर्मस्तस्याऽतिसंसिद्धो बोधश्चाऽपि दृढीकृतः ॥ ७३ ॥
वराद्धर्मातिसंवृद्धिः कथासिद्ध्यै सतीकथा ॥

प्रकाशः--कृष्णावतरणादेव हेतोर्दक्षस्य धर्मः सिद्ध इत्यर्थः। भगवत्कृतत्वमतिशयः। कालाद्यत्ययेपि तत्सहकृतस्य तस्य सिद्धेरायासाभावाच्च सम्यक्त्वम्। भगवद्वाक्यानां तात्पर्यमाह बोध इति। ब्रह्मविष्णुरुद्रेष्वैक्यदर्शनरूपो बोधः पूर्वसिद्ध एव भगवता दृढीकृत इत्यर्थः। तेन नाऽन्यथासिद्धिरिति भावः। "यथा शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिव" इत्यादिवाक्यैस्तद्बोधस्य धर्माङ्गत्वेन तदृढीकरणेनाऽपि धर्म एव दृढीकृत इत्यपरेर्थः, अनुक्तसर्वसमुच्चयार्थश्च। ननु भगवतैव सर्वसिद्धौ देववरस्य किं प्रयोजनमित्यत आह वरादिति। नन्दिशापेन सहजधर्मस्याऽग्रे सम्भवेन वराद्धर्मस्य शापातिक्रमेण साङ्गस्य वृद्धिर्भवतीत्यर्थः। कथेति। प्रसूतिकन्याप्रसूतिकथनप्रस्तावे सत्याः पुत्रालाभहेतुकथायाः प्रस्तुतत्वात्तन्मध्ये दक्षकथयान्तरितत्वात्पूर्वकथासिद्ध्यर्थं पुनः सतीकथेत्यर्थः ॥ ७३½ ॥

ननु पुनः शिवपत्नीत्वे गिरिदुहितृत्वे च को हेतुरित्यत आह तदर्थमिति।

निबन्धः--तदर्थे व्यक्तदेहत्वात्तामसत्वात्पुनस्तथा ॥ ७४ ॥
प्रक्रियायाः समाप्तत्वात्कीर्तनादिफलाभिधा ॥

दोषनिराकरणमिति- भगवति सर्वनियामकत्वादिज्ञानस्य योऽभावस्तन्निराकरणम् ॥ ७२ ॥ दृढीकृत इति, एकस्यैव कार्यभेदेन पाचकपाठकवत् सञ्ज्ञाभेदकथनेन रूपभेदस्य गुणकृतत्वबोधनात्। यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्पारक्यबुद्धिं कुरुते, एवं 'भूतेषु मत्पर' इति भूतेष्ववयवत्वबोधनेनाग्रिमे त्रयाणां सर्वभूतत्वकथनेन च त्रयाणां तौल्यबोधनाच्च दृढीकृत इत्यर्थः। एवं सार्द्धैर्नवभिः सप्तमाध्यायार्थ उक्तः।

प्रकाशः—शिवार्थं तथात्वात्। "यो यो यां यां तनुं भक्त" इतिन्यायेन पुनस्तत्पत्नीत्वमित्यर्थः। तामसत्वादिति हेत्वन्तरम्। तेनाद्यावुत्पत्तावपि हेतुरुक्त इतिज्ञेयम्। प्रकरणसमाप्तिज्ञापिका फलश्रुतिरित्याह प्रक्रियाया इति ॥ ७४ ॥

अतः परं पञ्चभिरध्यायैरर्थप्रकरणमुच्यत इत्याह अत इति।

निबन्धः—अतः पञ्चभिरध्यायैरर्थप्रकरणं मतम् ॥ ७५ ॥

बालस्यापि हरौ प्रीते सिद्ध्येदर्थ इति ध्रुवः ॥

प्रकाशः-केचित्तु चतुर्भिरध्यायैर्बालप्रकरणमित्याहुस्तत्पूर्वोक्तसोपपत्तिकदूषणेन नाऽस्मत्सम्मतं किन्त्वेतदितिज्ञापनाय मतमित्युक्तम्। नन्वन्यथा बालं कथं वदेद्भगवत्सरूपादितार्थानां महतां सत्त्वादित्य आह बालस्येति। अपिरसम्भावनायाम्। न हि पञ्चवार्षिकेण तादृग्रूपोऽर्थो वा साधयितुं शक्यः। हरिप्रीतेरेवार्थसाधनत्वेनोक्त्या तत्प्रयोजकतपआदिष्वपि तदेव साधनमिति सूचितम्। तथा चेतिज्ञापनाय ध्रुव उक्त इतिशेषः ॥ ७५½ ॥

तर्ह्यर्थद्वयसाधनं व्यर्थमेकेनैव चरितार्थत्वादित्यत आह अर्थस्त्विति।

निबन्धः—अर्थस्तु द्विविधस्तस्य ह्युभयोर्विषमत्वतः ॥ ७६ ॥

मातापित्रोस्ततो राज्यं ध्रुवस्थानं च कामितम् ॥

न्यायेनैकस्य सिद्धत्वान्नारदेऽन्यस्य संस्तुतिः ॥ ७७ ॥

प्रकाशः—"यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा" इत्यारभ्य "भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यम्" इत्यन्तेन मातृवाक्येनैहिकस्य पारलौकिकस्य चार्थस्य फलत्वेन श्रुतत्वात्तस्य ध्रुवस्य सम्बन्धी कामनाविषयो द्विविधोऽर्थ इत्यर्थः। तुशब्दः पूर्वपक्षव्यवच्छेदकः। तेनोभयसाधनमितिभावः। नन्वश्वमेधचित्रायागादिभिरिन्द्रपदपश्वादिवत्तपसैव तदुभयसम्भवे पित्रादित एव चैहिकसम्भवे भगवतैव कुतस्तत्करणमित्याशङ्क्य तत्र बाधकमाह, उभयोरिति। ऐहिकपारलौकिकयोरेकदैकस्मिन् विरुद्धत्वान्न तपसा तच्छक्यम्। मातापित्रोरस्मिन्विषमत्वान्न ततोपि राज्यम्। अतस्ततो भगवत एव

अतः परं सार्द्धैस्त्रिभिः द्वितीयप्रकरणेऽर्थकथनपुरःसरमध्यायान्विभजन्ते। अतः परमित्यादि। अन्यथेति,प्रकरणत्वाभावे ॥७५॥ तत्प्रयोजकेति, अर्थप्रयोजके.त्यर्थः। तर्हीति अर्थस्य प्रकरणित्वे। चारितार्थत्वादिति, प्रकरणस्यार्थीयत्वासिद्धेः। तदेति, उभयम् ॥ ७६-७७-७८½ ॥

हेतोर्मातापित्रो राज्यं निश्चलस्थानं चेत्यर्थः । तस्येत्युभयत्र सम्बद्धयते । तेनोपनयनादिसंस्काराभावेन तपस्यनधिकारात्तस्य ध्रुवस्याऽपि विषमत्वादित्यर्थः । एतदेव हिशब्देनाऽऽह । अत एव चकारादधिकारादिरपि । कामितपदेनाऽवज्ञातृतत्प्रयोजकभ्रातृनाशोपि गृह्यते, निर्गमकाले तथात्वात् । अन्यथा भगवान्न तद्दद्यादितिभावः । ननु द्वयोरर्थत्वं न सङ्गतम्, ध्रुवेण नारदे साधनप्रार्थनदशायां "पदं त्रिभुवनोत्कृष्टम्" इत्यादिनैकस्यैव स्तुतत्वादित्यत आह न्यायेनेति । एकस्य पितृराज्यस्य स्वस्य ज्येष्ठपुत्रत्वेन न्यायत एव सिद्धत्वान्न विशेषसाधनापेक्षया भगवान् दास्यति, किं तु प्रतिबन्धनिरसनेनैवेति न प्रार्थना । अन्यस्य ध्रुवस्थानस्य प्रमाणान्तरेणाऽसिद्धत्वात्तथेत्यर्थः । अथवा सत्रे कृतनारदस्तुतौ तत्पदस्यैव कथने हेतुरुक्तः ॥ ७६½ ॥

एवं प्रकरणार्थमुपपाद्याऽध्यायार्थानाह साधनेनेत्यादि ।

निबन्धः—साधनेन च साध्येन राज्ये दोषेण[1] हानतः ॥
फलेन च द्वितीये तु पञ्चाध्यायाः प्रवर्तिताः ॥ ७८ ॥

प्रकाशः—साधनं प्रथमाध्यायार्थः । चकारात्साधनसाधनमवज्ञादिः । साध्यं द्वितीयार्थो भगवत्प्रादुर्भावादिराज्यप्राप्तिरूपः । राज्ये क्रोधादिदोषनिरूपणं तृतीयार्थोऽग्रिमफलप्रयोजकः । उपदेशेन दोषत्यागश्चतुर्थार्थः । फलनिरूपणं पञ्चमार्थः । चकारान्नारदादिकृतस्तुतिरूपा कीर्तिः । एवं द्वितीयेऽर्थप्रकरणे तथेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अतः परं प्रथमाध्यायार्थं विचारयन् सर्गलीलायामेव मुक्तजीवसृष्टौ सनकादीनां निरूपितत्वात्पुनरत्रैकेन श्लोकेन तद्व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्प्रयोजनमाह धर्मस्येति ।

निबन्धः—धर्मस्यानतियुक्तत्वाद्विवेकी तत्त्यजेद्ध्रुवम् ॥
सनकादिकथा तस्माद्विसर्गे पुनरुच्यते ॥७९॥

प्रकाशः—मर्यादायां विहितत्वेन कर्तुं युक्तत्वेऽपि पुष्टिरूपपुरुषार्थलीलायामप्रयोजकत्वेनाऽनतियुक्तत्वादुक्तविवेकवानवश्यं तत्त्यजेदिति ज्ञापनार्थं तत्कथेत्यर्थः ॥ ७९ ॥

एवमर्थप्रकरणेऽध्यायान्विभज्य, तेषु प्रथमस्याष्टमाध्यायस्यार्थमष्टादशभिर्विचारयन्ति । अतः परमित्यादि । तद्व्यर्थमिति सनकादिनिरूपणं व्यर्थम् । धर्मस्येति गृहस्थधर्मस्य । तत्त्यजेदिति, गृहं त्यजेत् ॥ ७९ ॥

---

[1] राज्यदोषेण ।

विहितत्यागे प्रत्यवायाऽऽशङ्कायां नाऽयं धर्मप्रतिपक्षो मार्गः, किं त्वयमिति ज्ञापयितुमधर्मकथेत्याह प्रतिपक्ष इति।

निबन्धः—प्रतिपक्षो ह्यधर्मस्तु धर्मस्येति ततः कथा ॥
अर्थस्याऽनर्थहेतुत्वात्तत्सम्बन्धेन वर्ण्यते ॥ ८० ॥

तर्हि धर्मप्रकरण एवेदं वक्तुमुचितमित्यत आह अर्थस्येति ॥ ८० ॥

नन्वनर्थहेतुत्वे कथमर्थत्वेन निरूपणमस्मिन् प्रकरण इत्यत आह कृष्णप्रसादादिति।

निबन्धः—कृष्णप्रसादादर्थत्वं तेनाऽर्थस्याऽत्र वर्णनम् ॥
अधर्मेऽपि फलं तेन निवृत्तावुपयोगतः ॥ ८१ ॥

प्रकाशः—भगवत्प्रसादप्राप्तार्थस्यार्थत्वं तदितरस्याऽनर्थत्वमिति व्यवस्थेतिभावः। तत्र निदर्शनमाह अधर्मेऽपीति। ज्येष्ठे सति यवीयसो राज्यकरणमधर्मस्तस्मिन्नपि सत्ये तादृशं फलं सिद्धम्, तेन भगवत्प्रसादेनेत्यर्थः। अनर्थहेतावप्यर्थसाधकत्वं नाऽन्यस्येति भावः। प्रसादात्प्राप्तार्थस्यानर्थत्वाभाव उपपत्त्यन्तरमाह निवृत्ताविति। अनर्थरूपसंसारप्रवृत्तिहेतुत्वेन ह्यर्थस्यानर्थत्वं न तु स्वतः, प्रसादकृतस्य तद्विपरीतत्वेन वैराग्यहेतुत्वादर्थत्वमेवेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

ननु ज्येष्ठानुक्रमेणैव कथनमुचितम्। तत्कथं पूर्वं कनीयस इत्याशङ्क्याऽत्र हि सर्गादिलीलाः क्रमेण वाच्या न तु मनुपुत्रादिराज्यम्। तथा च यस्यां लीलायां यस्योपयोगस्तस्यां स निरूप्यत इति नोक्तदोष इत्याह प्रियव्रतस्त्विति।

निबन्धः—प्रियव्रतस्तु ज्येष्ठोऽत्र स्थाने तस्य प्रयोजनम् ॥
प्रक्रिया नास्तिकस्याऽपि ह्यष्टमे त्वस्य सम्भवः ॥८२॥
ध्रुवादयस्त्वपेक्ष्यन्ते तेनोत्तानपदन्वयः ॥

प्रकाशः—अत्र मनुवंशे स्थाने अग्रिमलीलायां तस्य प्रयोजनमस्तीति तत्रैव स निरूपणीयः। यथैतत्तथा वक्ष्यते तत्रैव। अत एवाऽत्र कस्यापि मन्वादेः प्रक्रियाक्रमेण

अयमिति, गृहानावासः। किन्त्वयमिति, किन्त्वधर्मः ससन्तानः ॥ ८० ॥ इति भाव इति, तथा चैतां व्यवस्थां बोधयितुमधर्मकथोक्तिपूर्वकमर्थप्रकरणारम्भ इत्यर्थः। ज्येष्ठ इति प्रियव्रते ॥ ८१-८२ ॥

निरूपणं मुख्यतया नास्ति, तत्र हेतुः। अष्टमे त्विति। "मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः। ऋषयोंऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते" इतिवाक्यादेतेषां मन्वन्तररूपत्वादष्टमे स्कन्धेऽस्य मन्वादेः सम्भवो वक्ष्यत इत्यर्थः। अन्यत्र यथाप्रयोजनं निरूपणान्न दोष इतिभावः। तर्ह्युत्तानपदन्वये किं प्रयोजनं तत्राह ध्रुवादय इति। भगवतः पुरुषार्थचतुष्टयसर्गरूपलीलायां यस्य योऽर्थः साधितस्तस्यापि निरूपणस्यावश्यकत्वादर्थादिपुरुषार्थानां ध्रुवपृथुप्रचेतोभ्यः प्रत्येकं साधितत्वात्तेषां चोत्तानपदन्वयस्थत्वात्तन्निरूपणमित्यर्थः ॥ ८२½ ॥

नन्तु राज्यादेरितरसमानत्वाद्भगवत्कृतत्वेन को विशेषोऽस्यार्थ इत्याकाङ्क्षायां तदर्थस्वरूपमाह, अभिमानेनेति ।

निबन्धः—अभिमानेन सुखदः पूर्वभागोऽपि यस्य हि ॥८३॥
अविद्यमानपूर्वः स्यादर्थः सोऽत्र निरूप्यते ॥
विद्यमाने तु विषये कामः सोऽग्रे विविच्यते ॥ ८४ ॥

प्रकाशः—यस्यार्थस्य पूर्वभागोपि साधनकालोपि सुखदो भगवदाविर्भावात्तत्राऽप्यनर्थसाधनेनाऽभिमानेन साधितस्तादृशो योऽर्थः सोऽत्र प्रकरणे निरूप्यत इत्यर्थः। न हि हरिकृतिं विनैवं सम्भवतीतिभावः। ननु पृथोरप्येवमेवेष्टसिद्धेः को भेद इत्यत आह अविद्यमानेति। न विद्यमानः पूर्वः स्वसजातीयो यस्य सोऽर्थः स्यादित्यर्थः। न हि ध्रुवस्थानं पूर्वं केनचित्प्राप्तमनेन ज्ञातं वा, अतस्तथात्वम्, विद्यमाने विषये यत्र सिद्धिः स काम इत्याह विद्यमाने इति। अयमेवोभयोर्भेद इतिभावः। भूमौ पूर्वमेव सिद्धानां दोहादिति। स यथा तथाऽग्रे कामप्रकरण एवोच्यत इत्याह सोऽग्र इति ॥ ८४ ॥

नन्वस्य मनुपुत्रत्वेन "मन्वन्तराणि सद्धर्मः" इतिवाक्यात्तद्रक्षार्थमेवावतारात्कथं बालावमाननम्। "बालाश्च कुलवृद्धाश्च निर्दहन्त्यवमानिताः" इति वाक्यादित्यत आह। धर्मार्थमिति।

ध्रुवपृथुप्रचेतोभ्य इति चतुर्थीविभक्तिः ॥८२½॥ को भेद इति, पार्थवादर्थात् को विशेषः। तथा चाग्रिमप्रकरणस्य भिन्नत्वं नोचितमित्यर्थः। प्राप्तं ज्ञातं वेति, एतेन मूलस्थं विद्यमानपदं "विद्लृलाभे" "विद ज्ञाने" इति धातुद्वयार्थसङ्ग्राहकमितिज्ञापितम्। तथात्वमिति, पार्थवाद्विलक्षणत्वम्। तथाचैवं पाप्ताप्राप्तादिभेदेनार्थकामयोः स्वरूपभेदात्प्रकरणभेद इत्यर्थः ॥८३–८४–८५–८६–८७–८८–८९॥

निबन्धः–धर्मार्थमवतीर्णोऽपि जड एव स्त्रिया भवेत् ॥
इत्यारुरुक्षोः पुत्रस्य नाऽभिनन्दनमीरितम् ॥८५॥

प्रकाशः—प्रकरणादावेवैतन्निरूपणेन पूर्वोक्तं निवृत्त्युपयोगित्वं समर्थितम् ॥८५॥

ननु भजनोपदेशकर्त्र्याः सुरुचेः कथं नाश इत्यत आह नाशकारणमिति।

निबन्धः–नाशकारणमस्यास्तु सापेक्षकथनं हरेः ॥
अन्यथा दूषणं नाऽस्ति न च मृत्युर्ध्रुवेष्टदः ॥८६॥

प्रकाशः–"तपसाराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे। गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम्" इति हरेरपि स्वगर्भसापेक्षत्वकथनमस्यास्तथेत्यर्थः ॥८६॥

निबन्धः–×रोदनं च मृतिश्रुत्या दुःखापारोऽत एव हि ॥
साधनं तु तदेवाऽत्र मरणं तु न मन्यते ॥ ८७ ॥
असाध्यमपि संसिद्धं ब्रह्मादीनां यतो हरेः ॥
सकामत्वाद्विध्यभावे प्रकाराज्ञानतो मृतिः ॥ ८८ ॥
विश्वासाद्भवतीत्येतन्नारदः कामवारकः ॥ ८८½ ॥

प्रकाशः– ननु भजनार्थं प्रवृत्ते ध्रुवे नारदस्य निवारणमयुक्तमित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह सकामत्वादिति, निष्कामभजने तु न विध्याद्यपेक्षा, ध्रुवस्य च सकामत्वात्तादृश-फलकामाधिकारिकतद्विधिश्रवणाभावेन तत्प्रकारस्य चाज्ञानादयथाकरणेन बालत्वाच्च मरणमेव स्यादिति ज्ञात्वागत्य नारदः कामनिवारको जात इत्यर्थः। ननु कञ्चित्कालं कृत्वा फलमप्राप्य क्लेशेन च स्वयमेव त्यक्ष्यतीति व्यर्थमिदमित्यत उक्तं विश्वासादिति। भजनेनाऽवश्यं फलमिति जनन्युक्तार्थे विश्वासादित्यर्थः। अतो न त्याग इतिभावः ॥ ८८½ ॥

तर्हि साधनान्तरं कुतो नोपदिष्टमित्यत आह साधनं त्विति।

निबन्धः–साधनं तु तदेवाऽत्र काममात्रं निवार्यते ॥ ८९ ॥
प्रतिबन्धोऽत एवाऽऽसीत्सामग्रीसाधनेऽपि हि ॥

प्रकाशः–"सर्वासामपि सिद्धीनाम्" इतिवाक्यान्नान्यदित्यर्थः। ध्यानादि-कथनमपि कामवारणार्थमेवेत्याह काममात्रमिति। "एवं भगवतो रूपम्" इतिवाक्येन "विरक्तश्चेन्द्रियरतौ" इत्यनेन ध्यानस्य पूजादिसाधनानां चोपयोगस्य

१ सापेक्ष्य। सापेक्षा। × सार्धश्लोको नास्ति ग्रन्थान्तरे।

तेनैवोक्तत्वादितिभावः ॥८९॥ ननु कोऽयं निर्बन्धोऽस्य कामवारण इत्याशङ्क्याह प्रतिबन्ध इति । सत्कामत्वादेव हेतोर्नारदेन भजनसामग्र्याः साधनेपि नारदागमनरूपः शीघ्रं भगवत्प्राप्तौ प्रतिबन्ध आसीदित्यर्थः । अयं भावः । स तदा यादृग्दैन्यभावेन चलितो यदि नारदो नागच्छेत्तदा तादृग्भावेन बालत्वेन शुद्धभावेन च सन्तुष्टः स्वयमेव भगवान् कियद्दूरे प्रकटो भवेत्तन्मिलने च प्रकारादिज्ञाने साधनदार्ढ्येन तादृग्दैन्यापचयान्नारदे तथात्वमिति । अत एव नारदः सकामत्वेनाधुना विघ्नोऽभूदग्रेपि मा भवत्विति तथोक्तवान् । अत एव निर्बन्धं दृष्ट्वा निराकृतदैत्यं सततंसन्निहितहरिं[1] च देशमुक्तवान् विघ्नाभावायेति ॥ ८९३ ॥

निबन्धः—चतुष्टयत्वसिद्ध्यर्थमर्थानां प्रेरणाद्धरेः ॥ ९० ॥
नोपदेशः फलायाऽऽसीदत्यन्ताभिनिवेशतः ॥

प्रकाशः—तर्हि नारदस्य कथमागमनमित्यत आह प्रेरणादिति । ननु तदपि कुतस्तत्राह चतुष्टयत्वेति । यदि पूर्वोक्तरीतिः स्यात्तत्रैवास्य लयः स्यात् । तथा चार्थासिद्ध्या पुरुषार्थानां त्रितयत्वमेव स्यान्न चतुष्टयत्वमतस्तेषां तथात्वसिद्ध्यर्थं तथेत्यर्थः । अस्यैव विसर्गलीलायामेवाङ्गीकारादितिभावः । ननु ध्यानादौ कृतेपि कुतो न कामनिवृत्तिरित्यत आह नोपदेश इति । फलाय परमफलाय कामनिवृत्तय इत्यर्थ ॥९०३॥

अस्य गमने भगवदिच्छां ज्ञात्वा नारदस्तत्सिद्ध्यर्थमेव राजकृतो मनुष्यप्रेषणादिना प्रतिबन्धो मा भवत्विति तन्निकटे गत इत्याह प्रतिबन्धेति ।

निबन्धः—प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं राजान्तिगमनं मुनेः ॥ ९१ ॥
वृथैव मरणं वा स्यात्साधने वार्थदुर्लभे ॥

प्रकाशः—तदवज्ञातुरपि राज्ञश्चिन्तायां हेतुमाह वृथैवेति । पुरुषार्थसाधनव्यतिरेकेणैव वृकादितस्तथा स्यात् । पुरुषार्थसाधने वाऽर्थो दुर्लभो यत्र तादृशे प्रवृत्तौ तथा स्यादिति संशयात्तथेत्यर्थः ॥ ९१३ ॥

नारदे तथात्वमिति,प्रतिबन्धकत्वम् ॥८९३॥ पूर्वोक्तरीतिरिति । निष्कामत्वदैन्यपूर्वकं भजननिर्बन्धः । अस्यैवेत्यादि एतादृशस्यैवाऽर्थस्य विसर्गलीलायामर्थत्वेन विवक्षितत्वात्तत्सिद्ध्यर्थं नारदप्रेरणमितिभावः ॥ ९०३ ॥

---

१ सन्निहितं हरिम् ।

ननु यदि प्रतिबन्धं कुर्यात्तदैव कुर्याद्विलम्बाच्च न तथेत्यवगम्यत इति व्यर्थं मुनिगमनमित्यत आह विलम्बस्त्विवति।

निबन्धः—अतश्चिन्ता विलम्बस्तु भार्यातोऽसंशयो मुनेः ॥ १२ ॥
पूर्वर्षित्वात्तपोऽत्युग्रं कामावेशात्पुनस्तथा ॥

प्रकाशः—तावत्सा निकटे स्थिता तद्धृदयश्च स इति तथेत्यर्थः। ननु राजोक्तप्रकाराणां सम्भवात्कथं नारदस्य तादृक्सान्त्वनमित्याशङ्क्य मननशीलत्वेन सर्वज्ञत्वात्तथेत्याह, असंशय इति। तर्हि पञ्चवार्षिकस्य तादृशतपःप्रकरणे कोपपत्तिरित्यत आह पूर्वर्षित्वादिति। ऋषेः कथमेवं भावस्तत्राह कामावेशादिति। पूर्वजन्मनि तपः कुर्वाण एव कञ्चन राजकुमारं दृष्ट्वा तत्स्पृहावान् जातस्ततस्तद्वासनावानेव मृत इति जन्मान्तरे ध्रुवो जात इति पुराणान्तरप्रसिद्धिः। तदिदमुक्तं कामावेशादिति च। अतः पुनरग्रिमजन्मन्यपि तथा सकाम एवेत्यर्थः ॥१२½॥

ननु ध्रुवहृदयस्थविश्वाधाररूपं देवप्रार्थितरूपं चैकमेव भिन्नं वा। आद्ये तस्यैव बहिष्ठत्वान्निरुच्छ्वासत्वं लोकानां न स्यात्। द्वितीये तयोः स्वरूपं वाच्यमित्याशङ्कायां हृदयस्थस्वरूपमाह जगदिति।

निबन्धः—जगत्कारणरूपं हि यदक्षरमुदीरितम् ॥ १३ ॥
मुख्यप्राणयुतं पूर्वमाविर्भूतं हरेः पदम् ॥

प्रकाशः—"प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत्पुरा" इत्यादिना सर्वनिर्णयप्रकरणोक्तोऽर्थोऽत्रानुसन्धेय इतिज्ञापनायोक्तमुदीरितमिति मुख्यप्राणयुतमिति। लोकप्राणनिरोधे प्रयोजनमुक्तम्, पूर्वमिति भगवदाविर्भावात्पूर्वमित्यर्थः ॥१३½॥

नन्वेवं प्रादुर्भावेऽक्षरस्य को हेतुस्तत्राह भक्तिभावेनेति।

निबन्धः—भक्तिभावेन संहृष्टः प्रादुर्भूतो भविष्यति ॥ १४ ॥
कृपया सर्वरूपेण हरिरित्यक्षरं तथा ॥
निरुच्छ्वासेन पीडाऽभूदतः सर्वशरीरिणाम् ॥ १५ ॥

प्रकाशः—प्रादुर्भावे हेतुरयम्। सर्वरूपेण प्रादुर्भावे हेतुः कृपयैव। तस्य सकामत्वादतिकृपया सर्वमस्य सम्पाद्यतामिति सर्वरूपेण हरिः प्रादुर्भूतो भविष्यतीति हेतोस्तथा पूर्वोक्तरूपेणाऽक्षरमपि प्रादुर्भूतमित्यर्थः। अत एव सर्वोपरिभागस्थलोक-

---

सर्वरूपेणेति अग्रिमारम्भे सहस्रशीर्षापि ततो गुरुत्मतेति सहस्रशीर्षपदसूचितेन तेनेत्यर्थः ॥ ९१-९२-९३-९४-९५ ॥

प्राप्तिरितिभावः। निरुच्छ्वासेति। सर्वप्राणरूपमुख्यप्राणस्य यतः कारणादन्तर्निरोधोत एव ध्रुवस्योच्छ्वासाभावेन सर्वेषां पीडाऽभूदित्यर्थः॥ ९५॥

ननु प्राणनिरोधे भगवत्प्रार्थनं कथं जातमित्यत आह अद्यापीति।

निबन्धः—अद्याऽपि भगवान्नाभूदिति सम्प्रार्थ्यते सुरैः॥
जाते गत्यादिशक्तिश्च नश्येदिति तथा वचः॥ १६॥

प्रकाशः—उक्तरूपाक्षररूपचरणप्रादुर्भावेपि सर्वात्मरूपो भगवान् प्रादुर्भूतो नाभूदिति तथा। तथा सति किं स्यात्तत्राह जात इति। तद्धृदि प्रकटे जाते इत्यर्थः। आदिपदेन सर्वेन्द्रियशक्तिर्गृह्यते। इतीरीति। इतिहेतोरेव "प्रतियात स्वधाम" इति भगवद्वचनमित्यर्थः॥ ९६॥

(अ० ९) ननु कथमत्र समाधानम्? अन्तःप्राकट्ये पूर्वोक्तदूषणात्। बहिःप्राकट्ये चाऽन्तःप्रकटाक्षररूपस्य वैयर्थ्यापातादित्यत आह बहिरिति।

निबन्धः—बहिःप्रकटनात्सर्वं साधयिष्यति वै हरिः॥
प्रसादे गरुडो नीतः कालग्रसनकारणात्॥ १७॥

प्रकाशः—बहिःप्राकट्येन ध्रुवस्योच्छ्वासादिसम्भवात्सर्वप्राणपीडापगमः। यो ह्यागच्छति स पूर्वं चरणस्थापनेनागच्छतीति तत्प्राकट्यहेतुत्वेन न तद्वैयर्थ्यम्। केवलस्य तस्यान्तरेव प्राकट्यनियमेन च तथात्वम्। ततोऽक्षरस्य बहिष्ठचरणैक्यतयाविर्भावो मुख्यप्राणस्य भगवत्स्थितजगत्प्राणरूपतयेत्येतत्सर्वपदवाच्यम्। तद्बहिःप्रकटनादेव हरिः साधयिष्यतीत्यर्थः। गरुत्मता सह गमने विशेषप्रयोजनमाह प्रसाद इति। कालरूपो हि गरुडः स चेत्तादृग्भगवत्प्रसादं तस्मिन् स्वयं पश्यति तदाऽन्ते न ग्रसतीति तन्निमित्तं स्वप्रसादसमये स नीत इत्यर्थः॥ ९७॥

आगतस्यान्तःस्फूर्तौ प्रयोजनमाह अस्फूर्ताविति।

निबन्धः—अस्फूर्तौ पूर्ववत्स्फूर्तौ विश्वनाश इति स्वयम्॥
अवेक्षारूपधृक् कृष्णस्तडिद्वद्धृदये बभौ॥ १८॥

प्रादुर्भूतो नाभूदिति। अन्तः प्रादुर्भूतो नाभूत्। तथा बहिर्भगवत्सत्तया तत्सामर्थ्येन प्रार्थनमित्यर्थः॥ ९६॥ एवं षोडशभिरष्टादशभिर्वाष्टमाध्यायो विचारितः।

अतः परं नवभिर्नवमाध्यायं विचारयन्ति। नन्वित्यादि। अत्रेति रूपभेदाङ्गीकारे। अन्तरेव प्राकट्यनियमेनेति। 'यो वेदनिहितं गुहायामि'ति श्रुतेस्तथा नियमेन॥ ९७॥

प्रकाशः—तदन्तर्भगवतोऽस्फूर्तौ सत्यां पूर्ववन्मुख्यप्राणयुतजगत्कारणरूपाक्षरस्फूर्तौ विश्वनाशः स्यादित्यर्थः। इदमत्राकूतम्। हृदि दृश्यमानरूपतिरोभावं विना न हि तस्य बाह्यानुसन्धानम्। तदर्थं च तत्तिरोभावे मुख्यप्राणस्य कारणरूपे लये जाते निरुच्छ्वासेन प्राणपीडावन्मरणमेव स्याद्विश्वस्य। इतो हेतोर्येन रूपेणेक्षयैव पालयति तद्रूपधृक् सत्तां सम्पाद्यानन्ददायकरूपो रक्षाया एव सम्पाद्यत्वात्तस्याश्च प्राकट्यमात्रेण सम्भवाच्चिरकालस्थितौ प्रयोजनाभावाच्च तडिद्वद्ध्रुवहृदये बभावित्यर्थः। एतत्स्फूर्तौ तत्प्रयत्नस्य हेतुत्वनिरासाय स्वयमिति। ततः पालकरूपसहभावेन न नाश इति भावः। पूर्ववत्स्फूर्तौ सत्यामेव पूर्वरूपस्याकस्मादस्फूर्त्ताविति वा योजना ॥९८॥

मूले दरस्पर्शस्य वाणीप्राप्तिफलकत्वकथनमुपलक्षणपरमित्याह मध्येपीति।

निबन्धः—मध्येपि जातकामानां पूरणाय दरस्पृशिः ॥
अपां तत्त्वे स्वतृप्त्यर्थमासन्यो वर्तते हरेः ॥ ९९ ॥
वेदमूलत्वतस्तस्य दरो ब्रह्ममयः स्मृतः ॥

प्रकाशः—अत एव शस्त्रास्त्रसामर्थ्यशत्रुजयादिरितिभावः। "यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ता" इतिवाक्यात्। ननु "अपां तत्त्वं दरवरम्" इतिवाक्यात्तादृशेन तेन कथं शब्दब्रह्मस्फूर्तिरित्याशङ्क्य तत्रोपपत्तिमाह अपामिति। एतादृशे तस्मिन् हरेरासन्यप्राणवायुः पूरणाद्वर्तते, स च वेदमूलहेतुरिति शब्दब्रह्ममयः स इत्यर्थः। सततं तत्स्थितिप्रयोजनं स्वतृप्त्यर्थमिति। जलेन प्राणतृप्तिः प्रसिद्धा। स्मृत इति प्रमाणं सूचितं मूले "ब्रह्ममयेन कम्बुना" इतिवाक्यात् ॥ ९९½ ॥

निबन्धः—प्रेमबोधकमन्यद्धि सर्ववेदात्मसात्कृतौ ॥ १०० ॥
यथा मतिस्तथा जाता ऋषित्वात्तु तदुद्भवः ॥

प्रकाशः—अन्यदिति दृग्भ्यां प्रपश्यन्नित्यादीत्यर्थः। ननु मन्त्रादिभ्य इव दरस्पर्शेनाऽपि शब्दमात्रमुत्पद्यते न त्वर्थज्ञानमपीत्यत आह सर्वेति। सर्ववेदमूलभगवदासन्यपूर्णत्वात्तथेति भावः॥ १०० ॥ ननु क्षत्रियस्य तत्राऽप्यकृतसंस्कारस्य तथा मतिरयुक्तेत्यत आह ऋषित्वादिति। तुशब्दः पूर्वपक्षव्यवच्छेदकः। पुष्ट्यैवास्य कार्यसिद्धेर्मर्यादामार्गीयदूषणं न दोषायेतिज्ञापकः। ऋषित्वं तत्सिद्धौ स्वरूपयोग्यतामात्रसम्पादकमितिभावः ॥ १००½ ॥

मुख्यप्राणस्येति, ध्रौवमुख्यप्राणस्य। सत्तामिति, अक्षरात्पृथग् ध्रौवमुख्यप्राणसत्ताम् ॥९८॥

तथापि स्वाधिकारानुसारेणैव स्तुतिरित्यभिप्रायेण स्तुत्यर्थमाह सर्वेश्वरत्वेति ।

निबन्धः—सर्वेश्वरत्वभजने स्तुत्या साधुनिरूपिते ॥ १०१ ॥
विसर्गार्थप्रकरणात्स्वकार्यादभिनन्दनम् ॥
पुष्टावनभिनन्दश्च प्रक्रियाभेदतो भवेत् ॥ १०२ ॥

प्रकाशः—समासात्तत्त्वेनैव भजनं च, न त्वात्मत्वेन स्वार्थमेवाविर्भूतत्वेन वा । सर्वेश्वरत्वात्तद्भजनेनैवार्थसिद्धिरिति हेतुहेतुमद्भावेन स्वोपयोगित्वेन च निरूपणात्साधुत्वम् । अत्र हेतुः विसर्गेति । यतो विसर्गलीलेयमतो भजननिरूपणम् । एतल्लीलास्थानामन्ते मुक्त्यधिकारित्वात् । अर्थप्रकरणत्वात्पूर्वस्येत्यर्थः । स एव ह्यर्थसाधकः । ननु कथमन्त्यप्रार्थनाया एवाभिनन्दनं भगवता कृतम् । "भक्तिं मुहुः प्रवहताम्" इत्यादेर्न प्रार्थनाया अविशिष्टत्वादित्याशङ्कायां भगवदभिप्रायमाह स्वकार्यादिति । भगवदभिप्रेतं कार्यं हि स्थानदानम् । तेन तस्यैवाभिनन्दनमित्यर्थः । पूर्वपदमत्राऽनुषज्यते । तथा च भक्तिमित्यादिना प्रार्थितस्याऽभिनन्दनेन तद्दाने शीघ्रं मोक्षप्रसङ्गेनाऽर्थासिद्ध्या स्वाभिप्रेतलीलैव न सिद्ध्येदितिभावः । एतदेव स्पष्टयति । पुष्टाविति । पुष्टिमार्गे इच्छाया एव बलिष्ठत्वात्प्रार्थनाविशेषेपि स्वविचारितार्थप्रार्थनस्यैवाऽभिनन्दनमन्यस्याऽनभिनन्दश्च पूर्वोक्तप्रक्रियाभेदतो भवतीत्यर्थः । अन्यत्राऽप्येवमितिज्ञापनाय भवेदित्यतिदेशः ॥ १०२ ॥

ननु एवं न्यूनतेत्याशङ्क्य परिहरति दृष्टोत्कर्ष इति ।

निबन्धः—दृष्टोत्कर्षो ध्रुवान्नास्ति मरणाद्भावितान्स्मृतिः ॥
प्रजापालनयज्ञौ हि धर्मस्तेनेह संस्मृतिः ॥ १०३ ॥

प्रकाशः—ध्रुवादन्यत्र दृष्टपदार्थेयं उत्कर्षः स नास्तीत्यर्थः, न त्वदृष्टोत्कर्षोपि । अर्थप्रकरणत्वादस्य तस्य च दृष्टार्थत्वादितिभावः । 'एतेन नाऽन्यैरधिष्ठितमि'त्यादिभगवद्वाक्यानां प्रयोजनमुक्तम् । ननु भ्रातृतन्मात्रोरेतदानुकूल्येनाऽपि स्थितिसम्भवे

स्वोपयोगिने ति, भगवदुपयोगित्वेन । अत्रेति, उक्तोपयोगित्वे । पूर्वस्येति, अर्थस्य त्रिवर्गस्य वा । स एवति भगवानेव । पूर्वपदमिति विसर्गार्थप्रकरणपदम् । प्रार्थनाविशेषेपीति, भगवदीयसङ्गप्रार्थनायामपि । प्रक्रियाभेदत इति, प्रकरणभेदात् ॥ १०२॥

कुतो भगवता तथोक्तमित्यत आह मरणादिति। ध्रुवेणातिदुःखेन तयोस्तत्स्वहृदये भावितमिति तथेत्यर्थः। तेन तद्भावितमिष्टमनिष्टनिवृत्तिं च भगवान् सम्पादितवानित्युक्तं भवति। अर्थभोगस्य भगवद्विस्मारकत्वेन प्रकृते तदभावाय तद्धेतुभूतस्वधर्मो भगवतोक्त इत्याह प्रजापालनेति। सोऽपि दृष्टफलक एवेत्याह, इहेति। अस्मिन्नेव जन्मनीत्यर्थः। 'धर्मैकान्तस्ये'तिवाक्यादर्थप्रकरणेपि धर्मकथनं युक्तम्। "धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य" इतिवचनात्तेन स्मृतिकथनं च युक्तम्। तथाह हिशब्देन। अन्यस्मरणराहित्यमेतदविच्छेदश्च सम्यक्त्वम् ॥ १०३ ॥

ननु पश्चादनुतापे को हेतुस्तथात्वे वा वैराग्यस्य सम्पन्नत्वाद् गृहे गमनं कुत इत्यत आह सिद्धेऽर्थ इति।

निबन्धः--सिद्धेऽर्थे गुरुवाक्येन भगवद्दर्शनेन च ॥

शुद्ध्या सिद्धेऽपि वैराग्ये कृष्णेच्छातो गृहं गतः ॥१०४॥

प्रकाशः—"गुरोर्मातुः आराधय" इत्यादिवाक्येन, नारदस्य वा "भगवान्वासुदेवस्तम्" इत्यादिरूपेण, अथवा नारदेनापि "जनन्याऽभिहितः पन्थाः" इत्युक्तत्वादुभयोर्वाक्यमेवेति गुर्वोर्वाक्येनेत्यर्थः। भगवद्दर्शनेन चाऽर्थे सिद्धे ताभ्यामेव हेतुभ्यान्तःकरणशुद्धिर्जातेति वैराग्यं जातम्। एतेनानुतापे हेतुरुक्तः। अत एवेच्छाज्ञानम्, तेन तथेत्यर्थः। अथवार्थे सिद्धे अर्थसिद्ध्यन्तरं पूर्वदर्शनजशुद्ध्या हृदि स्फुरितेन "दुराराध्यो मतो मम" इत्यादितद्वाक्येन भगवद्दर्शनेन च तथाविधेनेत्यग्रे पूर्ववत् ॥ १०४ ॥

गृहगमने हेत्वन्तरमाह भयादिति।

निबन्धः--भयादपि हरेस्तस्मादन्यस्याऽप्यनुपायतः ॥

आदरो दृढविश्वासे फले चोत्कर्षसूचकः ॥ १०५ ॥

प्रकाशः—प्रस्थिते त्विति "इष्ट्वा माम्" इत्याद्याज्ञोल्लङ्घने को वेद भगवान् किं कुर्यादितिभयाद् गृहं गत इतिसम्बन्धः। किं च तस्माद्भगवदुक्तप्रकारादन्यस्यैतत्कालीनत्यागस्यास्मिन् भगवत्प्राप्त्यनुपायत्वादित्यर्थः। पित्रादिद्वारा कारितादरस्य सुरुचिकृतस्य वा प्रयोजनमाह आदर इति। द्वेषिणामपि तथात्वे भगवदुक्ते विश्वासः स्यादिति तन्निमितं स निरूपित इत्यर्थः। यत्र स्वगृहगमनेऽप्येवमवान्तरं फलं तत्र परमफले भगवदुक्ते का वार्तेति तदुत्कर्षोऽप्यनेन सूचित इत्याह फल इति ॥१०५॥

पूर्वदर्शनजशुद्ध्येति, नारददर्शनजशुद्ध्या ॥१०४॥ अस्मिन्निति ध्रुवे। (नवमाध्यायः पूर्णः।)

(अ. १०) ननु भ्रातृनाशस्य भगवतैवोक्तत्वाद्वैष्णवत्वाच्च क्रोधोनुचित इत्यत आह राज्यस्येति ।

निबन्धः--राज्यस्यानर्थबोधाय क्रोधावेशो हि लौकिके ॥
भ्रातृवत्सलतासिद्ध्यै युद्धव्यसनतोऽपि हि ॥ १०६ ॥

प्रकाशः— अनर्थपदं भावप्रधानम् "एते पञ्चदशाऽनर्थाः" इत्युपपत्तिर्हिशब्देनोच्यते । ननु वैष्णवत्वात्तथाऽप्यनुचितत्वमुक्तमित्यरुच्या प्रयोजनान्तरमाह लौकिक इति । तदोपेक्षायां लोकेऽपकीर्तिर्भवेदिति लौकिके जने तथासिद्ध्यर्थमित्यर्थः । जात्यभिप्रायमेकवचनं सर्वेषामेकरूपताभिज्ञापकम् । तथापि मारणं नोचितमित्यत आह युद्धेति । सप्तव्यसनित्वाद्राज्ञ इतिभावः । एतेन दोषत्रयमुक्तम् ॥१०६॥

निबन्धः--ईशविस्मृतिरावेशादतो विप्रैर्विबोधनम् ॥
पितामहेन गर्वस्य दोषस्याऽपि निवारणम् ॥ १०७ ॥

प्रकाशः—अत एव तज्जनितमहारोगरूपादावेशात्क्रोधावेशाद्भगवद्विस्मृतिरपि । अस्य भगवदीयत्वात्तत्स्मरणेनैवाऽनर्थनिवृत्तिर्भविष्यतीति तत्सिद्ध्यर्थं विप्रवचनमित्याह अत इति ।

(अ. ११) तर्हि मनुवाक्यस्य किं प्रयोजनमित्यत आह पितामहेनेति । दोषस्य क्रोधावेशस्य । इदमत्राकूतम् । विप्रैस्तु मृत्युनिवारकत्वेनैव भगवान् स्मारितो न तु सर्वात्मत्वेन स्वप्रभुत्वेन सर्वकर्तृत्वेन वा । अतस्तथा स्मरणेन "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इतिन्यायेन तत्कालीनदुःखमेव निवृत्तं न त्वन्यत् । प्रत्युत तन्निराकरणे दोषस्यानिवृत्तत्वात् स्वसामर्थ्यस्फूर्त्या गर्वो जातः, सोप्यनेनैव निराकृत इति ॥ १०७ ॥

निबन्धः--संसारित्वादगमनं बालत्वात्तदुपेक्षणम् ॥
तज्ज्ञापनायाऽऽगमनं वरश्चैव तथोच्यते ॥ १०८ ॥

प्रकाशः—ननु "तं प्रसादय वत्स" इति श्रुत्वा तत्र गत्वा कथं न तं प्रसादितवानित्यत आह संसारित्वादिति । मानुषभावस्य सत्त्वादितिभावः । बालत्वादिति । "न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम्" इतिवाक्यात्तदपराधोपेक्षणमित्यर्थः ।

(अ. १२) तर्हि धनदागमनं कुत इत्यत आह तज्ज्ञापनायेति । तदुपेक्षाज्ञापनायेत्यर्थः । तथेति स्वप्रसादज्ञापनायेत्यर्थः ॥ १०८ ॥

एवं नवभिर्नवमाध्यायो विचारितः । सार्द्धेन दशमार्थं विचारयन्ति ननु भ्रात्रित्यादि । एकेनैकादशार्थमाहुः तर्हीत्यादि ।

ननु पूर्वमपि भक्तेः सत्त्वाद्विभ्रमनुभ्यां भगवत्स्मृतिदोपनाशयोः कृतत्वाच्च तद्द्वारेण क्रियायातमित्यत आह मारितेति।

निबन्धः—मारिताकृष्णसम्बन्धिवधाद्युद्धाच्च राक्षसाः ॥
ततो यज्ञस्मृतिध्यानगतयः परिकीर्तिताः ॥ १०९ ॥

प्रकाशः—मारितोऽकृष्णसम्बन्ध्युत्तमो यैस्तेषां यक्षाणां वधादिति योजना। अयमर्थः। भगवदीयस्य प्राणिवधमात्रमेव नोचितं तत्रापि भगवद्धेतुरहितम्। तथात्वेऽपि भगवद्भ्रूनिरीक्षणमेवोचितं न तु स्वतो युद्धमपि। भगवदिच्छाभावश्च मनुवाक्यैरवगम्यते। तथा चास्मिन्नुभयोर्जातत्वादन्तःकरणसम्बन्धिषु क्रियासम्बन्धिषु चार्थेषु रक्षःसम्बन्धो जात इति ते राक्षसा जाता इति। एवं च पूर्वोक्तभक्त्यादेर्बीजभावेन सत्त्वेपि फलपर्यवसायित्वं न भविष्यतीति पूर्वोक्तदोपनिवर्त्तिका भक्तिस्तेन दत्तेतिभावः। किञ्च, एतद्दोषनिवृत्त्यर्थमेव यज्ञादिकमपीत्याह तत इति। यज्ञैः क्रियादोषनिवृत्तिः स्मृत्या वधदोपस्य निवृत्तिः। ध्यानेन भगवत्सम्बन्धाभावजस्य। एवं मनुवाक्यैर्वरेण यज्ञादिभिश्चाधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकदोषाणां निवृत्त्या शुद्धस्य पश्चाद्गतिरुक्ता ॥ १०९ ॥

यद्यप्येवं निर्दोषस्य भक्त्या च विस्मृतप्रपञ्चस्य परममुक्तिरेव वाच्या, तथाऽप्यर्थप्रकरणे तथाकथनस्यानुपयोगात्तत्साधनानां फलोत्कर्षकारित्वमेवोक्तमित्याह फलाधिक्यमिति।

निबन्धः—फलाधिक्यमतः प्रोक्तं तथाऽत्रानुपयोगतः ॥
प्रकारोयं समीचीनो भगवत्प्रीणनाय हि ॥ ११० ॥

प्रकाशः—भगवद्दत्तलोकप्राप्तिः फलम्। सा च पूर्वशरीरत्यागपूर्विकैवान्यत्र प्रसिद्धेत्यत्रान्येभ्य आधिक्यं तदत्यागः। अत इति। यतः पूर्वोक्तरीत्या तद्देहोपि निर्दोष इतिभावः। यद्वा, ननु देहान्तरमेव कुतो नोक्तमित्यत आह तथेति। अत्र लोकान्तरप्राप्तौ तथा देहान्तरस्यानुपयोगादप्रयोजकत्वादित्यर्थः। निर्दोषत्वस्यैव प्रयोजकत्वादितिभावः। तच्चोक्तम्। प्रकरणार्थमुपसंहरंस्तत्तात्पर्यमाह प्रकारोऽयमिति। संस्कारवेदाध्ययनतदर्थविचारानन्तरकर्त्तव्ययागतपस्यादिभ्यो विषयानभिवेशदशायामेव

उपेक्षणमिति, धनदकृतमुपेक्षणम्। सार्द्धैश्चतुर्भिर्द्वादशस्यार्थमाहुः। तर्हीत्यादि ॥१०८॥ एवं चेति, सम्बन्धिदोषेण क्रियान्तःकरणयोर्दुष्टत्वे। एतेन भगवदीयस्याधर्मकरणे फलप्रतिबन्ध इति भगवदिच्छां विना तन्न कार्यमिति फलति ॥ १०९ ॥

गुरूपदेशेन क्वचिद्भगवत्सान्निध्यवद्देशे भजनं समीचीनमिति ज्ञापितमेतत्प्रकरणेनेत्यर्थः। शीघ्रप्रसादहेतुत्वरूपोपपत्तिर्हिशब्देनोच्यते ॥ ११० ॥ अत्र निदर्शनमाह यत इति।

निबन्धः—यतः सर्वनिषेधेन श्लोकानाह स नारदः ॥
सर्वथा दुर्लभा सेवेत्यतस्तस्य कथा तता ॥ १११ ।

प्रकाशः—"दृष्ट्वाऽभ्युपायानपि वेदवादिनः" इतिवाक्यात्सर्वनिषेधः। ननु प्रचेतसां सत्रे तत्कथागाने हेतुः क इत्यत आह सर्वथेति। भगवत्साक्षात्कारे जातेऽपीत्यर्थः। अत एव स नारद इत्युक्तम्। 'दुराराध्यो मतो ममे'ति येनोक्तमितिज्ञापनार्थम् ॥१११॥

(३. प्रकरणम्) अथाग्रिमप्रकरणार्थं विचारयन् तत्रान्ते मोक्षस्य निरूपितत्वान्मोक्षप्रकरणत्वमाशङ्क्याह कामेनेति।

निबन्धः—कामेन सिद्धः सर्वेषां कामस्य च स साधकः ॥
कामः सम्पादितः स्वस्य कामप्रकरणं ततः ॥ ११२ ॥

प्रकाशः—कामनयेत्यर्थः। सर्वेषामित्युभयत्र सम्बद्ध्यते। तथा च आदिमध्यावसानेषु कामस्यैव निरूपितत्वात्कामप्रकरणमेवेत्यर्थः ॥ ११२ ॥

तस्यैकादशाध्यायत्वा निरूपणे हेतुमाह, एकादशेति।

निबन्धः—एकादशेन्द्रियैः कामस्तेनाध्यायास्तथा मताः ॥
चतुर्भिश्च तथा द्वाभ्यां पञ्चभिश्च क्रमात्त्रयम् ॥ ११३ ॥

प्रकाशः—कामः सिद्ध्यतीति शेषः। अध्यायसङ्ख्ययापि कामप्रकरणत्वमेव सिद्ध्यतीतिभावः। अध्यायान् विभजते चतुर्भिरिति। सहेतुकपृथुप्रादुर्भावनिरूपणं चतुर्भिः। सर्वकामसाधनं द्वाभ्याम्। स्वकामसाधनं पञ्चभिः ॥ ११३ ॥

अध्यायार्थानाह स्वरूपेणेति।

निबन्धः—स्वरूपेण गुणैश्चापि प्रथमे भेदकद्वयम् ॥
हेतुकार्यविभेदेन राज्यान्यगुणभेदतः ॥ ११४ ॥

एवमत्र सार्द्धः षट्त्रिंशद्भिरर्थप्रकरणे निरूपितम्। द्वाभ्यां प्रकरणाभ्यां कालरूपतया द्वादशभिस्तत्त्वैर्यज्ञनिष्पत्त्या तेषामलौकिकविसर्गोपयोगो निरूपितः। अतः परमन्येषां तत्त्वादीनां प्राणमनोरूपतया यज्ञनिष्पादनेन तथात्वाय तृतीयं प्रकरणं द्विचत्वारिंशतिभिर्विचारयन्ति अथाग्रिमेत्यादि ॥ ११२ ॥

प्रकाशः—कामस्वरूपं गुणाश्च प्रथमप्रकरणस्यावान्तरप्रकरणद्वयार्थः। तावुभावपि प्रत्येकं द्विधेति चतुर्भिरध्यायैरिदं प्रकरणमुक्तम्। तद्द्वैविध्यमाह हेत्विति। कामहेतुः प्रथमाध्यायार्थो रक्षकाभावरूपः। अधर्मस्थापनरूपं कार्यं द्वितीयाध्यायार्थः। राज्यं तृतीयस्य। आविष्टगुणाश्चतुर्थस्य॥ ११४।

द्वितीयप्रकरणस्याध्यायद्वयार्थं क्रमेणाह क्रियेति।

निबन्धः—क्रियाफलविभेदेन सर्वकामे द्वयं तथा॥
शुद्धिः कृष्णप्रसादश्च स्वधर्मो ज्ञानमेव च॥ ११५॥
मोक्षश्चेति विभेदेनं स्वकामेऽध्यायपञ्चकम्॥

प्रकाशः—तृतीयाध्यायार्थान् क्रमेणाह शुद्धिरित्यादिना॥ ११५½॥

ननु कामस्य तृतीयपुरुषार्थस्य स्त्रीसम्भोगादिजसुखरूपत्वान्मोक्षस्य स्वतन्त्रत्वाच्च कामत्वमयुक्तमित्यत आह मोक्षकाम इति।

निबन्धः—मोक्षकामोऽत्र युक्तो हि सर्वकामस्तथैव हि॥ ११६॥
मोक्षप्रकरणार्थाय प्रक्रियेयमतः कृता॥

प्रकाशः—अत्र भगवच्छास्त्रे सकामभजने मोक्षकामः सर्वकामश्च पुरुषो युक्त इत्यर्थः। न तु स्त्रीकामः तस्य तुच्छत्वात्। यद्यपि भगवद्दत्तः सोपि नाऽनर्थरूपस्तथापि तदर्थं भजनं स्वस्यायुक्तमितिभावः। यत्तु द्वितीयस्कन्धे "स्त्रीकामोप्सर उर्वशीम्" इत्युक्त्वा "सर्वकामोपि पुरुषं यजेते"त्युक्तं तत्रापि भजनार्थमेव स्त्रीकामनायां तथेति शुकहृदयम्। यथा चैतत्तथा तत्रैव टीकायां निरूपितम्। अस्य च सकामत्वाद्युक्त-मिति पूर्वहिशब्दार्थः। "अकामः सर्वकामो वा" इतिश्लोकसम्मतिर्द्वितीयेन सूच्यते। प्रकरणार्थमुपसंहरति मोक्षेति, प्रचेतसां प्रश्ने कृते हीयं कथारब्धा तन्नि-रूपणार्थम्। तेषां च भक्तिमार्गीयमुक्तेर्वक्तव्यत्वान्मोक्षप्रकरणनिमित्तमेवेयं शुद्ध्यादि-प्रक्रिया कृतेत्यर्थः। तर्हि मोक्षप्रकरणत्वमेवास्यापि न कुत इति चेन्न पृथुभक्तेर्ज्ञान-साधनत्वेनैवोक्तत्वात्तेन च मुक्तिनिरूपणात्तत्र चाऽस्य सकामत्वाद्भक्तिमार्गीयतद्वि-लक्षणत्वाच्च। एतदेवाह, अत इत्यनेन। यतः पृथुः सर्वकामो मोक्षकामश्चातस्त-त्प्रकरणनिरूपणार्थमेवेयं प्रक्रिया कृतेति ज्ञायते, न तु तत्प्रकरणमेवेत्यर्थः॥ ११६½॥

कामहेतुरिति, कामनाप्रयोजको हेतुः। कार्यमिति, तस्य साक्षात्कार्यम्॥ ११४॥ तर्हीति, वक्ष्यमाणप्रकरणोपोद्घातरूपत्वे। तत्र चास्य सकामत्वादिति, ज्ञानसाध्ये मोक्षेऽस्य सकामत्वात्। तद्विलक्षणादिति। अधिकारिविलक्षणत्वात्। एवं सार्द्धैश्चतुर्भिः प्रकरणार्थो निर्णीतः॥ ११६½॥

(अ० १३) एवं प्रकरणार्थमुपपाद्य प्रथमाध्यायार्थं विचारयति साधितेति ।

निबन्धः—साधिता कृष्णभक्तिर्हि पुत्रे वंशेऽथवा फलेत् ॥ ११७ ॥
नोपक्षीणा गौणफलादिति तद्वंशवर्णनम् ॥

प्रकाशः—ननु ध्रुववंशवर्णनं कुतः । न च कस्याऽन्वयाय इति प्रश्नाद् ध्रुववंश इत्येतावतैव तत्पूर्त्तिसम्भवात् । न च पुरुषार्थलीलाया निरूप्यत्वात्कामनिरूपणार्थम् । तथापि तद्वैय्यर्थ्यात्तस्य पृथुमात्रचरितनिरूप्यत्वादित्यत आह साधितेति । कृष्णपदेन भक्तिमार्गीया भक्तिः सूचिता । तस्या मुख्यं हि फलं पुरुषोत्तमस्वरूपमेव तद्भक्त्यनुवृत्तिश्च । तेन ब्रह्मानन्दान्तमपि फलं तस्या गौणमेव । अतो गौणं फलं साधयित्वापि मुख्ये कुण्ठितशक्तिर्न भवतीति ज्ञापनार्थं ध्रुववंशवर्णनमित्यर्थः । एतेन ध्रुवभक्त्यैव तुष्टो भगवान् प्रचेतस्सु मुख्यं पृथ्वादिषु च गौणं फलं साधितवानिति सूचितम् । अन्यथा कथमकस्मात्तादृगुपदेशं शिवः कुर्यादिति ॥ ११७½ ॥

ननु ज्येष्ठकनिष्ठयोर्वैराग्ये को हेतुस्तत्राह कल्पेति ।

निबन्धः—कल्पोत्कलौ तस्य पुत्रौ पूर्वपश्चाद्विभेदतः ॥ ११८ ॥
मुक्तौ तस्मात्तृतीयस्य राज्यमङ्गस्तु सप्तमः ॥

प्रकाशः—वरं प्राप्यागतस्य पूर्वानुतापेन विरक्तत्वात्तद्दशायामुत्पन्नः कल्पोऽपि तथैवाऽभूत् । राज्यभोगानन्तरजातवैराग्यदशायामुत्कल इति सोपि तथा । अत उभावपि मुक्तौ जातौ एतदेवाह पूर्वपश्चाद्विभेदत इति । मध्ये रागदशायामुत्पन्नो वत्सर इति तस्यैव राज्यम् । ननु कथमन्येषां निर्दोषत्वमङ्गस्य च सदोषत्वमित्याशङ्क्य भगवत ऐश्वर्यादिगुणा यथासङ्ख्यं तेषु स्थिता इति तद्रक्षया तेषां निर्दोषत्वम् । अङ्गस्तु सप्तम इति तद्रक्षाभावात्सदोषत्वमित्याशयवानाह, अङ्गस्त्विति । अत एवाऽग्रे दोषनिवृत्तिपूर्वकं स्वरूपेणैव भगवान् रक्षिष्यतीतिभावः ॥ ११८½ ॥

ननु तिग्मकेतुप्रभृतीनां वंशाः कुतो नोक्ता इत्याशङ्क्याऽस्य कामप्रकरणत्वात्तद्वंशे च केषाञ्चिद्देवत्वेन केषाञ्चिन्मुक्तिमार्गीयत्वेनाऽत्रानुपयोगान्न निरूपिता इत्याह, अन्येति ।

निबन्धः—अन्यवंशास्तु नात्रोक्ता देवमुक्तिविभेदतः ॥ ११९ ॥
पूर्वत्राऽधर्मकरणप्रमादादङ्गकर्तृकम् ॥

अतःपरं त्रयोदशाध्यायमष्टभिर्विचारयन्ति एवमित्यादि तद्रक्षयेति । भगवद्गुणकृतया रक्षया ।

प्रकाशः— तर्ह्युद्देशो व्यर्थ इति चेन्मैवम्, कालचक्राधिष्ठातृध्रुवात्मजो हि वत्सरात्मक एव, स च दक्षिणायनोत्तरायणाद्यवयवभेदेन कश्चन कालो मुक्त्युपयोगी कश्चन कर्मोपयोगीतितदवयवदेवतारूपा एवैत इतिज्ञापनार्थत्वात्। तेन तस्य वत्सरात्मकत्वं समर्थितं भवति॥११९॥अङ्गकृताधर्मस्वरूपमाह पूर्वत्रेति। यथाकालं धर्मकरणाभाव-लक्षणोऽधर्मो जातस्तत्र हेतुः प्रमादः। तेन स्वभावतस्तु धार्मिक इतिसूचितम्। पूर्वजकृतस्यास्मिन् प्रतिफलनमाशङ्क्याङ्गकृतंकमित्युक्तम्। अत एव तद्दोपरूपस्य वेनस्य 'न होतव्यम्' इत्याद्युद्घोप इतिभावः॥ ११९½ ॥

तत्कार्यमाह येनेति।

निबन्धः—येनाऽधर्मेण सम्बन्धो रुचिः सम्बन्ध एव च ॥१२०॥
वंशस्य धर्ममूलत्वात्पुत्रो नाऽभूत्स्वभावतः ॥

प्रकाशः—अधर्मेण मृत्युना सह सम्बन्धः। अधर्मरूपायामेव तत्पुत्र्यां रुचिस्त-त्सम्बन्धश्च तत्सम्बन्धे वा रुचिरित्यर्थः। अरुचिरिति वा। देवतानामिति शेषः॥१२०॥ तस्या दोषज्ञानेनाङ्गस्य सम्बन्धाभावादेव पुत्राभाव इत्यत आह वंशस्येति। अत एव सम्बन्धस्याऽऽवश्यकत्वज्ञापनाय पूर्वमेवकारो दत्तः। स्वभावत ऋतुकालीननिषेका-दित्यर्थः। तत्र हेतुः धर्ममूलत्वादिति। तद्धेतुधर्माभावश्चोक्त एव। अत एव सर्वमारकेण सह सम्बन्ध इतिभावः॥ १२०½ ॥

तर्ह्यश्वमेधे कथं प्रवृत्तिरित्यत आह दोषाभावायेति।

तदवयवदेवतारूपा इति। वत्सरावयवायनर्तुमासपक्षाधिष्ठातृदेवतारूपाः। न च ततः पूर्वं केन तत्कार्यसम्पाचीरीतिशङ्क्यम्। तत्त्वेन्द्रियन्यायेन मूलरूपैरेव तैस्तत्सम्पत्तेरिति। अङ्गकृतेत्यादि। राज्ञः कथमभूद्दुष्टाः प्रजा इति प्रश्नोत्तरस्य स 'बाल एव पुरुषः' इतिश्लोकेनैव पूर्तिसम्भ-वेप्य'ङ्गोश्वमेधमि'त्यादिसन्दर्भस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्कायामङ्गकृताधर्मस्वरूपताहेत्यर्थः। जात इति, अङ्गपूर्वजन्मनि जातः। इतिसूचितमिति "तस्य शीलनिधेः साधोर्ब्रह्मण्यस्य महात्मन" इतिमूलवाक्ये सूचितम्। तत्कार्यमिति। अधर्मस्य दुःप्रजाजनने व्यापारभूतं कार्यम्। रुचिरिति। परिणयान्तरकरणाभावोन्नेया तस्यामासक्तिः। आहेति, तस्याः सम्बन्धे मानमाह। किं मानमित्यत आहुः तत्रेत्यादि *। उक्त एवेति, 'अस्त्येकं प्राक्तनमघं यदिहेदृक् त्वमप्रज' इति वाक्ये-न सदस्यैरुक्त एव। अत एवेति वंशहेतुभूतधर्माभावादेव। सम्बन्ध इति जामातृत्वम्।१२०½।

---

* अघहेतुक एव वंशाभावो न तु सम्बन्धाभावहेतुक इति सदस्योक्तमेव सम्बन्धे मानमित्यर्थः। (इत्यधिकम्)

निबन्धः—दोषाभावायाऽश्वमेधः कृष्णार्थो मुक्तये तु सः ॥१२१॥
वंशाभावे न मुक्तिः स्यादुभयत्र प्रयोजनात् ॥
अतो न देवागमनमुभयार्थं तथा सुतः॥ १२२ ॥

प्रकाशः—तर्हि कुतो न देवागमनं किमर्थं वा वैष्णवयागः, अश्वमेधेनैव दोषनिर्हरणादित्यत आह कृष्णार्थं इति । "सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते" इतिश्रुतौ पाप्मतरणस्योक्तत्वात्केवलस्य पाप्मादिनिवर्त्तकत्वं यद्यपि तथापि मर्यादायां "नाऽपुत्रस्य लोकोस्ति" इति श्रुतेर्वंशाभावे सा न स्यादितिभगवदर्थकरणेनैव दोषनिवृत्तिपूर्वकं वंशो मुक्तिश्च भवतीत्युभयत्र प्रयोजनसत्त्वात्कृष्णार्थः स इति पूर्वेण सम्बन्धः । यतो दोषाभावार्थमेव पूर्वं स कृतो न भगवदर्थो दोषश्च बलिष्ठोऽतो देवानागमनमित्याह, अत इति । ननु श्रुतेः का गतिरितिचेदुच्यते, आधिदैविकपाप्मतरणं तु भगवदर्थकृतादेव तस्माच्छ्रुतिराह । अन्यथा अश्वमेधेन दोषनिवृत्तिः, दोषानिवृत्तौ च देवाद्यङ्गसाहित्येन तत्सम्पत्तिरित्यन्योन्याश्रयेण श्रुत्यर्थबाधप्रसङ्गात् । आधिभौतिकादेः केवलादपि भवतीतिभावः । नन्वेवं सति कथं तादृशसुतोत्पत्तिरत आह, उभयार्थमिति । अङ्गस्य निर्दोषत्वाय तद्दोषमादायोत्पन्न इति दुष्ट इत्यर्थः । वंशार्थं सुत इत्यर्थः । अन्यथोरुमथनेनैवास्मादेव तादृश एव कश्चिद्भवेत् । तथा च वंशो न स्यादितिभावः ॥ १२२ ॥

ननु वैष्णवचरुभक्षणेन जातस्य सदोषत्वं कथमित्याशङ्क्याह चरोरिति ।

तदेव सदस्यै"रीदृक्"पदेन सूचितम् । अन्यथा यदिह त्वमप्रज इत्येवता एवोत्तरसम्भवे 'इदगि'ति न वदेयुः । एवं सति मृत्युजामातृत्वसुनीथासम्बन्धौ व्यापारीकृत्य पूर्वजन्मीनेन कालापराधरूपेणाऽधर्मेण प्रजाया अभाव इति फलति । तर्हीति । मृत्युजामातृत्वादिना अधर्मसंसर्गे सति । दोषाभावायेति अधर्मसम्बन्धदोषनिवृत्तये । आधिदैविकपाप्मतरणमिति । मुक्तिप्रतिबन्धकपाप्मतरणम् । दोषनिवृत्तिरिति, देवागमनप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तिः । आधिभौतिकादेरिति, एतज्जन्मीनस्य कायिकादिभेदेन त्रिविधस्य । केवलादिति, पाप्मनिर्हरणार्थात् । तथा च, दोषस्य पूर्वजन्मीनतयाऽऽध्यात्मिकत्वेन बलिष्ठत्वादश्वमेधेन तस्यानपायाद्देवानामनागमनमितिभावः सिद्ध्यति । नन्वेवं सतीत्यादि । सदस्यवाक्येषु

निबन्धः—चरोः फलं पौत्रेऽभूद्दोषः पुत्रे प्रतिष्ठितः ॥
शीघ्रं मुक्तिस्तथा वंशो दोषाभावश्च सिद्ध्यति ॥ १२३ ॥

प्रकाशः—दोषचरुफलयोर्मिथोविरोधेनैकत्राऽसम्भवेनाधुना चाङ्गदोषाभावस्यावश्यकत्वेन दोषः पुत्रे चरोः फलं पौत्रे प्रतिष्ठितमभूदित्यर्थः। एवं सति को विशेष इत्यत आह शीघ्रमिति। पुत्रदौष्ट्येन शीघ्रं वैराग्याच्छीघ्रं मुक्तिः ॥ १२३ ॥

ननु पुत्रे सति तदन्वेषणं कुत इत्यत आह, सशास्त्रेति।

निबन्धः—सशास्त्रागमनाल्लोके रक्षकाभावतोऽपि हि ॥
अन्वेषणमुपेक्षा तु ऋषीणामङ्गमुक्तये ॥ १२४ ॥
हेतुस्त्वनेन संसिद्धः सर्वेषां कामनां प्रति ॥ १२४½ ॥

प्रकाशः—शासनं शास्त्रं प्रजानुशासनलक्षणो राजधर्म इतियावत्। राजा हि त्यागं कुर्वन् पुत्रे तं धर्मं स्थापयित्वा गच्छति। तेनैव च तस्य राजत्वं भवति। अङ्गस्य च तदकरणेन तत्सहितस्यैव गमनादन्वेषणमितिसम्बन्धः। ननु युद्धनिहतपितृराज्यवदस्याऽप्यावश्यकत्वेन पुत्राय राज्यदानमेवोचितम्, न तदन्वेषणमित्यत आह रक्षकाभावत इति। वेनस्याऽरक्षकत्वेन ज्ञानादितिभावः। ननु ऋषीणामलौकिकज्ञानवत्त्वेन कुतो नाङ्गज्ञापनमित्यत आह, उपेक्षेति। आगत्य तादृशाय राज्यदाने तत्कृतप्रजाद्रोहादिदोषेणाङ्गस्यापि दोपसम्भवेन मुक्तिर्न स्यात्स्वयं राज्यकरणेपि तथेति तदर्थं तथेत्यर्थः ॥१२४॥अध्यायार्थमुपसंहरति हेतुस्त्विति ॥ १२४½ ॥

(अ० १४) द्वितीयाध्यायार्थं विचारयँस्तत्र भृग्वादीनां सर्वज्ञत्वेन वेनकृतभाव्युपद्रवाभिज्ञत्वात्तदैव (तत्कृतप्रजानाशदर्शनेन) तदूर्वादिमथनमेव युक्तं न तु तादृशाय राज्यदानमित्याशङ्क्याह, अन्यथासिद्धीति सार्धेन।

" आराधितो यथैवैष तथा पुंसां फलोदय " इतिवाक्यशेषश्रवणादपत्यदेवहविर्ग्रहणरूपकार्यद्वयार्थत्वेन निष्पद्यमानो वैष्णवयागो, 'यस्यैषा यज्ञे प्रायश्चित्तिः क्रियत इष्ट्वा वसीयान् भवती'तिवाक्यशेषात्प्रायश्चित्तत्वेन पर्यवसित इति। तेनाध्यात्मिके पापे निवृत्ते कथं तादृशसुतोत्पत्तिरित्याशङ्कायामाहत्यर्थः। उभयार्थमिति। यतो विष्णुयागः स्वदोषाभावार्थं पुत्रार्थं च। अन्यथेत्यादि, यागस्य पुत्रमात्रार्थत्वे अङ्गादेव निषादतुल्यः कोपि स्यात्तथा सति मुक्त्युपयोगी वंशो न स्यादित्यर्थः ॥ १२४½ ॥

एवमष्टभिस्त्रयोदशाध्यायो विचारितः। विचारयन्निति षड्भिर्विचारयन्।

निबन्धः अन्यथासिद्धिशङ्कायां वारणायोपपत्तये ॥ १२५ ॥
सर्वज्ञा भृगुमुख्या हि मातृमात्रार्धसम्मतम् ॥
वेनं तु भूपतिं चक्रुर्ज्ञात्वा पूर्वाघनिष्कृतिम् ॥ १२६ ॥

प्रकाशः—तदनभिषेकेण तत्कृतप्रजानाशादर्शनेन मथनेन पूर्वाध्यायोक्तसर्वकामनाहेतुभूतरक्षकाभावेऽन्यथासिद्धिशङ्का स्यात्तद्वारणाय वेनं भूपतिं चक्रुरितिसम्बन्धः। सामान्यं हेतुमुक्त्वा विशेषमाह, उपपत्तय इति। अयमर्थः। वीरस्य तस्याऽमूर्च्छायां मथनासम्भवेनाऽकृतद्रोहे च तस्मिँस्तथाकर्तुमयुक्तत्वेन लोके चाऽपकीर्त्तिसम्भवेन सर्वमयथा स्यादित्यग्रिमसर्वकार्योपपत्तये सर्वज्ञत्वेन तथैव भगवदवतारादिकं ज्ञात्वा तथा चक्रुरिति। तथापि तत्कालीनधर्मनाशेऽप्यसहिष्णुत्वेन तेषामसम्मतिरेवेतिज्ञापनार्थं मातृमात्रार्धसम्मतमित्युक्तम्। मातुरेव सम्मतम्। तत्राऽपि न सर्वात्मनेत्यर्थः। तर्हि कोऽभिप्राय ऋषीणामित्यत आह ज्ञात्वेति। स्वकार्यकरणेनाऽघस्योपक्षयं ज्ञात्वेत्यर्थः। अन्यथा तद्वंश एवाऽनुवर्तेतेतिभावः। अस्त्यस्मिन्नंशद्वयं राजांशो दोषांशश्च। तुशब्देन दोषांशो व्यवच्छिद्यते। तथा च राजांशमादायाऽभिषेको युक्त इति हिशब्दार्थः॥१२६॥

तथापि दोषस्यैवोग्रत्वात्तत्कार्यमेवाभूदित्याह धर्महानिरिति।

निबन्धः धर्महानिस्ततोऽप्यासीत्कामानर्थश्च सूचितः ॥
अधर्मस्थापनं कार्यं धर्माभावे स्वतो हि तत् ॥ १२७ ॥

प्रकाशः—ततः, अभिषिक्तराजांशादपीत्यर्थः। सर्वकामस्वरूपनिरूपणे लोकोपद्रवनिरूपणेन कामस्याऽनर्थतापि सूचिता। "एते पञ्चदशानर्थाः" इतिवाक्यात्। उक्तसमुच्चयार्थश्चः। अध्यायार्थमप्यनुवदन् दोषस्याऽसाधारणं कार्यमाह, अधर्मेति। ननु 'न यष्टव्यमि'त्यादिना धर्मबाध एवोक्तो न त्वधर्मोपीत्यत आह धर्माभाव इति। धर्मेणैव हि धर्मरक्षा तदभावे तथात्वं युक्तमेवेत्युपपत्तिं हिशब्देनाह ॥ १२७ ॥

तेन लौकिकालौकिकनाश जात इत्याह, उपद्रव इति।

निबन्धः उपद्रवो धर्महानिस्तस्माद्भयमभून्महत् ॥
आधिक्यदोषाभावाय स्वकृतत्वान्निवारणम् ॥ १२८ ॥

नाशादर्शनेनेति, अत्र नाशादर्शने उरुमथनेनेत्येतदपेक्षितमितिप्रतिभाति। अन्यथासिद्धीति, मथनस्यान्यथासिद्धिम्। पूर्वाघनिष्कृतौ हेतुं व्याकुर्वन्ति, स्वकार्यकरणेनेति। ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

प्रकाशः—तस्मादधर्मस्थापनादित्यर्थः। अराजकदशातोप्यऽधिकमितिज्ञापनाय मद्ध-दिति। तस्याधिवये लोकानामन्तःकरणनिष्ठोऽपि धर्मो गच्छेदिति तदभावाय निवारणवाक्यानि मुनीनामित्याह, आधिवयेति। ननु मुनीनां सर्वज्ञत्वेन तदाग्रहस्यापि ज्ञानात्कुतो निवारणे प्रवृत्तिरित्यत आह स्वकृतत्वादिति। वेनराजस्य स्वकृतत्वात् "कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुः" इतिन्यायेन तद्दोषः स्वस्मिन्नप्यागच्छेत्तद्वारणे स दोषो गच्छतीति तथाकरणमित्यर्थः॥१२८॥

ननु "नराणां च नरेन्द्रोहम्" "यदसौ लोकपालानां बिभर्त्योजः स्वतेजसा" इत्यादि वाक्यसम्मत्या वेनोक्तो धर्म एवेत्यत आह अधर्मेति।

निबन्धः—अधर्मकरणायैव च्छलवाक्यपरिग्रहः॥
अयमेव हि पाषण्डो लेशेनाऽखिलबाधनम॥ १२९॥

प्रकाशः—विप्रैस्तु देवाहेलनमुपदिष्टम्। धर्मरक्षार्थं तस्मिँस्तत्साभिध्यार्थं च। स तु सर्वेषां मय्येव सत्त्वान्मद्यागेनैव तत्सन्माननं भविष्यतीति अधर्मशाखारूपेण छलेनाऽधर्म-करणार्थमेव तद्वाक्यं परिगृहीतवानित्यर्थः। विभूतिरथवाक्यं चेज्यादिधर्मकरणेनाऽऽवि-र्भूतेश्वरांशपरम्। अत एवेन्द्रपदम्। तेन न तत्सम्मतिरितिभावः। अस्तु वाऽभिषेकमात्रेणैव देवसान्निध्यं तथापि तदुक्तस्त्वधर्म एवेति वक्तुमधर्मलक्षणमाह अयमिति। यथा "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" इतिश्रुतिलेशेनाऽखिलश्रुतिकर्मकाण्डस्य बाधनं कृत्वा क्रियमाणधर्मस्याऽपि पाषण्डत्वमेव वाह्यानाम्। तथा देवतेजोलेशेन स्वनिष्ठेना-खिलतद्बाधनमित्यस्यापि पाषण्डत्वादधर्मत्वमेवेत्यर्थः॥ १२९॥

राजहननस्य दोषावहत्वमाशङ्क्याह यथा पूर्वस्येति।

निबन्धः—यथा पूर्वस्य करणान्मारणेऽपि न दूषणम्॥
मथनं ज्ञानतो युक्तमदोषायाऽधमाङ्गके॥ १३०॥

प्रकाशः—"स एष जीवन् खलु सम्परेतः" इति वाक्याद्धननात्पूर्वमपि तस्य जीवन्मृत-त्वादृषीणां तथा करणं न दोषायेत्यर्थः। ननु मृतदेहस्याऽमङ्गलस्य मथनं राजवंशार्थमयुक्तं मनीषितोत्पत्त्यसम्भवाच्च। न हि जलमथनेनाऽग्निसम्भव इत्यत आह, मथनं ज्ञानत इति। तस्मिन् राजांशसत्त्वनिर्धारेण बहिस्तिरोहितमन्तश्चैतन्यमस्तीति ऋषीणां ज्ञानाद्भाव्यर्थज्ञानाच्च तद्युक्तमित्यर्थः। एते'नैकदे'त्यारभ्य श्लोकाष्टकावान्तर-प्रकरणार्थ उक्तः। पूर्वमूरुमथनेन तेषामज्ञानमाशङ्क्य तत्र हेतुमाह, अदोषायेति।

अस्तु वेति यदसौ लोकपालानामितिवाक्यादस्तु वा॥ १२९॥

सदोपस्य मथने पुनः स एव दोषो भगवदंशासम्भवश्चेति ज्ञात्वा दोषाभावाय । "ऊर्ध्वं वै पुरुषस्य नाभ्यै मेध्यमर्वाचीनममेध्यम्" इतिश्रुतेर्दोषाश्रयत्वात्तदङ्गस्य तत्रैव तथाकरणमित्यर्थः ॥ १३० ॥ बाहुमथने हेतुमाह क्षत्रियत्वेति ।

निबन्धः–क्षत्रियत्वप्रसिद्ध्यर्थं कामे बाह्वोस्तु मन्थनम् ॥
अप्राकृतत्वसिद्ध्यर्थमाविर्भावो हरेस्तनौ ॥ १३१ ॥

प्रकाशः––हृदयादिमथने नारायणवत्स्वातन्त्र्येणावतारे धर्मरक्षासम्भवेऽप्यक्षत्रियत्वेन तद्वंशारक्षा स्यादिति तत्सिद्ध्यर्थं क्षात्रधर्माधारबाहुमथनमित्यर्थः । तुशब्देन पूर्ववत्सदोपत्वं व्यावृत्तम् । ननु बाह्वोर्मथने को हेतुस्तत्राह काम इति । कामप्रकरणे सतीत्यर्थः । कामस्य मिथुनसाध्यत्वादितिभावः । अथवा काम इति निमित्तसप्तमी । तथा च कामनिमित्तं स्वकामसिद्ध्यर्थमित्यर्थः । राज्ञां बाहुभ्यामेव कामपूरणमिति तथा ।
(अ.१५-१६) तर्हि लोकरक्षायै तत्पुत्रमात्रापेक्षायां भगवत्प्रादुर्भावे को हेतुः । तस्याश्च तावतैव सम्भवादित्यत आह, अप्राकृतत्वेति । प्राकृतत्वे प्राकृतराजगुणत्वेनैतैर्मत्पिता व्यापादित इति ज्ञात्वा प्रजासु द्वेषमेव कुर्यादिति नेष्टसिद्धिः स्यात् । अतस्तदभावाय पृथोस्तनौ हरेराविर्भाव इत्यर्थः । एवं चाऽप्राकृतगुणवत्त्वेन सर्वेष्टसिद्धिरितिभावः ॥ १३१ ॥
अभिषेकसम्बन्धिकृतिकृष्युक्त्योः प्रयोजनमाह कृतीति ।

निबन्धः–कृत्युक्तिभ्यां गुणोद्रेको वारणं च गुणाय हि ॥
कामपूरणसम्बन्धात्प्रसादोऽन्यत्र कीर्त्तितः ॥ १३२ ॥
भविष्यमुक्तं बोधाय ह्याद्यशेषत्वमन्ययोः । १३२½ ॥

प्रकाशः—उद्रेकः सहजानामेव राज्यगुणानां तत्कृत्या वाचा चाधिक्यं जातमित्यर्थः । पृथुकृतस्तुतादिवारणं च तथा । क्षुद्रो हि समक्षं स्तावयति । महाँस्तु लज्जत इति भगवदावेशात्तथात्वं युक्तमिति हिशब्देनाह । ननु स्वस्मिन्कृपया रक्षार्थमाविर्भावमनुक्त्वा लोकेष्वेव तन्निरूपणं मुनिभिः सूतादिभिर्वा कृत इत्यत आह

एवं बाह्वोस्तु मन्थनमित्यन्तैः षड्भिश्चतुर्दशाध्यायो विचारितः, द्वाभ्यां पञ्चदशषोडशयोरर्थमाहुः तर्हि लोकेत्यादि ॥ १३१ ॥
अभिषेकसम्बन्धिकृतिकृष्युक्त्योरित्यादि । ननु यज्ञरूपेन्द्रस्यापि रक्षार्थावतारत्वात्तेनैतावान्सम्भ्रमः कुतोऽत्रेत्याकाङ्क्षायां "तस्मै जहार धनद" इत्याद्युक्तदेवादिकृतिषोडशारम्भीयप्युक्त्योः प्रयोजनमाहेत्यर्थः । तत्कृत्येत्यादि । तथाचेन्द्रापेक्षयात्राधिक्यबोधनाय तदित्यर्थः । स्वस्मिन् कृपयेति, मुन्यादिषु कृपया । तन्निरूपणमिति, कृपया प्रसादनिरूपणम् । एवं षोडशभिश्चतुरध्यायीविचारेणाविर्भावप्रकरणं विचारितम् ।

कामेति। कामपूरणलक्षणः सम्बन्धो लोकेष्वेवेति तेष्वेवाऽनुरञ्जनादिरूपः प्रसाद उक्त इत्यर्थः ॥१३२॥ मुनीनां स्वतोऽकथनेऽप्ययमेव हेतुरितिज्ञेयम्। बोधाय आवेशो-द्बोधायेत्यर्थः। दोहनादिभविष्यस्याऽऽविष्टकार्यत्वादितिभावः। इदमेव हिशब्देन सूच्यते। ननु सूतस्य पौराणज्ञानवत्त्वेन भविष्यज्ञानं युक्तं न तु मागधवन्दिनोरित्यत आह, आद्येति। आद्यः सूतः। शेषत्वमुपजीवकत्वं तत्पश्चाद्भावेन कथकत्वमिति यावत्। अन्ययोर्मागधवन्दिनोः ॥ १३२½ ॥

(अ. १७-१८) ननु पृथुचरित्रस्य पूर्वमेवोपक्रान्तत्वान्मैत्रेयस्याऽतूष्णींभावेपि मध्ये विदुरप्रश्नोऽयुक्त इत्याशङ्क्योपक्रान्तत्वेपि विदुरस्य वैष्णवत्वेनाऽलौकिकाविष्टभगव-च्चरित्रस्यैव मुख्यतया श्रोतव्यत्वेन को वेद मैत्रेयः सामान्यचरित्रमेव वदेदित्याशङ्क्य विशेषप्रश्न इत्याशङ्क्याह, अलौकिक इति।

निबन्धः—अलौकिके हि सम्प्रश्नो ज्ञात्वैष्यं तत्तथाऽकरोत् ॥१३३॥

आविष्टकृतिरेषा हि सर्वमेतेन सिद्ध्यति ॥ १३३½ ॥

प्रकाशः—ननु देवत्वेन स्त्रीत्वेन सर्वोपजीव्यत्वेन च भुवो मारणोद्योगो न युक्त इत्यत आह, ज्ञात्वेति। एवं कृते भयेन गोरूपधारणे सर्वं कार्यं भविष्यतीति सर्वमागामि ज्ञात्वा तत्कामपूरणं प्रजानां तथा शरसन्धानेनाऽकरोदित्यर्थः ॥१३३॥ तथा कृतिसामर्थ्यं उपपत्तिमाह, आविष्टेति। ननु ऋष्यादीनां तथा सामर्थ्यं कथं तत्रावेशाभावादित्यत आह, सर्वमिति। अनेनैवावेशेनेत्यर्थः। अत एव मूले 'पृथुभाविता'मित्युक्तम् ॥१३३½॥

(अ १९) एवं पूर्वं सर्वं कामपूरणप्रकरणं निरूप्य स्वकामसाधनप्रकरणं विचारयँस्तत्र प्रथमतोऽश्वमेधस्य तत्रापि शतावधिकस्य करणे को हेतुरित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह स्वकाम्यानामिति।

निबन्धः—स्वकाम्यानां हि सर्वेषां शुद्धिराद्या तदुद्भवे ॥१३४॥

अश्वमेधान्न चाऽन्यद्धि शतान्नाऽस्त्यधिका कृतिः ॥१३४½॥

प्रकाशः—स्वकाम्यानां सर्वेषां पदार्थानां मध्ये आद्या प्रथमतः कामविषया

अतः परमध्यायविशिष्टं सर्वकामप्रकरणं विचारयन्त एकेन सप्तदशाष्टादश-योरर्थमाहुः ननु पृथुचरित्रेत्यादि।

अतः परं सार्द्धोनविंशतिभिः स्वकामप्रकरणं विचारयन्तः सार्द्धैः षड्भिरून-विंशाध्यायं विचारयन्ति, एवं सर्वेत्यादि।

शुद्धिरित्यर्थः। शुद्धो हि यत्करोति तत्सिद्ध्यति। अतस्तत्सिद्ध्यर्थं किं कार्यमित्यपेक्षायां सर्वस्य वा एषा प्रायश्चित्तिः। "सर्वस्य भेषजम्" इतिश्रुतेः। कामसाधनशुद्ध्युद्भवे त्वश्वमेधादन्यत्साधनं कर्म न सम्भवतीत्यश्वमेधकरणमिति शेषः। शुद्ध्यर्थमश्वमेधानां शतादधिका कृतिर्नाऽपेक्षितास्तीति तावत्करणमित्यर्थः ॥१३४३॥

ननु "ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत" इति वाक्यात्कलावतारत्वेनाऽस्येन्द्रस्य विघ्नकरणमयुक्तमित्यत आह पूर्णे इति।

निबन्धः—पूर्णे पाक्षिकदोषत्वाद्यज्ञेन विनिवारणम् ॥ १३५ ॥

निबन्धः—निष्कामत्वादागमनमुत्तमत्वाद्धरेः स्वकैः ॥
तस्मात्सर्वगुणोच्छेदस्तेन सर्वोत्तमो मखः ॥ १३६ ॥

प्रकाशः— इन्द्रत्वे हि द्वयं प्रयोजकं शताश्वमेधित्वं सकामत्वं च। अत्र सकामत्वाभावेपि शतसङ्ख्याके पूर्णे तस्मिन् जाते पक्षे इन्द्रत्वमधुनैव भवेत्तच्च विरुद्धमिति पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय इतिन्यायाद्यज्ञनाम्नेन्द्रेणाऽश्वहरणरूपं निवारणं कृतमित्यर्थः। ससेवकभगवदागमने हेतुं वदन् पक्षे सिद्धिमेव साधयति निष्कामत्वादिति। उत्तमत्वाद्भक्तत्वादित्यर्थः। तथा च निष्कामत्वाद्धरेरागमनमुत्तमत्वात्स्वकैः सहेतियोजना। सर्वेषां भगवद्गुणानामैश्वर्यादीनां सर्वेषां ब्रह्मादीनां राजसतामससात्त्विकैस्तन्मिश्रनिर्गुणानां भक्तानां च गुणानामुच्छेदः प्राकट्यं यत्रेति तथा। एतेनेन्द्रत्वस्य कर्मफलत्वेन कर्मणस्तुल्यत्वेन च स्वस्य च प्राप्तफलत्वात्स्वोपमर्दकत्वशङ्का कथमिन्द्रस्येति निरस्तम्। उक्तरीत्या अतुल्यकर्मत्वादितिभावः ॥ १३६ ॥

निबन्धः—राज्यस्य दोषरूपत्वात्सिद्धे धर्मे महेन्द्रताम् ॥
इच्छेदिति हि पाषण्डाः सृष्टा येर्नाशिते मखे ॥ १३७ ॥
लोके पापप्रवृत्त्यापि राजा स्वर्गं न गच्छति ॥
इति बुद्ध्या तथा चक्रे द्वेषेण सुतरां तथा ॥ १३८ ॥
चित्ताशुद्धिर्दृढा तस्मादतो ब्रह्मनिवारणम् ॥

प्रकाशः—नन्वस्त्वेवं तथापि धर्मरक्षकत्वेन तस्य तन्नाशकपाषण्डप्रचारणं वेषधारणेन कुत इत्यत आह सिद्धे धर्मे इति। यथा कथञ्चिच्च ब्रह्मणो वाक्यैरश्वमेधासिद्धावपि तद्धर्मे सिद्धे तथात्वमिच्छेच्चेत्तदापि स दोष इति पाषण्डाः सृष्टा

पक्ष इति, शताश्वमेधमात्रकरणस्य प्रयोजकत्वपक्षे। साधयतीति, अतस्तदेव हि फलं कामाभावेपि सिद्ध्यतीतिन्यायात्साधयति। स इति द्वीन्द्रापत्तिरूपः।

इत्यर्थः । ननूक्तं निष्कामत्वमतोऽतिशुद्धान्तःकरणे कथं तदिच्छाशङ्केत्यत आह राज्यस्येति। एकदोपसत्त्वेन योग्यता निरूपिता तेनाग्निमदोषोत्पत्तिशङ्केति-भावः। ततः किमत आह यैरिति। यैः पाषण्डैरुत्पन्नैरेव मखनाशे सति कारणाभावादेव राजा स्वर्गं न गच्छति। पश्चात्प्रचारे लोके पापवृद्धौ तत्पापस्य राज्ञि सङ्क्रमणेनाऽपि तथेतिप्रकारिकया बुद्ध्या तथाऽकरोत्। ननु मुहुः प्राचुर्यकरणे को हेतुस्तत्राह द्वेषेणेति। वारद्वयकरणेऽप्यनिवृत्तौ यागस्य मत्स्थानमेव जिघृक्षतीति ज्ञानेन द्वेषे जाते तेन सुतरां पाषण्डप्रवृत्तिं कृतवानित्यर्थः। अत एव पृथोश्चित्ताशुद्धिर्जाता। तस्मिन्द्वेषरूपा मारणावधिका। ब्रह्मसन्धानेप्यगमनाद् दृढा। अत इति। यतश्चित्तशुद्धिनिमित्तं क्रियमाणे यागे पूर्वरीत्योत्तरोत्तरं चित्ताशुद्धिरेवाऽतो ब्रह्मणा यागस्य निवारणं कृतमित्यर्थः ॥ १३७ ॥ १३८३ ॥

ननु ब्राह्मणानामपि सर्वज्ञत्वाद्ब्रह्मवत्स्वत एव निवारणं युक्तम्। तत्कथं वधोद्योग इत्यत आह ब्राह्मणानामिति।

निबन्धः—ब्राह्मणानां वधोद्योगो मखरक्षार्थमेव हि ॥ १३९ ॥

पश्चात्सिद्धिर्ब्रह्मवाक्यादेकन्यूनेऽपि साङ्गता ।।
शङ्कयैव न पूर्णत्वमनुज्ञातं शुचिस्ततः ॥ १४० ॥

प्रकाशः—मखनाशकामूलकपाषण्डमूलत्वादस्य वधे समूलकपाषण्डनाशेन मखरक्षा भविष्यतीति तथा। एवकारेण पृथुवदेतेषामपि चित्ताशुद्ध्या द्वेषेण तथाकृतिशङ्का निवारिता। तत्सम्पादकत्वात्तद्रक्षणं युक्तमिति हिशब्दार्थः। ननु तदमारणात्पाषण्डा-नामुत्पत्त्या च पूर्वकृतानामपि यज्ञानां सर्वथा नाश इत्यत आह पश्चादिति। क्रतुविरामानन्तरं वाक्याङ्गीकारानन्तरं वा। तत्र हेतुः ब्रह्मेति। "पृथुकीर्त्तेः पृथोर्भूयात्तर्ह्येकोनशतक्रतुः" इतिवाक्याद्यज्ञानां सिद्धिरित्यर्थः। एवमपि शताश्वमेध-दीक्षाया अपूर्णत्वेन निरङ्गत्वान्न तैः फलमित्यत आह एकेति। ब्रह्मवाक्यादित्युभयत्राऽनु-षज्यते। तथा च "माऽस्मिन्महाराज कृथाः स्म चिन्ताम्" इति ब्रह्मवाक्या-देकन्यूनेऽप्येकोनाश्वमेधशते साङ्गतेत्यर्थः। ननु साङ्गतानुज्ञावच्छतपूर्त्तिरेव कुतो नोक्तेत्यत आह शङ्कयेति। स तथा सति तस्मिन्निन्द्रे दोषदृष्टित्वादयं स्वयमेवेन्द्रो भवेदितिशङ्कयेत्यर्थः। अध्यायार्थमुपसंहरन् फलितमाह शुचिरिति ॥१४०॥

ततः किमिति- पाषण्डनिर्माणतः किम्। अत एवेति पाषण्डनिर्माणादेव। ब्रह्मसन्धान इति, ब्रह्मणा क्रियमाणे सन्धाने। तत्सम्पादकत्वात्तद्रक्षणं युक्तमिति, ब्राह्मणानां यज्ञसम्पादकत्वाद्यज्ञरक्षणं युक्तम् ॥ १४० ॥

(अ. २०) अग्रिमाध्यायार्थं विचारयन् भगवदुक्तौ हेतुभूतं भगवत्तात्पर्यमाह तत्रेति ।

निबन्धः--तत्रैवाऽऽसक्तचित्तस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
इति कृष्णः स्वयं प्राह युक्तिपूर्वं हि तं मितम् ॥१४१॥

प्रकाशः--ब्रह्मणा कृतेपि सन्धाने द्वेषागमने कर्मासक्तेरेव प्रयोजकत्वात्कर्मणां च स्वतः कार्यतश्च क्षोभजनकत्वाच्छान्त्यभावेऽग्रिमज्ञानानधिकारः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं युक्तिपूर्वकं प्राहेत्यर्थः । फलरूपेणैव साधनासक्तिर्निवारयितुं शक्येति ज्ञापनाय कृष्णपदम् । अत एव यज्ञनिवारणवदग्रे ज्ञानोपदेशवच्चान्येनैव न बोधनमपि । अशेषोक्तौ त्वग्रिमज्ञानोपदेशवैयर्थ्यापातादधुनैव च मुक्तिसम्भवादितरकार्यासिद्धिः स्यादिति मितं प्राह । यावत्कर्मासक्तिनिवारणोपयोगि तावदेवेत्यर्थः । कर्मणां विहितत्वेन तदासक्तिनिवारणमस्याऽहितमित्याशङ्काव्युदासाय हितपदम् । तेन पुष्टिमार्गेऽस्य प्रवेशनं सूचितम् । अत एव यागविघ्नोपीतिभावः ॥ १४१ ॥

ननु वाक्यैरेव द्वेषहेत्वपगमे पुनरिन्द्रेण सह सन्धानं व्यर्थमित्यत आह वैमनस्येति ।

निबन्धः--वैमनस्य निवृत्त्यर्थं सन्धानं छन्दनं वरे ॥
शुद्धिसीमाविबुद्ध्यर्थं स्तोत्रं तस्यास्तु बोधकम् ॥ १४२ ॥

प्रकाशः--द्वेषाभावेपि मनसोऽमेलनेन प्रीत्यभावे कालान्तरे पुनरुद्गतः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमुभयोः सन्धानमित्यर्थः । ननु भगवतस्तद्धृदयज्ञत्वेऽपि "वरं च मत्कश्चन" इति वचनं कुत इत्यत आह छन्दनमिति । शुद्धेरन्तःकरणशुद्धेर्या सीमा मर्यादा कियती शुद्धिः सम्पन्ना सम्पूर्णा न वेति यावत् । तद्बोधार्थमन्येषां लीलया स्वस्य च वरे छन्दनमुक्तमित्यर्थः । अत एव तस्याः शुद्धेर्बोधकं स्तोत्रमग्रे निरूपितमित्याह स्तोत्रमिति । तुनाऽल्पशुद्धिबोधनपक्षो व्यावृत्तः ॥१४२॥

एवं सार्द्धैः षड्भिरूनविंशाध्यायं विचार्य चतुर्विंशाध्यायं विचारयन्ति । अग्रिमेत्यादि । द्वेषागमन इति, "मघोनापि सन्दध" इतिवाक्ये च शब्देन समुच्चयलाभादपेवैयर्थ्यमिति तत्प्रयोगः सन्धाने गर्हाबोधनार्थः । सा च द्वेषानपगम इति तथोक्तम् । अन्येनैवेति, युक्तिविशेषेणैव ॥ १४१ ॥ १४२ ॥

निबन्धः—अत एव वरो दत्तो भक्तिराशंसितं तु यत् ॥
राज्यभोगादिसिद्ध्यर्थं मर्यादापालनाय च ॥ १४३ ॥

प्रकाशः—अत एवेति। यतः कारणात्तद्योग्या शुद्धिर्ज्ञाताऽतो भक्तिलक्षणो वरो दत्त इत्यर्थः। अन्यच्च यदाशंसितं पृथोः स्वस्य च तदपि दत्तम्। शुद्धान्तःकरणस्य प्राप्तभक्तेरन्यदानमनुचितमित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह राज्येति। केवलभक्तिदाने राज्यभोगमेव न कुर्यात्तस्याश्च स्वतन्त्रत्वान्मर्यादां च न पालयेत्तथा चावतारवैयर्थ्यं स्यादितिभावः ॥ १४३ ॥

नन्वावेशेन मर्यादापालनादिकं सेत्स्यत्यावेशवता च भक्तिरित्युभयसम्भवे कुतो न तथेत्याशङ्क्य भक्तेर्दुर्लभत्वं वक्तुं तत्साधनान्याह सत्सङ्ग इति।

निबन्धः--सत्सङ्गे सर्वविज्ञाने त्यागसाधनसेवया ॥
अतिनिष्ठां गतस्यैव भक्तिर्भवति नाऽन्यथा ॥ १४४ ॥
अत एवातिसौभाग्यवर्णनं तत्परस्य हि ॥

प्रकाशः—पूर्वं सत्सङ्गे जाते तदुपदेशेन सर्वतत्त्वविज्ञाने च जाते त्यागसाधनानां फलाननुसन्धानेन कृतयथोक्तकर्मणां ब्रह्मसात्करणदोपदर्शनपूर्वकं विषयानासक्ति-प्रभृतीनां सेवया निरन्तरकरणेन वैराग्ये जातेऽपि भगवदाज्ञापरिपालनाय तदधीनतया सर्वकरणेनाऽतिशयितां निष्ठां प्राप्तस्यैव भक्तिर्भवतीत्यर्थः। "राजन्मयि भक्तिरस्तु ते" इतिभगवद्वाक्येऽप्येतदेव तात्पर्यविषय इति ज्ञेयम्। नचैवं वरस्याऽप्रयोजकत्वं साधनसम्पत्तावपि तदनुग्रहमन्तरेण भक्त्यनुत्पत्तेः। न चाऽऽवश्यकत्वाल्लाघवाच्चाऽनुग्रह एवाऽस्तु कृतं साधनैरितिवाच्यम्। तेषां स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वात्। दृश्यते हि सहकारियोग्यतायां सत्यामपि स्वरूपयोग्यताभावे कार्यानुत्पत्तिः शिलाशकलादिषु, तस्यामपि सत्यां तदभावे कार्याभावः कुसूलस्थव्रीहिषु। ननु नेतरसापेक्षतानुग्रह इति चेत्सत्यम्। भगवानेव भक्तिदित्सायां तादृशीं स्वरूपयोग्यतां सम्पाद्य तादृशानुग्रहं करोति। अत एव "यमूर्ध्वं निनीषति" इत्यादिश्रुतिः ॥१४४॥

(अ. २१) किञ्च। भगवत्यपि वरेणैव सर्वं यदि भगवदिच्छा तथा स्यादत्र च कार्यादेव तथेच्छेतिज्ञायत इति वक्तुं कार्यमेवाह, अत एवेति। तत्परस्य

तदनुग्रहमन्तरेणेति, वररूपानुग्रहं विना। अत एवेति, कचित्सापेक्षोनुग्रहः कचिच्चानपेक्षस्तत्सादेव ॥ १४४३ ॥

एवं चतुर्भिर्विंशाध्यायं विचार्य सार्द्धाभ्यामेकविंशाध्यायार्थमाहुः, किञ्चेत्यादि ॥१४५॥

भक्तिपरस्येत्यर्थः। भगवद्दत्तत्वाद्युक्तमिति हिशब्दः॥ १४४३॥

वर्णनप्रयोजनमाह भोगायेति।

निबन्धः—भोगाय धर्मस्त्रेधा हि यज्ञरक्षोपदेशनैः॥ १४५॥
मध्यमः सिद्ध एवास्ति तथाऽऽद्यस्यानुवर्णनम्॥

प्रकाशः—भगवता दत्तत्वाद्भोगोऽस्य जात इति ज्ञापनायेत्यर्थः। स्वधर्माध्यायं विचारयन् प्रथमतस्तादुद्देशपूर्वं भेदानाह धर्म इति। रक्षाया विशेषत अनिरूपणे हेतुमाह मध्यम इति। ननु यज्ञस्याऽपि पूर्वमेव सिद्धत्वात्कथं पुनर्निरूपणमत आह तथेति। तथाभूतस्य पूर्वसिद्धस्याप्याद्यस्य यज्ञस्य मध्ये पाषण्डप्रचारेणाक्षिन् यज्ञाभावशङ्काव्युदासायाऽनुवर्त्तमानत्वेन वर्णनमित्यर्थः॥ १४५३॥

ननु 'तत्प्रजाभर्तृपिण्डार्थमि'ति श्लोकेनैवोपदेशसिद्धेर्बहुधोक्तौ किं प्रयोजनमत आह पाषण्डेति सर्वसम्मतीति।

निबन्धः—पाषण्डमतिनाशाय बोधनं बहुधोक्तिभिः॥ १४६॥
सर्वसम्मतिसिद्ध्यर्थं तेषां प्रत्युत्तरं मतम्॥

प्रकाशः—येषामेव पाषण्डमोहस्तेषामेव पृथुवचने वैसम्मत्या सर्वेषां सम्मतिसिद्धौ सिद्धस्तदमोह इति सर्वसम्मतेः सिद्ध्यर्थं तेषां तदित्यर्थः। यद्वा लोकाः साधारणा हि ऋषिवाक्यमेव प्रमाणत्वेन मन्यन्ते, अतः पृथुवचनेपि ऋषिसम्मतिं विना न विश्वासः। तथा च सर्वेषां लोकानां पृथुवाक्ये सम्मतिसिद्ध्यर्थं तेषामृषीणां प्रत्युत्तरं पृथुं प्रतीत्यर्थः। तत्र हेतुः मतमिति। यतः सर्वेषामृष्युत्तरं मतं सम्मतमित्यर्थः॥ १४६३॥

(अ. २२) ननु प्रचेतसामिव मोक्षसाधनत्वेन भक्त्युपदेष्टृनारदादेरेव कथमस्यापि न सङ्ग इत्यत आह कामप्रकरणादिति।

निबन्धः—कामप्रकरणाज्ज्ञाने मार्गभक्तिप्रसिद्धये॥ १४७॥
अनुदण्डान् ज्ञानसिद्धान् सनकादीन् ददर्श सः॥

सार्द्धाभ्यां द्वाविंशाध्यायार्थमाहुः ननुप्रचेतसामित्यादि। अनुदण्डानिति, भक्तसिद्धान्। तथा च तेषां साक्षान्मुक्तिसाधकत्वेन भक्त्यननुभवात्तथा कथनमितिभावः।

प्रकाशः—कामप्रकरणाज्ज्ञानसिद्धान् सनकादीन् ददर्शेतिसम्बन्धः। प्रयोजनमाह ज्ञान इति। ज्ञाननिमित्तमित्यर्थः। मार्गरूपा इष्टार्थप्रापिका साधनरूपेतियावत्। तादृश्या भक्तेः प्रकर्षेण सिद्धय इत्यर्थः ॥१४७॥ ज्ञानसाधनत्वेनैव भक्तिकथने हेतुभूतं विशेषमाह, अनुद्दण्डानिति। यद्वा ननूपदेशमात्रेणैव रहूगणवदस्यापि कथं न भक्तिज्ञाने जाते इत्यत आह। अनतिमहत इत्यर्थः। तत्र हेतुः, ज्ञानसिद्धानिति। ज्ञानेनैव सिद्धा न तु भक्त्या। तथा सति तथैव स्यादित्यर्थः ॥१४७½॥

नन्वात्मारामेषु पूजावत्कुशलप्रश्नोऽपि युक्तः स कुतो न कृत इत्यत आह, इयं रीतिरिति।

निबन्धः—इयं रीतिर्ज्ञानमार्गे कृतिश्चैवं न चाऽन्यथा ॥ १४८ ॥
अत एव पुनस्तस्य पूर्ववत्सर्ववर्णनम् ॥
प्रसादख्यापकं ह्येतन्मार्गे हेतुपरम्परा ॥ १४९ ॥
मुमुक्षुत्वान्न परमा कार्यार्थं तस्य चोद्यमः ॥

प्रकाशः—ननु सर्वनिवेदनस्य भक्तिमार्गीयस्याऽग्रे प्राणा दारा इत्यादिना कथं करणमत आह कृतिश्चैति। निवेदनलक्षणा कृतिरप्येवमेव ज्ञानमार्गीयैवेत्यर्थः। एतज्ज्ञापकमाह अत एवेति। यदि भक्तिमार्गानुसारेण निवेदनं स्यात्पुनः स्वोपयोगो न स्यात्तदैव त्यागोपि स्यादितिभावः। प्रकरणार्थोऽप्यत एव सङ्गच्छत इत्यभिप्रायेण सर्ववर्णनस्य तात्पर्यान्तरमाह प्रसादेति। उपदेशानन्तरं विषयभोगः—तस्य चाऽप्रतिबन्धकत्वमेव। तदुभयमपि भगवत्प्रसादं विना न सम्भवतीति तद्वर्णनेन स एव ख्याप्यते। अन्यथोपदेशादिनैव ज्ञानादिरूपकामसिद्धौ न भगवतैव कामसिद्धिरिति ॥ १४९½ ॥

यद्वा, ननु कर्मणां ब्रह्मसात्करणापेक्षया च भक्त्यर्थं तत्करणं युक्तम्। आत्मस्थित्यपेक्षया भगवत्कीर्त्तनादिकमेव युक्तमधिकरसत्वात्। अनासक्त्यपेक्षया च भगवति निवेदनस्याऽधिकत्वेन तदेव कुतो न कृतमित्यत आह इयं रीतिरिति। ज्ञानमा-

---

(मूले) इयं रीतिरिति। पूजाकरणरूपा रीतिर्मर्यादा। पुनः स्वोपयोगो न स्यादिति, यथास्थितस्येतिशेषः। तथा सति न सिद्धान्तरहस्योक्तिविरोधः। तत्र हि प्रसादत्वेन तदुपयोगादत्र च तदनुपयोगेन यथास्थिततया प्रसादत्वाभावादिति। न चात्रापि तथावक्तुं शक्यम्, तदवचनात्। 'तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेने'ति विरुद्धवचनेन विनोदपात्रत्वोक्त्या च तादृशकृत्यनुपयोगादेर्दर्शितत्वाच्चेति ॥ १४९½ ॥

गीयत्वादस्य तन्मार्गरीतिरूपैवात्मस्थित्यादिकृता। प्रकरणार्थोपि सङ्गत एव स्यादिति तत्व्यापकं वर्णनं युक्तमिति ह्रिशब्दार्थः। भोगं कुर्वाणस्यैव "वैन्यस्तु धुर्यो महताम्" इत्यादिनोक्तज्ञानहेतुपरम्परापि प्रसादख्यापिकैवेत्याह मार्गं इति। ज्ञानमार्ग इत्यर्थः।

(अ० २३) ननु भगवत्प्रसादयुक्तस्य साधनपरम्परायां प्रेमभक्तिः कुतो नोक्तेत्यत आह मुमुक्षुत्वादिति। ननु भगवत्कलावतारस्य कथं मुमुक्षेत्यत आह कार्यार्थमिति। तस्य भगवदंशस्य भूदोहनधर्मप्रजापालनादिकार्यार्थमुद्गमः प्राकट्यमित्यर्थः। तथैव लक्ष्म्यास्तत्पोषकत्वेन तत्पत्न्यामाविर्भाव इति तत्समुच्चयार्थश्चकारः। एतेन कार्यस्य सम्पन्नत्वाद्भगवदंशतिरोधानं सूचितम्। अत एव मूले "यदर्थमिह जज्ञिवान्" इत्युक्तमतः परं केवलजीवत्वाद्युक्ता सेतिभावः। यद्वा। ननु स्तुतौ "न कामये नाथ तदप्यहम्" इतिवाक्यं कथमुक्तमित्याशङ्क्य तदा भगदावेशेन सान्निध्येन च तत्क्षणं भक्तिरसप्रादुर्भावात्तथोक्तम्। तस्य चोक्तकार्यार्थमेवाऽऽवेशात्सपदि च कार्यस्य सम्पन्नत्वादावेशाभावान्मुमुक्षा युक्तेत्यभिप्रायेणाह कार्यार्थमिति। यद्वा, उक्ताशङ्कायामेव भगवदावेशस्य धर्मादिपालनार्थमेव प्राकट्यम्, न त्वस्मिन् भक्तिमार्गं प्रचारयितुमिति हेतोर्भगवदावेशे सत्यपि युक्ता मुमुक्षा। भगवदिच्छाया वलिष्ठत्वादिति भावेनाऽऽह कार्यार्थमिति। यद्वा कार्यार्थं ज्ञानार्थं तस्य पृथोश्चकारात्तत्पत्न्या उद्गमो गृहान्निर्गम इत्यर्थः। त्यागस्य ज्ञानाङ्गत्वादितिभावः॥ १४९३॥

चतुर्भिस्त्रयोविंशाध्यायार्थमाहुः ननु भगवदित्यादि। 'यदर्थमि'ति वाक्यस्य 'दृष्ट्वात्मानं प्रवयसमि'ति प्रवयस्त्वमुपक्रम्योक्तत्वादवेशस्य तावत्पर्यन्तत्वमायाति। मुमुक्षा तु यज्ञसामयिकब्रह्मवाक्येषु 'यद्भवान्मोक्षधर्मविदि'ति 'तद्देहतो विष्णुकलासि वैन्ये'तिकथनादावेशसमानकालीना प्रतीयत इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः यद्वा नन्वित्यादि। तदपीति, कैवल्यमपि। कथमिति, परमभक्त्यभावे कथम्। तस्येति भगवदंशस्य। तथा च पक्षद्वयमपि युक्तमित्यर्थः। एवमप्यावेशस्य कादाचित्वापत्त्या तावत्कालीनत्वं विहन्यत इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः यद्वा उक्तेत्यादि। उक्ताशङ्कायामिति। कलावतारस्य कथं मुमुक्षामुमुक्षायां वा कथमीदृशं वाक्यमितिशङ्कायाम्। तथा च, सनकादिषु नारदे च कलावतारत्वेपि मोक्षधर्मवित्त्वेन मुमुक्षायाः सत्त्ववदत्रापि तत्सत्त्वस्याविरुद्धत्वात्कार्यान्तरार्थावतारत्वेपि तादृशवाक्यस्य भगवत्सान्निध्यादेव भवनाच्च न किञ्चिदनुपपन्नमित्यर्थः। एवं मुमुक्षाया अविरुद्धत्वं साधयित्वा यथागृहे सतत एव पृथोः सिद्धदर्शनज्ञानोपदेशौ तथा ज्ञानमोक्षावपि सुवचाविति गृहत्यागकथनं कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः यद्वा कार्येत्यादि। इतिभाव इति, निर्गम इतिभावः॥ १४९३॥

ननु पुरुषोत्तमभक्तेर्ज्ञानाद्यपेक्षयाऽधिकत्वादत्र च ज्ञानाद्यपेक्षाकथनाद्रूपान्तरेऽन्तर्याम्यादौ भजनं भविष्यतीत्याशङ्क्याह रूपं तदेवेति ।

निबन्धः–रूपं तदेव स रसो वहुकालं न सेवितः ॥१५०॥
अतः स्वतन्त्रा सा नाऽभूत्कारणत्वेन चोद्गता ॥

प्रकाशः—पुरुषोत्तमरूपमेवेत्यर्थः । अत एव "आरिराधयिषुः कृष्णम्" इत्युक्तं मूल इतिभावः । तर्हि कथं ज्ञानाद्यपेक्षेत्यत आह स रस इति । स प्रसिद्धः पुरुषोत्तमो वहुकालं न सेवितो यतः–अतस्तादृशभजनं विना रसानाविर्भावान्मुख्यभक्तिरसोऽपि न सेवितः। अतो ज्ञानसाधनत्वेनैवाऽस्य भानात्फलरूपा ज्ञानादिनिरपेक्षतया फलप्रदानसमर्था वा भक्तिर्नाऽभूदित्यर्थः । तर्हि भक्तेः किं प्रयोजनमित्यत आह कारणत्वेनेति । भक्तिं विना मोक्षाभावात्तत्कारणत्वेन प्रकटा जातेत्यर्थः । साधनरूपतायामपि भक्तेः फलरूपता न क्षतेति तत्समुच्चयार्थश्चः ॥ १५०३ ॥

नन्वाऽऽवश्यकत्वाल्लाघवाच्च भक्त्यैव मुक्तिरिति कुतो नोच्यते । तथा च सति "तस्याऽनया" इत्यादिना ज्ञानयोगकथनं व्यर्थमित्याशङ्क्य भक्तेः कल्पतरुस्वभावत्वाज्ज्ञानेनैव मोक्ष इति विजानतो ज्ञानमप्युत्पाद्य मुक्तिं ददातीतिसिद्धान्ताभिप्रायं मूलमित्यभिप्रायवानाह वैराग्येति ।

निबन्धः–वैराग्यज्ञानमुत्पाद्य तदविद्यां निवार्य च ॥ १५१ ॥
योगेन भङ्क्त्वा लिङ्गञ्च सद्वैकुण्ठेऽनयत्पृथुम् ॥

प्रकाशः— सद् ब्रह्म तदात्मके व्यापिवैकुण्ठे इत्यर्थः । भक्तिरितिशेषः । चकाराद्विद्यामपि ॥ १५१३ ॥ एतदर्थं वैकुण्ठावरकमायोद्घाटने हेतुमाह योगेनेति ।

निबन्धः–योगेनोद्घाटितस्तस्य तस्यास्तु क्रमतोऽभवत् ॥१५२॥
अनभिप्रेतरूपत्वात्फलमस्योच्यते वहु ॥
असङ्गतिनिवृत्त्यर्थं भक्तिश्चाऽप्यस्य वै फलम् ॥१५३॥

प्रकाशः—तत्पत्न्यास्तु पातिव्रत्यधर्मनिष्ठया पूर्वं पतिलोकं गतायास्तत्र च निरन्तरं

पूर्वमिति । इदं पूर्वेण सम्बध्यते । पतिलोकं गताया इति, अन्वारूढायाः । एवं द्विचत्वारिंशतिभिः कामप्रकरणं रौद्रं विचारितम् ।

तद्भावनया तस्य च वैकुण्ठगत्वेन क्रमेणवैकुण्ठ उद्घाटितोभवदित्याह तस्यास्त्विति। नन्वस्य शास्त्रस्य भक्तिफलकत्वादन्येषां फलत्वेन कथनं न युक्तमित्यत आह, अनभिप्रेतेति। स्वतन्त्रफलत्वेन भक्तेरनिरूपणेनास्य प्रकरणस्यानभिप्रेतरूपत्वम्। तथा च "मग्नश्चेत्पातालं विशेद्" इतिन्यायेन सर्वमेव फलत्वेन वक्तुं युक्तमित्यभिप्रायेण तथोक्तिरित्यर्थः। एवमस्य प्रकरणस्यैतच्छास्त्रासङ्गतिरित्याशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थं भक्तिरपि फलत्वेनोक्ता। तथा चैकफलत्वेन शास्त्रसङ्गतिरितिभावः। पूर्वसमुच्चयार्थश्चः। तथाऽपि न स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन कथनमिति ज्ञापनायाऽपिः। "भवसिन्धुपोतपादे" इति-मूलवाक्यादितिभावः। फलनिरूपणेन प्रकरणसमाप्तिः सूचिता ॥ १५३ ॥

अतः परं मोक्षकरणं विचारयति। तत्र विदुरस्य पुनः प्रश्नाभावे हेतुमाह। अन्यार्थमिति।

निबन्धः—अन्यार्थं कामकथनान्नात्र प्रश्नः पुरैव सः ॥
अष्टभिर्मोक्षकथनं स द्वेधेति पुरोदितम् ॥ १५४ ॥

प्रकाशः—कामादन्यो मोक्षस्तत्कथनार्थमेव कामप्रकरणकथनात्तदुपपादितं मोक्षप्रकरणार्थाय प्रक्रियेयमित्यत्र। तत्प्रकरणप्रश्नश्च "के ते प्रचेतसो नाम" इत्यादिना पुरैव कृत इति नात्र पुनः प्रश्न इत्यर्थः। यद्वा विदुरस्य भक्तिमात्रेच्छया प्रश्नकरणादस्य च तदतिरिक्तबहुफलोक्तेर्मदर्थमिदं नोक्तम्, किन्तु तत्तत्कामानामन्येषामर्थ इदं प्रकरणमुक्तमतो मत्प्रश्नस्योत्तरमनुक्तमिति स्वयमेव वक्ष्यतीति न पुनः प्रश्नः कृत इत्यर्थः। प्रकरणार्थं वक्तुमध्यायसङ्ख्यामाह अष्टभिरिति। पुरेति। शास्त्रार्थप्रकरणे 'विद्ययाऽविद्यानाशे त्वि'त्यारभ्य 'उभयं हरिसेवया' इत्यन्तेनोदितमित्यर्थः॥१५४॥

तदेवाह ब्रह्मत्वं कृष्णसायुज्यमिति।

निबन्धः—ब्रह्मत्वं कृष्णसायुज्यं क्रमादत्रोच्यते द्वयम् ॥
सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनाऽनुभवात्सदा ॥ १५५ ॥

प्रकाशः—तत्र यादृशब्रह्मभावसायुज्येऽभिप्रेते तादृशयोरेवाऽत्रापि निरूपणं कथमित्यत आह सायुज्ये त्विति। "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" इति-वाक्येन प्राप्तब्रह्मभावस्य भक्तिलाभेन पुरुषोत्तमज्ञाने सति तत्र प्रवेशलक्षणं सायुज्यं निरूपितमिति प्रवेशश्च भिन्नतयैव भवतीति भेद एव च रसानुभवसम्भवात्सायुज्ये रसाधिक्यमित्यर्थः। ब्रह्मत्वे चैक्यात्तथा रसाननुभवात्तद्व्यवच्छेदार्थस्तुशब्दः ॥१५५॥

अतः परं सप्तसप्ततिभिर्मोक्षप्रकरणं वासवं विचारयन्ति। अतः परमित्यादि ॥१५५॥

एवं च तस्य गौणत्वादस्यैव मुख्यत्वेन निरूप्यत्वाद्ब्रह्मभावलक्षणं मोक्षं मध्ये निरूपितमाद्यन्तयोस्तदधिकारिणः प्रचेतस एव भक्तत्वान्निरूपिता इति। एतदेवाह सन्दंशकथयेति ।

निबन्धः—तस्याऽधिकारिणस्तेन सन्दंशकथयोक्तवान् ॥
मध्ये तु प्रथमः प्रोक्तो महत्त्वात्पञ्च तस्य तु ॥१५६॥

प्रकाशः—तेन ब्रह्मभावस्याऽपि सायुज्यसाधनत्वमितिभावः सूचितो भवति। अग्रे प्रचेतसां मोक्षं निरूपयिष्यन्नपि यत्पूर्वं तद्भक्तिं निरूप्य तत्पितुर्मध्ये निरूपणम्, तेन भक्तेषु मुख्यं फलं ददाति भगवांस्तत्सम्बन्धिषु भक्तिमार्गपरिनिष्ठत्वात्तत्सम्बन्धस्यैव प्रयोजकत्वाद्गौणमित्यपि सूचितम् । प्रथमो ब्रह्मत्वाधिकारी । अध्यायान् विभजते पञ्चेति। तस्य प्रथमाधिकारिणः सम्बन्धिनः पञ्चाध्याया इत्यर्थः। तत्र हेतुः महत्त्वादिति। भक्तानां स्वल्पेनैव प्रसादफले भवत इत्यध्यायत्रयेणैव तन्निरूपणम्। अस्य च पूर्वं कर्मित्वान्महता प्रयासेन फलं साधनीयमित्यस्य कार्यस्य महत्त्वात्पञ्चभिर्निरूपणमित्यर्थः ॥ १५६ ॥

ननु प्रथमाध्यायोऽपि तस्यैव भवितुमर्हति, प्रचेतसां तपोनिरूपणं तु तदाज्ञानिरूपणार्थं "पित्रादिष्टाः" इतिवाक्यात् । उपदेशनिरूपणं तु "यदुक्तं पथि दृष्टेन" इत्युक्ते विदुरेण प्रश्ने कृते तदुत्तरत्वेन कृतम् । अन्यथा स्वरूपमेव विनैव प्रश्नं निरूपयेत् । तेनात्र तत्कथायाः प्रासङ्गिकत्वान्न तत्प्रकरणीयत्वमस्याध्यायस्येति षडध्याया एवाऽस्येति चेत्तत्राह, अन्योन्यस्येति ।

निबन्धः—अन्योन्स्योपकारित्वबोधनार्थं तथा वचः ॥
साधनं च प्रसादश्च फलं चेति त्रयं परे ॥१५७॥

प्रकाशः— अयमर्थः। अत्र प्राधान्येन तन्निरूपणमेव कृतम् । "पित्रादिष्टाः" इति वचनं तु "कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुः" इतिन्यायेन तदाज्ञया भगवदर्थं तपःकरणे तस्याप्यन्तःकरणशुद्ध्युपकारो जात इतिज्ञापनार्थम्। तथा चैतेषां भगवत्प्राप्तिस्तत्प्रेरणया तपःकरणे सतीत्येतदुपकारित्वं तस्य । एतत्तपसा च तदन्तःकरणशुद्धिरिति तदुपका-

---

अत्र तत्कथाया इति, चतुर्विंशाध्याये प्रचेतःकथायाः। तत्रेति अवान्तरपञ्चाध्याय्याम्। अत्रैवं षड्भिः प्रकरणार्थो विचारितोध्यायाश्च विभक्ताः ॥ १५७ ॥

रित्वमेतेषामित्यन्योन्यस्योपकारित्वम् । अन्यथा "ब्रूहि मे विमलं ज्ञानम्" "गृहेषु कूटधर्मेषु" इत्यकस्मात्कथं वदेत् । उपदेशस्याऽतिदुर्लभत्वज्ञापनाय प्रश्नापेक्षा । तदुक्तमाद्यस्कन्धप्रकरणे "सामान्यतो बुभुत्सां हि वक्ता वारयति स्वयम् । उत्कण्ठा चेत्ततोपि स्यात्कथाप्रक्षेपणं ततः । ततो विशेषप्रश्नश्चेद्वाच्यं रीतिरियं सदा" इति तस्मात्सुष्ठूक्तं पञ्च तस्य त्विति । सायुज्यप्रकरणस्याऽध्यायार्थानाह साधनमिति । साधनमुपदेशः प्रथमाध्यायार्थः । चकारात्साधनसाधनं पित्रादेशरुद्रदर्शनादि । प्रसादफले सप्तमाष्टमयोः । चकारात्कृतिः राज्यभोगादिगौणप्रसादश्चोच्यते । द्वितीयचकारादेतच्छ्रोतुर्विदुरस्याऽपि भक्तिरूपफलप्राप्त्या निर्गम उच्यते ॥१५७॥

(अ. २४) एवं प्रकरणार्थं निरूप्य प्राचीनबर्हिष एवाष्टभिरध्यायैर्मोक्षकथनमिति मतं निराकुर्वन् पञ्चभिस्तन्निरूपणे हेतुमाह विद्या त्विति ।

निबन्धः—विद्या तु पञ्चपर्वेति प्रथमे पञ्च सन्मताः ॥
यत्र सर्वविनिर्द्धारः सर्वसन्देहवारकः ॥१५८॥

प्रकाशः—तुशब्दः शङ्काव्यावर्त्तकः । अस्मिन् ब्रह्मभावस्यैव वाच्यत्वात्तत्र चाविद्यानिवृत्तिमात्रस्य प्रयोजकत्वात्तस्याश्च विद्यासाध्यत्वात्तस्याश्च पञ्चपर्वात्मकत्वात्सा तावद्भिरेवाऽध्यायैर्निरूप्येति प्रथमे प्रकरणे पञ्चाध्याया एवेत्यर्थः । सन्मता इत्येनेन तन्मतस्याऽसत्त्वं सूचितम् । ज्ञानस्यैव प्राधान्येन तत्र निरूपितत्वादितिभावः । किञ्च, आत्माना सह प्रतीतानां सन्घातस्थपदार्थानां स्वरूपनिर्धारे हि निःसन्दिग्धा ब्रह्मात्मावगतिर्भवेत् । तस्य चात्र तावद्भिरेवाध्यायैर्निरूपणमिति हेतोस्तावन्त एव त इत्याशयेनाह यत्रेति ॥ १५८ ॥ द्वितीय इति ।

निबन्धः—द्वितीयस्तु त्रिभिः सिद्धः सर्वेषां तत्र चोत्सवः ॥
प्रथमो नारदेनैव फलं तेनाऽपि सिद्ध्यति ॥१५९॥

प्रकाःश — अध्यायाल्पतया पूर्वस्माद्धीनत्वशङ्का स्यात्तद्व्यावर्तकस्तुशब्दः । पूर्वस्माद्विशेषमाह सर्वेषामिति । पूर्वस्मिंस्तु सर्ववस्तुयाथात्म्यज्ञानेन ब्रह्मात्मावगत्यात्मन्येव सुखं भवेन्न तु सर्वेन्द्रियादिषु । अत्र तु सर्वेषामिन्द्रियाणां चकारादात्मनश्च सर्वविस्मारक आल्हादविशेषरूप उत्सवः सिद्धो न तु साध्य इत्यर्थः । तस्य गणितानन्दत्वादस्य च पूर्णानन्दत्वादितिभावः । ननूपदेशमात्रेण

अतः परं पादोनैर्नवभिश्चतुर्विंशाध्यायस्यार्थं विचारयन्ति, एवं प्रकरणार्थमित्यादि ॥ १५९ ॥

भगवत्प्रसादं विना कथं प्राचीनबर्हिषो मोक्षकथनं "फलमत" इतिन्यायविरोधात्, अतः प्रचेतसामिवाऽस्यापि भगवत्प्राकट्य वाच्यमित्याशङ्क्याह प्रथम इति। नारं द्यति खण्डयतीति व्युत्पत्त्या जीवभावच्छेदकत्वात्तत्त्वं च भगवत एव सम्भवतीति तदाविष्टभगवद्रूपस्यैव तन्नाम। तथा च तेनैव प्रथमो ब्रह्मभावरूपो मोक्षो जात इत्यर्थः। उपपत्त्यन्तरमाह फलमिति। बहिः प्राकट्याभावेप्यात्मत्वेन स्फुरित-ब्रह्मस्वरूपेणाऽपि पूर्वोक्तं फलं सिद्ध्यतीत्यर्थः। यद्वा। तस्य ज्ञानोपदेशमात्रे-णाऽन्यथासिद्धिमाशङ्क्याह फलमिति। भगवत्सहितगुरुणापि ज्ञानोपदेशफलं सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ १५९ ॥

एवं प्रकरणार्थं निरूप्य प्रथमाध्यायं विचारयति पृथोरित्यादिना।

निबन्धः—पृथोः प्रपौत्रपुत्राणां मुक्तिं वक्तुं तदन्तरा ॥
अमुक्तौ प्रतिबन्धः स्यादतो मुक्तिकथान्तरा ॥१६०॥
पौत्रमुक्तिस्तु सन्दंशन्यायेनैव भविष्यति ॥

प्रकाशः—तत्र प्रचेतसां साधने निरूपणीये सत्यन्तर्द्धानमुक्तिनिरूपणं पूर्वं किमर्थमित्यत आह पृथोरिति। प्रपौत्रो बर्हिषस्तत्पुत्राणां प्रचेतसामेव तन्मुक्तिं वक्तुमेतन्मुक्तिकथामध्ये तन्मुक्तिकथेत्यर्थः। एतत्कथनस्यावश्यकत्वायाह तदन्तरेति। तेषां पूर्वजानां मध्ये कस्यचिदमुक्तौ पितृदोषः पुत्रादावपि सङ्क्रामती-त्येतन्मुक्तावपि प्रतिबन्धः स्यादित्यर्थः। एतेन मुक्त्यधिकार एव निरूपित इत्युक्तं भवति ॥ १६० ॥ ननु पृथुपौत्रमुक्तेरनुक्तत्वात्तत्कृतः प्रतिबन्धो भविष्यतीत्याशङ्क्याह पौत्रेति। अस्य मुक्तिरनुक्तसिद्धैवेति न पृथगुक्तेत्यर्थः। एतेनाध्यात्मिकी शुद्धिः प्रचेतसामुक्ता। एतेन "विजिताश्वः" इत्यारभ्य सप्तश्लोकानां तात्पर्यमुक्तं ज्ञेयम् ॥१६०३॥

हविर्धानादित्यादिपञ्चानां तात्पर्यमाह योगेनेति द्वाभ्याम्।

निबन्धः—योगेन कर्मणा चाऽपि शुद्धिः सर्वोत्तमा मता ॥१६१॥
कुलसौन्दर्ययोगे तु स्त्रीशुद्धिश्चोत्तमा मता ॥

प्रकाशः—अत्राधिभौतिकी शुद्धिर्निरूप्यते, सा च पितृमात्रोः शुद्धत्वे भवति। तत्र पुरुषशुद्धिस्तु योगकर्मभ्यां जाता सत्कुलजातत्वाद्यपेक्षयोत्तमा भवति। स्त्रीशुद्धिस्तु सत्कुलजातत्वेन सौन्दर्यातिशयेन च। व्यभिचारादिदोषव्यावर्त्तकस्तुशब्दः ॥१६१३॥

निबन्धः—बीजयोनिविशुद्धत्वे शुद्धिः कार्ये विनिश्चिता ॥१६२॥
विवाहोऽपि ब्रह्मवाक्यादतो न विषये स्पृहा ॥

प्रकाश.—तथा चोभयोस्तथात्वेन बीजयोन्योः शुद्धत्वेन तत्पुत्रेष्वपि शुद्धिर्भवत्येव। तत्रापि विषयरागजप्रवृत्त्या जनितानामपत्यानां बीजसंस्कारवशान्न नीरागत्वं भवेदिति शङ्काव्युदासाय तद्वैराग्यकथनाय ब्रह्मवाक्यादेव विवाहोक्तिरित्यर्थः ॥१६२३॥

फलितमाह एतादृशादिति ।

निबन्धः—एतादृशात्समुत्पन्नाः पितुरादेशकारिणः ॥ १६३ ॥
तपसा साधने तस्य न बन्धो भवतीति हि ॥
तत्रापि कृष्णसेवायां कृतार्थत्वं हि सर्वथा ॥१६४॥

प्रकाशः—तत्रापि न सनकादिवत्पित्रादेशोल्लङ्घकाः किन्तु तत्कारिणस्तेन गुर्वाज्ञापालनरूपो धर्मोऽप्युक्तः ॥ १६३ ॥ तत्रापि विशेषमाह तपसेति। तस्य पित्रादेशस्य तपसा साधने प्रवृत्तिमार्गत्वेन स्वस्य सर्गकरणजबन्धो यः स न भविष्यतीति तपसि प्रवृत्ताः। तत्राऽपि न केवलं तावन्मात्रत्वं किं तु तपस्यपि पुरुषोत्तमभजनं करिष्यामस्तेन कृतार्था भविष्याम इति निश्चयवन्तः ॥ १६४ ॥

निबन्धः—इति तान् सर्वथा शुद्धान् विलोक्येशो हरिप्रियः ॥
प्रोवाच सर्वसन्देहवारकं सर्वबोधकम् ॥१६५॥

अत इत्थम्भूतत्वेनाधिदैविक्यपि शुद्धिः सम्पन्नेति सर्वप्रकारेण शुद्धान् ज्ञात्वा तान् प्रति प्रोवाचेत्यर्थः। ईशत्वेनान्तरज्ञानम्, तत्रापि हरिभक्तिज्ञानं हरिप्रियत्वेन, अन्यथा कथमकस्माद्बहिरागच्छेत्। तथैश्वर्यज्ञापनायैव "समुद्रमुपविस्तीर्णम्" (श्लो०२०) इत्यारभ्य षट्श्लोका इतीशपदेन तावतां तात्पर्यमुक्तमितिज्ञेयम् । 'यूय'मित्यादि रुद्रवचनानां चतुर्णां तात्पर्यं हरिप्रियपदेन ॥ १६५ ॥

मध्ये स्वरूपकथनस्य प्रयोजनमाह हेतुपूर्वमिति ।

निबन्धः—हेतुपूर्वं स्तोत्रमाह शीघ्रं तुष्यति यद्धरिः ॥
अयमेवोपदेशो हि विश्वासार्थं परम्परा ॥१६६॥

---

१६२ ॥ १६३ ॥ १६४ ॥ षट्श्लोका इति। तथा सतिसतानितिसप्तमस्य धर्मिबोधकत्वमित्यप्युक्तप्रायमिति बोधितम् ॥ १६५ ॥ मध्य इति। स्तोत्रमध्ये ।

प्रकाशः—भगवत्प्रादुर्भावार्थमेव हि स्तोत्रम् । स च प्रेम्णैव भवति । प्रेम चातिसुन्दरस्वरूपस्य निरन्तरचिन्तनकीर्त्तनाभ्यामितीदृशं स्तोत्रमाहेत्यर्थः । एतदेव स्पष्टयति शीघ्रमिति । यद्वा । उपदेशे हेतुर्वृतेषां भागवतत्वम्, "अथ भागवता यूयम्" इतिश्लोकेन तन्निरूपणपूर्वकं यः स्तोत्रमाह।ऽतो यद्यस्माद्धरिः शीघ्रं तुष्यति तादृशं तदाहेति सम्बन्धः । जप्यो मन्त्रः पृथगुपदिष्टो भविष्यतीत्याशङ्क्याह अयमेवेति । "इदं जपध्वम्" इतिवचनसम्मतिर्हिशब्दार्थः । इदमाहेत्यादीनां तात्पर्यमाह विश्वासार्थमिति । यद्यपि रुद्रवचनेऽप्यस्त्येव सः, अन्यथा परम्पराकथनेऽप्यविश्वासेन सर्वनाशः स्यात् । तथाप्येतेनाऽन्यस्यापि फलसिद्धिश्रवणेऽतिश्रद्धा भवतीति तथोक्तम् ॥ १६६ ॥

तर्ह्येतेषु कथं फले विलम्ब इत्यत आह अनुद्वेगेति ।

निबन्धः--अनुद्वेगपरीक्षार्थं विलम्बो हरिणा कृतः ॥
तत्पुरैव विनिश्चित्य जले तप्तुं विनिश्चयः ॥१६७॥

प्रकाशः—तपसि क्लेशादुद्वेगः कालविलम्बेपि तदा न भवेद्यदि भक्तिरसेनाऽन्यविस्मृतिः स्यादिति तत्परीक्षार्थं तथेत्यर्थः । ते त्वत्यन्तभक्तिरसिका इत्यत्र निदर्शनमाह तत्पुरैवेति । तत्राऽन्यप्रवेशाभावादत्यगाधे च जलचराणामप्यभावेन निर्विघ्नभजनं भविष्यतीति तथेत्यर्थः ॥ १६७ ॥

किञ्च । तेषां भजनं स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेनैव प्रतिभातम् । यतो भूमौ भजने प्रलये भूमिनाशेन तद्विघ्नो मा भूदिति विचार्यापि जले तपः कृतवन्त इत्याह प्रलयेपीति ।

निबन्धः--प्रलयेपि न भङ्गार्थं स्तोत्रमुख्यत्वसिद्धये ॥
अध्यायपूरणं पूर्वं कृतं सम्बन्धसिद्धये ॥१६८॥
अग्रे कथाप्रकथनं तपःसिद्धौ कथा परे ॥

प्रकाशः—नन्वस्मिन्नध्याये हि साधनं निरूप्यं तच्च स्तोत्रतपोरूपम्, तत्कथं तपोऽनुक्त्वा तन्मात्रेणाऽध्यायपूरणं कृतमित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाह स्तोत्रेति । एतेषां स्तोत्रमेव मुख्यं साधनं न तप इति ज्ञापनार्थं तपोनिरूपणात्पूर्वमेवाध्यायपूरणं कृतमित्यर्थः । तर्ह्येतत्प्रकरणे तत्तपोनिरूपणमादौ न युक्तमित्यत आह सम्बन्धसिद्धय इति । एतत्तपसः "कर्त्तुः शास्तुः" इतिन्यायेन बर्हिषदोऽपि चित्तशोधकत्वलक्षणः

स इति, प्रादुर्भावः । ईदृशमिति, स्वरूपकथनघटितम् ॥ १६६ ॥

अतः परं सपादाष्टादशभिः पञ्चविंशाध्यायं विचारयन्तः पादोनेनोपक्रमगतमर्थं वदन्ति तर्हीत्यादि । एतत्प्रकरण इति, प्राचीनबर्हिःप्रकरणे ॥ १६८३ ॥

सम्बन्धोऽस्तीति ज्ञापनाय तत्प्रकरणादावेतत्तपःकथाकथनमित्यर्थः ॥१६८॥ ननु प्रचेतसां निर्गमानन्तरमेव नारदस्यागतत्वात्तपसश्चोत्तरकालीनत्वात्कथं कारणत्वमित्याशङ्कायामाह तपःसिद्धाविति। एतत्तपसः सिद्ध्यनन्तरं परे बर्हिपदि कथाकथनं नारदेनेत्यर्थः। न चाऽत्र मानाभावः अन्यथाऽनुपपत्तेरेव सत्त्वात्। तथा हि "गृहेषु कूटधर्मेषु" इत्यादिना बर्हिपदा वैराग्यस्योक्तत्वात्तस्य च चित्तशुद्धिं विनाऽनुपपन्नत्वात्तस्याश्च तत्तपो विना हेत्वन्तराभावात्। न च तत्कर्मैव तच्चित्तशोधकम्। सकामकृतत्वात्। सकामत्वं च "नानाकामो यथा भवान्" इति नारदवाक्यादवगम्यत इतिभावः ॥१६८३॥

अथ पूर्वप्रकरणार्थविचारं प्रतिजानीते सर्ववस्त्विति।

निबन्धः—सर्ववस्तुविवेकस्तु जाग्रत्स्वप्नविभेदतः ॥१६९॥
विनश्यत्ता विनाशश्च सार्थकत्वादिरूपवान् ॥
सर्वसन्देहराहित्यं सफलं पञ्चभिः क्रमात् ॥१७०॥

प्रकाशः—अध्यायार्थानाह जाग्रदिति। जाग्रदवस्थानिरूपणं प्रथमाध्यायार्थः। स्वप्नावस्था द्वितीयस्य। विनाशहेतुसामग्रीसान्निध्यं तृतीयस्य। विनाशश्चतुर्थस्य। चकारात्संसारनाशोऽपि सत्सङ्गभक्तिज्ञानसाहित्यनिरूपणेन। एतदेवाह सार्थकत्वेति। दुष्टस्याऽपि पूर्वदेहस्य नाशस्तदा सार्थको भवेद्यद्यग्रे सत्सङ्गः स्यादन्यथा तु तन्नाशोऽप्यनाश इवेति सार्थकत्वविशिष्टः स निरूप्यत इत्यर्थः। आदिशब्देन भक्त्यादि। सर्वेति पञ्चमस्य ॥ १७० ॥

तत्र कोटिद्वयम्, संसारो मुक्तिमार्गश्च। एतयोः स्वरूपं निरूपणीयम्। तच्चैकदापि भवति। अत्र पृथङ्निरूपणं कुत इत्यत आह संसार इति।

निबन्धः—संसारे मुक्तिमार्गे च जीवो द्वेधा हि गच्छति ॥
तत्सामग्रीप्रकथनमुभयोरुच्यते पृथक् ॥१७१॥

प्रकाशः—संसारे येन प्रकारेण जीवस्य गतिस्तेनैव न मोक्षमार्ग इति गतिभेदज्ञापनाय संसारमुक्तिमार्गयोः सामग्रीकथा पृथगुच्यते। चकारात्पुरुषरूपेणापि स्त्रीरूपेणाऽपि तयोर्मार्गयोर्गतिर्जीवस्याऽतस्तद्बोधनायोभयोः पुंस्त्रियोस्तथोच्यत इत्यर्थः। एतेन स्त्रीशरीरं प्राप्तस्य मुक्तिसाधननिरूपणात्तादृशस्यैव मुक्तिरिति शङ्का निरस्ता, तस्य पूर्ववासनानुरूपदेहप्राप्तितात्पर्यकत्वात्। तथा च सत्सङ्गादिसाधने स्त्रिया अपि मुक्तिः सूचितेति ज्ञेयम्। "मां हि पार्थ" इति भगवद्वाक्यादिति भावः ॥१७१॥

अथेति, उपक्रमोक्तार्थकथनोत्तरम्। प्रतिजानीत इति, सार्द्धाभ्यां कर्तुं प्रतिजानीते ॥ १७० ॥ तत्रेति, पुरञ्जनप्रकरणे। तथा चेत्यादि, तादृशस्यैव मुक्तिरिति न किन्तूक्तगीतावाक्यात्तादृशस्यापि मुक्तिरित्यर्थः ॥ १७१ ॥ १७२ ॥

तर्हि स्फुटतयैव कुतो नोक्तं तत्राह अपरोक्षेति।

निबन्धः—अपरोक्षकथायां हि कौतुकाभावतः पुमान्॥
नाऽऽद्रियेत नवा बुद्धिरध्यात्मे प्रविशेद् द्रुतम् ॥१७२॥

प्रकाशः—जन्मादिरूपेण निरूपणे चमत्काराभावान्मनुष्यदेहकथामात्रमुक्तमिति बुद्ध्या तदुक्तेऽनादरः स्यान्न वा ज्ञानमार्गे प्रविशेद्बुद्धिः। परोक्षकथायां तूक्तवैपरीत्यमिति तथोक्तमित्यर्थः॥ १७२॥

(अ. २५) ननु तत्फलाभावं ज्ञात्वाऽपि तस्मिन् कुतः प्रश्नं कृतवाँस्तत्राह प्रश्न इति।

निबन्धः—प्रश्नः शुद्धिपरीक्षार्थमन्यथा कथनं वृथा॥
गृहादिसहितो देहः पुरं मध्यं तथोभयोः ॥१७३॥

प्रकाशः—शुद्धिकथनस्यावश्यकत्वायाह, अन्यथेति शुद्ध्यभाव इत्यर्थः। ननु नवद्वारप्राकारादीनामितरदेहेष्वपि समानत्वात्कुतस्तेष्वनभिरुचिः, कथं च नरदेह एव रुचिकथनमित्याशङ्क्य जीवस्याशेषभोगार्थित्वादन्येषां गृहादिविषयाभावेनाऽशेषभोगासम्भवान्नरदेहे च तत्सत्त्वात्सर्वकामसम्पत्तिसम्भवात्तस्मिन्नेव रुचिर्नाऽन्येषु। अत्र च तन्निरूपणाद्गृहवित्तादिसहित एव देहः पुरत्वेनाऽभिप्रेत इत्याह गृहादीति। अत एव मूल उक्तं "कामान् कामयमानोऽसौ तस्य तस्योपपत्तये" इति। व्याख्याने च "यदा जिघृक्षन् पुरुषः कार्त्स्न्येन प्रकृतेर्गुणान्" इति। तर्हि विषयपरिनिष्ठितबुद्धिसम्बन्ध एव देहसम्बन्ध इति विवक्षया "पुर्यास्तु बाह्योपवने" इत्यादिना विषयाणां पुर्याः सकाशाद्बाह्यत्वकथनमनुपपन्नमित्यत आह मध्यमिति। उभयोर्जीवपुरयोर्निरूपणे मध्ये यन्निरूपितं 'पुर्यास्त्वि'त्यादि तदपि तथा पुरमध्य एवेत्यर्थः। यद्वा। उभयोस्तयोरेव मध्यं मध्ये स्थितं सम्बन्धो ममाहम्बुद्धिरूप इति यावत्। सोऽपि तथेति पूर्ववत्। अत्र हि जीवस्य संसारो

एवं सार्द्धाभ्यां प्रकरणार्थमुक्त्वा पञ्चविंशार्थं विचारयन्ति, ननु तत्फलमित्यादि। कृतवानिति, नारदः कृतवान्। अत्र नारदोक्तिषु 'हिमवतो दक्षिणेषु सानुष्वि'त्यनेन कर्मक्षेत्रं भारतं वर्षमुच्यते। 'लक्षितलक्षणामि'त्यनेनान्धपङ्गुत्वादिदोषराहित्यम्। एवमन्यदपि बोध्यम्। तर्हीति, सविषयस्य देहस्य पुरत्वे। पुरमध्य एवेति, विषयाणामहन्ताप्रकाराद्बाह्यत्वेपि ममताप्रकारान्तःपातित्वेन पुरमध्य एवेत्यर्थः। मूले, बाह्यत्वस्य कण्ठत उक्तत्वात्पुरमध्यगत्वकल्पनमयुक्तमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः, यद्वेत्यादि। पूर्ववदिति, पुरवदित्यर्थः। पुरवदिति वा पाठः। एतदेव विवृण्वन्ति अत्र हीत्यादि।

वाच्यः स चाहन्तामताकृत एव । तयोरेवाऽविद्याकार्यत्वात् । देहादीनां प्रपञ्चमध्यपातित्वेन भगवत्कार्यत्वात् । देहादिषु च जीवस्य सम्बन्धान्तरस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्ते एव सम्बन्धरूपे । अत एवाहन्ममेति बुद्धेरविद्याकार्यत्वेन देहादित उक्तवैलक्षण्यमस्तीति ज्ञापनाय बाह्यत्वनिरूपणम् । अत एव ज्ञाननाश्यत्वं तयोरेव । न च पुरदर्शनानन्तरमस्योक्तत्वान्न तन्मध्यपातीदमितिवाच्यम् । पुरमध्यपातित्वेनैवाऽभिप्रेतत्वात् । अत एवैतद्व्याख्याने "नवद्वारं द्विहस्ताङ्घ्रिम्" (अ. २९-४) इत्येतावन्मात्रमुक्त्वा "तत्राऽमनुत साध्विति" इत्युक्तवान् । अन्यथा साधुमाननोक्तिरनुपपन्ना स्यात् । विषयभोगोपयोगित्वेन ह्यस्मिन् सन्माननं तददर्शने कथं तथा मन्येतेति । यद्वा उभयोर्जीवान्तर्यामिणोर्मध्यमन्तरायरूपं विषयपरिनिष्ठितबुद्धिसहितं पुरमित्यर्थः । "निबन्धायाऽऽसुरी मता" इतिवाक्याद्युक्तसामग्र्याश्च तथात्वादिति ॥ १७३ ॥

पुरप्रवेशस्य जन्मरूपत्वात्तस्य च द्विरूपत्वात्कीदृशमत्र जन्मोच्यत इत्याशङ्काऽभावायोभयानुवादपूर्वं तन्निर्धारमाह जन्मादीति ।

निबन्धः—जन्मादि द्विविधं लोके पञ्चाग्निप्रक्रमेण हि ॥

एकः स नाऽत्र वक्तव्यः पूर्वं दोषस्य सम्भवात् ॥१७४॥

ते इति, अहन्तामते । अत्र गमकमाहुः अत एवेत्यादि । अत इति सम्बन्धरूपत्वात् । उक्तवैलक्षण्यमिति, सम्बन्धिभ्यो भिन्नत्वात्तद्वैलक्षण्यम् । तथा च, पुरवैलक्षण्याद्बाह्यत्वेन कथनं वस्तुतस्तु पुरान्तःपतित्वमेवेत्यर्थः । नन्वेवं सति पुरदर्शनोत्तरं भिन्नतया कथनमस्य विरुद्ध्यत इत्याशङ्कायां प्रमाणान्तरार्थापत्त्या तथात्वमुपपादयन्ति, न चेत्यादि । तददर्शन इति, अहंममत्वेनादर्शने । तथा च, तादृशविषयादिविशिष्टे देहेऽहंममत्वेनादर्शने तस्य विषयभोगानुपयोगित्वात्साधु माननं न सङ्गच्छेतेति तदन्यथानुपपत्त्या तत्कारणीभूतोऽध्यासोपि पुरान्तःपाती पुरवैलक्षण्याच्च तस्याः सकाशाद्बाह्य इतिवाक्यद्वयसामञ्जस्यमित्यर्थः । अत लक्षणाया अदुष्टत्वा'त्तत्रामनुत साध्वि'तिवाक्ये 'तत्रे'तिपदस्याजहत्स्वार्थया पुरतत्सम्बन्धिबोधनेपि बाधकाभावाद् गृहादिषु विषयेषु भोगोपयोगित्वेन पुरबाह्यत्वेपि साधुसन्माननोपपत्तेर्नेदमन्तःपातित्वसाधिकमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः, यद्वा उभयोरित्यादि । अस्मिन्पक्षे तथापदं समुच्चयार्थकम् । गृहादिसहितो देहः पुररूपो जीवान्तर्यामिणोरन्तरायरूपश्चेत्यर्थः । तथात्वादिति, अन्तरायरूपत्वात् । तथा च, गृहादीनां बाह्यत्वेप्युपशल्यन्यायेनान्तःपातित्वात्तत्सहितस्य पुरत्वं नायुक्तमित्यर्थः । ॥ १७३ ॥ (मूले) पूर्वं दोषस्य सम्भवादिति । अत्र हि सर्वक्लेशावहसंसारबोधनाय नारदः प्रवृत्त इति तन्निवृत्त्युपयोगिजन्मात्र न विवक्षितम्, किन्तु, पूर्वं पूर्वप्रज्ञासाधितं

---

१ "शाला" पाठः ।

प्रकाशः--वेदान्तविज्ञानार्थं पञ्चाग्निविद्यया साधितमेकम्। "जायस्व म्रियस्वे"ति-तृतीयमार्गीयं द्वितीयम्। तत्राद्यं त्वत्र नोच्यते, तत्र हेतुः पूर्वं दोषस्येति। तस्य निर्दोषत्वादितिभावः। द्वितीयनिरूपणेप्ययमेव हेतुः, अतो द्वितोयं त्वत्र निरूप्यते दोषसाध्यत्वादस्य ॥१७४॥

पूर्वोक्तं दोषमेव विवृणोति पूर्वं जीवेच्छयेति।

निबन्धः–जायस्वेति द्वितीयस्तु पूर्वं जीवेच्छया तथा॥
ईश्वरत्वादनासक्तेर्हरिस्तत्कामतः कृती ॥१७५॥

प्रकाशः—"कामान् कामयमानोऽसौ" इत्यनेन विषयभोगेच्छाया निरूपणात्तस्याश्च "आवृतं ज्ञानमेतेन" इति वाक्याज्ज्ञानप्रतिपक्षतया दोषरूपत्वात्तादृशमेव जन्मोच्यत इत्यर्थः। ननु जोवान्तर्यामिणोः सहैव प्रवेशात् स्थितेश्च तत्प्रेरणं विना जीवस्यासमर्थत्वेनैतस्यैव सर्वकर्तृत्वाच्च जीवस्येवान्तर्यामिणोपि कथं जन्मादिरूपः संसारो नोच्यत इत्यत आह ईश्वरत्वादिति। सहभावेपि न हि जीव इवातर्न्यामी बुद्ध्याद्यधीनः, किं तु स्वतन्त्रः। जन्मादीनां च कालकर्माधीन एव भावान्नास्मिंस्तथात्वम्। मायामोहाभावेन जीवत्वाभावाच्च। किं च प्रयोजककर्तृत्वेपि महाराजस्येव बन्धकं कर्म स्याद्यद्यासक्त्या कारयेत्स च नेदृश इति न तथा। अत एव "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इति श्रुतिः। किं च जीवस्तु दुःखी, अयं तु तस्यापि दुःखहर्त्ता ज्ञानद्वारा, "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इत्युच्चनीचभावेन भगवत एव प्राकट्यकामनयान्तर्यामिणस्तथात्वान्न संसारित्वमित्यर्थः। अथवा तस्य जीवस्य कामतः कामनया परं हरिः कृती कृतिमान् प्रेरकत्वान्नाऽन्या कृतिरित्यर्थः। अत्रायं भावः। देहप्राप्त्यनन्तरं हि कर्मकरणेन बन्धः। अत्र च तस्मात्पूर्वमेव जीवस्य काम उच्यते, स चान्तर्यामिप्रेरणं विना न सम्भतीति यथा देहप्राप्तेः पूर्वमपि प्रेरकत्वेपि न तस्य संसारित्वं तथाऽग्रेपीति। कामाभावे हेतुरनासक्तेति। आसक्तो हि कामयते। अत्रापि हेतुरीश्वरत्वादिति। तथा सति कर्मणां बन्धसम्भवेन तदधीनत्वेऽनीश्वरत्वं स्यात्॥१७५॥

देहप्राप्तेः पूर्वं बुद्ध्यादिनिरूपणस्य तात्पर्यमाह लिङ्गेनेति सार्धेन।

लौकिकं दोषस्य दृढाध्यासस्य तादृशजन्मनैव सम्भवादुत्पत्तेरित्यर्थः। तस्येति, वैदिकस्य ॥ १७४ ॥ तथात्वमिति, संसारित्वम्। तथात्वादिति, उच्चत्वात्। अस्मिन्पक्षे कृतीतिपदस्य कुशल इत्यर्थः। तदेवात्र विवृतं न संसारित्वमित्यनेन। अस्य लौकिकप्रकरणत्वादत्र वैदिको भगवदीयः कामः किमर्थं आद्य इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि। तथा सतीति आसक्तत्वे सति ॥ १७५ ॥ बुद्ध्यादिनिरूपणस्येति। 'यदृच्छये'त्यारभ्य 'गजगामिनी'-

निबन्धः—लिङ्गेन सहितो जीवः स्थूलदेहे सुखी भवेत्।
अतो गर्भप्रवेशाद्धि पूर्वं कृष्णविनिर्मिते ॥ १७६ ॥
बुद्धिप्राणेन्द्रियगणे तदध्यासोऽनुवर्ण्यते ॥

प्रकाशः—लिङ्गशरीरेणेत्यर्थः। अध्यासस्याऽविद्याकार्यत्वेन बुद्ध्यादीनामपि तथात्वमिति शङ्कावारणाय कृष्णनिर्मित इति विशेषणम्। "इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः" इत्यन्तस्य तात्पर्यमुक्तम् ॥ १७६३ ॥

"तां प्रविश्य पुरी" मित्यादिग्रन्थस्य तात्पर्यं वदँस्तत्र बुद्ध्यादीनां स्वरूपमाह देहात्मेति।

निबन्धः—देहात्ममतिरेषा हि तथा स्थूलेन्द्रियादि च ॥ १७७ ॥
पुंस्त्वं स्वतन्त्रता तस्य पारतन्त्र्यं तथेतरत् ॥

प्रकाशः—एतेन देहाध्यासो निरूपितः। अविद्यापर्वरूपत्वादत्रायं युक्त इति हिशब्दः। "सप्तोपरि" इत्यादिना स्थूलेन्द्रियाण्युक्तानि। तान्यप्यध्यस्तान्येवेति ज्ञापनाय तथेति पदम्। १७७ ॥ ननु पुंस्त्वादयो धर्मा हि देहस्य, अत्र च तत्पाठः पूर्वं जीवे तथा कथनं नोपपन्नमित्याशङ्क्य तत्स्वरूपमाह पुंस्त्व-

---

मित्यन्तस्य। अध्यासस्येति, इन्द्रियान्तःकरणाध्यासस्य। सोयमध्यासो मूले, 'ददर्श प्रमदोत्तमामि'ति दर्शनक्रिययोच्यते। 'इति तौ दम्पती' इति समयसंवादेन तद्दार्ढ्यमुच्यते। ममाहमितियत्कृतमित्यनेन च व्याख्यायते। अत्रैवं ज्ञेयम्। बुद्धिः प्रमदा, तस्या उत्तमता अविद्या संवलितत्वम्। दशभृत्या दशेन्द्रियाणि। तेषां च सखित्वं ज्ञानकर्मकरणेन बुद्धिसहायत्वम्। तथैव तद्वृत्तीनामपि सखीत्वम्। एकैकशतपदेन यदत्रोक्तं, तदेव वृहद्बलत्वेन व्याख्यातं मनः। तस्य बहिर्विषयकज्ञानादाविन्द्रियाधीनत्वादुभयेन्द्रियाणि नायकानि यस्येति वृहद्बलरूपत्वम्। 'एकादशमहाभटा' इत्यत्र तस्य भिन्नतयाप्युक्तत्वाच्छतनायकत्वमपि। तस्याः व्रीडा चोत्तमत्वकृता, सा च जीवे भगवदीयत्वादिशङ्कया। अभगवदीयत्वादिकोटिस्फूर्त्या गजगामिनीत्वम्। एकतरनिश्चये तु पलायेत वा शीघ्रमागत्याश्लिष्येद्वा। न तु कटाक्षेण स्पृशेत्। तेन स्पर्शश्चैकतरनिश्चयार्थमेव तया कृतः। तत्रापाङ्गपुञ्जादयो ज्ञायमाना धर्मास्तेषां च जीवस्य व्यामोहने करणत्वं स्फुटमेव, तथैव स्नेहादीनां तद्वृत्तीनां व्यापारतापि। स्पर्शश्च तत्कार्योऽध्यासः। स च पुरीप्रवेशात्पूर्वमिति लिङ्गशरीराध्यासरूपः सिद्ध्यति। तदेतदुक्तमध्यासस्येत्यादिना ॥१७६३॥ अतः परं देहाध्यासोऽवशिष्यते तमाहुः, तामित्यादि। एतेनेति 'तां प्रविश्य पुरीं राजन् मुमुदाते शतं समा' इत्यत्र पुरीप्रवेशोत्तरं मोदकथनेन निरूपित इत्यर्थः। अध्यस्तानीति, तेषां स्थूलदेहावयवरूपत्वेन तदध्यास एतान्यप्यध्यस्तानि, ममाहमितियत्कृत-

मिति। श्रुतिभागवताद्यनधीनो हि देहादौ रमत इति ज्ञापनाय पुम्प्रयोग इतिभावः। इतरत्स्त्रीत्वं श्रुत्याद्यधीनत्वम्। अत एव तस्यामग्रे भक्त्युत्पत्तिं वक्ष्यति ॥ १७७½ ॥

निबन्धः—तस्याः स्त्रीत्वं तु मायात्वाद्बहिस्तद्धर्मसिद्धये ॥१७८॥

वाक्योक्तिः स्वेच्छतासिद्ध्यै देवत्वाल्लोकवत्तथा ॥

प्रकाशः—तस्या बुद्धेः। अस्याः स्त्रीत्वं न पूर्ववत् किंत्वेतदधीनो जीव इति तद्व्यवच्छेदाय तुशब्दः। तत्त्वे हेतुर्मायात्वादिति। देहात्मभावरूपत्वादस्या अविद्यारूपत्वेनाऽविद्यायाश्च मोहकत्वेन स्त्रीरूपतया चाऽस्या अपि स्त्रीत्वमित्यर्थः। ततः किमत आह बहिरिति। मोहितो हि मोहकानुवृत्तिं कुरुते, तथा चास्या मायात्वेन मोहकत्वे सिद्धे चान्तरत्वेनैतद्धर्माणां यथा बहिरपि सिद्धिर्भवति तदर्थं तथोक्तमित्यर्थः। तदेतत् "क्वचित्पिबन्त्याम्" इत्यादिना निरूपितम् ॥१७८॥ जीववाक्यानां तात्पर्यं वदँस्तत्प्रयोजनमाह स्वेच्छतेति। यत्स्वस्य चिकीर्षितं तदेव चेत्तस्या अपि भवेत्तदा पुर्या तया सह भोगे स्वस्य स्वाच्छन्द्यं भवेत्, नो चेत्सशङ्कतया भोगे यथेष्टा प्रवृत्तिर्न स्यादिति तत्सिद्ध्यर्थं जीववाक्योक्तिरित्यर्थः। ननु ताल्वोष्ठपुटव्यापाराभावेन कथमुक्तिरित्यत आह देवत्वादिति। आधिदैविकरूपे कारणरूपाणां ताल्वादिनां सत्त्वात्तथा। अत एव "चक्षुरुद्गायत" इत्यादिश्रुतिः। तृतीयस्कन्धे च तत्त्वानां स्तुतिः। तर्हि देवत्वेऽवश्यं तत्स्वरूपमपि जानात्येव तत्कथं 'का त्वम्' इत्यादिप्रश्न इत्यत आह लोकवत्तथेति। यथा कामुकोऽपूर्वां कामिनीं दृष्ट्वा तत्सङ्गेऽन्याश्च दृष्ट्वा तामात्मसात्कर्तुं ज्ञात्वाऽपि रसार्थं पृच्छति तथेत्यर्थः ॥ १७८½ ॥

अग्रे निषेधार्थं 'त्वं ह्री' इत्यादिविकल्पाः कुत इत्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाह लीलेति।

निबन्धः—लीलाविग्रहसम्बन्धे ब्रह्मादीनां मतिर्न सा ॥ १७९ ॥

अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः ॥

निराकृतिरतस्तासां पार्थिवत्वमतित्वतः ॥ १८० ॥

प्रकाशः—लीलार्थं देहसम्बन्धेपि देहात्ममतिस्तेषां नास्तीति ज्ञापयितुं तत्सम्बन्धिनीनां निरूपणमित्यर्थः।१७९। इयं तु देहात्ममतिरूपेति तासां निराकरणम्, निराकृतौ तात्पर्यान्तरमप्यस्तीत्याह, अयोग्यमिति। गुर्वङ्गनादिकामनायां पतत्येवेत्यपि ज्ञापनाय "नाऽसां वरोरु" इत्यनेन तासां ह्र्यादीनां निराकृतिः। तत्र हेतुः।

मित्यनेनैवं सङ्गृहीतानीत्यर्थः ॥१७७॥ श्रुतिभागवताद्यनधीन इत्यादि। तथा च शास्त्राननुवर्तित्वरूपं स्वातन्त्र्यमेव तस्य पुंस्त्वमित्यर्थः। यथेति यथामोहितः ॥ १७८ ॥ १७९ ॥

पार्थिवत्वेन पृथिवीविकारत्वेनाऽऽत्मनि या मतिर्देहात्ममतिरिति यावत्तद्रूपत्वम् । एतदेव मूले 'भुविसृगि'ति पदेनोच्यते ॥ १८० ॥

नन्वयं हि लिङ्गशरीराध्यास उच्यते, तस्य स्थूलदेहप्राप्तिहेतुत्वात् । तथा च ब्रह्मादीनामपि स्थूलदेहसत्त्वात्तद्धेतुर्बुद्धिप्राणेन्द्रियगणाध्यासोऽवश्यं वाच्यः । ते च निरूप्यमाणरूपा एवेति कथं ब्रह्मादीनां मतिर्न सेत्युच्यत इत्याशङ्क्य तदीयानां तेषां स्वरूपमाह ज्ञानयोगमया इति ।

निबन्धः—ज्ञानयोगमयास्तेषामिच्छामात्रप्रकाशिनः ॥

मायात्वसिद्ध्यै शङ्का तु प्रार्थनाऽन्यस्य सम्भवात् ॥१८१॥

प्रकाशः—ते हि योगिनो ज्ञानपूर्णाश्च । तथा च ज्ञानप्रधाना बुद्धिचक्षुरादयो ज्ञानमयाः । क्रियाप्रधानाः प्राणवागादयो योगमया इत्यर्थः । तयोस्तथाभावे हेतुः इच्छामात्रेति । यदैव भगवदिच्छा भवत्येभिर्जीवैरेतानि कार्याणि करिष्य इति तेषामेव वा, तदा तेषु तदुभयसत्त्वात्ताभ्यामेव देहेन्द्रियादयः पूर्वमेव सम्पादिताः प्रकाशयुक्ता भवन्तीत्यर्थः । तथा च ज्ञानादिरूपत्वेनाहङ्काराजन्यत्वादिच्छामात्राधीनत्वेन मायानधीनत्वात्तत्कार्याविद्यापर्वणामपि देहाद्यध्यासानामभाव इतिभावः । नन्वियमपि तादृश्येवेति चेन्नेत्याह मायात्वेति । तुशब्दस्तादृशत्वव्यवच्छेदकः । 'त्वं न्हीः' इत्यादिशङ्का या तस्यां सा मायात्वमेव साधयति । अन्यथैकतरनिर्द्धारमेव कुर्यात्स-मानरूपत्वात् । "तासां वरोर्वन्यतमा" इति न वदेत् । अतो मोहिकात्वा-त्पूर्वमयथारूपाणि स्वात्मन्युत्तमत्वेन ख्यापितवतीति सा मायारूपैवेत्यर्थः । अत एवाऽन्यं कञ्चन मोहयित्वा मा रमयत्विति शङ्कया "पुरीमिमाम्" इत्यादि-प्रार्थनां कृतवान् ॥ १८१ ॥

निबन्धः—तत्सन्निध्ये स्वतः स्थातुमशक्तस्तादृशं जगौ ॥

देवतात्वेन वाक् तस्या जीवसन्निधितोऽपि च ॥१८२॥

प्रकाशः—किंच यद्यपि सा न किञ्चिदिदानीं करोति, तथापि तस्याः सन्निधि-मात्रेणाऽपि तां विना क्षणमपि स्थातुमशक्तः सन् "त्वयोपसृष्टो भगवान् मनो-

---

त इति,बुद्धिप्राणादय इतीतिलिङ्गशरीराध्यासं विना स्थूलेन कार्यासिद्ध्या ब्रह्मादिनामपि लिङ्गश-रीराध्यासस्यावश्यकत्वात्।तदुभयसत्वादिति, ज्ञानयोगयोः सत्त्वात्।ताभ्यामित्यस्य प्रकाशयुक्ता इत्यनेन सम्बन्धः । ख्यापितवतीति, 'ऋतेर्थमि'त्यत्रोक्तया रीत्या व्यत्यासेन ख्यात्या प्रकाशित-वती । (मूले) प्रार्थनान्यस्य सम्भवादित्यस्यार्थमाहुः अत एवेत्यादि ॥ १८१ ॥ तत्सान्निध्येत्यर्द्धस्यार्थमाहुः किञ्चेत्यादि ।

भवः" इत्याद्युक्तवान्। देहात्ममतिसान्निध्ये सति देहं विना स्थातुमशक्तो वा तथोक्तवान्। तथा च जीववाक्यैस्तस्या मोहकत्वेन मायात्वमेव सिद्ध्यतीतिभावः। इदानीं बुद्धिवाक्यानि विचारयँस्तद्वचने पूर्ववदेवोपपत्तिमाह देवतात्वेनेति। ननु जीवस्य चेतनत्वेन देवत्वं युक्तं न तस्या जडत्वात्। अस्तु वाधिदैविक्याश्चेतनत्वम्, तथाप्यत्र तु भौतिक्या एव वचनानां वाच्यत्वात्कथमुक्ति-रित्यत आह जीवसन्निधित इति। अपिना पूर्वसमुच्चयः। चकारात् प्राणेन्द्रियसान्नि-ध्यादपि।१८२। अत्र हि "कस्यासो"ति प्रश्नस्योत्तरं "न विदाम वयम्" इत्यादिना स्वस्य परस्यापीत्यादिना जीवादेरपि कर्तुरज्ञानमेवोक्तं तया। तथा चैतेनापि भगवत्कर्तृत्वमेवायाति बुद्ध्यादीनां न मायिकत्वमित्याह अनेनैवेति।

निबन्धः—अनेनैव मताः सर्वे विरुद्धा विनिवारिताः॥

मूलज्ञाने स्वनाशः स्यात्स्वरूपे त्वस्ति रूपतः॥ १८३॥

प्रकाशः—विरुद्धा इति ये मताः अभिमता मायावादादयस्त इत्यर्थः। न च 'न विदामे'-तिपदेन भावरूपमज्ञानमेव कारणतया तयोक्तमितिवाच्यम्, तस्य जीवनिष्ठत्वेनोत्तमपुरुष-प्रयोगानुपपत्तेः। न च बहुवचनात्स्वस्मिन्नेव जीवं मेलयित्वा वदतीति तथा

इतिभाव इति, इति हेतोर्न ह्र्यादिसदृशीतिभावः। पूर्वं समुच्चय इति, देवतात्वसमुच्चयः ॥ १८२३॥ ननु बुद्धेर्वक्त्रीत्वाय देवतात्वाङ्गीकारो न युक्तः। तस्या अविद्याकार्यत्वेन मायिकत्वात्। न च वाक्यवक्तृत्वानुपपत्तिः। स्वाप्निक-पुरुषाणामिव तस्या अपि तथात्वसम्भवादित्याशङ्कां वारयितुं तद्वाक्यार्थं विचारयन्तः कारिका-मवतारयन्ति अत्रेत्यादि। अत्र बुद्धिवाक्येषु 'कस्यासि' 'कस्य पुत्र्यसी'ति प्रश्नस्योत्तरं 'न विदामे'त्यादिना श्लोकेन वर्त्तते। तत्रात्मनश्च परस्यापीत्यादिना स्वस्य जीवादेश्च यः कर्त्ता जनकस्तस्याज्ञानमेवोक्तं तया,तथा चैतेन स्वपरजनकस्वगोत्रनामकारकाज्ञानकथनेनापि कार्यदर्शनतः अज्ञातस्य भगवत एव कर्तृत्वमायातीति न मायिकत्वं बुद्ध्यादीनामित्याहेत्यर्थः। (मूले) अनेनैवेति स्वपरादिजनकाज्ञानकथनेनैव। नन्वस्मिन्वाक्ये, 'न विदामे'त्यनेन भावरूपाज्ञानं परामृश्याग्रिमवाक्यस्थां विदामेति क्रियां चादायोक्तसर्वकारणविषयकज्ञानमेव तयोक्तम्, न तु तदज्ञानमतो न भगवत्कर्तृकत्वं बुद्ध्यादीनां वक्तुं शक्यमित्याशङ्कायां तदनूद्य दूषयति, न चेत्यादि। ननु वयमित्यनेन जीवमपि स्वमध्ये निवेश्य तथा वक्तीति नोत्तमपुरुषानुपपत्तिरित्यत आहुः न च बहित्यादि। अज्ञानस्य कर्तृत्वज्ञानं जीवस्य स्वस्मिन् मेलनं च कर्तृत्वादि-शून्यब्रह्मज्ञानादपरोक्षात्, तादृशं तु ज्ञानं सकार्याविद्यानाशकमतोऽस्यां तथात्वे त्वज्ञानकार्या-यास्तस्याः स्वरूपमेव न स्यादिति दूरापास्तं तथावचनमित्यर्थः। ननु जीवस्य तादृशज्ञानवत्त्वं

प्रयोग इतिवाच्यम्। एवं हि तदा वदेद्यदि सा तत्त्वज्ञा स्यान्न चैवम्। तथा च सति सैव न स्यात्, जीव एव ज्ञानसम्भवाच्चेति। एतदेव मनसि कृत्वाह मूलज्ञान इति। भगवज्ज्ञाने त्वविद्यानाशाद्देहात्ममतेः स्वरूपनाश एव स्यादित्यर्थः। ननु मायास्वरूपमपीयं न जानातीति तदेवानयोच्यते। न च 'परस्यापी'त्यादिना जीवादिकर्तृविषयस्याऽप्यज्ञानस्योक्तत्वात्स्वाविद्यायाः स्वस्मिन् कारणत्वासम्भवात्तत्र च जीवाविद्याकार्यत्वेनैव त्वदभिमतत्वान्न तथेतिवाच्यम्। जीवस्याऽनाद्यविद्याकल्पितत्वेन तत्स्वरूपस्याप्यज्ञानत्वेनैतदेव परस्यापीत्यादिनोच्यते यत, इति चेद्, अत्र ब्रूमः। यदि जीवस्य जीवत्वमनाद्येव तदा तस्याऽविद्याकल्पितत्वे किं मानम्? विद्यया तन्नाश एव, इति चेन्, न, विद्ययाऽविद्याकार्यसंसारनाश एव, न तु भगवत्कार्यप्रपञ्चस्येति पूर्वमेवैतन्निरासात्। किं चैवं स्वरूपहानिरूपतां मोक्षे वदँस्तस्य च पुरुषार्थत्वेनोपादेयतां वदन्निरपत्रपोसि। ननु जीवभावसत्त्वान्मुक्तस्यापि पुनः संसारित्वं स्यादिति चेन्न। तत्कारणाविद्याया नाशात्, सततं भगवत्सङ्गतत्वात् "मामुपेत्य तु

तत्सत्ताबाधकं[1] न तु तदीयमपीत्यत आहुः जीव इत्यादि। सा हि जीवं स्वस्मिन् मेलयित्वा वदतीति त्वयोच्यत इति जीवे एव ज्ञानमागतम्। अन्यथा[2] तु घटादिवत्केवलजडत्वादेव ज्ञानासम्भव इत्युभयथापि वाक्यकथनस्यैवानुपपत्तिरित्यर्थं मनसिकृत्वाहेत्यर्थः। एवमज्ञाननिष्ठकर्तृत्वज्ञानपक्षे दूषिते तत्स्वरूपविषयकाज्ञानपक्षमादाय पुनः शङ्कते ननु मायेत्यादि। ननु मायास्वरूपाज्ञानमत्र न वक्तुं शक्यम्, परस्यापीत्यनेन जीवप्राणादिकर्तृविषयकाज्ञानस्यापि तत्रोक्तत्वात्। स्वादिरूपस्य कार्यस्य प्रतीतिसिद्धत्वेन तत्र कर्त्रपेक्षायां स्वाद्यविद्यायाः कारणत्वस्यात्माश्रयान्योन्याश्रयाभ्यां वक्तुमशक्यत्वेन जीवाविद्याया एव कर्तृत्वस्य त्वया वाच्यत्वान्मायास्वरूपाज्ञानमस्यास्त्वया न वक्तुं शक्यमिति सिद्धान्तिशङ्कां न चेत्यादिनानूद्य समाधत्ते, जीवस्येत्यादि। अज्ञानत्वेनेति जीवकल्पिकाऽविद्यास्वरूपस्यानादित्वादज्ञातत्वेन परस्यापीत्यादिनापि मायास्वरूपाज्ञानमेवोच्यते यतोऽतो न बुद्ध्यादीनां भगवत्कर्तृकत्वमित्यर्थः। अत्र समादधते, अत्र ब्रूम इत्यादि। पूर्वमेव तन्निरासादिति, शास्त्रार्थप्रकरण एव जीवस्वरूपस्य कल्पितत्वनिरासात्। ननु यथा अविद्यापक्षो भवद्भिर्न मन्यते, तथा भगवत्पक्षो मयापीति तौल्यमिति चेत्तत्राहुः, किञ्चेत्यादि, भगवत्कर्तृकत्वपक्षं न मन्यसे चेन्न मन्येथास्तथापि जीवस्वरूपस्याविद्याकल्पितत्वं मोक्षस्याविद्यानाशरूपत्वं च त्वयाङ्गीक्रियत एवेति मोक्षस्योपादेयता न साधयितुं शक्येति नारदप्रयासस्तव मते वृथैव स्यादितिमूलविरोधस्तव दुर्वार इत्यर्थः। जीवभावसत्त्वादिति, सायुज्ये ब्रह्मभावानङ्गीकारेण जीवभावसत्त्वात्। सततं भगवत्सङ्गतत्वादिति, अलककौस्तुभादिरूपेण तत्सङ्गतत्वात्। मामित्यादि। उक्तगीतावाक्येन सालोक्या-

---

१ बुद्धिसत्ताबाधकम्। २ बुद्धिनिष्ठां जीवस्य स्वस्मिन् मेलनाभावे। इति कस्यचित् टिप्पणम्।

कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते " इत्यादिवाक्याच्चेत्यलं विस्तरेण। तस्याः स्वस्वरूपविपयकं परं ज्ञानमस्ति स्वरूपं पश्यतीति, तदपि न याथात्म्येनेति तद्व्यावर्त्तकस्तुशब्दः। एतदुक्त'मिहाद्य सन्तमि'त्यनेन ॥ १८३ ॥

ननु प्रार्थितस्यैवाभिनन्दनं युक्तं न त्वप्रार्थितस्यापि। तत्र च पुरीप्रवेशमात्रस्य प्रार्थना न शतवर्षावधिकस्य तत्कुतः " शतं समाः " इति वचनमस्या इत्याशङ्क्य तदभिप्रायमाह अविरक्तिरिति।

निबन्धः—अविरक्तिर्वर्षशतमदभ्रवचनान्मतम् ॥
अतोऽभिनन्दनं त्वन्यनिवृत्तिश्च निरूप्यते ॥ १८४ ॥

प्रकाशः—" कामभोगान् शतं समाः " इतिवाक्येन वर्षशतमध्ये कदाचिदपि न विरक्तिरित्युच्यते। ननूक्तं प्रार्थितार्थस्यैवेत्यादि तत्राह अदभ्रवचनादिति। प्रार्थनाया'मदभ्रकर्मणे'त्युक्त्या तस्यापि वर्षशतं सम्मतम्। तथाहि यावत्पुर्यां स्थितिस्तन्मध्ये यदि विरागः स्याद्विषयेषु तदा क्रमेण देहात्ममतेस्त्यागात्कापट्यमेव स्यादनया सह पुरप्रवेशकर्मणि। मध्ये अत्यागे त्वदभ्रत्वम्। पुरे च स्थितिः शतावधिकैव, अतो हेतोः " दिष्ट्यागतोसि " इत्यादिनाऽभिनन्दनम्। अन्यशङ्कयैव प्रार्थनायाश्च कृतत्वात्। 'कं नु त्वदन्यमि'त्यादिनाऽन्यनिवृत्तिश्च मूले निरूप्यत इत्यर्थः ॥१८४॥

अन्तिमश्लोकस्य तात्पर्यमाह क्रियापरत्व इति।

निबन्धः—क्रियापरत्वे सिद्धिः स्यादिति बाह्वोर्हि वर्णनम् ॥
रोदने गीतिरेवाऽत्र गानं निद्रा च वर्णिते ॥ १८५ ॥

प्रकाशः—ज्ञानस्य देहात्ममतिविरोधित्वेन तत्परत्वे स्वयमेव न सिद्ध्येदिति क्रियापरत्वसिद्ध्यर्थं तत्प्रधानबाह्वोर्वर्णनमित्यर्थः। 'उपगीयमान' इत्यस्य श्लोकस्यार्थं निरूपयंस्तत्र गानस्वरूपमाह रोदन इति। बाल्यसम्बन्धिनी जाग्रदवस्था निद्रा चोच्यते, तत्र रोदनविषये अत्र परोक्षवादे गानमेवाभिमतम्। यद्वा। अत्र लोके यदैवोत्पन्नो रोदिति तदैव सर्वेषां गीतिर्भवतीति रोदनमेव गानमिति वर्णितम्। 'हृदिनीमाविशत्' इति निद्रा च वर्णितेत्यर्थः ॥ १८५ ॥

दावपि पुनर्जन्माभावस्य मर्यादया सिद्धत्वात्। अलं विस्तरेणेत्यनेन दूषणान्तराणामपि सत्ता बोधिता। तानि च तन्मते 'न विदामे'त्यादेर्विधेयकोटित्वेन तद्गतबहुवचनस्याविवक्षितत्वकल्पनं उपाख्यासदर्थवादत्वं विद्वन्मण्डनाद्युक्तानि च बोध्यानि। एवं 'न विदामे'तिवाक्यस्यार्थो विचारितः। अग्रिमस्य विचारयन्ति, तस्या इत्यादि। इदं ' स्वरूपे त्वस्ति रूपत ' इति चरणस्य विवरणम् ॥ १८३–१८४ ॥ अन्तिमश्लोकस्येति, 'कस्या मनः स्यादि'त्यस्य।

"महिषी यद्यदीहेत" इत्यारभ्याध्यायसमाप्तिपर्यन्तस्य तात्पर्यं वदति बुद्धेरिति।

निबन्धः—बुद्धेः सर्वत्र मुख्यत्वात्तत्त्वेनाऽन्यस्य सङ्कथा ॥
बाल्ये जागरणं सुप्तिर्न स्वप्न इति बोधितम् ॥ १८६ ॥

प्रकाशः— सर्वत्र सर्वकार्येषु। अन्यस्य जीवस्य तत्त्वेन तदनुवर्त्तित्वेन। 'सप्तोपरि कृतद्वारः' इत्यारभ्य "याति जायात्मजोद्भवम्" इत्यन्तेन भोगसाधनस्थानानां निरूपणाद्भोगस्य च बुद्ध्यधीनत्वात्तन्निरूपणेन बुद्धिवशजीवकथैव सम्यङ्निरूपिता भवतीति 'सप्तोपरी'त्यादिग्रन्थ इतिज्ञापनाय समित्युपसर्गः। अवस्थाद्वयनिरूपणेनैवाध्यायसमाप्तेस्तात्पर्यमाह बाल्य इति। अध्यायसमाप्त्येति ज्ञेयम्, (बाल्ये) पूर्ववासनया स्वप्नसम्भवेपि निश्चये प्रमाणाभावात्तथा ॥१८६॥

(अ० २६) अग्रिमाध्याये स्वप्नावस्थानिरूपणे हेतुमाह किञ्चित्प्रौढ इति।

निबन्धः—किञ्चित्प्रौढे तदप्याह रूपं चाऽस्यापि वर्ण्यते ॥
बालत्वात्स्थिरता नास्तीत्यत एवं कथा ततः ॥ १८७ ॥

प्रकाशः—किञ्चित्प्रौढस्य स्वप्नानुभवो भवतीति तादृशे स्वप्नमप्याह। तत्कालीनस्य सपरिकरस्य जीवस्य स्वरूपं च 'स एकदा महेष्वासः" इति त्रिभिर्वर्ण्यते। "चचार

अत्रैवं विभागो ज्ञेयम्। 'का त्व'मित्यस्य (४-२५-२६) 'इहाद्य सन्तमात्मानं विदाम' (४-२५-३४) इत्युत्तरम्। (४-२५-२६) 'कुत' इत्यस्योत्तरं (४-२५-३४) 'न ततः परमि'ति। 'येनेयं निर्मिते'त्यादि (४-२५-३४) तु स्वसामर्थ्यबोधकम्। सामर्थ्यं शरणतानिमित्तत्वमात्रम्। ("निमातृत्वमात्रम्" पाठः) न च विचरन्यदमाद्राक्षीः कयाचिन्निर्म्मितं क्षिये'तिवाक्यविरोधः। 'अन्ते या मतिः सा गतिरि'तिन्यायेन पूर्वप्रज्ञायाः कर्मादिसहायमात्रतया तत्रापि पदत्वेन दर्शनस्यैव मुख्यतया विवक्षितत्वादिति। किञ्चिकीर्षसी' (४-२५-२६)त्यस्योत्तरं 'दिष्ट्ये'त्यादिभिः सप्तभिः[४-२५-३६]सोपपत्तिकमिति। तत्रेत्यादि तत्र बाल्यसम्बन्ध्यवस्थाद्वये रोदनविषये बालस्य मात्रादिकृतं गानमेव परोक्षवादे बाह्यसामग्रीरूपत्वेनाभिप्रेतमित्यर्थः। न च परोक्षवादत्वहानिः। एवमुक्तावपि विवक्षितार्थस्यास्फूर्त्त्या तस्याक्षतत्वात्। ननु गानांशे त्वपरोक्षतैवेति चेन्, नायं दोषः, मोहप्रसादहर्षाणामग्रे ग्रहणादपरोक्षताया अपि प्रस्तुतोपयोगित्वेन क्वचित्क्वचिद्विवक्षितत्वादिति। अस्मिन्नध्याये बाल्यावस्था तु 'उपगीयमान' इतिपद्येन [४-२५-४४] 'नैच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात् क्रीडामृगो यथे'त्यर्द्धेन [४-२५-६२] च स्फुटतीति ज्ञेयम्। बुद्ध्यावर्त्तित्वेनैवात्र जीवकथास्तीत्यत्र गमकमाहुः सप्तेत्यादि। 'बोधितमि'ति पदस्यार्थमाहुः अध्यायेत्यादि ॥ १८६ ॥ एवं सपादाष्टादशभिः पञ्चविंशाध्यायो विचारितः।

पादोनाभ्यां षड्विंशार्थमाहुः अग्रिमेत्यादि। एतस्याध्यायस्य पूर्वशेषताबोधनाय

मृगयाम्" इति सप्तभिः स्वप्नस्वरूपं च। ननु गन्धर्वनगरत्वेनैव स्वप्नरूपनिरूपणं तत्प्रवेशजनितसुखाभिमतिनिर्वृत्तत्वेन जीवस्वरूपनिरूपणं च कुतो न कृतं भवाटव्यामिव। कुतश्च मृगयारूपं क्लिष्टं निरूपितमित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह बालत्वादिति। अत्र हि बालस्येव किञ्चित्प्रौढस्याऽवस्थोच्यते। स चाऽस्थिर इति मृगयायां च तादृशत्वं भवतीत्येवम्रूपा कथोक्तेत्यर्थः। यद्वा। न स्वप्न इतिवोधितमित्युक्ते, तर्हि किं साऽवस्थैव नास्तीत्याशङ्कायां नेत्याह। किञ्चित्प्रौढे स्वप्नमप्याहाऽग्रिमाध्याये। 'सप्तोपरी'त्यादिना पुरस्य स्वरूपमपि वर्ण्यते। चकारात्तत्तत्कार्यं च। ननु "महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्त्तत" इत्येतावतैव सर्वोक्तेः "क्वचित्पिवन्त्याम्" इत्यादेः किं प्रयोजनमत आह बालत्वादिति ॥ १८७ ॥

दशभिः स्वप्ननिरूपणानन्तरं तदध्याय एवाऽग्रिमप्रकरणान् विभजते आक्रोश इति।

निबन्धः--आक्रोशश्चाऽनुसन्धानं चिन्तनं चाऽपि वर्ण्यते ॥
प्रौढस्य तु कथा प्रोक्ता दृढासक्तेरनन्तरम् ॥ १८८ ॥

प्रकाशः— "ततः क्षुत्तृट्परिश्रान्तः" इति षड्भिराक्रोशः। चकाराद्भ्रामणमुत्तरञ्च। ततस्त्रिभिरनुसन्धानम्। ततः षड्भिश्चिन्तनम्। चः समुच्चये। संसारित्वेन वहिर्मुखत्वेपि चिन्तनेन्तर्मुखत्वाद्ब्राह्मणकुलादन्यत्र मुररिपोर्दासादितरत्रेत्युक्तमित्यपिशब्दार्थः। अध्यायार्थमुपसंहरति प्रौढस्येति।

(अ. २७) अग्रिमाध्यायार्थं विचारयँस्तत्र विनश्यत्तायाः कथमध्यार्थत्वं पुत्रादिसम्पत्तेरपि निरूपणादितिशङ्कायां तत्रोपपत्तिमाह दृढासक्तेरिति। विनश्यता हि विनाशकारणसामग्रीसान्निध्यं जीवस्य जराज्वरादिसम्बन्ध एव हि सा। सा च देहादिविषयदृढासक्त्यनन्तरभाविभिर्देहात्मबुद्धिकृतैस्तादृगिन्द्रियपरिणामबुद्धिवृत्तिविषयभोगैश्च सम्पाद्यते। अन्यथा चेद्योगवान् स्यात्तदा जरादिसम्बन्ध एव न स्यात्। तथा च तन्निरूपणं विनश्यत्तानिरूपणमेवेत्यर्थः ॥ १८८ ॥

निबन्धः—देहात्मबुद्ध्या यत्सिद्ध्येत्तद्धि तस्य प्रपञ्च्यते ॥
प्रौढस्य राजसत्वाद्धि महिषी साऽपि तादृशी ॥ १८९ ॥

किञ्चित्प्रौढेतिपद्यस्य व्याख्यानान्तरमाहुः, यद्वेत्यादि। अस्मिन्पक्षे अयं श्लोकः पूर्वाध्यायार्थस्यैव सङ्ग्राहक इति सपादोनविंशतिभिस्तदर्थोक्तिः पादोनेनास्येतिवोध्यम्, उत्तरमिति, एकेनोत्तरम्। प्रौढस्येति, किञ्चित्प्रौढस्यातिप्रौढस्य चेत्यर्थः ॥ १८७ ॥

अतः परमष्टभिः सप्तविंशाध्यायार्थमाहुः अग्रिमेत्यादि। तन्निरूपणमिति, पुत्रादिसम्पत्तिनिरूपणम् ॥ १८९ ॥

प्रकाशः—अत एव देहात्मबुद्धेरेवाऽत्र प्राधान्यमित्याद्यश्लोके तस्याः स्वातन्त्र्यं निरूपितम् । देहात्ममत्यभावे वक्ष्यमाणस्य कस्याऽप्यसम्भवात्तत्कारणत्वेन तस्याः कथनं युक्तमिति हिशब्दार्थः । तामस्या अपि देहात्मबुद्धेः "इत्थं पुरञ्जनम्" इत्यादिना राजसीत्वेन निरूपणे हेतुमाह प्रौढस्येति । साऽपि तामस्यपि तादृशी राजसीत्यर्थः । महिषीत्वाद्राजानुगुणत्वं युक्तमिति हिशब्दार्थः । विषयभोगे रजोगुणस्यैव प्रयोजकत्वात्सा तद्भोगानुकूलैव जातेत्यर्थः पर्यवस्यति ॥ १८९ ॥

इन्द्रियपरिणामादीनां पुत्रादित्वेन निरूपणे तात्पर्यमाह बहिरिति ।

निबन्धः—बहिर्यावान् हि संसारो यस्यान्तःकरणेपि सः ॥
अतः पुत्रादिसम्पत्तिरविशेषेण वर्ण्यते ॥ १९० ॥

प्रकाशः—यस्य पुरुषस्य यावान् संसारो बहिरस्ति तावानन्तःकरणेप्यस्ति । अन्तःकरणे तदभावे बहिरपि तदसम्भवादिति ज्ञापनाय बाह्यवत्पुत्रादिसम्पत्तिरविशेषेणैवान्तरप्युक्तेत्यर्थः । यद्वा ननु सर्वेषां जीवानां तावन्त इन्द्रियपरिणामास्तावत्यो बुद्धिवृत्त्यादयश्च भवन्त्येवेति न नियमः । केषाञ्चिन्मध्य एव मृतेः सम्भवात् । न च शतवर्षजीविन एवेदमुच्यत इति वाच्यम् । साधारण्यव्याघातात्तत्कथं शतान्येकादशेत्यादीत्युक्तमत आह बहिरिति । पूर्ववद्, बाह्यसंसारस्यान्तःकरणपूर्वकत्वमात्रे यतस्तात्पर्यं तस्य सर्वत्राविष्टत्वादतो हेतोः सा सर्वेषां जीनानामविशेषेणैव निरूप्यत इत्यर्थः ॥ १९० ॥

यागे बहिः सर्वसाधारण्यासम्भवाद् "ईजे च क्रतुभिः" इत्यस्यार्थमाह स्वल्पेपीति

निबन्धः—स्वल्पेऽपि हि मनोराज्यं यथा तत्त्वत्र वर्ण्यते ॥
नित्यातिरिक्ते दोषः स्याद्वधेनेति विनिश्चितम् ॥ १९१ ॥

प्रकाशः—इज्यत्वेनाल्पफलदातृणामुक्तत्वादल्पेऽप्यर्थेऽस्य मनोरथ उच्यते । सोऽपि यथा येन प्रकारेण परोपद्रवरूपेण सोत्राऽस्मिन्वाक्ये वर्ण्यत इत्यर्थः । तुशब्दो बहिरपि यागपक्षं व्यावर्त्तयति । ननु प्राचीनबर्हिषो वैधहिंसाकर्तृत्वादस्य च तद्विपरीतत्वाद् "यथा भवान्" इति दृष्टान्तोऽयुक्त इत्यत आह नित्यातिरिक्त इति । अग्निहोत्रादिपञ्चकातिरिक्त इत्यर्थः । नित्योपयोगित्वेन पश्वादिकामनया कृतं यत्कर्म तदतिरिक्त इत्यपि ज्ञेयम् । अन्यथा विधिविरोधः स्यादित्येतत्सर्वं सर्वनिर्णयप्रकरणे निरूपितम् । एतदेवाभिसन्धाय विनिश्चितमित्युक्तम् । अत्र च 'नानाकाम' इति वचनादतादृशत्वात्कर्मणो दोषजनकत्वमेवेति युक्तो दृष्टान्तः । अत एव "भो भो प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाऽध्वरे" इति सञ्ज्ञप्तपशुदर्शनमपि सङ्गच्छते । अन्यथा तेषां सद्गतिश्रवणं विरुद्ध्येत ॥ १९१ ॥

अतः परं "आससाद स वै कालः" इत्यादि विचारयति। तत्र दिवसरात्री गन्धर्वत्वेन निरूप्य तैः सह प्राणस्य युद्धनिरूपणाभिप्रायमाह कालस्येति।

निबन्धः—कालस्य नाशकत्वं हि सर्वथैव सदापि हि ॥
नित्यप्रलयरूपेण सन्ततिर्न निवार्यते ॥ १९२ ॥

प्रकाशः—कालस्तु दिनादिरूपोपि सर्व एव मरणकर्त्तैव। सदापि बाल्यादिष्वपि। तथापि स तु लयो निवार्यते, परं तु चतुर्विधप्रलये नित्यप्रलयरूपेण या सन्ततिः सा न निवार्यते। एतदुक्तं "परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम्" इत्यन्तेन ग्रन्थेन ॥ १९२ ॥ अग्रिमश्लोकार्थमाह तत्रेति।

निबन्धः—तत्र प्राणस्य हेतुत्वमिन्द्रियाणां बलं ततः ॥
इन्द्रियाशक्तितो ज्ञातः स्थूलप्राणपरिक्षयः ॥ १९३ ॥

प्रकाशः—सर्वथा यो नाशस्तन्निवारणे प्राणस्यैव हेतुत्वम्। प्राणस्थित्यैव देहस्थितेः। इन्द्रियाणामपि बलं प्राणत एव। ननु चिन्ताहेतुप्राणक्षयज्ञानमस्य कथमत आह इन्द्रियाशक्तित इति। स्थूलेति। महत्कार्यकरणसामर्थ्यमिन्द्रियाणां यस्मात्स स्थूलः प्राणः। तादृशं सामर्थ्यमेव वा स्थूलत्वं प्राणानाम्। केवलं जीवनसम्पादकः सूक्ष्मः। अतः कार्याभावेन कारणाभावानुमानमित्यर्थः ॥ १९३ ॥

ननु प्राणेन्द्रियादीनां स्वरूपतः सत्त्वात्तैश्च भोगसम्भवाच्चिन्ता कुत इत्यत आह पुत्रादीति।

निबन्धः—पुत्रादिविषयाः सर्वे कालेन द्विविधाः कृताः ॥
नाशोपयोगराहित्यभेदेनाऽऽस परं स्वतः ॥ १९४ ॥

प्रकाशः-इन्द्रियपरिणामबुद्धिवृत्तिरूयादिविषया इत्यर्थः। द्वैविध्यमेवाह नाशेति।

ननु कालस्य नित्यप्रलयजनकत्वेन बलिष्ठत्वात्प्राणस्य तत्राकिञ्चित्करत्वात्तेन युद्धयतां किं क्रियत इत्यपेक्षायां प्राणस्य कार्यमाहुः तथापि स तु लयो निवार्यत इति, मरणरूपो लयः प्राणेन निवार्यत इति तस्य कार्यमित्यर्थः। सन्ततिरिति। प्रलयसन्ततिः। इदमेवोपपत्त्या वक्तुमाहुः अग्रिमेत्यादि। अग्रिमश्लोकार्थमिति 'ते चण्डवेगानुचरा' इत्यादिश्लोकद्वयार्थम्; (भा०) मूले 'प्रजागर'पदेन मुख्यः प्राण उच्यते। इतिबोध्यम्। 'क्षीयमाण' इतिश्लोकस्य [४-२७-१७] तात्पर्यमाहुः ननु चिन्तेत्यादि। कार्याभावेत्यादि। प्रयोगस्तु मम प्राणसामर्थ्यं पूर्वापेक्षया न्यूनम्, तत्कार्यरूपेन्द्रियसामर्थ्यस्य न्यूनत्वात्, यत्र यत्र कार्यसामर्थ्यस्य न्यूनत्वम् तत्र कार्यकरणसामर्थ्यस्य न्यूनत्वम्, यथा वह्निज्वालासु। यत्र नैवं तत्र नैवम्, सद्वयस्ये इति ॥ १९४ ॥

"अदिनादि"पाठः।

केषाञ्चिन्नाशः केषाञ्चित्स्थितानामपि कार्योपयोगराहित्यम् । यद्यपि कालः सर्वदा विशिष्टः । न ह्यस्मिँस्तदा काचन नाशोपयोगिनी कृतिः कालेन क्रियते तदैवान्यस्येन्द्रियादिवृद्धिदर्शनाच्च, तथापि तावति काले गते सर्वत्र सर्वं तथा भवतीति कालकृतमित्युच्यते, परं तु स्वत एवेन्द्रियादिस्तथा भवति तदाह परं स्वत इति । स्वतः परमिन्द्रियादिस्तथा आसेत्यर्थः । तर्हि पूर्वमेवैवं कुतो न स्यात् ? न स्यात, स्वसम्बन्धितावत्कालस्य निमित्तत्वात् । तर्हि स्वत इति कथम् ? इत्थम्, एकस्यैव कालस्य कञ्चित्प्रति शतवर्षात्मकत्वं कञ्चित्पोडशवर्षाद्यात्मकत्वं च दृश्यते । तत्रावच्छेदकेन भाव्यमवश्यम् । स च तत्तत्सम्बन्धनिरूपकः स स पदार्थ एवेति । यत्र कालसाम्येपि कस्यचिदिन्द्रियादिसामर्थ्यं नापैति तत्रेश्वरेच्छा प्रारब्धं वा नियामकं ज्ञेयम् । यद्वा परं स एवेत्यग्रिमश्लोकोक्तं भोगोऽज्ञानं च । तद्द्वयं स्वत एव प्रारब्धादेव, न त्विन्द्रियसामर्थ्येनेत्यर्थः ॥ १९४ ॥

इन्द्रियादिसामर्थ्यनाशमुक्त्वा शरीरसामर्थ्यनाशहेतुं निरूपयति स्वस्यापीति ।

निबन्धः—स्वस्याप्यशक्तिकरणे कारणं तु जरैव हि ॥
अप्रतीकरणं तस्या वक्तुमाह कथां तथा ॥ १९५ ॥

प्रकाशः—जरासम्बन्धमात्रे निरूप्ये ततो विहितेत्यादिना तत्कथानिरूपणस्य प्रयोजनमाह अप्रतीकरणमिति ॥ १९५ ॥

तत्र "कालस्य दुहिता" इत्यादि श्लोकचतुष्टयस्य तात्पर्यमाह अनुग्रहादीति ।

निबन्धः—अनुग्रहादिकर्तृत्वाद्देवता मृत्युबोधिका ॥
विनश्यत्त्वेवमेषैव नाशोऽतः परमुच्यते ॥ १९६ ॥

प्रकाशः—अनुग्रहः पूरौ । आदिशब्देन निग्रहो नारदे । तेन देवता सेति ज्ञापितम् । तस्याः कार्यमाह मृत्युबोधिका । यदैव सा प्रविशति तदैव मृत्युरागत

तर्हीति, काले तत्कारकत्वस्यौपचारिकत्वेनेन्द्रियाणामेव स्वतः क्षीयमाणत्वे । तर्हीति स्वसम्बन्धिकालस्येन्द्रियाशक्तिजनकत्वे । स स पदार्थ इति, देहसम्बन्धोत्तरभावी भोग्यादृष्टसम्पादितो भोग्यपदार्थः । यथा बहुभोजन आलस्यम् । विरुद्धभोजने रोगोत्पत्तिः, स्वल्पभोजने बलाभावो, यथोचितभोजने तु सामर्थ्यमिति । अत्र शतवर्षाद्यात्मकत्वे देहसम्भवः प्रयोजकः । इन्द्रियसामर्थ्ये तु तदुत्तरं सम्बध्यमान उक्तविधपदार्थ इति विभागः । तथासतीन्द्रियादिसामर्थ्यं प्रतिकालस्य प्रयोजकत्वं वा सहकारित्वं वा, जनकत्वं तु भोगस्य पदार्थस्य वा । तेन स्वत इत्यस्य भोगाद्भोग्याद्वेत्यर्थः सिद्ध्यति । ननु क्वचित्क्वचिद्व्यभिचारोपि दृश्यत इति तत्परिहारायाहुः यत्रेत्यादि । अयं विचारः प्रकृतानुपयुक्तत्वाद् व्यर्थ इत्यरुच्या व्याख्यानान्तरमाहुः यद्वेत्यादि । तेन देवता सेतिज्ञापितमिति । एतेन बुद्धिप्रभृतिषु देवतात्वशरीरित्वाद्यङ्गीकारस्यापि युक्तत्वं बोधितम् । तावत्पर्यन्त

इति ज्ञायत इत्यर्थः। अध्यायार्थमुपसंहरति विनश्यत्त्वेति। कालेन कृत्वा जीवशक्तेरभिभवोऽध्यायार्थः। सोऽपि "एवं कृपणया बुद्ध्या" इत्येतदन्तो न तु "अव्यक्तो भीमसैनिकः" इत्यन्त इति मतनिराकरणायैवमेषैवेत्युक्तम्। तथा हि। अत्र हि जीवशक्त्यभिभवनिरूपणं न मुख्यप्रयोजनतया, किन्तु नाशहेतुत्वेनेति तेनापि वाच्यम्। तथा च, तदपेक्षयेन्द्रियादिशक्तिह्रासेऽप्यनुगतैका विनश्यत्त्ववाध्यायार्थत्वेन वक्तुमुचिता। एतदुक्तमेवमेवेत्यनेन। नन्वस्त्वेवं तथाप्यध्यायस्तदवधिरेवेति चेत्तत्राह एषैवेति। अत्र विनश्यत्त्वैव निरूप्या सा चा'ऽव्यक्तो भीमसैनिक' इत्यन्तनिरूपितार्थरूपैवेत्यध्यायस्तावत्पर्यन्त एवेत्यर्थः।

(अ. २८) अग्रिमाध्यायार्थं प्रतिजानीते नाश इति॥ १९६॥ 'तत्र सैनिका' इत्यादिश्लोकपञ्चकस्यार्थं वदँस्तत्र प्रज्वारादीनामपि नाशकत्वे स्वातन्त्र्यभ्रमाभावायाह ज्वरेति।

निबन्धः—ज्वररोगादिसंयुक्ता सर्वनाशकरी तु सा॥
अधिकारि शरीरं च नाशयत्येव दोषतः॥१९७॥

प्रकाशः—"याहि मे पृतनायुक्ता" इति वाक्ये भयेनान्येषां सहभावमात्रस्योक्तत्वात्सैव नाशकरी। एवं तेषामनुपयोगमाशङ्क्योक्तं संयुक्तेति सर्वेति। देहशक्तिबुद्ध्यादिनाशकत्वेपि सर्वांशेन नाशकत्वं ज्वरादियुक्ताया एवेति तत्सहभूता सा तथेत्यर्थः। हरिभक्तशरीरव्यावर्त्तनाय तुशब्दः। ननु तदैव देहस्याऽनाशान्नाऽस्या नाशकत्वं किं तु "तदुदितः स हि यो यदनन्तरः" इति न्यायाद्भयस्यैवेति शङ्कां वारयन्नेव 'मार्दयन् सकलां पुरीम्' इत्यादिना सामान्यतो निरूप्य "कन्योपगूढो नष्टश्रीः" इत्यादिना पुनर्विशेषनिरूपणस्य तात्पर्यमाह अधिकारीति। कर्मादिष्वधिकारिरूपं तत्करणसमर्थं यच्छरीरं तन्नष्टश्रीत्वादिदोषकरणतो नाशयत्येवेत्यर्थः॥ १९७॥

ननु चिन्तासमये प्राचीनबुद्धिवृत्त्यादीनामसम्भवात् "दुहितॄः पुत्रपौत्रांश्च" इत्यादि कथं सङ्गच्छत इत्यत आह अन्तस्थ इति।

निबन्धः—अन्तःस्थ एव विषयः सूक्ष्मरूपेण यः स्थितः॥
देहत्यागे सर्वनाशो देहमत्या भविष्यति॥१९८॥

एवेत्यर्थ इति, तथा च, परमतेध्यायार्थातिक्रमकल्पना असङ्गतैवेत्यर्थः। एवमष्टभिः सप्तविंशाध्यायो विचारितः।

अतः परं पादोनैः षोडशभिरष्टविंशाध्यायं विचारयन्ति अग्रिमाध्यायेत्यादि। निरूप्येति, नाशकत्वं निरूप्य। चिन्ताविषय इत्यादि, तथा चात्र

प्रकाशः—विषयश्चिन्ताविषयः पुत्रादिः। सूक्ष्मरूपेण वासनारूपेण। सर्वस्य बुद्धिवृत्त्यादेर्नाशो भविष्यति, देहात्ममतिरेव तत्र हेतुः। देहस्यैवात्मत्वेन ज्ञानात्तत्त्यागे सर्वनाशं मन्वानस्तथा चिन्तां कृतवानित्यर्थः॥ १९८॥

पूर्वमनिरूपणेऽधुना च तन्निरूपणे हेतुमाह तद्धेतुरिति।

निबन्धः—तद्धेतुः कण्ठरोधादि तस्मिन् जातेऽन्वतप्यत॥

न स्मृतिः कृष्णदेवस्य मरणेपीति तत्कथा॥१९९॥

जीवे गते तु सर्वेषां गतिस्तस्य बलाद्यमात्॥

नित्योऽपि विधिहीनश्चेन्नरकायैव नाऽन्यथा॥२००॥

प्रकाशः—आदिपदेन तत्कार्यम्, 'लोकान्तरं गतवती'त्यादिना तत्कथनस्य प्रयोजनमाह न स्मृतिरिति। तत्कथा चिन्ताकथा, तदैव भयागमनकथा वा।१९९। सर्वेषां प्राणादीनाम्। तस्य जीवस्य गतिस्तु यमाधीनेत्यर्थः। ब्रह्मांशत्वेनाऽयुक्तत्वेपि यमस्य स्वाधिकारबलात्तथा। ननु "तं यज्ञपशवोऽनेन" इति कथमुपपद्यते नित्यत्वेन विहितत्वात्तस्येत्यत आह नित्योपीति॥२००॥ 'अनन्तपार' इत्यस्यार्थमाह कुटुम्बेति।

निबन्धः—कुटुम्बपोषणफलमनुभूय चिरं पुनः॥

देहात्ममतिदार्ढ्येन प्राकृतोऽभूदितीर्यते॥२०१॥

प्रकाशः—"तामेव मनसा" इत्यस्यार्थमाह देहात्मेति। "यं यं वापि स्मरन् भावम्" इति वाक्यानुसारेण पुनस्तथैवाऽभूदित्युच्यत इत्यर्थः॥२०१॥

संसारमार्गकथनमुपसंहरन् पुनर्जन्मान्तरस्याप्यान्तरबाह्यकथानुक्तौ हेतुमाह पुरञ्जनेति।

निबन्धः—पुरञ्जनकथा पूर्वसिद्धैवेति न सोच्यते॥

बहिः कथाऽपि येनाऽयं मुच्यते स निगद्यते॥२०२॥

प्रकाशः—बहिः कथापि पूर्वसिद्धैवेतिसम्बन्धः। अतः परं येन मार्गेणाऽयं मुक्तो भवति स मार्गः "अनन्तरं विदर्भस्य" इत्यादिना निरूप्यत इत्याह येनायमिति॥२०२॥

बुद्ध्यादिवृत्तयस्तेन रूपेण नोच्यन्ते। किन्तु, ये बाह्याः सन्तो वासनारूपेणान्तरत्वमापन्नास्तेभिप्रेयन्त इत्यर्थः। अनिरूपण इति, चिन्ताया अनिरूपणे। तत्कथनस्येति चिन्ताकारकथनस्य। प्राणादीनामिति, इदं 'अन्वद्रवन्ननुपथा' इत्यस्य तात्पर्यम्॥ २००३॥ पुनर्जन्मान्तरस्येति, स्त्रीजन्मनः। सम्बन्ध इति पदानां पुनः सम्बन्धः। तथा च द्वितीयजन्मन्यप्यान्तरकथापूर्वतुल्येवेति सा नोच्यते, बहिःकथा तु ततो भिन्ना पूर्वसिद्धास्तीति

निबन्धः—बाह्यानामान्तरत्वेन न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
तदा स्त्रीत्वेन जातस्य यदासीत्स्पष्टमेव तत् ॥२०३॥
तथा परोक्षता नाऽर्थे शब्दमात्रे भविष्यति ॥
(अथापि ह्यविवेकेन ।)

प्रकाशः—ननु संसारमार्गान्मुक्तिमार्गे ह्यान्तरकृत एव विशेषो नाऽन्यः। तथा चैतत्सदृश एव सोपि मार्गः, परमन्तर्मुखतया क्रियमाणत्वेनान्तरोयम्, बहिर्मुखतया क्रियमाणत्वेन बाह्यत्वं तस्येति विशेष इत्यतिदेशेनैव ज्ञातुं शक्यत्वाद्विशेषनिरूपणं व्यर्थम्। तथाहि, तत्र देहात्ममतिसङ्गेनेन्द्रियाद्यध्यासेन च तद्वृत्तितत्परिणामादयः पुत्रादिसन्तानत्वेनोक्ता यथा तथा भगवानात्मेतिमतिसङ्गेन तत्र स्नेहे जाते तदुपदेष्टृसङ्गेन हरिसेवारुचिश्रवणादिरूपापत्यानि, यथा प्रज्वरादयोन्तर्बहिस्तापकास्तथा तन्निवर्तकोन्तर्बहिस्त्यागो यथा गन्धर्वैरायुःक्षयस्तथा भगवद्भक्त्या तदक्षयः। तदुक्तम्, "तस्यर्त्ते यत्क्षणो नीतः" इति। यथा जरयेन्द्रियवैकल्यं तथा योगेन तज्जयः, यथा प्राकृतबुद्ध्या प्राकृतत्वं तथा ब्रह्मात्मभावनया तद्भाव इति। यदि च विशेषतो निरूपणमेवेष्टं तदा यथान्तराणां बाह्यत्वेन निरूपणं कृतं तथा बाह्यानामपि पदार्थानामान्तरत्वेन निरूपणं कर्तुमुचितं स्यात्। एवं सति स्त्रीत्वेन जातस्यापि सर्वं स्पष्टमेवेति व्यर्थं निरूपणम्। किञ्च, पूर्वं ह्यान्तराणां बाह्यत्वेन निरूपणं कृतम्। प्रकृते च सत्सङ्गादिपदार्थानां बाह्यानां बाह्यत्वेन निरूपणेन नाऽर्थे परोक्षता किन्तु शब्दमात्र एव भवतीत्युपक्रमविरोध इति बाह्यानामान्तरत्वेनेति सार्द्धेनाशङ्क्य समाधत्ते। अथापीति। यद्यप्येवं तथापि प्राचीनबर्हिषस्तथा विवेचनासामर्थ्येन यथाकथञ्चित्परोक्षतामङ्गीकृत्येदं निरूप्यत इत्यर्थः। अस्य कर्मपरत्वेन तथाविवेकाभावो युक्त इति हिशब्दार्थः।

यद्वा। नन्वान्तरबुद्ध्यादीनां बाह्यस्त्रीत्वादिनिरूपणेन हि पूर्वं परोक्षतोक्ता, प्रकृते तु सत्सङ्गश्रवणादीनां बाह्यानामेव बाह्यत्वेन निरूपणे कथं कथायाः परोक्षतेत्यत आह बाह्यानामिति। अत्र हि भगवद्धर्मसम्बन्धेन मुक्तिर्वाच्या, स च बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधः। तत्र बाह्योप्यान्तर एवेति मन्तव्यः। एतत्सङ्गेनाऽहं कृतार्थो भूयासमिति बुद्धिपूर्वकस्यैव तस्य तत्साधनत्वात्। अन्यथा भक्तद्रोहार्थं कृतस्य सत्सङ्गस्यापि मोचकत्वं स्यात्। न चैवं, नरकसाधनत्वात्। तथा

सैवोच्यते इत्यर्थः ॥२०२॥ यथाकथञ्चिदिति विवक्षितार्थगोपनमात्रेण। स चेति,

च । बाह्यत्वेन प्रतीयमानानां सत्सङ्गादीनामप्यान्तरत्वात्तेषां च बाह्यत्वेन निरूपणे पूर्वस्मान्न कश्चिद्विशेष इत्यर्थः । एतेन स्त्रीत्वेन जातस्य मुक्तिनिरूपणमन्यशास्त्रविरोधीत्यपि निरस्तम् । न ह्यत्र देहधर्मस्य स्त्रीत्वादेर्निरूपणं किन्त्वात्मधर्मस्य, तौ च "पुंस्त्वं स्वतन्त्रता तस्य पारतन्त्र्यं तथेतरत्" इति पुरैवोक्तौ । तदाह तदा स्त्रीत्वेनेति । अस्य पूर्वत्रानुषङ्गः कार्यः । तथा च बाह्यानां पुंस्त्वादीनामुक्तरूपाणामान्तरत्वेन स्त्रीत्वेन जातस्य तदा न कश्चिद्विशेष इत्यर्थः । तर्हि पारतन्त्र्यं भिन्नतया कुतो न निरूपितमित्यत आह यदासीदिति । वक्ष्यमाणरीत्या भगवतो भगवदीयस्य वाऽधीनत्वेन निरूपणात्तदेव निरूपितं भवतीति पृथक्तन्निरूपणं नापेक्ष्यत इत्यर्थः । एवमस्य प्रकरणस्य सर्वथा परोक्षता साधिता ॥२०३॥ यस्मिन् पक्षे बाह्यानामपि बाह्यत्वेन निरूपणं तस्मिन्पक्षे बाह्यत्वात्सङ्गादेरर्थस्य तत्र न परोक्षता किन्तू'पयेमे मलयध्वज' इत्यादिशब्दैर्निरूपणाच्छब्दमात्रे परोक्षतेत्याह तथेति ॥२०३½॥

एवं प्रकरणस्य परोक्षतामुक्त्वा तज्जन्म विचारयति । यद्यप्युक्तरीत्या पुंस्त्वादौ न विशेषस्तथापि "बभूव प्रमदोत्तमा" इति प्राकृतभावमुक्त्वा मध्ये जन्मान्तरमनुक्त्वैवाग्रिमवृत्तान्तकथनात्तद्भावापन्नस्यैव सा कथेत्यवसीयते । तच्चानुपपन्नमित्याशङ्क्य तज्जन्मस्वरूपमाह अथापीति ।

निबन्धः—अथाऽपि ह्यविवेकेन दैवाद्देवालयादिषु ॥ २०४ ॥
दासेषु जन्म तस्याऽभूत्कृष्णकार्येषु सङ्गतिः ॥

प्रकाशः—अथेति भिन्नपक्रमे । यद्यपि प्राकृतदशायामेवैतन्न सम्भवति तथाप्युच्यत इत्यपेरर्थः । तत्रोपपत्तिमाह दैवादिति । भगवदिच्छात इत्यर्थः । यदि प्राकृतदशायामेव भगवत्कृपा न स्यादप्राकृतदशायामेव च स्यात्तदा कदाचिदपि न स्यादन्योन्याश्रयात् । अतः पूर्वं भगवत्कृपा युक्तेति हिशब्दार्थः । अविवेकेनेदं भगवत्कार्यमलौकिकमिति विवेकराहित्येन कृष्णकार्येषु सङ्गतिरिति सम्बन्धः । अविवेकेनोपलक्षितस्यैव तस्य तेषु जन्माऽभूदिति वा । दक्षिणदेशोक्तिरप्यत्र साधिकेति ज्ञेयम् । अन्यत्र तथापूजाप्रवाहाभावात् । यतस्तेषु जन्माभूदतः कृष्णकार्येषु साऽभूदित्यर्थः । "तस्यां सञ्जनयाञ्चक्रे" इत्यस्यार्थमाह कार्यासक्तस्येति ।

भगवद्धर्मसम्बन्धश्च । पूर्वत्रेति बाह्यानामिति पूर्वार्द्धे । स्त्रीत्वेनेति, बाह्यस्त्रीत्वेन ॥ २०४ ॥ जन्मान्तरमिति मुक्त्युपयोगि पुरीप्रवेशरूपं दुहितृत्वेन जन्म । अनुपपन्नमिति मुक्तिसाधनकरणाभावादनुपपन्नम् । एतदिति, मुक्त्युपयोगि जन्म । तेष्विति, दासेषु । मूले, देवालयादिपदं 'राजसिंहस्य वेश्मनी'त्यस्य विवरणरूपम् । दासास्तु प्रकरणादेवो-

निबन्धः—कार्यासक्तस्य तस्याऽभूत्प्रेमाश्रुत्यादिसप्तकम् ॥२०५॥
निरन्तरं कृतानां हि सप्तानां कोटिशो भवः ॥

प्रकाशः—प्रमेयबलेनैवेतिभावः।२०५। एकैकस्येत्यस्य तात्पर्यमाह निरन्तरमिति। सकृत्कृतानां बहुधा भवनाभावात्तथा कृतानामेव तथायुक्तमिति हिशब्दार्थः। तेन कोटिश आवृत्तानामेव श्रवणादीनां पुरुषार्थसाधकत्वं न सकृत्कृतानामितिभावः।

अग्रिमस्याऽर्थमाह कार्यं चिन्तयत इति।

निबन्धः—कार्यं चिन्तयतस्तस्य दृढः प्रेमा मनस्यभूत् ॥२०६॥
येन वैराग्यसत्सङ्गौ यतः प्रेम्णाभजद्धरिम् ॥

प्रकाशः—पूर्वं तु स्वाधिकारवशादेव भगवत्कार्यमात्रं यथाकथञ्चित्कार्यमिति बुद्ध्या तत्करणम्। अन्यतः पुत्रादितस्तत्सम्पादने तूष्णीम्भावोऽप्यासीत्। तदनन्तरं निरन्तरं भगवत्कार्यचिन्तनेन कृत्वा मनसि प्रेमाभूत्। सोपि दृढोऽन्यथा कर्तुमशक्यः, अन्यस्मिन् सेवाकर्तरि सम्भवत्यपि येन स्वयमकृत्वा स्थातुमशक्तो भगवति तादृशः प्रेमाऽभूदित्यर्थः। तदान्येषां प्रतिबन्धकत्वज्ञानेन स्वभावतोप्यन्यत्र वैराग्यं जातम्। ततो भक्तेष्वेव सङ्गः। तत्र च सततं भगवत्कथाश्रवणेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोधिकस्नेहेन हरिमभजत्। एतेन प्राणेन्द्रियान्तःकरणाध्यासनिवृत्तिरुक्ता। प्राणेभ्योपि भगवत एवाऽधिकं प्रियत्वाद्, इन्द्रियाणां च तादर्थ्यात् ॥२०६३॥

चतुर्विधान्तःकरणे चाहङ्कारमात्रमवशिष्यते। अहं सर्वं साधयामीतिरूपः। तस्य निवृत्तिप्रकारो 'विभज्ये'त्यादिना निरूप्यत इत्याह अहङ्कारेति।

निबन्धः—अहङ्कारप्रवृत्तस्य क्लेशः सर्वोपि वर्ण्यते ॥२०७॥
ततो ज्ञाने समुत्पन्ने नष्टेहङ्करणे पुनः ॥
चिन्ता कृष्णस्य सेवार्थमभूद्येनातिदुःखिता ॥२०८॥

प्रकाशः—भगवदधीनतयैव चेत्स्थितिः स्यात्तथैव सर्वं सिद्ध्येत्। अहं स्वसाधित-

---

पलभ्यन्त इति ज्ञेयम् ॥ २०५ ॥ प्रमेयबलेनैवेति। एतद् अभूत् प्रेमाश्रुत्यादि सप्तकमि'तिमूलोक्त्या सम्बध्यते। अत्र प्रेमा 'आत्मजामसितेक्षणामि'त्युक्ता कथारुचिः। असितस्य कृष्णस्य भगवत ईक्षणं ज्ञानं ययेति। सप्तसुतास्तु श्रवणकीर्तनस्मरणपादसेवनार्चनवन्दनदास्यानि। तदेतत् 'श्रुत्यादिसप्तकमि'त्यनेनोक्तम्। एतेषां यवीयस्त्वं रुच्यन्तरभावित्वात् ॥ २०६ ॥ दृढ इति, इदं धृतवतामित्यस्य तात्पर्यम्। वैराग्यमिति, इदं मुनिपदस्य तात्पर्यम्। ॥२०६३॥

साधनैः साधयिष्यामीति प्रमाणपरतया साधनेषु प्रवृत्तस्याधिभौतिकादिक्लेशो निरूप्यत इत्यर्थः। अत्राऽहङ्कारकार्यरूपं यत्कृष्णकार्यं तद्रूपो मलयध्वज उच्यते। अत एव कुलाचलमदिरेक्षणापदे मूले कार्यकारणयोरैक्यात्स एवाहङ्कारत्वेनाऽप्युच्यते। सुतत्यागस्याऽप्युक्तत्वान्न पूर्ववच्छ्रवणादिकं ज्ञेयम्। "आरिराधयिषुः कृष्णम्" इति वचनान्न सर्वात्मना त्यागः, अतः सुष्ठूक्तमहङ्कारप्रवृत्तस्येति। ततः सात्त्विकान्तःकरणे कियत्कालानन्तरं क्व भगवान् ब्रह्मादिदुरापः क्वाहमतिनीच इत्येवंरूपे माहात्म्यानुभवे सति दैन्याविर्भावेनाहं साधयिष्यामीतिरूपेऽहङ्कारे नष्टे तादृशस्य भगवतः सेवा कथं स्यादिति चिन्ताऽभूत्। पूर्वं तु स्वस्यैव भजनायोग्यत्वेन चिन्ताऽभूत्। तत एवमतिदुरापत्वज्ञानेन तूष्णीम्भावे भजनमार्गोच्छित्तौ सर्वपुरुषार्थोच्छित्तिर्भविष्यतीति महती चिन्ताभूदिति पुनःपदम्। अत एवाऽतिदुःखिता। इदं "यदा नोपालभेताङ्घ्रौ" इत्यादिना निरूपितम् ॥२०८॥

अहङ्कारनाशे सति "पतिं परमधर्मज्ञम्" इत्यादिना पुनः कृष्णकार्यकथनमनुपपन्नमित्याशङ्क्य तत्रोपपत्तिमाह अहङ्कारस्येति।

निबन्धः—अहङ्कारस्य लेशेन पुनः सेवापरो ह्यभूत् ॥
ततस्तस्याप्यभावे तु मोहे साक्षाद्धरिर्विभौ ॥२०९॥

प्रकाशः—मद्दीनतयैव सन्तुष्टो भविष्यतीति तल्लेशः। तेन पुनस्तत्परोऽभूत्। तथापि भगवदप्राप्तौ तल्लेशोऽपि नष्टः। तदा सर्वं भगवदधीनं भगवाँश्चाऽतिदुराराध्य इति सर्वमशक्यमिति स्वरूपाज्ञानस्य सत्त्वात्स्वनाशमेव भावयमानायां सत्यां हरिरन्तर्यामी स्वयमेव प्रभावित्यर्थः। पतिशरीरमात्रं तल्लेशः, चिन्तायाउद्दीपनं,तदभावः ॥२०९॥

आविर्भूतकार्यमाह आद्यमिति।

निबन्धः--आद्यं पर्व तु तेनैव नाशितं येन सोऽभवत् ॥
अत एव हि सम्पन्नं न विविक्तं हि गोप्यतः ॥२१०॥
मूढत्वमेव कार्याय न कर्मजडतेति हि ॥

प्रकाशः—स्वरूपाज्ञानमविद्याया आद्यं पर्व। तेनैव हरिणैव। नाशफलमाह येनेति। सोऽभवत्तत्पदार्थरूपोऽभवदित्यर्थः। एवकारेणेतरानाश्यत्वमस्योच्यते। ननु पञ्चेन्द्रियार्था इत्यादिव्याख्यानस्य किं प्रयोजनम्,अधिकारिणोन्तर्यामिसाक्षात्कारे स्वत एव तद्बोधसम्भवादित्यत आह अत एवेति। यतो व्याख्यानं कृतमत एव हेतोर्ज्ञानं सम्पन्नमित्यर्थः। तत्रोपपत्तिमाह न विविक्तं हीति। वाक्यार्थो यत्र गोप्यस्तादृशा-

---

अत एवेति अहङ्कारबोधनार्थत्वात् ॥२०८॥

द्वाक्याद्विविक्तमेकान्तरूपं सूक्ष्मं यज्ज्ञानं तन्न सिद्ध्यतीत्यर्थः। तस्य सर्ववस्तुयाथात्म्यज्ञानाभावाद्युक्तं तथा कथनमिति हिशब्दः। बोधनार्थमेवाविर्भावाविर्भावमात्रेण सर्वसम्पत्तिः। प्रमेयबलं पुरुषोत्तम एव, तदपि प्रकटीकृतं चेद्भवति। अत एव मुचुकुन्दकथा तथा। अस्य चान्तर्यामिरूपात्वाद्युक्तमेवमिति पूर्वं हिशब्दः ॥२१०॥ तर्हि यथा तद्व्याख्यानेन तस्य ज्ञानं जातं तथा बर्हिपदोपि तच्छ्रवणात्कुतो न जातमित्यित आह मूढत्वमेवेति। स तु सर्वेतिकर्तव्यतामूढ इत्येतत्कथनमात्रेणेदमेव गृहीतवान्। अयं तु कर्मैव कर्त्तव्यं नाऽन्यदिति निश्चयेन जड इव जातस्तेन विरुद्धज्ञानसत्त्वात्तन्नाभूदित्यर्थः। जडस्य ज्ञानाभावो युक्त इति हिशब्दः ॥२१०½॥

स्वरूपाज्ञाननिवृत्त्यैव परममुक्तिरिति भ्रमाभावाय तन्मुक्तिं विवृण्वन्नुपसंहरति एवमिति।

निबन्धः—एवं कृष्णकृपातोऽयं जीवन्मुक्तो बभूव ह ॥२११॥
कथामात्रत्वविज्ञानविनिवृत्त्यै तथोक्तवान् ॥

प्रकाशः—यदि भगवान् महतीं कृपां कुर्यात्तदा तदैव भक्तिमपि दत्त्वा स्वयं प्रकटीभूय परममुक्तिमपि दद्यात्परं त्वेवंरूपैव यतः कृपाऽतस्तथैवाऽऽसेत्यर्थः ॥२११॥ ननु नारदेन "बर्हिष्मन् एतदि"तिश्लोकः किमर्थमुक्तस्तत्राह कथामात्रत्वेति। तथा सति बोधार्थमाकाङ्क्षैव न स्यात्। तदभावे चोक्तिः सर्वा व्यर्था स्यादिति तस्य स्वाबोधज्ञानेन बोधाकाङ्क्षोत्पादनार्थं तथाऽऽध्यात्म्यं पारोक्ष्येण प्रदर्शितमित्युक्तवानित्यर्थः ॥२११½॥

(अ. २९) अग्रिमाध्यायं विचारयन्नीषद्व्याख्यायाग्रे यन्न व्याख्यातं तत्र परोक्षत्वं नास्तीतिशङ्काभावायेषद्व्याख्यानस्य तात्पर्यं वक्तुं तदनुवदति प्राणेन्द्रियादीति।

निबन्धः—प्राणेन्द्रियादिपर्यन्तं कथञ्चिद्विवृतिः कृता ॥२१२॥
अग्रे कथां परित्यज्य सर्वमाह स्वयं स्फुटम् ॥

प्रकाशः—कथां परोक्षकथामित्यर्थः ॥२१२½॥
अत्र तात्पर्यमाह कथञ्चिदिति।

तथाकथनमिति, प्रत्यक्षतया व्याख्यानम्। मुचुकुन्दकथा तथेति प्रमेयबलस्याप्रकटीकरणान्मुक्तिविलम्बबोधिकेत्यर्थः। युक्तमेवमिति आविर्भूय तथा बोधनं युक्तमित्यर्थः ॥२१०॥
एवं पादोनैः षोडशभिरष्टाविंशाध्यायार्थो विचारितः।

अतः परं चतुर्दशभिरूनत्रिंशाध्यायं विचारयन्ति अग्रिमेत्यादि। कथञ्चिदिति बर्हिषन्मनःपरीक्षार्थं ब्राह्मणवाक्यमुखेन। तथा च, तावतैव बोधसम्पत्तावग्रे परममुक्त्युपयोगि वक्तव्यम्। अबोधे तु विस्तार्य वक्तव्यमिति तस्य बोधं परीक्षितुं तथा विवृतिः कृता। अग्रे तद्वाक्येन बोधपरीक्षोत्तरं स्वयं नारदः सर्वं पूर्वोक्तं स्फुटं प्रत्यक्षवादेनाह।

निबन्धः—कथञ्चिद्बोधनं कार्यं न व्याख्यानं स्वतः फलम् ॥२१३॥
अल्पं च तावता नैव ज्ञानं स्यादिति विस्तृतिः ॥

प्रकाशः--तथा कथने हेत्वन्तरमाह अल्पं चेति। एतदेव विवृणोति तावतेति। अयं तु नोत्तमाधिकारी कर्मजडत्वादतो नाऽल्पकथनेनाऽस्य बोध इति परोक्षकथायां कथमुक्तादर्थादधिकार्थः 'क्वचित्पुमानि'त्यादिषूक्त इत्यर्थः ॥२१३३॥

स्वतन्त्रोक्तौ श्लोकान् विभजते एकेनेति ।

निबन्धः—एकेन पूर्वमखिलं दोषो हेतुस्तथा कृतिः ॥२१४॥
फलं च द्विविधं हीनसाम्यं दार्ष्टान्तिकं तथा ॥

प्रकाशः—एवं बहुविधैरित्येकेनैव "एवं कृपणया बुद्ध्या" इत्यन्तेन निरूपितं पूर्वजन्मवृत्तान्तं निरूपितवान्। ततः प्राणेन्द्रियेत्येकेन दोषवर्णनम्। ततो "यदात्मानम्" इत्येकेन प्राणादिधर्माध्यासे हेतुभूतस्वरूपाज्ञानस्य निरूपणम्। तत एकेन कृतिनिरूपणम्। ॥२१४॥ ततो द्वाभ्यां द्विविधं फलमुक्तम्। ततः "क्षुत्परीतः" इत्येकेन हीनसाम्यम्। तत एकेन दार्ष्टान्तिकम् ॥२१४३॥

निबन्धः—दुःखसन्ततिरामुक्तेरन्यथा सिद्धिसङ्कथा ॥२१५॥
हेतुनिर्द्धारणं चैव निस्तारोपायवर्णनम् ॥

प्रकाश--तत एकेन मुक्तिपर्यन्तं दुःखसन्ततिरेवेति निरूपणम्। तत एकेनाऽन्येषां दुःखप्रतीकारोपायानामनुपायत्वकथा। दृष्टान्तेन बोधनमुपसर्गार्थः। ततो दुःखहेतुनिर्धारणं द्वाभ्याम्। तत एकेन निस्तारोपायकथनम् ॥२१५३॥

निबन्धः—पञ्चभिः साधनं तस्य चतुर्भिः सर्वबाधनम् ॥२१६॥
मुख्योपपत्तिः प्रकृते सिद्धत्यागोपदेशनम् ॥

प्रकाशः—ततः पञ्चभिः श्लोकैर्निस्तारोपायरूपभक्तेः साधनं निरूपितम्। ततश्चतुर्भिर्भक्त्यतिरिक्तानां सर्वेषां साधनानां बाधनम् ॥२१६॥ ततो भक्तिमार्गे भगवदनुग्रहरूपा मुख्योपपत्तिरेकेन। तत एकेन सिद्धस्य कर्मणस्त्यागोपदेशनम् ॥२१६३॥

निबन्धः—तत्र हेतुभ्रमः श्रोतुः सार्द्धाभ्यां सर्वनिर्णयः ॥२१७॥
शीघ्रनिर्गमनार्थाय दृष्टन्तेन तथा वचः ॥

तस्य प्रयोजनं यथाकथञ्चित्तस्य बोधनं बोधसम्पादनं कार्यमिति । नारदस्य तदुपस्वप्रतिष्ठापेक्षित्वाभावाद्व्याख्यानं स्वतः फलं फलरूपं न भवतीत्यतो हेतोः स्फुटमाहेत्यर्थः।२१३।२१६॥

प्रकाशः—ततो द्वाभ्यां श्रोतुर्बर्हिषदः कर्मणि पुरुषार्थहेतुत्वज्ञानं भ्रम एवेति निरूप्यते । तत'स्तत्कर्मे'ति सार्द्धाभ्यां सर्वनिर्णयः ॥२१७॥ ततः पुत्रागमनावधिस्थितिनिवृत्त्यर्थं हरिणदृष्टान्तकथनपूर्वकं त्यागकथनं द्वाभ्याम् ॥२१७३॥

बर्हिषदः शङ्काबीजमाह आत्मन इति।

निबन्धः—आत्मनोऽकर्तृताज्ञानाच्छङ्का सूक्ष्मो ह्यशक्तिमान्॥२१८॥
स्थूल एव ततः कर्त्ता तदभावे कृतं न च॥

प्रकाशः—कर्तृत्वसमानाधिकरणः कर्तृसमानकालीनो हि भोगः स चात्र जन्मान्तरीयः। तदर्थं कर्मकरणं तदा भवेद्यदि तत्समानकालीनात्मन एव कर्तृत्वं स्यात्। न चैवम्। अतस्तादृशफलार्थं कर्मकरणं कथं सङ्गच्छत इति राज्ञः शङ्का जातेत्यर्थः। शङ्कास्वरूपमेवाह सूक्ष्म इति, लिङ्गदेह इत्यर्थः। पूर्वोक्तशङ्कासमाधानार्थं भोगसमानकालीनस्य लिङ्गशरीरस्यैव कर्तृत्वं वाच्यम्। तच्च न सम्भवति। तस्य कर्मकरणेऽशक्तत्वाद्, अतः स्थूल एव देहः कर्ता। जन्मान्तरे च तत्कालीनभोगफलककर्मकर्तृभूतपूर्वशरीरस्याभावात्कस्मिन् फलं स्यात्। किं च कर्तरि हि कर्मोत्पद्यते। तादृशस्य देहस्याभावे कर्मापि न स्यादधिकरणाभावात्। एतदाह तदभाव इति।॥२१८३॥

त्यागकथनं द्वाभ्यामिति 'सुमनः सर्वधर्माणामि'तिव्याख्यानगद्यसहितेन 'क्षुद्रं चरमि'तिश्लोकेन 'स त्वं विचक्ष्व मृगचेष्टितमि'त्यनेन चेतिद्वाभ्याम्। (श्लोकौ ५४ ५५)

अत्र द्वाभ्यामिति कथनेन 'प्रश्न एवं ही'तिश्लोको गद्यं च स्पष्टार्थत्वाद्वा विगीतत्वाद्वा न सङ्गृहीतमिति संशय एव तिष्ठति। तथापि प्रथमपक्ष एव साधीयानिति प्रतिभाति। चतुर्भिरिति वा पाठः॥२१७३॥ न चैवमिति, कर्तृभूतस्य देहस्य नष्टत्वेन भोगस्य कर्तृत्व(सामानाधिकरण्यं) कर्तृसमानकालीनत्वाभावादित्यर्थः। पूर्वोक्तशङ्केत्यादि। अत्रायमर्थः। ऐहिकभोगस्य कर्तृत्वसामाधिकरण्यं कर्तृसमानकालीनत्वं च दृष्ट्वा, जन्मान्तरीयो भोग उक्तधर्मवान्, भोगत्वादिदानीन्तनभोगवदित्यनुमातव्यम्। तत्र साध्यतावच्छेदकीभूतकर्तृजिज्ञासायामुक्तरीत्या प्रत्यक्षबाधात्। लिङ्गस्य तद्विशिष्टस्य केवलस्य चात्मनः कर्तृत्वं न सम्भवतीति 'सविशेषणे ही'तिन्यायेन स्थूल एव कर्तृत्वपर्यवसानं वक्तव्यम्। जन्मान्तरत्वे तदभावात्तद्व्यधिकरण एतदसमानकालीनो भोगः कथमिति। एवं कस्मिन्फलं स्यादित्यन्तेन 'कर्माण्यारभते येने' तिसार्द्धश्लोकोक्तं संशयस्वरूपमुक्त्वा, 'कर्म तत्क्रियते प्रोक्तं परोक्षं न प्रकाशत' (५९ श्लो.) इत्य'र्द्धोक्तस्य संशयान्तरस्य स्वरूपमाहुः किञ्चेत्यादि। तथा च, दूरापास्तो जन्मान्तरे भोग इतिभावः। श्रीधरीये तु, स्थूलस्य कर्तृत्वेन तन्नाश इतरेण फलभोगे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्ग इतिदूषणमुक्तम्॥ २१८३॥

फलितमाह कर्तुरिति ।

निबन्धः—कर्त्तुः फलेऽस्य सन्देहो लिङ्गे कर्तृत्वनिश्चयः ॥२१९॥
स्थूलस्य पोषकत्वं हि येन केनाऽपि तद्भवेत् ॥

प्रकाशः—अधिकरणकरणयोरभावात्कर्मकर्तुः कथं फलमुपपद्यत इत्यस्य राज्ञः सन्देह उत्पन्न इत्यर्थः । एवं प्रश्नार्थमुक्त्वोत्तरार्थमाह लिङ्ग इति । स्थूले यत्कृतिसामर्थ्यदर्शनं तत्सूक्ष्मस्यैवेतिमन्तव्यम् । अन्यथा मृतशरीरस्यापि सामर्थ्यं स्यात् । अतोन्वयव्यतिरेकानुविधानात्सूक्ष्मस्यैव कर्तृत्वम् । न हि स्थूलं विनापि तेनैव भोगः सम्पद्येतेत्यत आह स्थूलस्येति । भेरीदण्डन्यायेन स्थूलस्य तत्सामर्थ्यपोषकत्वमेवेत्यर्थः। ननु प्राग्भवीयदेहपोषणेन कृतकर्मणः फलभोगे कथमेतद्देहस्य पोषकत्वमत आह येन केनापीति । न हि तच्छरीरत्वेनावच्छिद्यते पोषकत्वं किं तु शरीरत्वेनैव। अतः केनापि शरीरेण तत्पोषकत्वं भवेदित्यर्थः ॥२११½॥

उपसंहरति अत इति ।

निबन्धः—अतो लिङ्गस्य कर्तृत्वात्तत्सत्त्वेन न दूषणम् ॥२२०॥
आत्मनश्चापि कर्त्तृत्वं ज्ञानाभावे तु लिङ्गिनः

प्रकाशः—तत्सत्त्वेन लिङ्गसत्त्वेन। कर्त्रभावप्रयुक्तं दूषणं नास्तीत्यर्थः। एतत्तु साङ्ख्यमतानुसारेणोक्तम् । वस्तुतस्त्वात्मैव कर्त्ता चेतनत्वात् । तस्य च जडत्वान्न कर्तृत्वं वक्तुं शक्यम् । न चात्माधिष्ठितं लिङ्गमेव कर्तृ, तस्य तु प्रयोजकत्वमात्रमिति

अधिकरणकरणयोरिति भोगायतनस्य शरीरस्य यज्ञादिरूपस्य कर्मणश्चेत्यर्थः। स्थूल इत्यादि । तथा च, स्थूलशरीरं न कर्तृ, स्थूलशरीरत्वात्, मृतशरीरवदित्यनुमानान्न तस्य कर्तृत्वमित्यर्थः। भेरीदण्डन्यायेनेति। यथा पुरुषश्वासवायुनोत्पादितः शब्दो दण्डेन वर्द्धते, दण्डस्यादीर्घत्वे तु न वर्द्धते इति तस्य यथा श्वाससामर्थ्यपोषकत्वमेव, न तु शब्दजनकत्वम् । तेन न्यायेनेत्यर्थः । एतद्देहस्येति, जन्मान्तरीयदेहस्य । 'कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वादि'त्यधिकरणे जीवस्य कर्तृत्वं व्यासपादैः स्वीकृतमिति तदनुसारेण मुख्यपक्षमाहुः वस्तुत इत्यादि । तस्य चेति लिङ्गशरीरस्य। तथा चात्मा कर्त्ता चेतनत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, घटादिवत् । लिङ्गशरीरमकर्तृ, जडत्वात्, घटादिवदित्यनुमानाभ्यां चेतन एव कर्तृत्वपर्यवसानादात्मैव कर्त्तेत्यर्थः । आत्माधिष्ठितस्य लिङ्गस्य कर्तृत्वमाशङ्क्य समादधते न चेत्यादि । तस्य त्विति जीवस्य। ननु वास्याश्चेतनानधिष्ठितत्वदशायां कार्याजनकत्वाच्चैतनस्य कारोस्तथात्वमाद्रियते, प्रकृते तु केवलस्य कस्यापि स्वातन्त्र्यादर्शनाच्चेतनत्वमात्रेण केवलस्य जीवस्य प्रयोजकत्वमङ्गीक्रियतां योग्यत्वादिति

वाच्यम्। एवं कार्येऽधिष्ठितवाच्या एव कर्तृत्वं स्यान्न तु कारोः। प्रयोजकत्वं चाऽन्यथासिद्धया। आत्मनश्चाऽन्वयव्यतिरेकानुविधायिनो लिङ्गाधिष्ठानेन कर्मकरणातिरिक्तकार्याभावान्न तथात्वमित्याशयेनाऽऽह आत्मन इति। असंसार्यात्मनस्तत्रापि भगवद्भावेन गुणातीतस्य शुकादेर्भगवच्छ्रवणादिकर्तृत्वमात्मन एवेति मन्तव्यम्। लिङ्गस्य गुणात्मकत्वात्। किं च लिङ्गवादिनाऽप्यात्मसम्बद्धस्यैव तस्य कर्तृत्वं वाच्यम्। सम्बन्धश्चाऽध्यास एव वाच्यः, स चाऽविद्यारूपः। तेषां च सा निवृत्तेति न लिङ्गस्य कर्तृत्वं वक्तुं शक्यम्। संसारिणस्तु लिङ्गविशिष्टस्यैव तथानुभवाद्विशेषणत्वेन लिङ्गस्यापि कर्तृत्वमित्याशयेनोपसर्गद्वयमुक्तवान्। एतदेव विवृणोति ज्ञानाभावे इति। पूर्णज्ञानाभावे लिङ्गविशिष्टस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वमित्यर्थः॥ २२०½॥

पूर्वोक्तं लिङ्गकर्तृत्वं विवृणोति लिङ्गस्येति।

निबन्धः—लिङ्गस्य करणत्वं च तत्पूर्वं साध्यते स्फुटम्॥२२१।
स्वप्नेन साधनं चैव फलितं चाऽऽह वै त्रिभिः॥

प्रकाशः—तत्त्वं च वाशीवत्। एतत्त्रितयं सिद्धान्ते निरूप्यते। तत्र लिङ्गस्य करणत्वं पूर्वं साध्यते त्रिभिरित्याह तत्पूर्वमिति। त्रिभिराहेति सम्बन्धः। श्लोकान् विभजते साध्यत इति। येनैवेत्येकेन स्फुटं करणत्वमुच्यत इत्यर्थः। तत एकेन स्वप्नदृष्टान्तेन तत्साधनम्। तत एकेन फलितम्॥ २२१½॥

चेत्तत्राहुः प्रयोजकत्वं चेत्यादि। राजा युद्धयतीत्यादौ यद्राज्ञः प्रयोजकत्वमङ्गीक्रियते तदाज्ञापनादिरूपकार्यान्तरं प्रतिगृहीतकारणताकत्वेन। प्रकृते तु लिङ्गविशिष्टस्यात्मन उक्तकार्यातिरिक्तकार्यादर्शनान्न प्रयोजकवत्त्वं वक्तुं शक्यमित्याशयेनात्मनः कर्तृत्वमाहेत्यर्थः। उपसर्गद्वयमिति उपसर्गेण द्वयम्। च अपि इति पदद्वयमित्यर्थः॥२२०½॥ तत्त्वमिति करणत्वम्। एतत्त्रयमिति केवलस्य कर्तृत्वं, लिङ्गविशिष्टस्य कर्तृत्वं, लिङ्गस्य करणत्वं चेतित्रयम्। स्फुटमिति 'लिङ्गेन मनसा स्वयमि'तितृतीयानिर्देशात्स्फुटम्। न च कर्त्र्यपि तदनुशासनान्नैकान्ततो निर्णय इतिशङ्कयम्। 'पुमान् भुङ्क्ते इति कर्तुरत्र भिन्नतया निर्दिष्टत्वेन सन्देहनिरासात्। किञ्च, जन्मान्तरीयभोगसूक्ष्मदेहकरणकः तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्, एतज्जन्मीनभोगवत्। यदेवं तदेवम्, कुठारान्वयव्यतिरेकानुविधायिच्छिदावच्चेति। इदं च मूले साध्यत इति पदात्सम्भवमादाय दर्शितम्। प्रभुचरणैस्तु शब्दापेक्षयानुमानस्य मन्थरगामित्वादुपेक्षितमिति न विरोधः। तत्साधनमिति लिङ्गविशिष्टस्य भोक्तृत्वसाधनम्। 'शयानमिममुत्सृज्ये'ति (६१) श्लोके यथा पुरुष—आत्मा, शयानं श्वसन्तं जीवन्तं इमं देहमुत्सृज्य आत्मनि मनस्याहितं कर्म सुप्तदेहसदृशेन तद्विलक्षणेन वा देहेन भुङ्क्ते इति स्वप्नदृष्टान्तेन, लिङ्गविशिष्ट आत्मा भोक्ता, समनस्कत्वात्, स्वाप्निकभोक्तृवदि'त्यनुमानेन साधनमित्यर्थः। फलितमिति 'ममैते मनसे'-

निबन्धः—कर्माभावस्तदद्दृष्ट्या न निश्चेतुं हि शक्यते ॥२२२॥
पूर्वकर्म यथेदानीं लक्ष्यतेऽस्तीति कार्यतः ॥
तथाऽग्रेपीति भावेन कर्माध्यासौ निरूपितौ ॥२२३॥

प्रकाशः—ततः परं कर्माभावेन फलानुपपत्तिशङ्कां परिहर्तुं कर्म निरूपयँस्तदाश्रयत्वेनाऽऽत्मनि कर्तृत्वं निरूपयति, कर्मणः कर्त्राधारकत्वात्। कर्म चाध्यासं विना न भवतीत्यध्यासश्च निरूप्यते। तत्र कर्म तु न दृश्यत इति नास्तीति न वक्तुं शक्यम्। अयोग्यस्यापि सतोऽदृश्यत्वात्। तर्हि तत्सत्त्वे किं मानमित्याकाङ्क्षायां विचित्रचित्तवृत्तिलक्षणकार्यलिङ्गकानुमानं पूर्वजन्मकर्मणि प्रमाणं नारदेनोक्तम् ॥२२०॥ ननु प्रश्नत्वे तज्जन्मनि कृतकर्मणोऽदर्शनात्फलानुपपत्तिः शङ्किता, उत्तरे च पूर्वजन्मकर्मसाधनमित्यनुत्तरमिदमित्याशङ्क्य तदभिप्रायमाह पूर्वकर्मेति। तेन हि कर्ममात्राभाव उक्तस्तया रीत्या। अधुना चैतत्कर्म कार्यस्य कस्यचिदभावादेतज्जन्मसम्बन्धि कर्म न साधयितुं शक्यम्। अतोऽधुनानुभूयमानकार्येण लिङ्गेन पूर्वकर्मणि साधिते तद्दृष्टान्तेनाऽस्मिन्नपि जन्मनि यत्कर्म क्रियते तदप्यग्रिमदेहपर्यन्तं वर्तत इति ज्ञेयमित्यभिप्रायेण कर्माध्यासौ निरूपितावित्यर्थः॥अध्यासनिरूपणप्रयोजनमनुपदमेव वक्ष्यति ॥२२३॥
श्लोकान् विभजते सप्तभिर्दशभिश्चेति।

निबन्धः—सप्तभिर्दशभिश्चैव चिन्तानुमितियुक्तिभिः ॥
मनसाऽनुभवाच्चापि कर्माऽस्तित्वं विनिश्चितम् ॥२२४॥

ति (६१) श्लोके ममैते पुत्रादयः असावहमेतन्नामा एतज्जातीय इति ब्रुवन् पुमान् यद्यत् शरीरं मनसा गृह्णीयात् तत्तस्माद्देहाद्गाढं सिद्धं पुनर्जन्मोत्पादकं कर्मैव गृह्णीयात्’ इतिकथनेन। मनसा गृह्यमाणाः पुत्रदेहादयः लिङ्गतद्विशिष्टान्तरनिष्ठादृष्टजन्याः, ममाहमितिबुद्ध्या गृह्यमाणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, पारक्यपुत्रदेहादिवदित्यनुमानेन भोगस्य कर्तृत्वसामानाधिकरण्यं कर्तृसमानकालीनत्वं च निगमयित्वा संशयो निवारित इति विचार्यमाणे आत्मनि सन्देहाभावात्सोपपत्तिकं सपरिकरं लिङ्गस्य करणत्वमेवोक्तमित्यर्थः ॥२२१॥ ततः परमिति, एकप्रश्नोत्तरकथनानन्तरम्। कर्माभावस्तद्वद् दृष्ट्वा न निश्चेतुं हि शक्यत इत्यर्द्धस्यार्थमाहुः तत्र कर्मेत्यादि। न दृश्यत इति क्षणत्रयानन्तरं न दृश्यते। अयोग्यस्येति दिकालादेः। तर्हीति। एवं सत्तासम्भावनायाम्। अत्रानुमानं स्वार्थं (परार्थं च) बोध्यम्। कार्यस्य स्वयमेवानुभूयमानत्वात्। न्यायस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वाच्च। तया रीत्येति कर्म नास्ति अप्रकाशमानत्वात्, नष्टघटादिवदित्यनुमानबोधनेन। कस्यचिदिति आमुष्मिकभोगरूपस्य विहितकर्मकार्यस्य। नन्वपृष्टमध्यासं किमित्युक्तवानित्यपेक्षायामाहुः अध्यासेत्यादि ॥२२३॥ चिन्तानुमितीति। अनुभवभिन्ना संस्कारजन्या वा चित्त-

प्रकाशः—यथाऽनुमीयत इति सप्तभिः कर्मनिरूपणम्, ततो दशभिरध्यासस्य। कर्मप्रकरणोक्तानर्थान् स्फुटीकरोति। चिन्तानुमितीति। लौकिककारणासम्भवे सति भवन्त्यो विचित्राश्चित्तवृत्तयो विचित्रकारणजन्या विचित्रकार्यत्वात्, चित्रतन्तुपटवदित्यनुमानेन तादृक्कर्मसिद्धिः। युक्तिश्च कदाचिदुपलब्धत्वे सत्येव मनस उपलम्भयोग्याः साक्षादनुपस्थिताश्चार्था यदि पूर्वं कदाचिदुपलब्धा न स्युरधुनापि मनसा नोपलभ्येरन्। तथा च पूर्वजन्मन्यनुभूतानामर्थानामुपनायकस्याऽन्यस्यासम्भवेन तदुपनायकत्वेन कर्मसिद्धिः। अनुमितिरेकेन, युक्तिर्द्वाभ्याम्। मनोनिरूपणमेकेन त्रिभिरनुभवस्य ॥२२४॥

वृतिश्चिन्तातत्पक्षकानुमितिश्चिन्तानुमिति, सा च युक्तयश्च ताभिरित्यर्थः। अथवा चिन्तापदेन चित्तसाधकानुमानं सङ्गृह्यत इति न बहुवचनानुपपत्तिः। अत्र यद्यपि मूले 'यथानुमीयते चित्त'-मित्यत्र ज्ञानकर्मेन्द्रियवृत्तयः कारणान्तरसंसर्गजन्याः, कारणसद्भावेपि युगपदनुत्पद्यमानत्वात्, यदेवं तदेवम्, घटादिवत्, यन्नैवं तन्नैवम्, सव्येतरगोविषाणवदिनुमानेन चित्तसाधनमधिकं निःसरति। अक्षपादेन च युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गमितिज्ञानेन्द्रियकार्यकादाचित्कत्वेन मनः साधितम्। अत्र द्विविधेन्द्रियकार्यकादाचित्कत्वेनेतिविशेषः। श्रीशरीये तु, तासामपि चित्तवृत्तिनां युगपदनुत्पत्तेरितिकथनात्, नानाचित्तवृत्तयः कारणान्तरसमवधानजन्याः युगपदनुत्पद्यमानत्वादित्यनुमानं मनसि कृतम्। तथापि, युगपदनुत्पत्तेरिन्द्रियसंसर्गकादाचित्कत्वेनापि सम्भवादनुमानस्यार्थान्तरसाधकत्वसिद्धसाधनत्वाभ्यां दुष्टत्वात्तदनादृत्य पक्षतावच्छेदकत्वेन वैचित्र्यं निर्दिष्टम्। चित्तसाधकानुमानं च स्फुटत्वादुपेक्षितमितिज्ञेयम्। युक्तिश्चेति. 'नानुभूतं क्व चोनने'तिश्लोकद्वयोक्ताद्युक्तिः। स्वशिरच्छेदादेः कदाप्यनुपलब्धत्वेपि मनसोपलभ्यमानत्वात्तद्वारणाय कादाचित्यादिकं पक्षविशेषणं ज्ञेयम्। नोपलभ्येरन्निति यद्युपलभ्येरन् अदृष्टरजतस्यापि रजतभ्रममुत्पादयेयुरितिभावः। एताभ्यामनुमानयुक्तिभ्यां कारणान्तरमात्रसिद्धिर्न तु विशेषतः कर्मण एव सिद्धिरित्यपेक्षायां तत्सिद्धिप्रकारमाहुः तथा चेत्यादि, मनोनिरूपणमेकेनेति 'मन एव मनुष्यस्ये'तिश्लोकेन एतद्देहानन्तरं पुनरुत्पश्यतो मोक्ष्यतश्च पूर्वचिह्नानि संसारावेशभगवदावेशादीनि मन एव शंसतीति मनसस्तादृशत्वं च न मनस्त्वेन साधारणत्वात्। किन्तु, सदसत्कर्मवासनावत्त्वेनैवेति पूर्वरूपबोधनद्वारा कर्मसत्ताबोधनार्थं मनोनिरूपणम्, पूर्वरूपपदस्य भाविचिन्हबोधकत्वं वैद्यके प्रसिद्धम्। ज्वरस्य पूर्वरूपं प्रमेहस्य पूर्वरूपमिति तेषामभिलापादिति न कोपि शङ्कालेशः। त्रिभिरनुभवस्येति 'अदृष्टमश्रुतं चे'त्यारभ्य 'उपरज्यावभासत' इत्यन्तेषु त्रिषु पूर्वेणादृष्टाश्रुतं पर्वताग्रे समुद्रो, दिवा नक्षत्राणि, स्वशिरच्छेद, इत्यादिकमन्यदेशकालक्रियाश्रयं देशकालक्रियान्तराश्रयतया निद्रादिदोषेण स्वस्य यथा मनसि दृश्यते, तथान्येषामपीति स्वदृष्टान्तेनानुमन्तव्यम्, यत्र यत्र निद्रादिदोषवन्मनस्कत्वं तत्र कदाचिदीदृशानुभववत्त्वमिति व्याप्तेः

ननु पृष्टोत्तरमेतावतैव भवतीत्यध्यासनिरूपणं व्यर्थमित्यत आह करणेति ।

निबन्धः—करणाध्यासराहित्ये सर्वमेवाऽन्यथा भवेत् ॥
तन्निवृत्तिः कृष्णसाध्या तेन सेव्यः स एव हि ॥२२५॥

प्रकाशः—अध्यासनिरूपणं विनाऽऽत्मनः कर्तृत्वं लिङ्गस्य करणत्वं च न निरूपयितुं शक्यम् । कारुवत्कराद्यभावेन तद्ग्रहणाद्यसम्भवात् । न च चेतनसंयोगमात्रेण व्यापारः सम्भवति जडे, लोके तथानुपलब्धेः । तथा च लिङ्गात्मनोः सम्बन्धाभावे तत्कृत-पुण्यपापैरात्मनः सम्बन्धाभावे प्रवृत्तिमार्गो निवृत्तिमार्गश्च व्यर्थः स्यादतोऽध्यासनिरू-पणेन तत्सम्बन्धे (तत्सम्बन्धिनि) निरूपिते सर्वमुपपद्यत इत्यध्यासनिरूपणं कृतमित्यर्थः । अन्यथोत्तरितमप्युनुत्तरितमेव स्यात्कर्मण एवाभावादितिभावः । अत एवान्ते तस्या-विद्यारूपत्वेन तन्निवर्त्तकश्च भगवानेवेति तद्भजनमुक्तवान् । "मामेव ये प्रपद्यन्ते" इत्याद्युपपत्तिर्हिशब्देनोच्यते ॥ २२५ ॥

ननु पुत्रमुक्तिप्रकरणे पितृमुक्तिनिरूपणं कुत्रोपयुज्यते तत्राह मुक्त इति ।

निबन्धः मुक्ते पितरि पुत्राणां न बन्धस्तत्कृतो भवेत् ॥
प्रोवाचाऽतस्तु पुत्राणामैहिकामुष्मिकं फलम् ॥२२६॥

प्रकाशः--अतो हेतोः प्रोवाच पितृमुक्तिमिति शेषः । ब्रह्मत्वलक्षणां मुक्तिमुक्त्वा कृष्णसायुज्यरूपां तत्फलरूपां तामाह । तुशब्दः पितृकथासम्बन्धं व्यावर्त्तयति । एतदध्यायद्वयार्थमाह पुत्राणामिति । एकेनैहिकमपरेणाऽऽमुष्मिकं फलं प्रोवा-चेत्यत्रैव सम्बध्यते ॥ २२६ ॥

स्वस्मिन्ननुभवात् । हेतोः पक्षमात्रे तुल्यत्वात् । अयं कादाचित्कः क्वाचित्कश्चानुभवः कर्मैवानु-मापयति नोचेन्निद्रादोषस्य सर्वदा सर्वेषां तौल्यात्सर्वेषां सर्वदा स्यादित्यनुभवः पूर्वकर्मसत्तासाधक उक्तः । द्वितीये च सर्वेषामिन्द्रियार्थानां मनसि क्रमेण हानोपादानत्वानुभवकथनादनुभवधर्मेण क्रमेण प्राक्कर्मसत्ता साधिता । अन्यथा, मनसः सर्वदा सत्त्वात् क्रमिकत्वं तादृशानुभवस्य न स्यादिति । तृतीये च सत्त्वैकनिष्ठ भगवत्पार्श्ववर्तिनीति मनसो विशेषणाभ्यां दृष्टादृष्टसर्वविषयक-युगपदनुभवप्रतियोगरूपस्य भगवद्ध्यानरूपस्य च कर्मणो हेतुताबोधनात्तेन तत्सत्ता साधितेत्येवं त्रिभिः कर्मसाधकानुभवनिरूपणमित्यर्थः ॥ २२४ ॥ एवं सप्तभिः कर्मसत्ता साधिता । अतः परं दशभिरध्यासनिरूपणप्रयोजनं विचारयन्ति नन्वित्यादि । तद्ग्रहणाद्यसम्भवादिति लिङ्ग-शरीरग्रहणाद्यसम्भवात् । एवं 'प्रोवाचे'त्यन्तैश्चतुर्दशभिरुनत्रिंशाध्यायो विचारितः ।

ननु पूर्वं स्तुतिरुचिता तत्कथं भगवद्वाक्यान्येव पूर्वमुच्यन्त इत्यत आह परमानन्देति ।

निबन्धः परमानन्दसम्प्राप्तिः पौरुषं यशसा सुखम् ॥
कृष्णेनैव तु संसिद्धमधिकारे स्तुतिर्मता ॥२२७॥

प्रकाशः--एतेषामेतत्सर्वं भगवतैव दत्तं सिद्धम् । "अनुग्रहान्मम" इति वचनात् । न तु स्वतपसेति ज्ञापयितुं पूर्वं भगवद्वाक्यैस्तद्दानमेवोक्तवान् । परमानन्दप्राप्तिस्तु तद्दर्शनं कृष्णे सायुज्यं च । एतेन पितुः सकाशादाधिक्यमुक्तम्, तस्य दर्शनाभावादानन्दमात्र-प्राप्तेश्च पूर्णानन्दाप्राप्तेः । तरुदहनादिसामर्थ्यं पौरुषम् । तर्हि स्तुतेः क्वोपयोगस्तत्राह अधिकार इति । भगवत्स्वरूपमेव फलं यथा सिद्ध्यति तथाऽधिकारनिमित्तं स्तुति-रित्यर्थः । अथवाऽन्यत्र स्तुतिकरणेन तुष्टाद्भगवतः फलं प्राप्नोति, भक्तिमार्गे तु भगवान् स्वत एव यदा भक्तेषु सर्वं सम्पादयति स्वीयत्वेन तदा भक्तः स्वाङ्गीकारं सर्वात्मना ज्ञात्वा स्तुत्यादिषु स्वाधिकारं जानाति ततः स्तौति । अथवा सर्वात्मना स्वाङ्गीकारज्ञानेनान्तरानन्दे पूर्णे बहिरपि सर्वेन्द्रियेषु प्राकट्यसमये वाचि स निर्गच्छन् स्तुतिरूपो भवतीत्यानन्दस्यैवाऽधिकाररूपत्वम् । अत एव पूर्वं प्रभुवाक्यैस्तस्मिन् सिद्धे जाते पश्चात्स्तुतिर्भक्तिमार्गे मतेति पश्चान्निरूपितेत्यर्थः ॥ २२७ ॥

(अ० ३१) तर्हि नारदोपदेशो व्यर्थ इत्यत आह शास्त्रार्थेति ।

निबन्धः शास्त्रार्थसिद्धये याज्ञावशतश्चाऽपि नारदः ॥
शोचन्मध्ये त्वभजनाद्भजनं प्राह सर्वथा ॥२२८॥

प्रकाशः—"आचार्यवान् पुरुषो वेद" इति शास्त्रार्थसिद्धय इत्यर्थः । यद्यपि शिवोपदेशोऽप्यस्ति तथापि तस्य भगवत्प्रादुर्भावसाधनेनैवान्यथासिद्धत्वेन सृष्ट्युपयोगि-त्वेन च कथनान्मोक्षानुपयोगमभिसन्धायैवमुक्तम् । तथाप्यपरितोषेण पक्षान्तरमाह याञ्चावशात इति । "यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षजेन च" इति वचनात्त-दुक्तस्मारकत्वेनैव नारदवाक्योपयोगः । विस्मरणे त्वभजनमेव हेतुरिति गृहमध्ये तदभा-वात्तदेवोक्तवाँस्तेनैव सर्वं भविष्यतीति ॥२२८॥

किञ्चिदधिकसपादेन त्रिंशार्थमाहुः एवमित्यादि । ('एवम्' मूले न दृश्यते)
त्रिभिरेकत्रिंशार्थमाहुः तर्हीत्यादि ॥ २३० ॥

इति श्रीतत्त्वदीपप्रकाशावरणभङ्गे
चतुर्थस्कन्धावरणभङ्गः
सम्पूर्णः ॥

एवं सम्पूर्णं प्रकरणं निरूप्यैतच्छ्रवणानन्तरमेव निर्गमने हेतुमाह हरिरिति।

निबन्धः हरिः सर्वात्मना सेव्यो ज्ञात्वा माहात्म्यमादरात् ॥
इत्यर्थः सकले स्कन्धे तथांशेऽल्पेऽपि निश्चितः ॥२२९॥

प्रकाशः—अल्पेऽप्यंश इति अवान्तरप्रकरणेष्वपीत्यर्थः ॥२२९॥

निबन्धः अतोऽत्र विदुरस्तुष्टो भजनार्थं विनिर्गतः ॥
अपकार्युपकारस्य करणान्निर्मलो मतः ॥२३०॥

इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपे भागवते
चतुर्थस्कन्धविवरणं
समाप्तम् ॥

भजनेनैव सर्वसिद्धिर्नान्यथेति सर्वशास्त्रार्थं ज्ञात्वा भजनार्थमेव निर्गतः । ननु भगवच्चरणादप्युच्चैर्गुरुचरणधारणमयुक्तमित्याशङ्क्याह तुष्ट इति । एतादृशशास्त्रार्थकथनेन तुष्टः सँस्तथाकृतवानित्यर्थः । भगवद्भजने दोष एव प्रतिबन्धक इति तस्य भजनं सम्पन्नमिति ज्ञापयितुं सर्वदोषनिवृत्तौ निदर्शनमाह अपकारीति । धृतराष्ट्रस्याऽपकारिणोऽप्युपकारं कृतवानिति तथा ॥२३०॥

इति श्रीमद्वल्लभदीक्षितात्मजश्रीविट्ठलदीक्षित-
विरचितायां श्रीभागवततत्त्वदीपटीकायां
श्रीभागवतीयचतुर्थस्कन्धप्रकरणं
समाप्तम् ॥

चतुर्थस्कन्धः सम्पूर्णः ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे भागवतार्थप्रकरणे

पञ्चमस्कन्धविवरणं प्रारभ्यते।

निबन्धः—बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु ॥
ध्यानासमर्थजीवानामस्माकं सर्वदा स्वतः ॥ १ ॥

अथाऽलौकिकं स्थानं निरूपयन्ननौचित्यमाशङ्क्य विसर्गोप्येवमेव वर्णित इति पूर्वस्कन्धार्थमनुवदति पौरुषेणेति। यद्वा। स्थानं निरूपयन्नुक्तविवक्षितयोः सङ्गति-

---

श्रीकृष्णाय नमः ॥

गो० श्रीपुरुषोत्तमजीविरचितः पञ्चमस्कन्धप्रकाशावरणभङ्गः।

पञ्चमस्कन्धार्थस्यातिदुरूहतया तद्बोधार्थं भगवत्प्रसादरूपं साधनमत्यावश्यकमिति ज्ञापनाय स्वीयानामर्थे तत्प्रार्थयन्ति (मूले) बुद्धीत्यादि। ध्यानासमर्थजीवानामस्माकमिति। अस्मदीया ये ध्यानासमर्थजीवास्तेषां प्रसीदतु। तथा च द्वितीयस्कन्धे सङ्क्षेपतया स्थूलरूप-ध्यानस्योक्तत्वाद् विशेषतस्तद्ध्यानासमर्थनामर्थे भगवत्पादपद्मं प्रसीदत्वित्यर्थः ॥ १ ॥

अथ पञ्चमस्कन्धार्थं निबन्धन्तो द्वादशस्कन्धे महापुराणीयेषु दशलक्षणेषु तृतीयस्य वृत्तिरूपत्वात् 'तस्याश्च वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च, 'कृता स्वेन नृणां तत्र कामा-च्चोदनयापि वे'तिलक्षणाद् भूतानां जीविका तृतीयलक्षणत्वेन सिद्ध्यति। द्वितीयस्कन्धे तु वैकुण्ठविजयात्मकं स्थानं तृतीयलक्षणत्वेनोक्तम्। सर्गविसर्गयोस्तु सामान्यविशेषभाव-सद्भावाद्विशेषस्याभिप्रेतत्वेपि तस्य लक्ष्यैकदेशत्वेन न सामान्यविरोध इत्यनौचित्यं सुपरिहरम्। प्रकृते तु तथात्वस्यास्फुटत्वात्कथं परिहार इति हृदि कृत्वा तत्परिहरन्तो व्याख्येयग्रन्थमव-तारयन्ति अथेत्यादि, अत्र बुद्धिप्रेरकेतिमङ्गलकारिका स्पष्टत्वात्प्रभुभिर्न व्याख्याता।

अयमर्थः। वृत्तिर्हि लौकिकरीत्या स्थितिसाधनम्। न हि जीविकाविरहितः कोपि तिष्ठतीति। प्रकृते तु तत्तन्मर्यादया तत्तत्स्थितिं प्रति कारणभूता भगवतो विशि-ष्टजयप्रकाशिका या स्थितिक्रिया सा स्थानम्। एवं स्थितिसाधनत्वस्योभयत्र तौल्येपि यथा मोक्षसाधको विसर्गः पूर्वस्मिन् स्कन्धे उक्तस्तथात्र मोक्षसाधकं स्थितिसाधनमप्यलौकिकमुच्यते। अतः स्थितिसाधकत्वस्यैव लक्षणत्वात् प्रत्यक्षस्य सामान्यविशेषभावस्याभावेप्येककार्यकारि-

मपि वदन् पूर्वस्मादस्मिन् वैलक्षण्यं वक्तुं पूर्वस्कन्धार्थमनुवदति पौरुषेणेति ।

निबन्धः—पौरुषेण तु या लीला सा चतुर्थे निरूपिता ॥
स्थानलीला पञ्चमे तु षड्विंशत्या निरूप्यते ॥ २ ॥

प्रकाशः—तत्र हीतरसाधनमर्यादया साध्यानपि धर्मादीनर्थांस्तेषु तेषु साधितवानिति निरूपितम् । अत्र तु मर्यादारूपैव लीला निरूप्यत इति वैलक्षण्यमितिभावः । अतः परं "स्थितिर्वैकुण्ठविजयः" इतिवाक्यात्तस्य च स्वाधीनीकरणरूपत्वात्स च प्राकृतेषु चतुर्विंशतिधा जीवब्रह्मभेदेनाऽऽत्मनि द्वेधेति षड्विंशतिधेति तावद्भिरध्यायैः स्थानलीला पञ्चमस्कन्धे निरूप्यत इत्याह स्थानेति । स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्थितिरेव च स्थानमित्युभयार्थकं स्थानपदं मूले प्रयुक्तमिति ज्ञेयम् । अत एवोद्देशे स्थानमित्युक्त्वा लक्षणोक्तौ स्थितिरित्युक्तम् । तथा स पुरुषविशेषकर्मविशेषस्थानविशेषाणामन्योन्यसम्बन्धनियमो भगवत्कृत एवेति सोऽत्र निरूप्यत इत्यर्थः । अत एव विशिष्टो जय इतिभावः ॥ २ ॥

एवं स्थितिपक्षमुक्त्वा द्वितीयपक्षेऽपि षड्विंशतिधैव तदित्याह स्थानं त्विति ।

निबन्धः—स्थानं तु त्रिविधं प्रोक्तं देशकालस्वभेदतः ॥
कालातिक्रमणे काले स्वे स्थितिर्नान्यथा भवेत् ॥ ३ ॥

त्वेन गुप्तस्य तस्य सत्त्वान्नानौचित्यमिति बोधयितुं तदनुवदतीत्यर्थः । * न चात्र मानाभावः, श्रुतार्थापत्तिसिद्धत्वादिति । पौरुषेति विसर्गोत्त्येन पुरुषकार्येण । उक्तरीत्या अनौचित्यपरिहारस्यैकत्र दृष्टशास्त्रार्थन्यायेनात्रापि सुबोधत्वान्नैतावदेवानुवादप्रयोजनमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः यद्वेत्यादि । सङ्गतिमिति अवसररूपां सङ्गतिम् । तेषु तेष्विति धर्मादिप्रकरणिषु जीवेषु । अस्मिन् पक्षे सामर्थ्यं पौरुषपदस्यार्थ इतिज्ञेयम् । एवं चानुवादस्योभयमपि प्रयोजनमिति फलति । एवं पूर्वस्कन्धार्थानुवादप्रयोजनमुक्त्वा द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्युक्तस्याध्यायसङ्ख्यातात्पर्यस्य विवक्षितत्वं बोधयितुमाहुः अतः परमित्यादि । स चेति विजयश्च । अत्र स्थानपदस्य करणव्युत्पत्तिरपि विवक्षिता, 'करणाधिकरणयोश्चे'त्यनुशासनादित्याशयेनाहुः तथा चेत्यादि । अत एवेति उक्तनियमकरणादेव । एवं चात्रोक्तसम्बन्धनियमरूपा या स्थितिक्रिया सा फलत्वेन भगवल्लक्षणम् । अधिकरणव्युत्पन्नस्थितिरूपाः प्राकृतादयस्तु व्यापारतया तथा भूताः, तेषु भगवतो या स्थितिः सोक्तफलकरणतया तथा भूतेति ज्ञेयम् । न चाधिकरणभूतानां, कथं व्यापारत्वमिति शङ्क्यम् । सिद्धान्ते अवान्तरद्वारत्वमात्रेणैव व्यापारत्वस्य विवक्षितत्वाद् अन्यथाकर्तुं समर्थत्वेन तेषां तत्क्रियाजन्यत्वस्याप्यङ्गीकर्तुं शक्यत्वाच्च ॥ २ ॥ द्वितीयपक्ष इति अधिकरणव्युत्पन्नत्वपक्षे ।

---

* मोक्षसाधकस्य स्थितिसाधनस्यालौकिकस्य पञ्चमस्कन्धवाच्यत्वे मानाभावो न शङ्क्यः । द्वितीयस्कन्धोक्तलक्षणानुपपत्तेरेवात्र मानत्वादित्यर्थः ।

प्रकाशः—आद्यपक्षव्यवच्छेदाय तुशब्दः। देशस्त्रिविधो लोकभेदात्। "द्वादश-मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः" इतिश्रुतेः काल एकविंश-तिविधः। स्व आत्मा द्विविध इति तावद्भिरध्यायैस्तन्निरूप्यत इत्यर्थः। नन्वेवं मूललक्षणमनुपपन्नं देशादेर्भगवज्जयत्वाभावादित्याशङ्क्य स्थीयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या स्थानस्य स्थितिविशिष्टत्वेन त्रिष्वपि युगपत्स्थितिर्भगवतैव कर्तुं शक्यते तन्निरूपणं भगवज्जयस्यैव निरूपणमित्युपपादयितुं तत्स्थितिसाधनानि मिथो विरुद्धानि निरूपयति, कालातिक्रमण इतिसार्धाभ्याम्। अत्र कालस्येश्वररूपत्वादात्मस्वरूपं कालश्चेत्येका कोटिः। देशोऽपरा कोटिः। तेन स्वरूपस्थितिनिरूपणेनैव कालस्थितिरपि निरूपिता भविष्यति। काले जिते सति कालस्य स्वाधीनत्वं भवतीति तदैव तस्मिन् स्थितिरित्यर्थः। स्वे स्वकीये स्वाधीन इति यावत्। स्वस्मिन्निति वा। आत्मस्वरूपस्थितौ कालस्य प्रतिवन्धकत्वात्तज्जयस्य प्रतिवन्धकाभावत्वेन कारणता। वेदमार्गस्य तु स्वरूपेणैव कारणतेति विशेषः। अत एव न तस्य भिन्नं प्रकरणम्॥ ३॥

निबन्धः—मर्यादायां भवेद्देशस्थितिरित्येष निश्चयः॥
स्वरूपस्थितिहेतुस्तु वेदमार्गो न चाऽपरः॥ ४॥

प्रकाशः—मर्यादा कर्ममर्यादा। अनेन कर्मणा अत्रैव स्थितिरिति नियमलक्षणा। कर्मापि त्रिविधमिति तादृशेषु देशेष्वेव स्थितिस्तदा भवतीत्यर्थः। स्वरूपेति। आत्मस्वरूप इत्यर्थः। चित्तशुद्धिहेतुकर्मणा कृत्वा स्वात्मस्वरूपे स्थितिर्ज्ञाने सत्यात्मत्वेन भगवज्ज्ञाना(द्भावा)द्भगवत्स्वरूपे स्थितिर्भवति। तदुभयनिरूपको वेद इति स एव तथा।

त्रय इमे लोका इति, अत्र लोकपदेन तद्वासिनो ज्ञेया इति न कोपि विरोधः। एवमपि प्रकरण-विभागोत्राभिप्रेत इति बोध्यम्। एकविंशे आदित्यनिरूपणात्, द्वाविंशे ऋषीणामग्रिमे शिशुमारा-वतस्येत्यात्मद्वयस्याग्रिमेषु अन्तरिक्षादिबिलान्तलोकसङ्कर्षणलोकनरकलोकात्मकत्रिविधदेशस्य, नन्वेकविंशे आदित्यनिरूपणेपि पूर्वेषु लोकादीनामनिरूपणात्कथं श्रुत्युक्तकालनिरूपणमिति-शङ्क्यम्, अष्टादशादित्रये लोकस्य त्रिविधजीवानां कथनस्य स्फुटत्वेन पञ्चदशावधिकाल-प्रकरणत्वस्याङ्गीकृतत्वेन षोडशसप्तदशयोरपि 'सन्दंश'न्यायेन कालोपादेयनिरूपणेन च तथा शक्यवचनत्वादिति। अनुपपन्नमिति अव्याप्तिग्रस्तम्। भगवज्जयत्वाभावादिति भगवत्कर्तृकजय-क्रियात्मकत्वाभावात्। तन्निरूपणमिति देशाद्यात्मकाधिकरणनिरूपणम्। स्थितिरित्यर्थ इति पूर्वोक्तसम्बन्धनियमरूपा जीवानां स्थितिरित्यर्थः। तथा च स्थितिविचारे प्रकरणद्वयमेवमित्यर्थः। कारणेतेति स्वरूपस्थितिं प्रति कारणता। अत एवेति स्वरूपान्तःपातित्वादेव॥३॥ स एव तथेति वेदमार्ग एव स्वरूपस्थितिहेतुरित्यर्थः। ननु देशस्थितावपि वेदमार्गस्यैव हेतुत्वम्। कर्मणामपि

देशस्थितिहेतुभूतकर्मणां तु वेदबोधितत्वेऽपि न वेदमार्गीयत्वम्, वेदतात्पर्याविषयत्वात्। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इति श्रुतेः। "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इति स्मृतेश्च ब्रह्मण्येव तेषां तात्पर्यात्। यत्तात्पर्यविषयत्वं मुख्यतया यस्य तस्य तन्मार्गीयत्वम्। किं च मार्गो हीष्टदेशप्रापकः। वेदमार्गश्च ब्रह्मरूपेष्टदेशप्रापक एव। तत्रैव तेषां तात्पर्यात्। अतो देशप्रापककर्मणां ब्रह्माप्रापकत्वाद्युक्तमतन्मार्गीयत्वम्। तन्निरूपणं त्वतिबहिर्मुखरागिणां यथा कथञ्चिद्वैदिककर्मणि प्रवृत्त्यर्थम्, 'रोचनार्थे'ति वाक्यादिति भावः। अत्राऽयं भावः। ज्योतिश्चक्रे हि ग्रहादीनां तत्तत्कालविशेषस्वरूपज्ञापकत्वावच्छेदकत्वे निरूप्येते। एतच्च तेषां कालासाधारणधर्मत्व एव सङ्गच्छते। तच्च कालाधिकरणकत्वे ग्रहादीनां चोत्पत्त्यादिश्रवणेन कालसहजधर्मत्वं न वक्तुं शक्यम्। ग्रहादीनां च न स्वतः कालधर्मत्वेन तत्र स्थितौ सामर्थ्यम्। अत आधिदैविककाले जिते तस्य स्वाधीनत्वे सत्याध्यात्मिकादेरपि तथात्वं भवतीति तेषां तेषां ग्रहादीनां तादृक्तादृग्धर्मरूपत्वप्रकारेण तत्र स्थापनम्, कालस्य च तदवच्छेद्यत्वं भगवतैव कर्त्तुम् शक्यम्। अन्यत्र कालजयाभावाद् ग्रहादीनां चाऽनधीनत्वात्। तथा च ज्योतिश्चक्रनिरूपणेन विशिष्टो जय एव हरेर्निरूपितो भवति, कर्मफलनियामकत्वं तत्तद्देशस्थितेस्तत्तत्कर्मफलरूपत्वं च कर्मणां देशानां च न सहजम्, तथा सति तत्र भगवत्कर्तृत्वं भज्येत। "भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः" "फलमत उपपत्तेः" इत्यादिस्मृतिन्यायविरोधाच्च न तथा वक्तुं शक्यम्। एवं सति कर्मजयं विना नैवं मर्यादाकर्तृत्वं सङ्गच्छते। कर्म च भगवद्रूपमेवेति पुरस्तान्निरूपितम्। अतोऽपि नाऽन्यस्य तज्जयः सम्भवति। तथा च मर्यादानिरूपणेन विशिष्टः कर्मजय एव भगवतो निरूपित्तो भवति। "परात्तु तच्छ्रुतेः" इति न्यायेन कर्तृणामपि भगवदधीनत्वात्तथा वेदमार्गस्य च स्वरूपस्थितिहेतुत्वं न स्वसामर्थ्येन, 'यत्र वेदा अवेदाः' "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादिश्रुतेः। "नाहं वेदैः" इतिवाक्याच्च। स्वरूपस्य ब्रह्मत्वेन वेदानियम्यत्वाच्च न तथा वक्तुं शक्यम्। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इति श्रुतेर्भगवत्यन्यस्य स्थितिरपि न सम्भवति।

वेदेनैव बोधितत्वात्। अतः कथं स्वरूपस्थितिं प्रत्येव हेतुत्वमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः देशेत्यादि। तथा चैवं वेदमार्गस्य स्वरूपस्थितिहेतुत्वसाधनेन कालस्य तथात्वं निवारितम्, तेन कालवेदमार्गयोर्मिथो विरोधो निरूपितः। अतः परं 'त्रयं भगवते'ति कारिकां विवृण्वन्तः कालादिजयस्य भगवत्कृतिसाध्यतां व्युत्पादयन्ति अत्रायं भाव इत्यादि। एतच्चेति ज्ञापकत्वमवच्छेदकत्वं च। तदिति कालासाधारणधर्मत्वम्। तत्र स्थितौ सामर्थ्यमिति ज्योतिश्चक्रस्थितौ सामर्थ्यम्। विशिष्टो जय इति तादृशः कालजयः। अन्यत्रेति भगवदतिरिक्ते। एवं सार्द्धाभ्यां लक्षणेऽव्याप्तिः परिहृता। देशानां चेति चकाराज्जीवानाम्,न तथेति न सहजम्। पुरस्तादिति सर्वनिर्णये। तथेति भगवज्जितत्वम् ॥ ४ ॥

तथा च वेदवैयर्थ्यं मोक्षोच्छेदश्च स्यात्। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादिश्रुतिभिश्च तन्निरूप्यते। एवं सति स्वाधीनजीवस्वरूपब्रह्मस्वरूपस्य वेदादिसकलप्रमाणनियामकस्यैवेदं कर्तुं शक्यं नाऽन्यस्य। एवं सति स्वरूपस्थितिनिरूपणेनाऽत्र विशिष्टः स्वरूपजय एवोक्तो भवति, भगवतः असङ्गित्वेपि मुक्तजीवाश्रयत्वकरणं भगवतः स्वजयः ॥ ४ ॥

अत एतत्त्रयं भगवतैव कर्तुं शक्यं नान्येन तदेवाह त्रयं भगवतेति।

निबन्धः—त्रयं भगवता शक्यं कर्त्तुं वा यदि मन्यते ॥

अतो वैकुण्ठविजयः स्थानमत्र निरूपितम् ॥५॥

प्रकाशः— यदि वा भगवान् मन्यते अनेन जीवेनेदं कारयिष्यामीति तदा स्वसामर्थ्यं दत्त्वा तथा कारयतीति। अत एव प्रियव्रते दिवसकर्तृत्वमितिभावः। यद्वा। नन्वेवं चेत्स्वरूपस्थस्य भरतस्य हरिणे स्थितिरनुपपन्नेत्याशङ्क्य तदपि विशिष्टजयनिरूपकत्वमेवेत्याह वा यदि मन्यत इति, यदि भगवान्मन्यते—इच्छति तदा वा विकल्पेनाऽन्यथापि त्रयं कर्तुं तस्यैव शक्यमिति तन्निरूपणेनाऽपि विजय एव निरूप्यत इत्यर्थः। फलितमाह अत इति। यतः सर्वैः प्रकारैर्जय एव निरूपितो भगवत्यतो हेतोरेव स्थानलक्षणं वैकुण्ठविजय इति निरूपितमित्यर्थः। अत एव वैकुण्ठपदमपि। तत्कल्पितवैकुण्ठलोकाद्यथा जयादेः पुनर्जन्म तथाऽत्र भरतेऽपि करिष्यतीति ज्ञापनार्थम्। उभयत्रापि कर्ममार्गेण भजनं जन्मनि हेतुः। "येऽनिमित्तनिमित्तेन" इति वाक्यात्। यद्यप्यन्यत्रापि देशस्वरूपस्थिती निरूप्येते तथापि न तयोः स्थानलीलायां प्रवेशः, वक्ष्यमाणरूपत्वाभावादिति मनसि कृत्वाऽऽह अत्रेति। पञ्चमस्कन्ध एवेत्यर्थः ॥५॥

स्थानलीलायाः षड्विंशतिभिर्निरूपणे तात्पर्यमाह कालेनेति।

निबन्धः—कालेन सह तत्त्वानि षड्विंशतिविधानि हि ॥

समुदायेन तत्त्वेषु कालादिभयमीर्यते ॥६॥

प्रकाशः—तन्मात्रमहाभूतेन्द्रियान्तःकरणपुरुषरूपाणि तत्त्वानि। ततः किमत आह ततस्मात्कारणात्समसङ्ख्याध्यायसमुदायनिरूपणेनाऽत्रापि तथा। अत्राऽयमर्थः। तत्त्वेषु सर्वेषामासक्त्यभावाय आचार्यैः कालस्तत्त्वेषु प्रविष्ट इति तद्भयं तेष्वस्तीति ज्ञापनाय

एतत्त्रयमिति कालजयो देशजयः स्वरूपजयश्चेति त्रयम्।

ननु एवं चेदिति, ननु कालकर्मदेशानां भगवदधीनत्वं चेत्। अनुपपन्नेति भगवदीयत्वेन भगवद्रक्षितत्वादनुपपन्ना। अन्यथापि त्रयं कर्तुमिति, जितमप्यजितं कर्तुम्। उभयत्रापीति भरते जयादौ च। भरतस्य कर्ममार्गेण भजनम् 'आराधनं भगवत ईहमान' इत्यादिवाक्यैर्ज्ञेयम्। अन्यत्रापीति पुराणान्तरेपि ॥ ५ ॥ आचार्यैरित्यस्य ' गणना क्रियत ' इत्यनेन सम्बन्धः।

हि तत्त्वेषु परस्यापि कालस्य गणना क्रियते। तथा च कालभयसहिततत्त्वसमसङ्ख्याध्यायनिरूपणेनाऽत्रापि स्थानलीलामध्यपातिष्वपि कालभयमस्तीति ज्ञाप्यते। मर्यादामार्गे तेषां बलिष्ठत्वात्। पुष्टिमार्गे परं तेषां बाधनं भक्त्या। अत एव भरते तद्भयं वक्ष्यते। आदिपदात्कर्म। यद्वा। तत्तेषु तदीयेषु स्थानमार्गीयेषु तेषु वक्ष्यमाणेषु यथा तत्त्वेषु सर्वेष्वेव समुदायेन स्थितेषु कालभयं कस्यचित्कदाचिदनाशेपि न तद्भयनिवृत्तिस्तत्स्वरूपस्यैव सभयत्वात्तथाऽत्रापि समुदायेनैव तदुच्यत इत्यर्थः। यथैकवृक्षच्छेदेपि वनच्छेदप्रयोगस्तथाऽत्रैकस्य भरतस्यापि तद्भयनिरूपणेन तन्मार्गीयाणामेव सभयत्वं निरूपितं भवति। तथा च मर्यादामार्ग एव स भय इति भावः ॥६॥

एवं स्कन्धार्थं निरूप्य प्रकरणार्थमाह स्वरूपस्थितीति।

निबन्धः—स्वरूपस्थितिमर्यादा पञ्चदश्या निरूप्यते ॥
अर्धमासाधिपस्यैताः कलाः पञ्चदशस्मृताः ॥७॥

प्रकाशः—एतेनैव स्वरूपस्थितिरितिलक्षणा। स्वरूपस्थितौ हि मनः साधनम्। तच्च चन्द्रात्मकम्। स च पञ्चदशकलाभिः सम्बद्ध एव पूर्णो भवति। मनोपि सर्वसाधनसम्पत्त्या पूर्णमेव तथा। अतस्तत्कलारूपसाधनरूपैरेवाध्यायैर्निरूप्यत इत्यर्थः। देवासुरपक्षपातिनो मासात्मककालस्यार्द्धं दैवं भवति। तस्यापि स्वरूपस्थितिहेतुत्वं "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः" इति वाक्येन भगवता निरूपितम्। अत एव स्मृता इत्युक्तम्। तथा चाऽर्धमासाधिष्ठातुर्दैवकालस्य कलारूपा एवतेऽध्याया इतिसङ्ख्यया निरूप्यत इत्याह अर्धमासेति। षड्विंशतिसङ्ख्यायां कालस्यापि प्रवेशात्तत्कलानामपि निरूपणमितिभावः ॥ ७ ॥

अत्राऽवान्तरप्रकरणार्थान् वदँस्तत्रोपपत्तिमप्याह वेदमार्गेष्विति।

निबन्धः—वेदमार्गेषु सर्वेषु द्वाभ्यामेव व्यवस्थितिः ॥
कृष्णेन योगमार्गेण ज्ञानेनाऽप्यथवा क्वचित् ॥ ८ ॥

प्रकाशः—वेदनिरूपितमार्गेषु कर्मादिषु मुख्यतयेति शेषः। तदेवाह कृष्णेनेति। कृष्णेनेति प्रथमप्रकरणार्थः। योगमार्गेणेति द्वितीयस्य। ज्ञानेनेति तृतीयस्य। ८।

तेषामिति स कालानाम्, तत्त्वानाम् हिशब्देनैव हेतोर्लाभे तत्पदेन पुनस्तत्परामर्शो न युज्यत इत्यरुच्या व्याख्यानान्तरमाहुः यद्वेति। तदिति कालसाहित्यम्। तद्भयनिरूपणेनेति कालधर्मभयनिरूपणेन ॥ ६ ॥

एवं पञ्चभिः स्कन्धार्थो विचारितः। अतः परं सार्द्धाष्टभिः प्रकरणार्थं विचारयन्ति एवं स्कन्धार्थमित्यादि। इतिलक्षणेति स्वरूपस्थितिलक्षणा मर्यादा। तत्रेति मुख्यप्रकरणविभागे ॥ ७ ॥ मूले द्वाभ्यामिति कालदेशाभ्याम् ॥ ८ ॥

प्रकरणार्थानुक्त्वाऽध्यायान्विभजते षड्भिरिति ।

निबन्धः—षड्भिरष्टाभिरेकेन तथाऽध्यायैर्निरूपणम् ॥
स्थितिर्भगवता मुख्या तदभावे तु योगतः ॥ ९ ॥
तस्याऽप्यभावे ज्ञानेन नाऽन्यो मार्गोऽत्र सम्मतः ॥

प्रकाशः—भगवतः षड्गुणत्वाद्योगस्याष्टाङ्गत्वाज्ज्ञानस्य चैकविधत्वात्तावद्भिस्तत्तन्निरूप्यत इत्यर्थः । नन्वेकेनैव स्थितिसम्भवे त्रयाणां निरूपणं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह स्थितिरिति । उत्तममध्यमाधमभेदेन त्रयाणां कथनमित्यर्थः । ज्ञानेन अन्योक्तज्ञानेनेत्यर्थः । तद्व्याख्यानरूपं परोक्षवादस्येति ज्ञेयम् । त्रितयनिरूपणस्य प्रयोजनान्तरमप्यस्तीत्याह नाऽन्य इति । अत्र वेदमार्गे उत्तमत्वादिप्रकारादन्यस्याऽसम्भवादत्र चैतेषामेव तथात्वेन निरूपणादेतदतिरिक्तमार्गाणां षोडशपदार्थषट्पदार्थतत्त्वज्ञानादिप्रकाराणामवैदिकत्वान्न स्वरूपस्थितिहेतुत्वमिति ज्ञापनाय तेषां निरूपणमित्यर्थः ॥ ९ ॥

अग्रिमप्रकरणार्थं वदँस्तस्यैकादशभिर्निरूपणे हेतुमाह भूमाविति ।

निबन्धः—भूमौ नवविधं स्थानं गुणानां सहमेलनात् ॥ १० ॥
अतोऽत्र नवखण्डा हि षोडशे विनिरूपिताः ॥

प्रकाशः—गुणानां भूम्या सह मेलनाद्गुणानां चाऽन्योन्यमेलनेन नवविधत्वाद्भूमौ नव खण्डाः षोडशाध्याये निरूपिताः ॥ १०३ ॥

निबन्धः—सत्त्वेनैवोर्ध्वगमनं तमसाधश्च निश्चितम् ॥ ११ ॥
अत एकादशाध्यायास्त्रिलोकस्थानवर्णने ॥

प्रकाशः—तेन मध्यदेशस्थितिर्नवविधापि भवति । ऊर्ध्वाधोलोकस्थितिः सत्त्वतमोभ्यामेव भवतीति ज्ञापयितुमेकादशाध्याया देशस्थितिवर्णने कथिता इत्यर्थः ॥ ११३ ॥

ननु सत्त्वगुणस्योत्तमत्वेन तत्कार्योर्द्ध्वलोकस्थितिरेव पूर्वं वक्तुं युक्ताऽतः कथं प्रथमं मध्यदेशस्थितिवर्णनं तत्रापि जम्बूद्वीपस्येत्यत आह गुणानामिति ।

निबन्धः—गुणानां तुल्यभावस्तु जम्बूद्वीपे विशेषतः ॥ १२ ॥

अधमभेदेनेति अत्र निकृष्टाधिकारिणः सुमत्यादयः पञ्चदशोक्ता ज्ञेयाः । तद्व्याख्यानरूपमिति तत् अन्योक्तज्ञानं परोक्षवादस्य व्याख्यानरूपं योगस्यैव शेषभूतमित्यर्थः। तेषामिति त्रयाणाम् ॥ ९३ ॥ मेलनादिति स्थितिरूपात्संसर्गात् । मूले गुणानामित्यादि गुणानां तुल्यभावो भूमाविति शेषः । विशेषतस्तु जम्बुद्वीपे तुल्यभावः ।

अन्यत्र तत्तत्प्राधान्यं तेनाऽऽदौ विनिरूपितम् ॥
अतिदेशप्रकारेण यथा सर्वत्र तद्भवेत् ॥ १३ ॥

प्रकाशः—अत्र त्रयाणामपि गुणानां कथनं भविष्यत्यन्यत्रैकैकस्येत्यस्यैव पूर्वं निरूपणमित्यर्थः। तत्रापि पूर्वं जम्बूद्वीपस्य वर्णने हेतुमाह अतिदेशेति। भूस्थानवर्णने जम्बूद्वीपनिरूपणं तु यथाऽत्र गुणानां तुल्यभावस्तथा द्वीपान्तरेपीति ज्ञापनाय कृतमित्यर्थः। अन्येषां भोगस्थानत्वाद्भोगस्य च कर्मजन्यत्वात्कर्मणश्चाऽत्रैव सम्भवादस्योपजीव्यत्वमित्यपि पूर्वं निरूपणमिति ज्ञेयम्। वस्तुतस्तु भक्तेरत्र प्राचुर्यात्पूर्वं निरूपणम्। अत एव "अहो अमीषाम्" इत्यादीनि देववाक्यानि ॥ १३ ॥

अत्राऽध्यायान् विभजन् भूमेः पञ्चभिरितरयोस्त्रिभिस्त्रिभिश्च निरूपणे हेतुमाह भूतेति।

निबन्धः—भूतप्राधान्यमत्रेति पञ्चाध्याया निरूपिताः ॥
भूमावन्यत्र तु गुणास्त्रितयं त्रितयं ततः ॥ १४ ॥

प्रकाशः—भूमौ महाभूतानामेव प्राधान्यमन्यत्रोर्द्ध्वाधोलोकयोः सत्त्वादिगुणा एव प्रधानभूता इति तावद्भिस्तावद्भिरध्यायैस्त्रितयनिरूपणमित्यर्थः ॥ १४ ॥

नन्वधोदेशमानं निरूप्य पश्चान्नरकवर्णने को हेतुस्तत्राऽऽह गुणेति।

निबन्धः—गुणास्थित्या त्वधः प्राप्तिस्तेनाऽन्ते नरकाभिधा ॥
स्वस्मिन् स्थितिः कृष्णदेवादिति षड्भिर्निरूप्यते ॥ १५ ॥

प्रकाशः—"अधो गच्छन्ति तामसाः" इति भगवद्वाक्यात्तमोगुणे स्थितानां पर्यवसानं तत्रैवेति ज्ञापनायान्ते नरकोक्तिरित्यर्थः।

एवं प्रकरणार्थान्निरूप्याऽध्यायार्थान्वदन्नाद्यप्रकरणस्थाध्यायार्था उच्यन्त इति ज्ञापनाय पूर्वोक्तार्थं स्मारयितुमनुवदति स्वस्मिन्निति। सेविता देव भगवतः फलं भवतीति ज्ञापनाय देवपदम्। देवो हि पूज्यो भवति। अत एव पूर्वं निवृत्तिनिरतस्य सम्पन्नसाधनस्याऽस्य भगवति स्थितिर्न जाता। किं तु भगवान् वैपरीत्येन प्रवृत्तिपरं

विनिरूपितमिति भावेक्तः विनिरूपणमित्यर्थः। स्वल्पभाव इति पाठेप्येकप्राधान्याभावात्स एवार्थः। वस्तुतस्तु अग्रिमार्द्धटीकास्वारस्यात्तुल्यभावः निरूपणमित्येव पाठः ॥१४३॥ एवं सार्द्धाष्टभिः प्रकरणार्थो निरूपितः। अत परं सार्द्धाष्टचत्वारिंशद्भिः प्रथमप्रकरणीयावान्तरप्रकरणेषु प्रथमं भगवत्प्रकरणं विचारयन्तः पञ्चदशभिः प्रथमाध्यायं विचारयन्ति एवं प्रकरणार्थानित्यादि। सम्पन्नसाधनस्येति एतादृशस्य प्रियव्रतस्य साधनानामित्यस्य उपयोग

विधाय स्वकार्यं कारयित्वा स्वस्मिन् स्थापितवान्। एवं च सति तत्कृतसाधनानां भगवताऽऽत्मसात्करणेन स्वकार्यकरणेन नियोजन एवोपयोग इति ज्ञेयम्। अत एव तस्मिन्नेव तथा ज्ञापनं नाऽन्यस्मिन् ॥ १५ ॥

अत्राऽध्यायार्थानाह ऐश्वर्येति।

निबन्धः—ऐश्वर्यवीर्ययोराद्ये श्रियः कीर्तेस्तथा हरेः ॥
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव क्रमात्पञ्चसु रूपणम् ॥१६॥

प्रकाशः—आद्येऽध्याये ऐश्वर्यवीर्ययोर्निरूपणम्। श्रियो द्वितीये। कीर्तेस्तृतीये। हरेर्धर्मिणश्चतुर्थे। ज्ञानस्य पञ्चमे। वैराग्यस्य षष्ठे। आद्ये गुणद्वयस्य निरूपणमितरेषु पञ्चस्वेकैकस्येति वैलक्षण्यज्ञापनाय पञ्चस्वित्युक्तम् ॥ १६ ॥

नन्वत्र स्वरूपस्थितिहेत्वैश्वर्यादिप्राकट्येन लीलां कुर्वतः कस्यचिद्भगवदवतारस्यैव कथा वक्तुं युक्ता, तत्कथं तां विहाय प्रियव्रतकथेत्यत आह अल्पेऽपीति

निबन्धः—अल्पेऽपि भगवान् स्वस्य धर्मान् संस्थापयेद्यदि ॥
सोऽपि ब्रह्मादिसम्प्रार्थ्यः प्रियव्रतकथा ततः ॥१७॥

प्रकाशः—अत्र हि भगवतस्तद्गुणानां च माहात्म्यं वाच्यम्। तत्र भगवदवतारनिरूपणे तु गुणानां धर्मिण्येव प्रवेशात्पृथक् तेषां माहात्म्यं न निरूपितं स्यात्। तदा गुणमाहात्म्यकृतं विशिष्टं माहात्म्यं भगवतोऽपि न प्रकटं स्यात्। अतः केवलगुणमाहात्म्यप्रकटनार्थं प्रियव्रते तादृशत्वमस्तीति तत्कथोक्तेत्यर्थः। आदिशब्दान्मनुः॥१७

तर्हि तद्वंशवर्णने को हेतुस्तत्राऽऽह तद्वंश एवेति।

निबन्धः—तद्वंश एव सर्वेषां गुणानां स्थापनं यतः ॥
भगवद्भजनं तस्य स्वस्मिन् संस्थापकं मतम् ॥१८॥

प्रकाशः—प्रियव्रते गुणद्वयस्यैव स्थापनादन्येषामकथने षण्णामपि गुणानां निरूपणं न स्यात्। तद्वंश एवेतरेषां गुणानां स्थापनात्तस्यैव कथनमित्यर्थः। एतद्वंश एव गुणानां स्थापने हेतुमाह भगवद्भजनमिति। तस्य प्रियव्रतस्य भगवद्भजनमेव प्रियव्रते तद्वंशे च गुणानां स्थापकमित्यर्थः। अन्यत्र धर्मस्यैवैश्वर्यादिहेतुत्वमुच्यते यद्यपि, तथापि भगवन्मार्गे भजनमेव सर्वहेतुत्वेन सम्मतमित्याह मतमिति।

इत्यनेनान्वयः। अत एवेति देवत्वादेव। वक्तुं युक्तेति भगवत्प्रकरणत्वाद्वक्तुं युक्ता॥१७॥ अन्येषामिति वंश्यानाम्। प्रियव्रते तद्वंशे चेति मूलस्थस्य स्वस्मिन्नित्यस्य व्याख्यानमिदम्। अन्यत्रेति शास्त्रान्तरे। सम्मतमिति कल्पतरुस्वभावत्वात्सम्मतम् ॥१८॥ यद्यपि भक्तेः कल्पतरुस्वभाव-

यद्वा। नन्वादावन्तेपि भगवद्भजनस्यैव निरूपणाद्राज्यादिकरणस्यापि भगवदाज्ञापालनलक्षणभजनत्वमेव सन्दंशन्यायेन वक्तुमुचितमिति भजनमेवाध्यायार्थो नैश्वर्यवीर्ये इति चेत्, सत्यम्। उपसंहारे "प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम्" इत्यादिनैश्वर्यस्योपसंहारादुपक्रमे च विरक्तस्यैश्वर्यमूलविषयरागहेतुप्रश्नस्य निरूपणादैश्वर्यादेरेवाऽध्यायार्थत्वम्। तर्हि तद्भजननिरूपणमसङ्गतम्। तत्राऽऽह भगवद्भजनमिति। अत्र प्रकरणे भगवत्स्वरूपे स्थितिर्निरूपणीया, सा च भगवद्भजनं विना न भवतीति तन्निरूपणमित्यर्थः ॥ १८ ॥

ननु गुरुपित्रोराज्ञोल्लङ्घनं तादृशस्याऽयुक्तमित्यत आह तस्य मोक्ष इति।

निबन्धः--तस्य मोक्षो ब्रह्मभावो न ग्राह्य इति वर्णितुम् ॥

ऐश्वर्यानङ्गीकरणं गुरोर्वाक्यात्तथा पितुः ॥ १९ ॥

अनङ्गीकरणं प्रोक्तं भगवद्वाक्यगौरवे ॥

प्रकाशः--गुरूपदेशद्वारा मोक्षप्रदो भवति। पिता च त्वं ब्रह्मेत्यनुशासनकर्तृत्वेन ब्रह्मभावे हेतुः। तथा च तादृशयोस्तयोर्वाक्यानङ्गीकारकथनेन तत्साध्यफलस्याऽप्यनङ्गीकार उच्यत इत्यर्थः। एतेन तस्य स्वतन्त्रा भक्तिर्निश्चिता। तथापि भगवदिच्छानुसारेणैव भक्तस्य सर्वं कर्तुमुचितमिति तदिच्छां तादृशीं ज्ञात्वा स्वत एव कुतो नैश्वर्यमङ्गीकृतवान्। भगवद्वाक्यात्पश्चाच्च कथमङ्गीकृतवानित्यत आह अनङ्गीकरणमिति, भगवदिच्छाज्ञानेपि यद्राज्यानङ्गीकरणमुक्तं वाक्याच्चाङ्गीकरणं तद्भगवत इच्छायाः सकाशाद्वाक्यस्याधिक्यज्ञापनार्थमित्यर्थः। मर्यादायां हि वचनस्यैव प्राबल्यम्। इच्छायाः पुष्टिमार्गे। अस्य च मर्यादामार्गीयत्वात्तथात्वं युक्तमितिभावः। यद्वा। ननु ब्रह्मा पितामहो महाँश्चेति स स्वत एव कुतो नोक्तवान् भगवद्वाक्यं कुत उक्तवानित्याशङ्कायामाह अनङ्गीकरणमिति। मोक्षब्रह्मभावहेतुगुरुपितृवाक्यानङ्गीकारकथनेनैव ब्रह्मवाक्यस्याप्यनङ्गीकरणं प्रकर्षेणोक्तमेवेत्यर्थः। ब्रह्मणस्तदुभयाहेतुत्वादितिभावः। ननु भजनरसानुभवार्थं हि सर्ववाक्यानङ्गीकारः। एवं सति भगवद्वाक्याङ्गीकारेपि स रसो न भवत्येवेति भगवद्वाक्याङ्गीकारोऽपि तस्य कथमत आह। भगवद्वाक्यगौरव इति। भगवद्वाक्यानां गौरवे सति। अयमर्थः। एतदुल्लङ्घने तु भजनमेव न निर्वहेत्कुतस्तरां

त्वादैश्वर्यादिकं प्रति हेतुत्वं सम्भवति तथापि प्रयोजकतया मध्ये कामनाऽपेक्ष्यते, प्रकृते तु प्रियव्रतस्यात्मारामत्वात् सा नेति कथं तत्प्रति भजनस्य हेतुत्वं वक्तुं शक्यत इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः यद्वेत्यादि। अस्मिन् पक्षे केवलाया भगवदिच्छाया एवैश्वर्यादिकं प्रति हेतुत्वम्। भजननिरूपणं तु प्रकरणार्थायोपाद्घातत्वेनेति ज्ञेयम्। तथापीति स्वतन्त्रभक्तिमत्त्वेन मोक्षब्रह्मभावानाकाङ्क्षित्वेपि। प्रियव्रतस्यात्यन्तभक्तत्वबोधनाय पक्षान्तरमाहुः यद्वेत्यादि ॥ १९३ ॥

तद्रसानुभवः । तथा चोभयभ्रंशः स्यादिति तद्वाक्याङ्गीकार आवश्यकः । एवं सति भगवद्धर्माणामैश्वर्यादीनां स्वस्मिन्नागमनेन राज्यदशायामग्रेऽपि भजनरसानुभवप्रतिबन्धोऽपि न भविष्यतीत्यपि तदङ्गीकार इति ।

ननु " यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् " इति श्रुतेर्विरक्तस्य संन्यास एवाधिकाराद्रागानिवृत्तावेव गार्हस्थ्यस्य विधानादस्य चाऽरागित्वेन गार्हस्थ्यानधिकारात्तद्बोधकवाक्यं श्रुतिविरोधान्नाङ्गीकर्तुमुचितमित्याशङ्कां परिहरन्नेव साक्षाद्भगवताऽनाज्ञापने ब्रह्मद्वारैव चाऽऽज्ञापने हेतुमाह वेदानामिति ।

निबन्धः—वेदानां ब्राह्ममुखतो यथा निर्गमनं मतम् ॥२०॥
तथैवेमानि वाक्यानि हरेरिति विधेर्वचः ॥

प्रकाशः—भगवन्निश्वासभूतानामपि वेदानां " ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः " इति वाक्याद्ब्रह्ममुखत एव निर्गमनमिति सर्वसम्मतम्, तत एव च प्रमाणत्वेनाङ्गीकारो लोके, तथैवेमान्यपि वाक्यानि वेदरूपाण्येव ब्रह्मणाऽनूद्यन्ते परमिति ज्ञापनार्थं विधेर्ब्रह्मणो वचो निरूपितमित्यर्थः । तथा चैतेषां वाक्यानां वेदमध्यपातित्वज्ञापनमेव साक्षादनाज्ञापने तद्द्वारैव चाऽऽज्ञापने हेतुः । एतेन वेदाद्दौर्बल्यं परिहृतम् । तथा च वैराग्ये जातेपि येषां संन्यासग्रहे भगवदिच्छास्ति तद्विषयका पूर्वोक्ता श्रुतिः । येषां न तथेच्छा तद्विषयाणीमानि वाक्यानीति व्यवस्था ज्ञेया । तेनाऽस्य तदङ्गीकार उचित इति भावः ॥ २०½ ॥

ननु "मुक्तोपि तावद् बिभृयात्स्वदेहमारब्धमश्नन्" इति निरूपणात्तस्य तादृक्प्रारब्धमस्तीति तद्भोगार्थमेव ब्रह्मणोक्तम् । किं च । ऋणत्रयापाकरणं विना त्यागस्य पातहेतुत्वश्रवणादपि तदङ्गीकारसम्भवः । तथा चोभयथापि स्वार्थमेव गार्हस्थ्याङ्गीकार इतिभगवद्वाक्यगौरवं नायातीति शङ्कापरिहाराय ब्रह्मवाक्यैर्निर्णीतमर्थमाह स्थानमत्रेति ।

निबन्धः—स्थानमत्र विनिर्णीतं यथाऽयं भगवान् हरिः ॥२१॥
स्थापयेद्यत्र तत्स्थानं तस्येति हि विनिर्णयः ॥

प्रकाशः— अत्र ब्रह्मवाक्येषु तत्किमित्याकाङ्क्षायामाह । यथेत्यादि । तत्र हेतुमाह इति हि विनिर्णय इति । वेदमार्गे यत एवमेव विनिर्णयः सिद्धः । तदुक्तं " वेदमार्गेषु सर्वेषु " इत्यत्र । " एष उ एव साधु कारयति " इत्यादिश्रुत्युपपत्तिर्हिशब्देनोच्यते ॥ २१½ ॥

नन्वस्याऽऽज्ञापरिपालनमात्रे प्रवृत्तस्य स्वतो विरक्तस्य प्रजाधर्मादिरक्षैव कर्तुमुचिता नाधिकं कर्तुमुचितम् । भोगेप्यासक्तिर्नोचिता, अखिलजगद्बन्धध्वंसनेत्यादिना निर्दोषत्वनिरूपणाच्च । तथा च " अव्याहताखिलपुरुषकार " इत्यादिनाऽधिकवीर्य-

विषयासक्त्योर्निरूपणमयुक्तमित्यत आह तथापीति ।

निबन्धः--तथाऽपि कर्मणां मार्गो विवेकं नाशयेद् ध्रुवम् ॥२२॥
इति दर्शयितुं वीर्यकामानन्दौ हि वर्णितौ ॥

प्रकाशः—यद्यपि भगवदिच्छया प्रवृत्तस्य विवेकनाशो न सम्भवति तथाप्याज्ञावचनानां वेदरूपत्वमुक्तमिति स च कर्मनिरूपक इत्यस्य राज्यकरणं कर्ममार्गीयम् । कर्ममार्गे चाऽवश्यं विवेकनाश इति ज्ञापयितुं तौ वर्णितावित्यर्थः । अत एव मूले "अधिनिवेशितकर्माधिकारः" इत्युक्तम् ॥

ननु तथापि भक्तेर्बलिष्ठत्वात्तन्नाशोऽनुपपन्नः । "बाध्यमानोऽपि मद्भक्तः" इत्यादिष्वजितेन्द्रियस्याऽपि भक्तस्यानभिभव उक्तः, किं पुनर्जितेन्द्रियेऽस्मिन् । किं चैवं भक्तेरपि तिरोधानं सम्भाव्येत विवेकस्यैवाभावात् । तथा सति भगवदुपासनेत्यादिनिरूपितभक्तितत्कार्यदिनकरणाद्यनुपपत्तिः । किं च । भक्तस्य रात्र्यनभिनन्दने दिनकरणे च न किञ्चित्प्रयोजनम् । तथात्वे वा सप्तकृत्व एव करणे को हेतुः, किं च, भगवदैश्वर्यवीर्ययोरध्यायार्थत्वेन निरूपणादेतत्स्त्रीपुत्रादेरतद्रूपत्वात्तन्निरूपणमप्यसङ्गतमित्याशङ्क्य सर्वत्र समाधानमाह हरेरिति ।

निबन्धः—हरेः कार्यं सर्वमेव स्वदोषात्तद्धि नश्यति ॥ २३ ॥
तदभावे हरिः स्वस्य स्वयं कार्यं हि साधयेत् ॥

प्रकाशः—अस्मिन्नाविष्टस्येति शेषः । "पुरुषातिदिष्टान्" इति वचनाद्भगवत्कृत एवाऽस्य भोगः । तेन यावता विना भोगानुपपत्तिस्तावद्भगवत्कृतमेवेति मन्तव्यम् । तथा च विवेके सति भोगासम्भवात्तन्नाशोपि भगवतैव कृतः । न च पूर्ववाक्यविरोधः, कर्ममार्गमर्यादायास्तत्र चैतत्प्रवृत्तेरपि भगवत्कार्यत्वात् । अत एव न भक्तितिरोधानमपीति ज्ञेयम्, विवेकनाशस्य भोगैकार्थत्वेनैव हरिकृतत्वात् । दिनकरणमपि तथा । न ह्यन्यः कालमन्यथयितुमीष्टे गुणैर्भगवता च करणात्सप्तकृत्व एव । षड्गुणपूर्णो भगवान् भूमौ वर्तत इति ज्ञापनाय सप्तधा तत्कार्यस्थापनं भूमौ । अत एव भगवदैश्वर्यकार्यमेवेदमिति ज्ञापनाय प्रकारान्तरेण न द्वीपविभागकरणम् । दिवस एव रथपरिभ्रमणेन । वा किं तु रात्रिवैपरीत्यकरण आनुषङ्गिकफलत्वेन तदप्यन्याशक्यम् । न हि द्वीपविभागोम्बुधिकरणं तत्रापि विविधत्वं तेषां जीवशक्यं भवति । एवं सति

किञ्चैवमिति वीर्यकामानन्दासक्तौ सत्याम् । पूर्ववाक्यविरोध इति 'बाध्यमानोपि मद्भक्त' इति वाक्यविरोधः ॥ २३ ॥

तत्र तत्र तादृक्सामर्थ्यवता रक्षकेन भाव्यमितितादृक्पुत्रोत्पादनमपि भगवद्वीर्यकार्यमिति नोक्तदोषः । नन्वेवं चेद्भगवत्कार्यं हित्वा मनुपुत्रत्वेन मन्वन्तराधिकारिणोऽस्य भक्तौ प्रवृत्तिर्नोचिता, नारदस्य च सर्वज्ञत्वेन तादृशे भक्तिमार्गोपदेशोऽयुक्त इत्यत आह स्वदोषादिति । अनेन हि हरिकार्यं कर्तव्यम्, तच्च न भगवदावेशं विना, स च न दोषाभावं विना । स्वस्य मनुपुत्रत्वेनाऽधिकारप्राप्तमिति हरिकार्यस्य तत्राप्यसाधारणस्य करणे सदोषस्यैव प्रवृत्तौ तदावेशाभावात्कार्यनाश एव स्यादित्याधिदैविकदोषाभावेन कृत्वा भगवदावेशे भक्तिरेव हेतुरिति पूर्वं भक्तौ प्रवृत्तिरित्यर्थः । अत एव नारदस्यापि तथात्वमिति भावः । हरेर्निर्दोषत्वेन सदोषेऽनावेशो युक्त इति हिशब्दार्थः । स्वस्य हरेरित्यर्थः । यद्वा । स्वस्य भक्तस्येत्यर्थः । अधिकारित्वेन द्वीपकरणरक्षादिकं प्रियव्रतकार्यम् । तच्च स्वतोऽशक्यमिति भगवान् स्वयं तथा सम्पादयेत्तथा स्वस्मिन्नावेशसिद्ध्यर्थं प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं तत्साधिका भक्तिरेवेति तत्रैव प्रवृत्तिस्तस्येति । तर्ह्यावेशे सिद्धे स्वत एव कुतो न राज्ये प्रवृत्तिः पितृवाक्याद्वेति चेद्, उच्यते । पूर्वं तथा प्रवृत्तावपि पश्चाद्भक्तिरसानुभवाद्राज्यकरणं तत्प्रतिबन्धकमिति न तदङ्गीकारः । किं च । स्वतः पितृवाक्याद्वा तदङ्गीकारे भगवत्सम्बन्धाभावादावेशोपि गच्छेत्तेन न किञ्चित्सिध्येत् । भगवदाज्ञयाङ्गीकारे तु न कोपि दोष इति तथा । वस्तुतस्तूद्बुद्धस्यैवाऽऽवेशस्य कार्यकारित्वादाज्ञावचनानि तदुद्बोधनार्थान्येवाऽत एवाग्रे सर्वनिष्पत्तिरित्येतत्सर्वं हृदि कृत्वोक्तं हरेः कार्यमित्यादि ॥२३॥ पूर्वं भक्तिनिरूपणस्य मनुवाक्याकरणस्य च तात्पर्यान्तररूपमतिदेशमाह अतस्त्विति ।

निबन्धः—अतस्तु पुरुषः स्थाने दोषाभावार्थमादितः ॥२४॥
भक्तिमार्गे प्रवृत्तः स्याद् दृढचित्तो यथाऽचलः ॥

प्रकाशः—'भवाय नाशाये'तिवाक्याद्यतो भगवद्विचारितकार्यार्थमेव देहधारणं जीवस्य । तादृक्कार्यकरणं च न भगवत्सम्बन्धं विना । स च न भक्तिं विना अतो हेतोरित्यग्रे स्पष्टम् । भगवद्भजनमेव कार्यं नान्यदिति दृढचित्तः । अत एव पितृ-

---

नन्वेवमिति नन्वेवं गुणपूर्णभगवदाविष्टत्वे सति । मन्वन्तराधिकारिण इति हेतुगर्भविशेषणम्, तथा च यथायथमुक्तहेतुभ्यां कार्यत्यागो भक्तिप्रवृत्तिश्चानुचितेत्यर्थः । हरिकार्यस्येति करण इति पदमत्राप्यन्वेति । आधिदैविकदोषाभावेनेति अहङ्काराभावेन अभक्तत्वाभावेन वा । तर्हीति आवेशाभावे । तथा प्रवृत्ताविति आवेशेन राज्ये प्रवृत्तौ गद्यरूपतायाम् । सिद्धान्तेऽर्थविचारेणोपपत्तिमुक्त्वा परमतरीत्या स्वरूपविचारेण तामाहुः किञ्चेत्यादि ललाटादावप्यखण्डत्वस्य सत्त्वात्पूर्वोक्तोपपत्तिरेव मुख्येत्यप्यपिनाऽनादरसूचनाज्ज्ञापितम् ॥ २४ ॥ २५ ॥

वाक्यस्याऽप्युल्लङ्घनम्। तथा सति दोषमाशङ्क्य भगवद्भजनविरुद्धताद्दशवाक्यस्याऽप्यकरणे न दोषो भगवदपेक्षयाऽन्येषां जघन्यत्वाद्भगवन्मार्गमर्यादायाश्चैताद्दशत्वादेवेति ज्ञापनायोक्तं स्थान इति। मर्यादामार्गे सर्वैरेवमेव कर्तव्यमित्यर्थः ॥२४३॥

निबन्धः—कथाऽत्र गद्यरूपेण विशिष्टत्वाद्धि वर्ण्यते ॥२५॥

कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते ॥

प्रकाशः—स्कन्धस्य गद्यात्मकत्वे हेतुमाह विशिष्टत्वादिति। भगवज्जयस्याऽखण्डत्वेन सर्वस्माद्विशिष्टत्वात्तस्य चाऽत्र निरूपणादखण्डगद्यरूपता स्कन्धस्येत्यर्थः। कथाया एव विशिष्टजयनिरूपकत्वात्तन्निरूपणमेव गद्यैरिति ज्ञापनाय कथेति। अत एवोपदेशेषु श्लोका एव। किं च पुरुषरूपस्य भागवतस्य कटिभागो हि स्कन्धोऽयम्। स च पादादिवन्न सखण्ड इति नाऽऽद्यस्कन्धादिवच्छ्लोकैर्निरूपणं किं त्वखण्डस्वरूपैर्गद्यैरित्यपि ज्ञेयम् ॥२५॥ नन्वस्य मर्यादास्कन्धत्वाद्विरक्तस्य ब्रह्मविदः पश्चाद्भोगे प्रवृत्तस्याऽस्य कथा विरुद्धेत्यत आह कृष्णाधीनेति। ताद्दशस्य स्वतो भोगे प्रवृत्तौ हि मर्यादाभङ्गः। भगवदधीनतया तथा करणं मर्यादैवेति, न विरोध इत्यर्थः। यत्र च भक्तस्य स्वातन्त्र्यं तदिच्छानुसारेण भगवत्कृतिर्यथा दामोदरलीलायां सा पुष्टिः।२५३।

अस्य च सर्वथा कृष्णाधीनत्वं वक्तुमादिमध्यान्तेषु जातं भगवत्कृतमेवेत्युपपादयति आदौ ज्ञानमिति।

निबन्धः—आदौ ज्ञानं ततो भोगो मोक्षश्चान्ते स्मृतेर्बलात् ॥२६॥

अतो वैराग्यमस्योक्तमेवं सर्वं हरेः कृतिः ॥

प्रकाशः—यागादिभिश्चित्तशुद्धौ संन्यासे सति गुरूपदेशेन हि ज्ञानोत्पत्तिरन्ते भवति ततश्च विदिततत्त्वेन न भोगासक्तिसम्भवः। सम्भवे वा योगभ्रष्टत्वेन न तस्मिन्नेव जन्मनि मोक्षसम्भवः। अस्य च सर्वं विपरीतम्। तच्चाऽस्य न स्वतः। अत एव मूले राजपुत्रपदं स्वतो विषयासक्तिरेव न वैराग्यमिति ज्ञापकम्। किं च। स्वतश्चेदेतत्त्रयम् स्याद्वस्तुमर्यादां नाऽतिक्रामेदित्तिज्ञानमेव न भवेत्। भावे वा भोगासक्तिर्न स्यात्प्राकृतवत्। तथा सति वा मोक्षो न स्यादित्यन्यथानुपपत्त्यापि भगवत्कृतमेवेति ज्ञायते। न ह्यन्यथा वस्तुमर्यादातिक्रम इत्युक्तम्। स्मृतेः पूर्वानुभूतभगवत्पदारविन्दरसस्मृतेरित्यर्थः ॥२६॥

कथा विरुद्धेति मर्यादाभङ्गाद्विरुद्धा। न विरोध इति मर्यादाभङ्गाभावान्न विरोधः। नन्वेवं सति भगवानेव कृपया तं भोगे प्रवर्त्तितवानिति पुष्टिरेवेयं प्रतीयते, न मर्यादेत्याशङ्क्य पुष्टेः स्वरूपं मूले आहुः स्वाधीना पुष्टिरुच्यत इति तद्विवृण्वन्ति यत्र च भक्तस्येत्यादि तथा चोक्तरीतिकस्वाधीनात्वाभावान्न पुष्टिः किन्तु मर्यादैवेति तयैवाविरोध इत्यर्थः। स्वातन्त्र्यस्वरूपमाहुः तदिच्छेदित्यादि वस्तुमर्यादामिति स्वस्वभावम् ॥ २६ ॥

तदुक्तं "स एवमपरिमित" इत्यादिना। यतो मर्यादायामेवाङ्गीकारोऽस्याऽतो वैराग्यमप्यन्त उक्तम्। "अहो असाधु" इत्यादिना। ज्ञानादिषु निरूप्याऽन्यत्राप्यतिदिशति। एवमिति। यथा ज्ञानादिकं हरेरेव कृतिरेवम् प्रियव्रतसम्बन्धि सर्वमेव तथेत्यर्थः। तस्मात्सुष्टूक्तं "को नु कुर्याद्विनेश्वरम्" इति भावः। न च प्राचीनसंस्कारवशादेव ज्ञानमभून्मध्ये भोगस्तु प्रारब्धनाशार्थमेवेति वाच्यम्। पितृवागनङ्गीकारानुपपत्तेः। न हि स्वमोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिः कस्यचिन्नेष्टा। तथा च ब्रह्मवाक्यानर्थक्यमपि स्यात् 'ईश्वरेच्छयाऽधिनिवेशितकर्माधिकारः,' 'पुरुषातिदिष्टान्' इति वाक्याभ्यां विरोधाच्च ॥२६॥

नन्वेतादृशस्य पुत्रः कथं तादृक्कामित्याशङ्क्य तत्र निमित्तमाह आदाविति।

निबन्धः—आदौ वाक्यैश्चित्तमासीत्कामाक्रान्तं तु सर्वतः ॥२७॥
तेनाऽऽग्नीध्रस्तथा जातः पश्चाज्जातास्तु कामिनः ॥

प्रकाशः—अत्राऽयं भावः। अस्त्यशत्रयं प्रियव्रते। वैराग्यसहिता भगवद्भक्तिर्ब्रह्मवाक्यजः सर्वविषयकः कामो मनुपुत्रत्वं च। तथा च तेन तेनांशेन तत्तत्कार्यार्थं तादृशास्तादृशाः पुत्रा उत्पन्ना इति। तत्राप्यादावुत्कटकामावस्थायां जात इत्याग्नीध्रस्तथा कामात्मक एव जातस्तत्पश्चादुत्पन्ना अपि कामिन एव जाताः। अन्यथा द्वीपाधिपत्यं नाङ्गीकुर्युः। तुशब्दः कव्यादित्रयव्यवच्छेदाय ॥२७॥

निबन्धः—तत्राऽपि त्रिषु मोक्षोऽभूत्तेषां च हरिसेवया ॥२८॥
प्रियव्रतस्य संसिद्धिः कालः स्याद् बाधकोऽन्यथा ॥

तत्रापि पुत्रेष्वपि त्रिष्वेव मोक्षोऽभूद्भक्तवंशोद्भवलात्। 'तस्मिन्नुह' इत्यादिना तद्भक्तिनिरूपणस्य प्रकृतानुपयोगमाशङ्क्य तमाह तेषां चेति। तत्कृतसेवयेत्यर्थः। संसिद्धिः पूर्ववद्भगवद्भावः। एतन्मूले 'हृदि (गृहीतः) कृत' इत्यादिना निरूपितम्। तस्या आवश्यकत्वायाऽऽह काल इति। विषयावेशे तद्बाधकस्याऽऽवश्यकत्वादिति भावः। तेन वीर्यं निरूपितं भवति॥ २८॥ ननु भगवद्भावे जाते फलस्य जातत्वात्पुनर्गुरूपसत्तिः किमर्थेत्याकाङ्क्षायामाह गुरुसेवैवेति।

निबन्धः--गुरुसेवैव सर्वस्य मर्यादायां हि साधनम् ॥२९॥
अतो नारदमार्गेण गमनं मुक्तिरेव सा ॥

निरूप्येति भगवत्कृतत्वं निरूप्य। तथा चेति यदि भोगं प्रारब्धनाशाय ज्ञात्वा कुर्यात् तदा 'मुक्तोपि तावद्बिभृयात्स्वदेहमारब्धमश्नन्नि'ति ब्रह्मा न वदेत्, यथा ग्रही स्याद्ब्रह्मवाक्यमपि नाङ्गीकुर्यादित्युभयथापि तदानर्थक्यं स्यादित्यर्थः। अधिनिवेशितेति प्रापितेत्यर्थः। तथात्वे इति गुरूपसत्तिजन्यत्वे। स एवं पञ्चदशभिः प्रथमाध्यायो विचारितः॥ २९॥

प्रकाशः— कर्मज्ञानयोस्तथात्वेपि भक्तौ न तथेत्याशङ्क्योक्तं सर्वस्येति। तेन भक्तस्यापि सैव साधनमित्यर्थः ॥२९॥ मर्यादामार्गस्यैव तथात्वादिति भावः। मर्यादायां मुक्तिरावश्यकी सा च नोक्तेत्यत आह मुक्तिरेवेति। तस्य सैव मुक्तिरित्यर्थः। नारदमुक्तावस्यापि मुक्तिरिति ज्ञेयम् ॥ २९½ ॥

(अ० २) द्वितीयाध्यायं विचारयन् भगवान् स्वधर्मान् दत्त्वा स्वस्मिन् स्थापयतीति ह्यत्र निरूप्यते। आग्नीध्रे च परम्परयापि न तथेत्याशङ्क्य तत्र तात्पर्यमाह आग्नीध्रस्यापीति।

निबन्धः—आग्नीध्रस्यापि वशगा प्रकृतिर्ब्रह्मणा कृता ॥३०॥

येन तां रसवाक्यैश्च मोहयामास तादृशैः ॥

अन्यथा ज्येष्ठपुत्रस्तु नाभिस्तादृक् कथं भवेत् ॥३१॥

प्रकाशः—यथा प्रियव्रते भगदाज्ञयैव ब्रह्मणोक्तमैश्वर्याङ्गीकारार्थमेवमस्मिन्नपि श्रीसरूपत्त्यर्थं भगवदिच्छां ज्ञात्वा ब्रह्मणा तथाकृतमिति ज्ञापनायाऽपिः। हरिवाक्यजकामात्मनः पुरुषस्य प्रकृतिरूपैव सा। अत एव मूले गायन्तीमित्युक्तम्। गुणानां मिश्रभावेन नवविधत्वात्तावत्पुत्रजननं च तथा च तस्यास्तद्वशत्वं ब्रह्मकृतमेवेत्यर्थः ॥३०॥ अत्राभिज्ञापकमाह। येनेति। अन्यथाऽतिमुग्धत्वज्ञानेन विरतिरेव स्यान्न तु मोह इतिभावः। अत एव रसभावोत्पत्त्या रसगर्भितानि वाक्यान्यपीत्याह तादृशैरिति। रसशास्त्रे मोहकत्वेन प्रसिद्धैरित्यर्थः। विपक्षे बाधकमाह अन्यथेति। यदि हरिदत्तैषा न स्यात्तदा प्रियव्रतस्य भक्तस्याऽपि तद्वाक्यजकामवत्त्वेनैतादृशः पुत्रोऽभूदस्याप्येतादृश एव स स्यात्। भगवत्काम इत्यर्थः। पितुः प्रचुरो धर्मो ज्येष्ठेऽनुवर्त्तेत इत्यत उक्तं ज्येष्ठेति। अथवा पूर्वोक्तप्रकृतिरूपा चेन्न स्यात्तदा स सात्त्विकः कथं स्यादित्यर्थः ॥३१॥

नन्वस्य पितृलोकप्राप्तिकथनं प्रकरणार्थविरोधीत्याशङ्क्याह स्वस्मिन्निति।

अतः परं सार्द्धैश्चतुर्भिर्द्वितीयाध्यायं विचारयन्ति द्वितीयेत्यादि। अत्रेति स्थानलीलानिरूपके स्कन्धे। अत एवेत्यादि प्रकृतिरूपत्वादेव श्रीभागवते श्रवणहृदयहारिकार्यकर्तृतया मोहकत्वज्ञापनाय गायन्तीमित्युक्तमित्यर्थः। जननं चेति प्रकृतित्वज्ञापकमित्यर्थः ॥३०॥ विरतिरेव स्यान्न तु मोह इति। अनास्थया रत्यभाव एतस्याः स्यान्न तु पराक्षिप्तमना इत्येनेनोक्तो मोह इत्यर्थः। विपक्ष इति तस्याः भगवद्दत्तत्वाभावे। अस्मिन् पक्षे: पितुः प्रचुरो धर्मः काम एव न भक्तिरिति न तेन पुत्रस्य भगवत्कामत्वसिद्धिरित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेति, पूर्वोक्तपक्षं दृढयितुमाग्नीध्रकामितं विचारयन्ति नन्वित्यादि भाव इत्यन्तम्, एतेन 'विहसन्निव तस्येदं चरित्रं मुनिरब्रवीदि'ति श्रीधरोक्तं निरस्तम्। तथा च तस्यापि प्रचुरा भक्तिरस्ति सा परं भगवदिच्छया

निबन्धः—स्वस्मिन् दोषस्तु कामो हि स पूर्णोऽप्सरसां गृहे ॥
अतस्ताः सर्वथा लब्धास्तासु कामं विनिक्षिपेत् ॥३२॥

प्रकाशः—कामस्य दोषत्वेन न तत्सहितानां भगवति स्थितिर्न वा रक्षणीयः सः। तस्य च स्वप्रकृतावेव लयनियमेनाऽप्सरसां च तत्प्रकृतिरूपत्वेन तासु तल्लयप्रापणे शुद्धस्य तथात्वं भावीति तात्पर्येण तथा कथनमित्यर्थः। ननु "न जातु कामः कामानाम्" इतिवाक्यादिदमसम्भावितमत आह स पूर्ण इति। तत्र पूर्णो भवतीत्यर्थः। तथा च यथा कृष्णवर्त्मनो हविषाऽपूरणे (अतिपूरणे) तस्यैव शान्तिरेवमस्यापीति भावः। सर्वथा स्वाधीनतयेत्यर्थः ॥३२॥

पूर्वोत्तरभोगयोः कर्मफलत्वमाशङ्क्याह कर्मण इति।

निबन्धः—ततो मोक्षस्तस्य भावी कर्मणोऽल्पं हि यत्फलम् ॥
आद्यन्तयोः कृतार्थत्वात्सोपि तादृग्विधो भवेत् ॥३३॥

प्रकाशः—कर्मसम्बन्धि यत्फलं तदल्पं भवति। एतच्च महदिति न तथेत्यर्थः। तेन भगवद्दत्तश्रीरूपमेव सर्वमिति भावः। एतन्मुक्तेः स्फुटमनुक्तत्वेन तत्रोपपत्त्यन्तरमाह आद्यन्तयोरिति। सन्दंशन्यायेनाऽप्यस्य मुक्तिरूपपन्नेत्यर्थः ॥३३॥

ननु तयोर्भक्तत्वेप्यस्य यथातथात्वं तथैवामुक्तत्वमपीत्याशङ्क्याऽभक्तत्वे हेतुमाह कृष्णवाक्यादिति।

निबन्धः—कृष्णवाक्यात्समुत्पन्नः स्वरसज्ञे च शाम्यति ॥
जडरीत्यैव सरसः प्रादुर्भवति नाऽन्यथा ॥ ३४ ॥

प्रकाशः—अत्राऽयं भावः। तादृशस्य कामस्य स्वपूर्त्तिरावश्यकी सा च कामरसज्ञ एव भवेत्। अयं चैतद्रसज्ञः। अत्रापि[1] कृष्णवाक्यजकामरूपत्वमेव हेतुः। एवं सति विवाहितायां मुख्यरसाभावाल्लौकिक्याश्च निन्दितत्वेन भगवद्वाक्यजकामसम्बन्धासम्भवात्पूर्वोक्तरीत्या भगवद्दत्तायां तस्यां स कामः पूर्णो जातः। तद्रसस्वाभाव्यादेव जडरीतिरपीत्यस्य भक्त्यवर्णनम्। तस्यास्तत्प्रतिबन्धकत्वात्। अत एव मूले पूर्वं 'जडवत्' इत्युक्त्वा पश्चात् "ललनानुनयातिविशारदः" इत्युक्तम्। कृष्णवाक्यजत्वादेव च मुक्तिरस्यावश्यकीति, स वात्स्यायनशास्त्रप्रसिद्धः। अन्यथा तत्त्वविचार इत्यर्थः ॥३४॥

कामाभिभूतेति न पूर्वोक्तं दुष्टमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ तस्यास्तत्प्रतिबन्धकत्वादिति भक्तेः कामप्रतिबन्धकत्वात् ॥ ३४ ॥ एवं सार्द्धैश्चतुर्भिर्द्वितीयाध्यायो विचारितः।

---

1. तत्रापि।

(अ० ३) यशो विचारयन् कामस्य पूर्वस्मिन्नेव शान्तौ नाभेः सकामत्वानुपपत्तिरित्यत आह आधिदैविक इति ।

निबन्धः—ततोऽप्यग्रे गतः काम आधिदैविकभावतः ॥
वेदतन्त्रप्रकारेण ब्राह्मणेषु प्रवर्तितः ॥ ३५ ॥
तृतीये कृष्णतां प्राप्तः क्रोधवत्कामसम्भवः ॥

प्रकाशः—आधिभौतिकाध्यात्मिकयोः शान्तावाधिदैविकस्यैवाऽवशिष्टत्वात्तथा । तन्त्रप्रकारश्चतुर्भुजाद्याकारचिन्तनम् । तृतीये पुरुष आधिदैविकभावतः कृष्णतां प्राप्तः सर्वाधिदैविकरूपत्वाद्भगवतः ॥३५॥ ननु सर्वमिदमयुक्तम् । भक्तस्य भगवद्भावप्रतिबन्धककामजननम् । तत्रापि स्वप्रजायां भगवत्तुल्यत्वं भावयतो नाभेर्भ्रान्तस्येवोपेक्षैव कर्तुमुचिता, न तु प्रसादः, असद्भावकत्वात् । तद्भावनाया अपराधत्वेन हरिवाक्यैस्तज्जननासम्भवश्च । विषयविषयककामस्य भगवद्विषयकत्वं चानुपपन्नमित्यत आह क्रोधवदिति । स्वचिकीर्षितकार्यार्थं बद्धमुक्तव्यवस्था च भगवदधीनैव न साधनाधीनेति ज्ञापनार्थम् । यथा मुनिवाक्यैर्मुक्तयोर्भक्तयोरपि जयविजययोस्तद्विरुद्धः क्रोधो भगवति जनितस्तथाऽत्र काम इत्यर्थः । यथा क्रोधेनाऽन्यथा भावना सदा तयोस्तथाऽत्र तुल्यत्वभावना । यथा क्रोधस्य शत्रुविषयकत्वनियमेन हरौ शत्रुत्वज्ञाने सोपि तथा पुत्रस्यापि विषयत्वेन हरौ तद्भावनायां विषयविषयककामस्य तद्विषयत्वमपि ॥ ३५३ ॥

यथा हरिणा तत्सम्मुखे मरणेपि न मुक्तिः किं तु "त्रिसत्या हि देवाः"[1] इत्यादिश्रुतेस्त्रिषु जन्मसु सम्पन्नेषु पश्चाद्वैकुण्ठप्राप्तिस्तथाऽत्र कामो वंशात्मकत्वेन तद्रूपभगवत्त्वं प्राप्त इत्याह यथेति ।

निबन्धः—यथा वैकुण्ठसम्बन्धो जयादेस्त्रिषु जन्मसु ॥ ३६ ॥
कृष्णावाक्योद्गतः कामस्तथा कृष्णत्वमश्नुते ॥
हरिः सर्वसमो लोके न हरेस्तु समः क्वचित् ॥ ३७ ।

अतः परं पञ्चभिस्तृतीयाध्यायं विचारयन्ति यश इत्यादि, तन्त्रप्रकार इत्यादि, एतेन वेदप्रकारो यज्ञपुरुषत्वब्रह्मत्वहिरण्मयत्वादिचिन्तनमित्यपि बोधितम् । तथा च मूले प्रवर्तित इत्यस्य चिन्तनद्वारा हृद्याविर्भावित इत्यर्थो बोधितः । तज्जननासम्भव इति भगवदवतारासम्भवः । ननु व्याख्यातरूपस्य सर्वस्यार्थस्यातिदेशादेव ज्ञातुं शक्यत्वादस्याः कारिकायाः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः मुनीत्यादि ॥ ३५३ ॥

---

१ त्रिसप्ता ।

प्रकाशः--मुनिवाक्यजः क्रोधो यत्र तथा तत्र भगवद्वाक्यजः कामस्तथेति किं वक्तव्यमित्याशयेन विशेषणम् । फलितमाह हरिरिति । एतेन तुल्यत्वज्ञाने ये पूर्वपक्षास्तेऽपहताः । तस्मिन् हि सति भगवानेव चेत्प्रादुर्भवति तदेदं ज्ञानं भवति । एतेन यथा कथञ्चिदपि भजनं सफलमितिज्ञापितम् ॥ ३७ ॥

नन्वप्रजस्त्वेन प्रजामात्रकामनाऽस्योचिता तत्कथं हरितुल्यतत्कामनेत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह आत्मेति ।

निबन्धः—आत्मप्रभृतिवंशस्य सर्वार्थस्योपपत्तये ॥
सामर्थ्यादि हरेरेव ततः स्वयमभूत्सुतः ॥ ३८ ॥

प्रकाशः—वस्तुतस्तु भगवानेव पुत्रत्वेनाऽऽविरस्त्वित्यस्येच्छा । अन्यथा वंशस्य कामजत्वेन प्रवृत्तिकार्यमेव स्यान्न निवृत्तितत्कार्यं । हरिवाक्यजत्वेन मुक्तावप्यधिदैविककामरूप एव लयः स्यान्न तु पुरुषोत्तमे । अतः स्वात्मानमारभ्य सर्वस्यैव वंशस्य धर्मादिभक्त्यन्तसर्वार्थसिद्ध्यर्थं तत्कामनेत्यर्थः । ईश्वरे साक्षात्तथा वक्तुमशक्यमिति भवादृशीमित्युक्तमितिभावः । हरिप्रादुर्भावे वंशस्य कृतार्थत्वं युक्त्याऽप्युपपन्नं भवतीत्युक्तमुपपत्तय इति । ननु वरदानेनाऽपि सर्वोपपत्तावाविर्भावस्य नावश्यकत्वमित्याशङ्क्य वरेण हि तादृक् सामर्थ्यादिकं सम्पादनीयम् । स च वाग्रूपः । तथा च कामजनकपूर्ववाग्विरोधसम्भवेन तथा वचनासम्भवः । वचनेन च वचनबलं न निराकर्तुं शक्यम्, तुल्यबलत्वादिति न सामर्थ्यादिसम्भवोपि किं तु स्वरूपेणैव तथा कर्तुं शक्यमधिकबलत्वादिति स्वयमेव सुतोऽभूदित्याह सामर्थ्यादिति । अत एव मूले "वातरशनानां धर्मान् दर्शयितुकामः" इत्युक्तमिति भावः । तर्हि "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य" इति न्यायेन वाचा कामजननमेव किमर्थमित्याशङ्का 'स्वल्पेपि भगवान्' इत्यनेनैवाऽपहता ज्ञेया । एवमस्मिन् कीर्तिः स्थापिता । भगवानस्य सुत इति ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणानां भक्तिनिरूपणस्य प्रकृतानुपयोगमाशङ्क्य तमाह ब्राह्मणा इति ।

निबन्धः—ब्राह्मणा भगवद्भक्ता यदा कार्यं तदैव हि ॥
अतः केवलयज्ञादेः साधकत्वं निराकृतम् ॥ ३९ ॥

प्रकाशः—कार्यं भगवदाविर्भावः । फलितमाह अत इति अन्यथा भक्तिसिद्धान्तविरोधः स्यादिति भावः । वंशसम्बन्धांशे यज्ञस्योपयोगोस्तीति ज्ञापनाय केवलपदम् आदिपदेन यजमानश्रद्धादेशादिः ॥ ३९ ॥

विशेषणमिति जन्मनां त्रित्वं विशेषणम् । इदमिति भगवतः सैवतुल्यत्वम्, अन्यस्य भगवदतुल्यत्वं च । निवृत्तितत्कार्यं इति निवृत्तिमोक्षौ । ३९ । एवं पञ्चभिस्तृतीयाध्यायो विचारितः ।

धर्म्यध्याये पुनः "नाभिस्तु यथाऽभिलषितम्" इत्यादिना नाभिकथा कुत इत्यत आह लौकिक इति ।

निबन्धः—लौकिकोऽपि हरौ भावो मोचकस्तेन तत्कथा ॥
यथा कामनया पित्रा स्वयमुत्पादितो हरिः ॥ ४०
तथैव कृतवान् सर्वमिति राज्यादिवर्णनम् ॥

प्रकाशः--ननु पूर्वाध्याये निवृत्तिधर्मप्राकट्यार्थकत्वनिरूपणादवतारस्य राज्यादिकथनं तद्विरुद्धमत आह यथेति ॥ ४०½ ॥

भगवदवतार इन्द्रस्य स्पर्धा कथमत आह यज्ञ इति ॥

निबन्धः—यज्ञस्तदेन्द्रस्तेनास्य स्पर्धा कार्यावतारतः ॥ ४१
परीक्षा वा कन्यकाया दानार्थमिति निश्चितम् ॥

प्रकाशः--आद्य मन्वन्तरे हरेरंशावतारो यज्ञ एवेन्द्रोऽभूत्तेन तद्योग्यतेति तथा । मूले भगवत्पददानादितिभावः । तदैक्यात्स्पर्धासम्भवोऽत आह कार्येति । यज्ञस्य मनवन्तरकार्यत्वात्क्रियाशक्तेरेवाऽऽविर्भावात्तदुपयुक्ताधिकज्ञानशक्त्यनाविर्भावादिन्द्रत्वाङ्गीकारेण तद्धर्माणामप्यङ्गीकारात्स्पर्द्धेत्यर्थः । यद्वा निवृत्तिमार्गप्राकट्यलक्षणकार्यार्थत्वादृषभावतारस्य प्रवृत्तिपरत्वमस्ति न वेति संशयेन कन्यादाने सन्दिहानः प्रजानुरागतदभावाभ्यां तन्निर्द्धारं कर्त्तुं कन्यायाश्चाऽऽलौकिकवीर्योत्पन्नत्वेनाऽस्य च निवृत्तिपरत्वेन लोके स्वमलौकिकवीर्यं प्रकटयिष्यति न वेत्यलौकिकवीर्यपरीक्षार्थं च वृष्ट्यकरणमित्याह परीक्षेति । पूर्णगुणत्वपरीक्षेत्यर्थः । लोकप्रतीत्यभिप्रायं मूले तत्कथनमितिभावः ॥ ४१½ ॥

परीक्षाप्रयोजनमाह दम्पत्योरिति ।

निबन्धः—दम्पत्योर्भगवत्त्वे तु पुत्राणां हि कृतार्थता ॥ ४२
योगेन मेघरूपः सन् वृष्टिं चक्रेऽतिशोभनाम् ॥
स्थितिरेषेति योगस्य साधनत्वं निरूपितम् ॥ ४३ ॥

अतः परं सार्द्धैः षोडशभिश्चतुर्थाध्यायं विचारयन्ति धर्म्यध्याय इत्यादि । ननु शतयज्ञकरणादिरूपबीजाभावाद् वृथा स्पर्धायाश्च यज्ञावतारेनुचितत्वात्पक्षान्तरमाहुः यद्वेत्यादि। नन्वयमेव पक्षश्चेन्निश्चितस्तदा मूले स्पर्द्धमानपदं कुत उक्तमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाहुः लोक इत्यादि । तत्कथनमिति स्पर्द्धमानत्वकथनम् । ननु निवृत्तिमार्गनिष्ठत्वं चरे दोष इति तदभावः परीक्षणीयस्तत्र त्वन्ये सम्भाषणादगोप्युपायाः सन्तीति कथमेवं कृतमित्यपेक्षायामाहुः परीक्षार्थमित्यादि । तथा च कन्याया भगवद्दत्तायास्ततोधिको वरोपेक्षित इति भगवत्त्वं

प्रकाशः—लौकिकमेघानाकृष्य तैर्वृष्टिकरणे तेषामिन्द्रीयत्वेन नास्य तथा वीर्यसिद्धिरित्यत आह योगेनेति । यस्मिन् क्षेत्रे यदा यावदपेक्षितं तत्र तदा तावदेव जलं ददातीत्युक्तमतिशोभनामिति । इन्द्रस्तु तद्विपरीत इतिभावः । स्वतः समर्थस्य साधनाङ्गीकारे हेतुमाह । स्थितिरिति । मर्यादायां प्रसिद्धसाधनेनैव साध्यकरणात्तथेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

भगवति गृहे सति तं विहाय वनगमनमयुक्तम् । तत्रापि स्वार्थं प्रकटस्योपास्तिमपहायाऽन्यत्र सा नोचितेत्यत आह कामसिद्ध्या इति ।

निबन्धः—कामसिध्यै समुत्पन्नो भगवाँस्तेन कामकृत् ॥
न मोक्षदोऽभवत्तेन नरनारायणाद्गतिः ॥ ४४ ॥
मर्यादायामेवमेव मुक्तिरित्यपि सूचितम् ॥

प्रकाशः—अत्र नियतेच्छत्वाद्भगवत इति भावः । तथेच्छायां हेतुमाह मर्यादायामिति । गृहत्यागादिनैवेत्यर्थः ॥ ४४३ ॥ नरभजनोपयोगमाह तपसेति ।

निबन्धः—तपसा ज्ञानमार्गेण मुक्तावेकस्तु साधनम् ॥ ४५ ॥
भगवत्सेवया चेत्सा बहूनामपि सा भवेत् ॥

प्रकाशः—एको नरस्तपसा साधनेन ज्ञानमार्गेण मुक्तौ सूत्रात्मकत्वेन स तत्साधक इत्यर्थः । तर्हि भगवद्भजनं किमर्थमत आह भगवत्सेवयेति । मर्यादायां स्त्रियाः पूर्वोक्ताधिकाराभावाद्भजनं विना नाऽस्या मुक्तिरिति तथेत्यर्थः । अस्या मुक्तौ किमाश्चर्यमिति कैमुतिकन्यायदर्शनार्थं बहूनामिति । तमसेति पाठे स्त्रीसङ्गो बाधको मुक्तावत आह तमसेति । चैद्यादिवत्तमसा द्वेषादिना मुक्तावेकस्यैव स्वमुक्तावेव साधनत्वं, न प्रसङ्गिनोपि मुक्तौ । तथा ज्ञानमार्गेणापि मुक्तौ, अत एकस्यैव त्यागः । भजने तु तत्प्रतिबन्धकस्यैव त्यागो न तत्साधकस्यापीति तया सह गमनम्, नापि सा प्रतिबन्धिकेत्यर्थः ॥ ४५३ ॥

तथापि मर्यादायां स्त्रियस्त्यागविधानात्सोऽयुक्तः । "न तथाऽस्य भवेत्क्लेशः" इति वाक्यात् । तादृशतत्प्रसङ्गेनाऽस्यापि मुक्त्यसम्भवोऽत आह वनस्थेति ।

ज्ञातुं सेत्यर्थः ॥४२॥ तथेति नरनारायणोपासनम् । एकस्यैव (स्वमुक्तावेव) साधनत्वमिति मुख्यं प्रत्येव साधनत्वमित्यर्थः । तदेव विवृण्वन्ति नेत्यादि । मूले साधनमिति भावप्रधानो निर्देशः । तत्प्रतिबन्धकस्येति भक्तिप्रतिबन्धकस्य ।४५३। स इति स्त्रीसङ्गः, तथेति वनस्थस्य या छान्दोग्ये

निबन्धः—वनस्थरीत्या मुक्तिस्तु नाभेरत्र निरूप्यते ॥ ४६ ॥
तृतीयत्वादतो भार्यासहितस्य गतिस्तथा ॥
गुरुसेवाप्रधानत्वाद्ब्रह्मचारे प्रियव्रतः ॥ ४७ ॥
गृहस्थो मध्यमः स्पष्टो मुक्तिस्तस्य निरूपिता ॥

प्रकाशः—नेदं प्रव्रजनरूपं गमनम्, परमहंसधर्माणामधुनाऽप्यप्रकटत्वादत-स्तथा। तस्या रीतेः क्रमप्राप्तत्वमुपपादयति तृतीयत्वादिति सार्धेन ॥४७३॥

नन्वेवं सर्वत्यागाभावात्कामसिद्ध्यर्थमाविर्भूतस्यापि भजनेन तत्प्रसादान्मुक्तिर्भवेदिति कुतो गमनम्। गृहत्यागावश्यकत्वे वा वनेऽपि नास्यैव भावनं कुतोऽत आह सर्वत्रेति।

निबन्धः—सर्वत्र लौकिकी दृष्टिः शास्त्रदृष्टिं हि बाधते ॥ ४८ ॥
शतधा कामकरणं सर्वकामविवृद्धये ॥

प्रकाशः—अत्र पुत्रत्वेनैव स्फूर्तिर्भवति न भगवत्त्वेनेति भजनमेव न सम्पद्येतेति तथेत्यर्थः। मर्यादायां यथा कथञ्चिज्ज्ञाने मुक्तिर्नेति भावः। यद्वा। ननु मूले "कर्मणाऽपत्यतामगाद्" इति कथनं कथं भक्तिशास्त्रविरोधादत आह सर्वत्रेति। न सा शुकोक्तिः किं त्वनुवादो लोकोक्तेः, तेषां शास्त्रश्रवणे सत्यपि बाह्यदृष्टिरेवेति। ब्राह्मणादिनिष्ठान्तरभक्तेर्ज्ञानाभावात्तथेत्यर्थः। पुत्रशतमात्रजनने हेतुमाह शतधेति। वंशस्य कामात्मकत्वात्तस्य च शतविधत्वात्तावत्पुत्रजननमित्यर्थः। प्रयोजनमाह सर्वेति।४८३।

कामस्य शतधात्वं विवृणोति एक इति।

निबन्धः—एको मोक्षे तथा भोगे भक्तौ च नवधा पुनः ॥ ४९ ॥
नवानां नवभेदा हि कर्ममार्गेष्टिकामनाः ॥

प्रकाशः—मुक्तेरेकविधत्वाद्भोगस्य साधनभक्तेश्च गुणैर्नवविधत्वात्कर्मफलस्य चैकाशी-तिविधत्वात्तत्कामनाया अपि तावद्विधत्वमित्यर्थः। ते के भेदा इत्याकाङ्क्षायामाह कर्ममार्गेति ॥ ४९३ ॥ तत्रैकाशीतिविधत्वमुपपादयति कर्मेति।

रीतिरुक्ता तया मुक्तिरित्यर्थः। उपपादयतीति हेतुपूर्वकं कथयति। मूले तृतीयत्वात् प्रियव्रतापे-क्षया नाभेर्ब्रह्मचर्यापेक्षया वनस्थाश्रमस्य च तृतीयत्वात्। एतस्य पूर्वेण सम्बन्धः। अतो वनस्य रीत्यधिकारित्वाद् भार्यासहितस्य या नारायणाश्रमं प्रति गतिः सा तथा मुक्तिपर्यवसायिनी। नन्वेतत्तृतीये तस्य तृतीयाश्रमग्रहणं प्रति कथं हेतुतेत्यत आहुः गुरुसेवेत्यादि। यद्यपि प्रियव्रतस्य गार्हस्थानन्तरमाश्रमान्तरपरिग्रहस्तथापि 'भगवतो नारदस्य पदवीं पुनरेवानुससारे'ति कथनेन लिङ्गेन प्रियव्रतः ब्रह्मचारे ब्रह्मचर्ये स्थितः, युगान्तरे विपरीताश्रमग्रहस्यापि स्मरणादिति शेषः। शेषं स्फुटम्।४७३। सर्वत्रेति मर्यादया सर्वत्र। भक्तिशास्त्रविरोधादिति भक्तिशास्त्रे भक्त्या च हृदि भावित इत्यादिकथनेन तद्विरोधादित्यर्थः।४८३। अस्मादेवास्वरसात्पक्षान्तरं भोगस्येति।

निबन्धः—कर्मकर्तृविभेदेन गुणैर्नवविधत्वतः ॥ ५० ॥
मोक्षः कामस्तथा भक्तिर्धर्मश्चेत्यत्र हि क्रमः ॥

प्रकाशः—नवविधे कर्मण्येकैकं कर्म नवविधोऽपि कर्त्ता चिकीर्षतीति तथा। व्युत्क्रमेण पुरुषार्थकामसृष्टौ तात्पर्यमाह मोक्ष इति। अत्र प्रियव्रतवंशे पूर्वं हि तस्य मोक्षधर्मरतिः। ततः कामस्तत्पुत्रे, ततो नाभेर्ब्राह्मणानां च भक्तिस्ततश्चर्षभे धर्ममर्यादा-स्थापनं चेति तथा क्रम इत्यर्थः ॥ ५०½ ॥ अर्थाकथने हेतुमाह यथेति।

निबन्धः—यथार्थः सर्वसुखदः सर्वार्थस्य च साधकः ॥ ५१ ॥
तथा स्थाने भक्तिमार्ग इत्येवं क्रमसङ्कथा ॥

प्रकाशः—अत एव भगवतैव रक्षिताः ॥ ५१½ ॥
प्रजानां निष्कामकत्वे हेतुमाह पुत्रेष्विति।

निबन्धः—पुत्रेषु सर्वथा कामं सम्यक् स्थापितवान् यतः ॥ ५२ ॥
निष्कामास्तु ततो जाताः प्रजास्तेनैव रक्षिताः ॥
सर्वथा कामराहित्यं दृष्टान्तेन निरूपितम् ॥ ५३ ॥
स्नेहः स्वतन्त्रा भक्तिर्हि त्रिमार्गादधिका मता ॥

प्रकाशः—अविद्यमानमिवेति दृष्टान्तेन फलितमाह स्नेह इति। त्रयाणां मार्गाणां कर्मज्ञानभक्तीनां समाहारस्तथा। तथा च स्नेहरूपा भक्तिः स्वतन्त्रा विध्यनियम्या मोक्षादधिका, सा तु रसवदनुभवैकगम्येति तादृशानामेव पुष्टिमार्गीयाणां सम्मतेत्यर्थः। अन्येषां तत्स्वरूपाज्ञानादतस्तथात्वमिति भावः ॥ ५३½ ॥
तज्जिज्ञासाभावेपि स्वयं तत्त्वोपदेशे हेतुमाह कर्ममार्गेति।

निबन्धः—कर्ममार्गप्रकारेण येषु कामो निरूपितः ॥ ५४ ॥
तेषां ज्ञानोपदेशस्तु कर्तव्यः सर्वथाऽन्यथा ॥
जडाः स्युर्येन नाशः स्यादतो गत्वा हि बोधनम् ॥५५॥

एतेन कुशावर्त्तादयो नव तत्तन्नामकानां जम्बूद्वीपोपद्वीपानां पतय इति बोधितम्, तेषां नवनव-द्वीपपतयोस्य सम्मत इत्येकादशवाक्याद् एते चार्णव एव न तु सागर इतिज्ञेयम्। निष्कामत्व इति भगवतर्षभेण परिरक्षमाणा इति गद्योक्ते तासां तथात्वे। अविद्यमानमिवेति खपुष्पमिव। तथा च भगवत्स्नेहातिशयमन्तरेण विद्यमानमर्थं खपुष्पमिव न वाञ्छतीत्यर्थः। तथेति त्रिमार्गं तस्मादित्यर्थः। मूले गत्वेति ब्रह्मावर्त्तं गत इत्यास्यार्थः ॥५५॥ एवं षोडशभि-श्चतुर्थोध्यायो विचारितः। (१ "अतथात्वम्" इतिपाठान्तरम्।)

प्रकाशः - (अ० ५) एवं निर्बन्धेनोपदेशो हेतुमाह स्वकृत इति।

निबन्धः—स्वकृतेऽर्थे हरिः सर्वं प्रतीकारं करोति हि ॥

अहङ्कारनिवृत्तिं हि बोधयत्यत्र साधनैः ॥ ५६ ॥

प्रकाशः— एतेन कर्मासक्तेरनर्थत्वं बहूनामर्थानामुक्तत्वादुचितम्। उपदेश्यनिर्द्धारमाह अहङ्कारेति 'हंसे गुरौ 'इत्यादिनेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

निबन्धः—ऐहिकामुष्मिकः क्लेशस्तत्कृतो वर्ण्यते ततः ॥

मुख्यसाङ्ख्योऽयमाख्यातो योगे त्वग्रे मनःकथा ॥ ५७ ॥

प्रकाशः—तत्कृतोऽहङ्कारकृतः। निवृत्तिमार्गे साङ्ख्ययोगयोः साधनत्वात्तदुभयं दर्शितम्। अहन्ताममतात्याग एव मुख्यो ज्ञानमार्ग इति भगवता 'जडान्धमूक' इत्यादिना स एव मार्गो दर्शित इत्याह मुख्यसाङ्ख्य इति। 'यर्हि वाव' इत्यादिना योगचर्या प्रदर्शिता। अत एवाऽग्रे अग्रिमाध्याये मनःकथोक्तेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

ननु योगमार्गे सर्वत्यागाभावादत्र योगमार्गप्रदर्शनमनुपपन्नमत आह संन्यास इति।

निबन्धः—संन्यासस्तु समाख्यातो योगसाङ्ख्याविशेषतः ॥

विषयाः सर्वथा त्याज्याः सर्वावस्थासु सर्वतः ॥ ५८ ॥

इति दर्शयितुं सिद्धो योगसिद्धीर्न मन्यते ॥

प्रकाशः—अयं संन्यासस्तु साङ्ख्यमार्गीय एव। योगचर्या तु तयोरविशेषात्। तथा चोक्तं भगवता "साङ्ख्ययोगौ पृथग् बालाः" इत्यादिना। तदाह समाख्यात इति। योगसिद्धिसेवानङ्गीकारे हेतुमाह विषया इति ॥ ५८½ ॥

निबन्धः—मुखे पाषाणनिक्षेपः कोप्यन्तर्मा विशेदिति ॥ ५९ ॥

सर्वथा विषयत्यागः प्रथमं तेन रूपितः ॥

भोगोपि विषयाणां तु नैर्मल्यं योगलक्षणम् ॥ ६० ॥

अतः परं सार्द्धैस्त्रिभिः पञ्चमस्य ज्ञानाध्यायस्य विचारं कुर्वन्ति। एवं निर्बन्धेत्यादि। मूले अत्रेति उपदेशे। तत इत्यत्रातत इति पदच्छेदः। संसाराध्वनि नित्यं भ्रमत इत्यर्थः। इत्यादिनेति इत्यादिना श्लोकचतुष्टयेन।

(अ० ६) कोपीति । सायुज्यमुक्त्यधिकार्यपीत्यर्थः । एतेन सिद्धानां सर्वथा सङ्गाभावो दर्शितः । किं च विषयभोगो हि पूर्वं मुखतस्तत्र तथात्वेन सर्वथा त्यागो निरूपितो भवतीत्याह सर्वथेति । त्यागस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात्प्रथमं विषयाणां भोगोपि 'शयान एवाश्नाति' इत्यादिनाऽत एव निरूपित इत्याह प्रथममिति । रागव्यावृत्त्यर्थं तुः । सौरभ्यनिरूपणप्रयोजनं नैर्मल्यज्ञापनम्, तस्यापि सिद्धलक्षणत्वेन निरूपणमित्याह योगलक्षणमिति ॥ ६० ॥

दाहोक्तितात्पर्यमाह अग्नावेवेति ।

निबन्धः—अग्नावेव समस्तस्य गतिरित्यग्निदाहनम् ॥
आनन्दमयदेहस्य वह्नावावरणे पुनः ॥ ६१ ॥
उद्गते तु तिरोधानमित्येवं वर्णिता कथा ॥

प्रकाशः—अत्र हि योगचर्यां शिक्षयन् यथा यथा तेषामवस्थातां प्रदर्शयति । यथा सिद्ध्यनङ्गीकारे 'न कुर्यात् कर्हिचित्' इत्यादि हेतुत्वेन निरूपितम् । न ह्यत्र तदङ्गीकारेपि तथात्वं भवितुमर्हति । तथाऽत्र योगशरीरस्यान्ते गतिरियमेवेति ज्ञापनाय तथा कथोक्ता । वस्तुस्थितिस्त्वानन्दमयदेहस्य वह्निरूपावरण उद्गते सति तिरोधानमित्याह आनन्देति । अत एव मूले 'योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन्' (श्लो० ६) इत्युक्तमितिभावः । प्रकरणमुपसंहरति इत्येवमिति । इतीति समाप्तौ, हरिणा स्वरूपस्थितिकथा वर्णितेत्यर्थः ॥ ६१½ ॥

'राजन् पतिः' इत्यादितात्पर्यमाह भक्तेष्विति ।

निबन्धः—भक्तेषु सम्प्रसन्नोयमेवं क्लेशं चकार ह ॥ ६२ ॥
मर्यादायामतः कृष्णो न भक्तिं क्वापि यच्छति ॥

प्रकाशः—क्लेशे मर्यादैव हेतुः ॥ ६२ ॥

योगस्याऽष्टाङ्गत्वादष्टभिरध्यायैर्योगमार्गेण स्वस्थितिर्निरूप्यत इत्याह अथेति ।

निबन्धः—अथाध्यायैरष्टभिर्वै योगमार्गो निरूप्यते ॥ ६३ ॥
योगाभावे तु सर्वं हि निःप्रयोजनतां व्रजेत् ॥
मनसश्चञ्चलत्वाद्धि तथाऽन्ते या मतिर्गतिः ॥ ६४ ॥

प्रकाशः—ननु योगनिरूपणे भरतस्यैव कथा कुत इत्याशङ्क्य योगस्यावश्यकत्वं हि

अतः परं चतुर्भिः षष्ठाध्यायं विचारयन्ति कोपीत्यादि । मर्यादेति भक्तानां स्थिति मर्यादा । एवमाद्य आद्यमवान्तरप्रकरणं सार्धाष्टचत्वारिंशद्भिर्विचारितम् ॥६२॥
अतः परमाद्ये द्वितीयं विंशतिभिर्विचारयन्ति योगस्येत्यादि ।

तदितरसाधने सत्त्वेपि तदभावेन स्वस्थित्यभावे सिद्ध्यति। तादृशत्वं च भरतेस्तीति तत्कथा। एतदेवाह योगाभाव इति। आद्येऽध्याये प्रजापालनादिधर्मनिरूपणेनैतज् ज्ञापितमित्यर्थः। योगेनैव मनसः स्थैर्यात्तदभावे तथात्वं युक्तमेवेति ज्ञापनाय मनसश्चञ्चलत्वं प्रवाहपातित्वं च द्वितीयेन निरूपितमित्याह मनस इति ॥६४॥

मुमुक्षोः साधनपरस्यापि तथात्वे हेतुमाह प्रारब्धेति।

निबन्धः—प्रारब्धकर्मकालादेर्बाधकत्वं यतः सदा।
भक्तिः परं ज्ञानदात्री कर्मादीनां बलेऽपि हि ॥ ६५ ॥

प्रकाशः—आदिपदेन स्वभावः। मर्यादायामिति शेषः। भक्तेरपि कर्मवदप्रयोजकत्वमाशङ्क्याह भक्तिरिति। बाधके सत्यपि कार्यसाधिका सैवेति तथा। अत एव 'कृष्णार्चनप्रभवा' इत्युक्तम्। तेन भक्त्यैवात्राऽस्य सर्वमग्रिममित्युक्तं भवति। अन्यथा पूर्वज्ञानाभावेनेतरवद्विषयासक्त्या जन्मान्तरेपि न तत्कृतार्थत्वं स्यादितिभावः ॥६५॥

तर्हि तयाऽधुनैव मोक्षः कथं न सम्पादितोऽत आह ज्ञानेति।

निबन्धः—ज्ञानप्राधान्यतः क्लेशो भक्त्याऽन्ते मोक्षमेष्यति ॥
मुक्तिस्कन्धे तच्च वक्ष्यत्यतोऽत्र न निरूपितम् ॥ ६६ ॥
मन्यते साधनं योगं बाधकानां निराकृतौ ॥
कर्मत्वनुपयोग्येव न तद् दृष्टोपकारकम् ॥ ६७ ॥

प्रकाशः—ज्ञानसाधनत्वेन भक्तेः कृतत्वात्तथा। तथाऽपि भक्तिस्वरूपं मोचकमेवेति कथं न तथेत्यत आह भक्त्येति। अत्र सर्वांशे मर्यादैव हेतुरिति ज्ञेयम्। तर्ह्यत्र तृतीयेपि जन्मनि मोक्षानिरूपणं कथं तत्राऽऽह मुक्तीति। एकादशे स्कन्धे 'स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम्। उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः' इत्यनेन ॥६६॥ ननु देहस्य बहिरङ्गत्वान्मृगत्वेऽपि भक्तिकरणे कृतार्थत्वं स्यादेवेति विप्रत्वेपि च कुतस्तदकरणं कालप्रतीक्षा चेत्यत आह मन्यत इति। अत एव पश्चात्तापे साधनत्वेन सर्वमुक्त्वा 'समाहितं मनः' इति साध्यत्वेनोक्तवान् 'परो हि योगो मनसः समाधिः' इति वाक्यादितिभावः। कर्मादिषु तथात्वेनाऽमनने हेतुमाह कर्म त्विति। भगवदुपासनालक्षणस्य व्यावृत्त्यर्थं तुः। अत्यासक्तत्वेनाऽस्य कालविलम्बा-

---

एतज् ज्ञापितमिति इतरसाधनसत्त्वं ज्ञापितम्। प्रवाहपातित्वमिति हरिणस्य प्रवाहपातित्वम् ।६४। सैवेति अर्चनताविहितभक्तिरेव। कथमिति त्रयोदशाध्याये भरतकथासमाप्तौ आपूर्णार्णव इव निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां विचचारे'तिजीवन्मुक्तदशामात्रकथनात् परममोक्षनिरूपणं कथमवगन्तुं शक्यत इत्यर्थः ।६६। कालप्रतीक्षेति मृगदेहे कालप्रतीक्षा। उक्तवानिति

सहिष्णुत्वात्कर्मणश्चाऽदृष्टद्वारोपकारकत्वाददृष्टस्य च मध्ये कालादेर्नाशसम्भवात्तथात्वम्, एतदेवाऽऽह न तदिति ॥ ६७ ॥

स्नेहरूपा भक्तिश्चेत्स्यात्तदानुपङ्क्तिकमेव पुनः स्थैर्यं स्यात् । सा च साधनत्वेनैवासीदिति तृतीयेऽपि जन्मनि ज्ञानमेव कृतवती, तदपि वैराग्यार्थमाह भक्तिश्चेति ।

निबन्धः—भक्तिश्च न स्वतन्त्राऽऽसीत्साधनत्वेन सा पुनः ।
ज्ञानमेव करोत्येषा वैराग्यार्थं न चाऽन्यथा ॥ ६८ ॥

प्रकाशः—यथा तण्डुलसाधकत्वेन चिन्तामणिं मन्वानाय स न भक्तं प्रयच्छति तृप्तिं वा तथेति भावः ॥६८॥

निबन्धः—पश्चाद्ददाति मोक्षं च सजातीयप्रवर्द्धिता ॥
योगेनैव मनःस्थैर्यं ततः शीघ्रं तदाचरन् ॥ ६९ ॥

प्रकाशः—स्मरणकीर्तनादेः सजातीयत्वम् । एवमितरसाधनानामन्यत्रोपक्षीणत्वमुक्त्वा प्रकृतमुपसंहरति योगेनेति ॥ ६९ ॥

ननु स्मरणादिषु क्रियमाणेषु विरक्तस्य तद्रसानुभवोऽवश्यं भावी । तथा सति योगं न मन्येत नीरसत्वज्ञानादत आह कर्मादीनामिति ।

निबन्धः—कर्मादीनां स्थानमार्गे बलं सर्वात्मना मतम् ॥
पुष्टौ परं प्रवक्ष्यामो भक्तिमार्गेण साधनम् ॥ ७० ॥

प्रकाशः—यथा बालस्य स्त्रीस्पर्शादौ सत्यपि न शृङ्गाररसानुभवस्तथा मर्यादामार्गीयत्वाद्यावता ज्ञानवैराग्यसम्भवस्तावाँस्तद्रसानुभवोऽपि नाऽधिकः । अन्यथा तया प्रारब्धस्यैव नाशे तद्भोगासम्भवेन मर्यादानाश एव स्यादतोऽस्मिन्मार्गे तेषां बलिष्ठतेत्यर्थः । मतं भगवत इतिशेषः । तथा च भगवता स मार्ग एव तथा कृतो यत्कर्मानतिक्रमेणैव फलं भवतीत्यर्थः । तर्हि भक्तिशास्त्रविरोध इत्याशङ्क्याह पुष्टाविति । कर्मणामित्युभयत्र सम्बध्यते । भक्तिस्वरूपं त्वेतादृशमेव सदा, परं तु भगवान् यस्मिन्मर्यादां मनुते तत्रैषा चेत् स्वशक्तिं प्रकट्येन्मर्यादानाश एव स्यात् । अतो भगवदिच्छयैव प्रतिबद्धा नाऽधिकं करोति । न हि भस्मनाच्छन्नोऽग्निर्न दहतीत्यदाहक एवाऽतो न भक्तिशास्त्रविरोध इति भावः । पुष्टौ पुष्टिनिरूपके स्कन्धे षष्ठ इत्यर्थः । असत्कर्मबाधनमजामिले ।७०।

निबन्धः—कर्मणामनुपायत्वं भक्तेः साधकता पुनः ॥
योग्यदेहेपि बाधा च कलादेरुच्यते स्फुटा ॥ ७१ ॥

'अहो कष्टं भ्रष्टोहमि'त्यसिन् गद्य उक्तवान् । तर्हीत्यादि स्थानमार्गे 'भक्तेर्निर्बलत्वे भक्तिः पुनाति मन्निष्ठाश्वपाकानपि सम्भवादि'तिवाक्ये भक्तेः कर्मस्वभावजेतृत्वमुक्तं तद्विरोध इत्यर्थः । मूले: कलादे-

प्रकाशः—सत्कर्मणामनुपायत्वं हर्यश्वेषु नारदेन निरूपितं पुनरिति। पूर्वं भक्तस्य शापादयोग्यशरीरप्राप्तावपि वृत्र इत्यर्थः। एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृते तद्विपरीत्यमाह योग्येति। यद्वा, भक्तेर्ज्ञानसाधकता पुनर्विप्रत्वेऽप्युच्यत इति सम्बन्धः। मनःस्थैर्यं साक्षाद्भगवत्प्राप्तियोग्ये ब्राह्मणदेहेपि मर्यादायां तत्प्रतिबन्धकोऽध्ययनवृषलहस्तमरणादिः।७१।

निबन्धः—तत्रापि हरिभक्तिर्हि सर्वथा मोचिका मता ॥
एवं तस्य स्वरूपे तु त्रिभिः प्रोक्ता स्थितिः परा ॥७२॥

तत्राऽपि सैव मोचिकेत्यर्थः। अत एव मूले 'तत्पादमूलमि'त्यादीतिभावः। उपसंहरति एवमिति ॥ ७२ ॥

उपदेशनस्य स्वस्थित्यहेतुत्वेनैतत्प्रकरणासङ्गतिमाशङ्क्य तामाह ज्ञानाभावादिति।

निबन्धः—ज्ञानाभावादेवमासीदिति शङ्कां तु वारयन् ॥
उपदेशनमाम्नातं यज्जातं राजजन्मनि ॥ ७३ ॥

प्रकाशः—तर्हि 'न स पुनरावर्त्तत' इति श्रुतेर्विप्रशरीरे ज्ञानं जातमित्याशङ्क्य (नेति) आह यज्जातमिति। तदा भगवता भरतोऽप्युपदिष्ट इति ज्ञेयम्। 'पुत्राँश्च शिष्याँश्च' इतिवाक्यात्। मृगत्वे सति निर्वेदे पूर्वजन्मधर्मनिरूपण आत्मवत इतिवचनाच्च। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इति श्रुतेरन्यस्माज्ज्ञानोपदेशाकथनाच्च। न चानावृत्तिश्रुतिविरोधः। ब्रह्मविदोऽपि प्रारब्धभोगस्येष्टत्वेन तदभाववत्तद्विषयत्वात्तस्याः। अत एव राजानमुपदिष्टवान्, अन्यथा तु 'एवं बहुभद्रमभिभाषमाणम्' इत्यादिविशेषणवत्त्वेनाऽनधिकारिणं मत्वाऽन्येष्विव तूष्णीं तिष्ठेत्। कथनं च तस्य श्रद्धारूपाधिकारवत्त्वेन तदर्थप्रयत्नवत्त्वेन ज्ञाने स्वरूपयोग्यतां मत्वा। तदुक्तं 'तत्त्वजिज्ञासायाम्' इत्यादिना। 'अहं च' इति वाक्येन च। उपेक्षायां च कृतापराधत्वेन वृषलानामिवाऽस्य नाशः स्यात्तथात्वं चाऽस्याऽनुचितं भगवत्सम्मुखत्वात्। रजःस्वभावकृतश्चाऽपराध इति तदूरीकरणार्थं पूर्ववाक्यानि ॥ ७३ ॥

रिति भगवत्कलां वीरकुलमित्युक्ता कला। आदिपदेन ब्रह्मभूतत्वादिकं तस्येत्यर्थः।७१। तत्पादमूलेति 'तत्पादमूलमुपसृतानामि'त्यनेन लिङ्गेन भक्तिरेवोच्यत इति सैव तथेत्यर्थः। मूले० त्रिभिरिति अध्यायैः ॥७२॥ विवृतौ, उपदेशनस्येति पञ्चमाध्यायेन भगवत्कृतस्योपदेशनस्य। ज्ञानाभावादित्यादि, तथा च उपदेशनमुक्ताशङ्कावारकमाम्नातम्, अतो ज्ञानसद्भावेपि प्रारब्धं प्रतिबन्धकं भवतीतिज्ञापनाय तत्कथनमिति तस्य न महाप्रकरणासङ्गतिरित्यर्थः। तर्हीत्यादि, ज्ञानोत्तरं पुनर्जन्माङ्गीकारे। उक्तश्रुतिविरोध इति तदभावाय ब्राह्मणशरीर एव कुतश्चिज्ज्ञानजननमङ्गीकार्यमित्याशङ्क्येत्यर्थः। अत एवेत्यादि प्रारब्धशून्यत्वं ज्ञात्वैव रहूगणमुपदिष्टवानित्यर्थः। तदुक्तमिति 'स चापि पाण्डवेये'त्यस्मिन् गद्ये शुकेन तदुक्तम्। वाक्येन चेति रहूगणेन स्वस्य स्वरूपयोग्यत्वमुक्तमित्यर्थः। पूर्ववाक्यानीति 'त्वयोदितं व्यक्तमि'त्यादीनि वाक्यानि।७३।

ततो दोषापगमे नतिः प्रश्नश्च तुरीयाध्यायार्थं इत्याह गुरुशिष्येति ।

निबन्धः—गुरुशिष्यप्रकारेण नतिः प्रश्नः पुरोच्यते ॥
योगानुसारि विज्ञानं मनसश्चापि निग्रहः ॥७४॥

प्रकाशः—गुरौ यः शिष्यस्य प्रकारस्तेनेत्यर्थः । अन्यथौदासीन्येन कथने तेन तस्य ज्ञानं न स्यादितिभावः । अस्य पूर्वेण वा सम्बन्धः । तेनाऽप्रामाणिकं निरस्तम् । नत्यादिरध्यायार्थः । अस्य संन्यासाभावेन साङ्ख्यीयज्ञानानधिकाराद्योगानुसारि तदुपदिष्टवानिति तज्ज्ञानमग्रिमाध्यायार्थं इत्याह योगेति । अत एव स्वस्मा अप्येतदेवोपदिष्टं तदेत्याशयेनोक्तं 'यज्जातं राजजन्मनि' इत्ययमपि तथेति । अत एव स्वयमेवोपदिष्टवान् । अन्यथा भगवति प्रश्नार्थं चलितस्य तत्रैव प्रेषणमुचितमितीदमयुक्तमेव स्यात् । तदुपदेशाधिकाराच्च तदर्थंस्तावानायासोपि व्यर्थः स्यात्, तदप्ययुक्तमिति भगवदिच्छयैव तथेतिभावः । तत्साधनत्वेन तत्रैव मनोनिग्रहश्चोक्तः ॥७४॥

निबन्धः—ततो वैराग्यमुत्कृष्टं परोक्षकथनेपि च ॥
योगवैराग्यबाहुभ्यां भक्तिरत्र निरूपिता ॥७५॥

प्रकाशः—ततोऽग्रिमे परोक्षकथनेपि वैराग्यं तत्साधनत्वेनोक्तम् । भगवत्येव रागजननादुत्कृष्टम् । उपदेशे फलितमाह योगेति । सर्वत्रोपसंहारे रहूगणेत्यादिना 'गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रः' 'हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्याम्' 'हरिसेवया शितं ज्ञानासिम्, इति वाक्यैर्भक्तिनिरूपणात्तस्या एव प्राधान्यम्, तेन भगवच्छास्त्रानुसारी योग उक्तः । तदुक्तं भगवता "योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः" इति । तथा च भगवति मनोनिग्रहस्तदन्यत्र वैराग्यमेतत्सहितस्तत्र स्नेहोऽत्र कर्तव्यत्वेनोक्त इत्यर्थः । साधकत्वेन बाहुत्वम् ॥ ७५ ॥

इह परोक्षवादप्रयोजनं वदँस्तदन्यत्राऽप्यतिदिशति परोक्षकथनं सर्वमिति ।

निबन्धः—परोक्षकथनं सर्वमधिकारपरीक्षकम् ॥
रहूगणस्याधिकारो यादृशश्च परीक्षिति ॥७६॥

प्रकाशः—अत्र परीक्षाफलितमाह रहूगणस्येति ॥ ७६ ॥

अग्रिमाध्यायार्थं इति पञ्चमाध्यायार्थः । अत एवेति स्वपूर्वशरीरसमानत्वादेव । अन्यथेति उत्कृष्टाधिकारे । आयास इति रहूगणायासः । तदप्ययुक्तमिति, अधिकारित्वात्प्रयासवैयर्थ्यमप्ययुक्तमित्यर्थः । ततोग्रिम इति षष्ठाध्याये । सर्वत्रेत्यादि, अत्र प्रथमं वाक्यं त्रयोदशाध्यायस्थम्, द्वितीयं द्वादशाध्यायसमाप्तौ, तृतीयं प्रथमस्यैव शेषभूतम् ॥ ७५ ॥

तज्ज्ञापकमाह अत इति।

निबन्धः—अतः परोक्षशब्दानां व्याख्यानं पृष्टवान्नृपः ॥
वर्णिते बोध एव स्यान्नाधिकारस्तु सिद्ध्यति ॥७७॥
अतः स्कन्धत्रये प्रोक्तं परोक्षकथनं तथा ॥

प्रकाशः— ननूक्तार्थाववोधेन हि मुख्योऽधिकारः स च व्याख्यानेऽत्रापि तुल्य इत्यत आह वर्णित इति। यथा कयाचिद्विरहिण्या तादृशीमेव प्रीतिमत्सपत्नीं प्रति 'स्वैरचारी मधुपः सम्प्रति दहती'त्युक्ते कयाचित्पृष्टयाऽन्यया प्रियपरतया व्याकृतेऽपि न तद्विप्रयोगरसविशेषानुभवोऽधिकाररूपप्रीत्यभावात्तटस्थायास्तस्याः, न वा प्रीत्युत्पत्तिः। तथेहापि, किं च, न बोधकृतोऽधिकारः किं तु वैपरीत्यम्। बोधस्तज्ज्ञापकः परमिति भावः। परीक्षार्थमेव तथोक्तिरित्यत्र प्रमाणमाह अत इति, चतुर्थादित्रये तथा, तत्परीक्षकमित्यर्थः। अधिकारस्त्रिविधो यतोऽतस्तथा ॥ ७७३ ॥

निबन्धः—आदाववोधो मध्ये तु सुगमत्वाद्विबुद्ध्यते ॥७८॥
उत्तमस्त्वधिकारोऽग्रे तेन कूटनिरूपणम् ॥
रहूगणोत्तमत्वाय व्याख्यानं तेन यत्स्वतः ॥७९॥

प्रकाशः—तत्रादौ प्राचीनबर्हिषः कर्मासक्त्या हीनाधिकारित्वादवोध उक्तः। तत्त्वजिज्ञासासत्त्वेपि कर्मासक्त्यभावेऽप्यभिमानसत्त्वात्त्यागाभावादुपदेशार्थमपि राजसभावेन चलनाच्च रहूगणो मध्यमाधिकारी। सोऽपि 'दुरत्ययेऽध्वनि' 'रजस्तमःसत्त्वे' इत्यादिना सुगमत्वेनोक्तमिति बुद्धवान्। कूटवाक्यवोधे त्वस्य नाधिकारः। हर्यश्वानां मुक्तत्वादुत्तमाधिकारस्तेन तथा तर्हि व्याख्यानं व्यर्थमत आह रहूगणेति ॥७९॥

निबन्धः—बुद्धं तत्रापि निःशङ्कं तद्वाक्यं जगृहे पुनः ॥
भरतस्योत्तमत्वं च तेनैवोक्तमिति स्थितिः ॥८०॥

प्रकाशः--तत्परीक्षितोस्तारतम्यज्ञापनार्थमित्यर्थः। तेन रहूगणेन यत्स्वतो व्याख्यानं विना बुद्धं तदत्र व्याख्यातमिति योजना। निशङ्कं मननानपेक्षकमित्यर्थः। शिष्योत्तमतोक्त्यैव तत्प्रयोजकगुरोरपि तत्त्वमुक्तमेवेत्याह भरतस्येति। यद्वा। तेनैव रहूगणेनैवेत्यर्थः। 'नमो नमः कारण' इति, 'अहो नृजन्म' इत्यादिना चेति शेषः। यद्वा राजजन्मन उत्तमत्वं शुकेनैव 'भरतस्तु' इत्यादिनोक्तमित्यर्थः। ननु साक्षाद्भगवता

वैपरीत्यमिति अधिकारकृतो बोध इति वैपरीत्यम्। नन्वित्यादिनोक्तायां परीक्षिदधिकारशङ्कायां

सम्पादितदेहस्य भगवद्दर्शनवतो भक्तस्य तत्रापि भगवदङ्गीकृतस्य तादृग्वंशजस्य भगवत्कलापौत्रस्य बादरायण्यनुगृहीतस्योत्तमत्वेनाधिकारस्कन्धे निरूपणादुक्ताशेषधर्मरहितरहूगणाधिकारान्न्यूनाधिकार इति न सहामह इति चेत्सत्यम्। अयं तु मर्यादामार्गीयः प्रावाहिकोऽधिकारो मुमुक्षोः स्वात्मज्ञानोपयोगी गुरुशिष्यप्रकारेणोपदेशे। अत एवाविरक्ता एव ते सर्वे पूर्वं मुक्ता अपि हर्यश्वाः प्रजार्थिन एव। एतेषां श्रवणमपि ज्ञानसाधनत्वेन न लीलात्वेन। परीक्षित्तु लीलामृतपानरूपश्रवण उत्तमाधिकारी. अत एव श्रवणात्पूर्वमेव "कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमानः" इत्युक्तम्। 'तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः' 'नैषातिदुःसहा' इत्यादितदुक्तिरपि। तेनासौ पुरुषोत्तमस्वरूपतत्त्वजिज्ञासया तल्लीलारसे निमग्नचेता इति तत्तद्वैराग्यार्थोक्तशारीरसांसारिकवार्तीयपरोक्षवार्तानवबोधेपि न क्षतिः, किं च, गार्हस्थ्याद्यवस्थायां चेदनुभूता वार्ता सा भवेत् 'यस्यामिम' इत्यादिनोक्ता तदा तत्स्मरणे समानधर्मत्वज्ञाने सति सम्वादेन बोधः स्यात्। अस्य त्विन्द्रियादीनां भगवद्भजनौपयिकत्वेन मित्रत्वादिरूपेणैवाऽनुभूतत्वाद्युक्त एवावबोधः स्यात्। परकीयवस्तुस्थितिबोधोऽप्रयोजकोपि शुकादेर्ज्ञानमार्गीयब्रह्मज्ञानवत्त्वमप्यस्तीति सर्वज्ञत्वेन तज्ज्ञानमपि। अत एव वस्तुस्थितिरेव परोक्षवादेनोक्ता या वैराग्यजनकत्वमनुभवदशायां तु तस्या एव न तथात्वमिति भगवल्लीलैवेति तज्ज्ञापनाय प्रश्नः। वस्तुतस्तु यथा यथाऽन्यमार्गीयवार्तानवबोधो भक्तिमार्गीयाया एव तस्या बोधस्तथा तथा पुष्टिमार्गे त्वाधिक्यमेवेति प्रतिजानीमः। एतज्ज्ञापनायैव भगवतैवावबोधप्रश्नौ कारिताविति निगूढाशयैराचार्यैरुक्तमितिस्थितिरिति। ज्ञानमार्गीयमर्यादैतादृशीत्यर्थः ॥ ८० ॥

तज्ज्ञानोक्तिप्रयोजनमाह तस्येति।

निबन्धः—तस्य जन्मत्रयं तत्र द्वयं व्यर्थं न सर्वथा ॥
अतो जन्मद्वयोत्कर्षस्तस्यैवं विनिरूपितः ॥ ८१ ॥

प्रकाशः—अमुक्त्या तद्वैयर्थ्यशङ्का, ततोधिकरसरूपभक्तिसाधकत्वेन तदभावः ॥८१॥

आद्यन्तयोरुत्तमत्वकथनेन सन्दंशन्यायेन सर्वेषां तथात्वमुक्तं भवतीत्याह तस्य पुत्र इति सार्द्धेन।

परीक्षितः परोक्षवादाबोधेपि तदधिकारस्य मार्गभेदेनोत्तमत्वं साधयित्वा बोधसामग्र्यभावस्य तत्र सहकारित्वं वक्तुं सहकार्यभावं व्युत्पादयन्ति किञ्चेत्यादि। शुकादौ व्यभिचारमाशङ्क्य परिहरन्ति परकीयेत्यादि। नन्वस्त्वेवं शुके व्यभिचाराभावो विशेषानुग्रहात्तथापि राज्ञः पुष्टिमार्गीयत्वाद्भवाटवीतत्त्वज्ञानमप्रयोजकमिति तज्ज्ञानार्थं प्रश्नस्य किं प्रयोजनमत आहुः अत एवेत्यादि। तथा च पुष्टिमार्गीयत्वादेवायं प्रश्नो न तु तन्मार्गे आदरान्मुमुक्षुतयेत्यर्थः ॥ ८१ ॥ आद्यन्तयोरिति आदिः प्रियव्रतः अन्त्यो विरजस्तयोरित्यर्थः।

निबन्धः--तस्य पुत्रस्तु पाषण्डेऽप्यत्यन्तं फलदायकः ॥
कृष्णावेशी गयश्चापि तद्वंशेऽवततार ह ॥ ८२ ॥
सर्वे एवोत्तमा वंशे ततोन्तिमकथा मता ॥

प्रकाशः--प्रकरणमुपसंहरन्नग्रिमप्रकरणसङ्गतिमप्याह एवमिति।

निबन्धः-एवमष्टभिरध्यायैर्भूस्थानाधिपसङ्कथा ॥ ८३ ॥

प्रकाशः—व्याख्यानस्य पूर्वाध्यायरूपत्वाज्ज्ञानप्रकरणत्वाच्चाष्टभिरित्युक्तम्। तेषां भूमीश्वरत्वादैश्वर्यस्य चाष्टविधत्वात्तत्कथा तावद्भिरध्यायैरुक्ता ॥ ८३ ॥

(प्रथमप्रकरणं समाप्तम्।)

भूमौ तद्भोग्याः शब्दादयः पञ्चापि सन्तीति तद्भोग्यत्वेन पञ्चभिरध्यायैस्तत्स्थानं निरूप्यत इत्याह। तत इति।

निबन्धः-ततः पञ्चभिरध्यायैर्भूमिस्थानं निरूप्यते ॥
पञ्चात्मिका गुणैश्चापि तत्रापीयं तु मध्यतः ॥ ८४ ॥
सर्वोत्तमा जम्बूद्वीपरूपा सर्वार्थदायिनी ॥

प्रकाशः—तावद्भिर्निरूपणे हेत्वन्तरमप्याह गुणैश्चापीति। पूर्वपूर्वभूतमिश्रणात्स्वरूपतः पञ्चात्मिकापि भूतत्वेन तमःप्राधान्येन त्रिविधा रजःसत्त्वप्रधानतमसा च द्विविधेति गुणैरपि तथेत्यर्थः। तत्र जम्बूद्वीपस्य चतुर्भिर्निरूपणे हेतुमाह। तत्रापीति। सर्वार्थेति। चतुर्विधपुरुपार्थदायिनीत्यर्थः। अतस्तावद्भिरध्यायैस्तथा ॥८४½॥

निबन्धः-अतोऽस्य रूपणं प्रोक्तं चतुर्भिः क्रमतोऽवनेः ॥८५॥
परिमाणं स्वरूपं च प्रथमे प्राह तस्य हि ॥
कृष्णस्य कटिरूपत्वाद् ध्यानार्थं ताद्धि वर्णितम् ॥ ८६ ॥

प्रकाशः—अस्य द्वीपस्य अवनेः क्रमत इति च, विभागेन यथा यत्रास्ति तथा तत्रोक्तमित्यर्थः, भगवद्भजनौपयिकत्वेन तथात्वम्। अत एवाऽग्रे देवगानोक्तिः।

एवं स्वस्मिन् स्थितिः कृष्णदेवादित्यारभ्य भूस्थानाधिपसङ्कथेत्यन्तैरेकोनसप्ततिभिः पञ्चदशाध्यायात्मकं प्रथमप्रकरणं विचारितम् ॥ ८२ ॥

अतः परं चतुस्त्रिंशाधिकशतेनैकादशाध्यायात्मकं द्वितीयप्रकरणं विचारयन्ति प्रकरणमुपसंहरन्नित्यादि। कालप्रकरणं समापयन्नग्रे देशस्य निरूप्यत्वाचस्यास्य चाध्येयाधारनिरूपकत्वरूपासङ्गतिमप्याहेत्यर्थः। नन्वत्र नवाध्यायैराज्ञां कथा निरूपितेति कथमष्टाध्याया इत्यत आहुः व्याख्यानेत्यादि। तथा च योगविचारे चतुर्दशस्य त्रयोदशान्तःपातित्वादष्टाध्याया भेदपक्षेपि तस्य ज्ञानप्रकरणत्वाच्च भूस्थानाधिपसङ्कथा चतुर्दशव्यतिरिक्तेष्वेवेत्यष्टेति तथोक्तमित्यर्थः। ८४½। तथात्वं सर्वोत्तमत्वं ते निरूपित इति 'नियुतयोजनविशाल' इत्यनेन मानम्,

तत्र प्रथमाध्यायार्थमाह परिमाणमिति। 'यो वा' इत्यादि'पुष्करपत्रमि'त्यन्तेन सामान्यतस्ते निरूपिते। 'यस्मिन्नि'त्यादिना वर्षतन्मर्यादागिरितरुह्रदनदीनदकुरङ्गादिगिरिनिरूपणेन तन्माननिरूपणेन च विशेषत इत्यर्थः। एवं निरूपणे प्रयोजनमाह कृष्णस्येति। तदर्थमेव पृष्टवानिति भावः॥ ८६॥

कटिरूपस्यैतन्नामत्वे हेतुमाह जननादिति।

निबन्धः—जननादेव सर्वोऽपि बुद्ध्यते निखिलं यतः॥
जम्बुद्वीपस्ततः प्रोक्तः सर्वदेवसमाश्रितः॥ ८७॥

प्रकाशः—कट्याः प्रजननात्मकत्वाद् अस्मिन् द्वीप उत्पत्तिमात्रेण हेयोपादेयं बुद्ध्यत इति तथा। धातोरविकृतस्य ग्रहणेनाऽविकृतोत्पत्तिमतस्तथात्वं बोध्यते। अविकृतत्वं च दैवसृष्टित्वम्। अन्यत्र द्वीपे स्वर्गादावपि तादृशानामपि भोगासक्तिरेव न त्वेवमितिभावः। सर्वेषां सामान्यतश्चतुर्विधपुरुषार्थबोधसत्त्वेपि पुरुषोत्तमतद्धर्मबोधश्च क्वचिद् दृश्यत इति बोधांशे तस्याऽऽधिक्यमस्तीति मात्राधिक्यं बोधवाचकेऽक्षर इति ज्ञेयम्। तेनाऽन्यस्मादुत्कर्ष उक्तो भवति। अत एव सर्वेत्यादि बोधस्य सत्त्वकार्यत्वाद्देवानां च तथात्वात्तथा। तेन सत्त्वप्राधान्यमुक्तं भवति। यद्वोत्कर्षान्तरमाह सर्वेति। अन्यत्र तत्तद्गुणकार्यत्वमेव, न तु तत्तद्गुणनियामकदेवाधिष्ठितत्वम्। अत्र तु तथेति तथा। तदुक्तं 'नवस्वपि वर्षेषु भगवान्नारायणः' इत्यादिना॥ ८७॥ एतदिति।

निबन्धः—एतदाख्यापकः कश्चिदतोऽत्र न निरूपितः॥
भूमिरेव स्वतः शुद्धा प्रथमे विनिरूपिता॥ ८८॥

प्रकाश—किं च। यतोऽयं भगवदधिष्ठितत्वेनैवासाधारणोतस्तथेत्यर्थः। प्रथमाध्यायार्थमुपसंहरति भूमिरेवेति॥ ८८॥

(अ० १७) आगन्तुकधर्मैरप्युत्कर्षो द्वितीयाध्यायार्थ इत्याह जलेनेति।

निबन्धः--जलेनाऽप्युत्तमा सेयमिति गङ्गावतारणम्॥
सर्वत्र तस्याः सम्बन्ध इति भेदा निरूपिताः॥ ८९॥

प्रकाशः—भेदाः सीतादयः॥ ८९॥

'समवर्तुल' इत्यादिना लक्षणम्, जननं जन् बोधनं बुध्, जना बुध् यस्मिन्निति जम्बुध् पृषोदरादित्वाद्धकारनाशे उकारस्य दीर्घे च जाते जम्बूरिति भवतीत्यतिपरोक्षवृत्तिं मनसि कृत्वाऽऽहुः सर्वेषामित्यादि। तस्येति जम्बूद्वीपस्य सत्वप्राधान्यं स्वर्गेपि वर्त्तत इति तत्तौल्ये तत्रत्यानामप्येतत् स्थानाकाङ्क्षा न स्यादित्यरुच्या व्याख्यानान्तरमाहुः यद्वेत्यादि। उक्तरीत्या सर्वदेवाश्रितत्त्वमेवैतदाख्यापकमित्याशयेनाहुः एतदित्यादि। एवं त्रिभिः षोडशस्य द्वितीयमहामकरणादिमस्यार्थ उक्तः। सार्द्धैः षड्भिर्द्वितीयं सप्तदशं विचारयन्ति आगन्तुकेत्यादि॥ ८९॥

सर्वत्र तस्याः सम्बन्ध उपपत्तिमाह ऊर्ध्वेति ।

निबन्धः--ऊर्ध्वपादाद्विनिष्क्रान्तं जघने पतति स्फुटम् ॥
चरणस्याधिदैवत्वान्न दूषणमिहाण्वपि ॥ ९० ॥

प्रकाशः — भूमेर्जघनात्मकत्वात्तथेति भावः । ननु लोके पादस्य तत्रापि तन्नखस्याम्भोऽशुचीति तादृशेन तेन कथमत्रोत्कर्षः । किञ्चान्येषां तत्पावित्र्येपि स्वस्य न तथा तदिति स्वजघने पातोऽनुचितः । भगवद्भजनौपयिकत्वकृतश्चोत्कर्षं एवं न घटते । तदीयस्य तस्य तत्रोपयोगानर्हत्वादित्यत आह चरणस्येति । तत्र हि सर्वं चरित्रमद्भुतं निरूपितम् यथाण्डकटाहनाशक्रियया तत्स्थापनं तथा चरणनखाम्भसोऽपि पावनत्वम् । तत्रोपपत्त्यपेक्षायां तस्याऽधिदेवत्वमुच्यते । तथा च तत्सम्बन्धिनोप्याधिदैविकत्वेन सजातीयत्वान्न पूर्वोक्तदोषः । जघनस्य प्रवृत्त्यात्मकत्वात्तत्स्थितानां संसारनिवृत्त्यसम्भवेन चरणस्यैव च भक्त्यात्मकत्वात्तन्निवर्तकत्वेन संसारिणां च साक्षात्तत्सम्बन्धस्य दूरत्वेन तन्निवृत्त्यसम्भव इति तत्साक्षात्तत्सम्बन्धिन्या आधिदैविकरूपगङ्गाया अत्राऽऽनयनम् । ऊर्ध्वमुखपदसम्बन्धित्वमप्यूर्ध्वगतिप्रदत्वज्ञापकम् । यथा चैतत्तथा 'या वै लसद्', इति श्लोकविवरणे पितृचरणैर्विवृतमिति नाऽत्र निगद्यते । एवं सति सेवतां भक्तिदेति परमोत्कर्षः । एतद्द्वीपस्थानामेव मुक्तिसम्भवान्न दूषणं किञ्चिदिहेत्यर्थः ॥ ९० ॥

भजनानुपयोगित्वपरिहारायाऽऽह गङ्गेति ।

निबन्धः--गङ्गाजलेन पूजादि सर्वं कार्यमिति स्थितिः ॥
स्थानं तदेव हि सतां यत्र सम्पूज्यते हरिः ॥ ९१ ॥

प्रकाशः—अत्रायं भावः । गङ्गायामस्त्यधिभूतादित्रितयरूपत्वम् । एक जलरूपत्वम्, तेन यादृच्छिकव्यवहारयोग्यता । द्वितीयं च प्रवाहरूपतया तीर्थरूपत्वम् । तेन स्नानपानादिभिर्दोषनिवर्त्तकत्वं पुण्यजनकत्वं च । तृतीयं पादोदकत्वम् । तेन भगवद्भजनयोग्यदेहसम्पादकत्वम् । इतरनदीरथ्योदकादीनामप्येतत्सम्बन्धित्वेनैव द्वितीयरूपत्वम् । एतच्च परिमितमेव ज्ञेयम् । ब्रह्मकमण्डलुजलस्य तथात्वात् । स्वसम्बन्धेन पावयति परं सर्वम् । तेन तादृश-

---

तदीयस्येति चरणनखीयस्य । तत्रेत्यादि त्रिविक्रमावतारे सर्वं चरित्रमद्भुतं निरूपितमित्यर्थः । तत्स्थापनमिति [1]'चस्कम्भ यः स्वरंहसाऽस्खलते'त्यनेन द्वितीयस्कन्धे 'विष्णोर्नुकमि'ति श्रुत्या चोक्तं तदित्यर्थः । अधिदेवत्वमुपेन्द्रात्मकत्वम् । आधिदैविकत्वेनेति देवरूपत्वेन तदुक्तं गोदामाहात्म्ये 'सर्वजलसारभूतं तत् शिवेन ब्रह्मणे दत्तमि'ति भगवच्चरणसम्बन्धे तु ततोप्याधिक्येनेत्यर्थः । पूर्वोक्तदोष इति भजनानुपयोगित्वदोषः । साक्षात्तत्सम्बन्धस्येति साक्षाद्भगवच्चरणसम्बन्धस्य ॥ ९० ॥

१ (अ० ८ स्कं० २)

जलेनाऽतिपवित्रेण भगवत्पूजादिकं युक्तमिति । अन्यथा भगवन्मन्त्राभिमन्त्रितान्ना-न्नर्पणमप्ययुक्तं स्यादिति दिक् । न चैवं पादोदकसिक्तवस्त्वर्पणप्रसङ्गस्तत्र साक्षात्तत्सम्बन्धित्वात् । इह तु तदाध्यात्मिकरूपदेवताधिष्ठानात्तीर्थरूपत्वमित्यदोषः । ननु भूभुक्कथानन्तरं हि भूकथात्रोच्यते तद्भोग्यत्वेन । तथा च विषयत्वेन दोषरूपत्वमेव भूस्थानस्येति भगवत्पूजादिनिरूपणमयुक्तं तद्भोग्यत्वानौपयिकरूपत्वाच्चाऽत आह स्थानमिति । भवेदेवं यदि ते स्वतो विषयत्वेन भोगं कुर्युर्न त्वेवं किं तु भगवदिच्छानुरोधात्, तादृशानां च तादृशमेव स्थानमुचितमिति तदुक्तमित्यर्थः ॥ ९१ ॥

तर्हि तत्तदवतारेषु तत्तद्भक्तनियमकथनं किमर्थम्, पूजामात्रस्यैव तत्स्थानत्वोपयोगित्वादिशङ्क्य तत्तात्पर्यमाह अत्रेति ।

निबन्धः--अतोऽत्र नवखण्डेषु पूजां भगवतो जगौ ॥
अत्राऽवतारनिर्धारो भक्तानां च निरूप्यते ॥ ९२ ॥

प्रकाशः---अस्मिन्नवतार एतादृशगुणस्यैवाधिष्ठानत्वमिदमेव च प्रयोजनमेव सेव्यता चेत्यवतारस्य । ईदृशानामत्रैवैवमेव च भजनमिति भक्तानामित्यर्थः ॥ ९२ ॥

गुणमार्गेणैव तयोर्निर्द्धारे हेतुमाह गुणातीता इति ।

निबन्धः--गुणातीतास्तु ये भक्ताः पुष्टिमार्गेण ते स्थितौ ॥
अत्रोऽत्र गुणमार्गेण निर्णयो हरिभक्तयोः ॥ ९३ ॥

प्रकाशः—मर्यादास्कन्धत्वादस्य तन्मार्गस्य च सगुणत्वात्तादृशयोरत्र निर्णय उक्तः । भगवतः सर्वत्रैव गुणातीतत्वादधिष्ठानस्यैव सगुणत्वात्तत्रापि सगुणत्वोपदेशः । तेन तादृग्भक्तानां तत्र रुचिरित्युक्तम् । पुष्टिमार्गीयत्वाद्गुणातीतभक्तानां त्वधिष्ठानरूपान्त-

---

अन्यथेति एकवारं भगवत्सम्बन्धेन पुनस्तत्सम्बन्धानर्हत्वे । 'इह त्वि'त्यादि गङ्गायां तु भौतिकजलस्य देवतारूपजलेन पवित्रीकरणाद्भौतिकेन सेवाकरणमिति साधारणानां बोधायोच्यत इत्यर्थः । वस्तुतस्तु प्राथमिकपक्ष एव साधीयान् । अन्यथा'द्यौः शीर्षमाशाश्रुतिरंघ्रिरुर्वी'ति वाक्याद् भूमिष्ठानां भूमिजानां चानर्पणमापद्येत, चरणसम्बन्धस्य तौल्यादिति दिक् । विषयत्वेनेति बन्धकत्वेन । तद्भोग्यत्वानौपयिकरूपत्वादिति भूभृद्भोग्यत्वेन सामिभुक्ततया तच्छत्वात् । भगवदिच्छानुरोधादिति भगवद्दत्तप्रसादत्वेन द्विविधं हि प्रसाददानम्, स्वोच्छेषणरूपं स्वानुपयुक्तं चेति लोके प्रसिद्धमेव । तत्राद्यं जीवस्य यात्रामात्रोपयोगि, द्वितीयं तु भगवत्सेवोपयोगोत्तरं तदुपयोगीति भूभागानां तादृशत्वान्न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः । तदेतदाहुः तादृशानामित्यादि भक्तानां भगवत्सेवोपयोग्येव स्थानमुचितमिति तेषु भगवत्पूजोक्तेत्यर्थः । एवं सार्द्धैः षड्भिः सप्तदशस्य द्वितीयमहाप्रकरणद्वितीयस्यार्थ उक्तः ॥ ९३ ॥

रायराहित्येन साक्षात्मकटे श्रीकृष्णस्वरूप एव स्थितिरिति पुष्टिमार्गेण स्थितौ निरूपणीयायां ते निरूपणीया इति शेषः। अत इति। यतोत्र न पुष्ट्यादि-स्थितिरतो हेतोस्तथेत्यर्थः ॥ ९३ ॥ तत्र क्रमेण निर्णीतार्थमाह तत्रेति।

निबन्धः—तत्र या तामसी मूर्त्तिः सङ्कर्षण इति स्फुटा ॥

तस्या भक्तो महादेवस्तमसा तामसः स्मृतः ॥ ९४ ॥

प्रकाशः—'तामसीं मूर्त्तिं प्रकृतिमात्मनः' इति मूल एव स्फुटमिति स्फुटेत्युक्तम्। तमसा तामस इति। न रजःसत्वमिश्रस्तामसः किं तु तमसैव शुद्धेन तथेत्यर्थः ॥ ९४ ॥

ननु तमोगुणस्यैव तद्भजनहेतुत्वे सर्पादीनामपि तत् स्यादित्याशङ्क्य तस्यैव तद्रूपभजने हेतुं वदन्नावश्यकत्वमप्याह अन्यथेति।

निबन्धः—अन्यथा तद्गुणत्यागः सर्वथा न भवेत् क्वचित् ॥

हयग्रीवो राजसः स्यात्तमसा सेवकस्तथा ॥ ९५ ॥

प्रकाशः—सङ्कर्षणस्यैव तमोनियामकत्वात्तन्निवृत्तिस्तेनैवेति तदर्थं तं भजत इत्यर्थः। तन्मूलभूतभजनं विना साधनैस्तन्नाशो न सर्वात्मनेत्यत उक्तं सर्वथेति। क्वचि-दिति। न केवलं शिव एवैवं किं त्वग्रेऽपि तत्तद्गुणाधिदैविकरूपभजनमृते तत्तद्गु-णनाशाभावात्तदर्थं तेषां तेषां तत्र तत्र भजनमित्यर्थः।

हयग्रीवो रजोयुक्ततमःप्रधानः, सेवको भद्रश्रवा अप्यत एव तादृश एव ॥९५॥

निबन्धः—भद्रश्रवा यतः सर्वे तन्नामव्यपदेशिनः ॥

तत्र तत्र तथा स्तोत्रं मन्त्रश्चापि तथा भवेत् ॥ ९६ ॥

प्रकाशः—अस्य तथात्वेऽभिज्ञापकमाह यत सर्वे इति। तामसत्वेनातिमूढत्वेन स्वमुख्य-नाम्नैव व्यपदिश्यन्ते न पृथग्यतोऽतः सोपि तथा तन्मध्यपातित्वात्। राजसत्वं स्पष्टम्। अवतारेषु तत्तद्गुणवत्त्वेऽभिज्ञापकमाह तत्र तत्रेति। यत्र यादृग्गुणवैशिष्ट्यं तत्र तादृशो मन्त्रस्तदनुरूपं च स्तोत्रमिति ताभ्यामेवाऽवतारस्वरूपज्ञानमित्यर्थः। इतोऽपि सेवकस्वरूपमपि ज्ञायत इति भावः। एतच्च टीकायां स्फुटीभविष्यति ॥९६॥

अतः परं तृतीयस्याष्टादशस्यार्थं नवभिराहुः हयग्रीव इत्यादि, स्पष्टमिति स्तुतिवाक्येषु मिषन्न पश्यति तथापि मुह्यन्तीत्यादिभिर्व्यापाराविष्टत्वमोहादेः स्वानुभूतधर्मस्य कथनात्स्पष्टमित्यर्थः। टीकायामिति अग्रिमग्रन्थटीकायाम् ॥ ९६ ॥

ननु समाधिगिरणोपधावनैर्हि मनोवाक्कायैः पूजोच्यते स्तुत्यैव तत्सम्पत्तौ मन्त्रस्य क उपयोगोऽत आह अव्यक्तेति ।

निबन्धः—अव्यक्तकृतनाशाय न समर्थाः शिवोक्तयः ॥
वैराग्याभावतः शोको द्वितीये विनिवारितः ॥ १७ ॥

प्रकाशः—पूजामार्गे हि पूजानुरूपमेव फलम् । एवं सति स्तुतेः प्रकटगुणख्यापकत्वेन प्रकटदोषनिवर्त्तकत्वमेव । मन्त्रस्य गुप्तत्वेन तज्जपस्याऽव्यक्तदोषनिवर्तकत्वमिति तदर्थं मन्त्रोपीति पूर्वेण सम्बन्धः । ननु पूजामात्रे निरूपणीये कर्तुः स्त्रीगुणावरोधनिरूपणं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाह अव्यक्तेति । एवं सति देहलीदीपन्यायेनेदं पदमुभयत्राऽपि सम्बध्यते । अव्यक्तपदं च श्लिष्टार्थकमिति ज्ञेयम् । तथा च स्त्रीसङ्गित्वेन प्रकृतिकृतदोषनाशाय नोक्तयस्तथेत्यर्थः । उत्तरार्द्धसमभिव्याहारात्स्त्रीसङ्गोक्त्यैवोक्तवैराग्याभावादेव भगवदभिव्यक्तिलक्षणशोकनिवृत्तिरपि शिवे । अत एव मन्त्रेऽ'व्यक्ताय नमः' इत्युक्तम्, भद्रश्रवसाम् 'अहो विचित्रम्' इत्यादिना वैराग्यनिरूपणात्तद्भावतः स शोको निवारितः । शिवे पूर्णतमस्त्वेन शोकस्य तद्रूपत्वेन तन्निवृत्तिः सम्भवति । आकल्पं भजने तत्रैव लये सति तन्निवृत्तिः परम् । द्वितीये रजोंशप्रवेशेन तमोंशस्तावान्निवृत्तो यः सशोक एव तज्ज्ञापको वैराग्यभावः । एतस्मिन् सति तन्निवृत्तेरावश्यकत्वात् । तथाच तत्पूजितेन भगवतैव वैराग्यं दत्वा तन्निवृत्तिः कृता, न तु रजोंशप्रभावेणेति ज्ञापयितुं निवारित इत्युक्तम् । एतेन फलतारतम्यमुक्तं ज्ञेयम् ॥ १७ ॥

निबन्धः—सात्त्विको नरसिंहस्तु तमसा तस्य सेवकाः ॥
प्रह्लादस्तादृशः प्रोक्तो ह्यभक्तान् स विनिन्दति ॥ १८ ॥
संन्यासं च हितं प्राह सदाग्रहयुतो यतः ॥

प्रकाशः – सत्त्वयुक्ततमःप्रधानो नरसिंहः प्रह्लादश्च तथा, तत्राभिज्ञापकमाह अभक्तानिति । 'न तथेन्द्रियप्रियः' 'हरावभक्तस्य' 'हित्वा महान्' (श्लो० १३)

तत्सम्पत्ताविति वाचिकपूजा सम्पत्तौ । पूर्वेणेति 'तथा भवेदि'त्येनन । अव्यक्तेत्यादेस्तात्पर्यान्तरं वक्तुमाहुः नन्वित्यादि । इदं पदमिति अव्यक्तकृतनाशायेति पदम् । श्लिष्टार्थकमिति प्रथमपक्षे अप्रकटमित्यर्थकं द्वितीयपक्षे प्रकृत्यर्थकमिति । तथा चैवं मूलयोजना, मन्त्रः अव्यक्तकृतनाशाय तथा भवेत्समर्थो भवेत् शिवोक्तयः अव्यक्तकृतनाशाय न समर्था इति । उत्तरार्द्धसमभिव्याहारादिति वैराग्याभावत इत्यादि समभिव्याहारात् । यस्य शोक एवेति यावत्तस्तमोंशस्य शोक एव फलम् । आग्रह इति आग्रहे प्रविश्यतीत्यर्थः ॥१७॥

इत्यादिभिर्महानिन्दा। 'मागार' (श्लो० १०) इत्यादि। 'तस्माद्रजः' इत्यादिभिः संन्यासं च हितमाह भगवत्त्याग्रहवाँश्च। तत्र भक्तपक्षपातसंन्यासहितत्वोक्तिराग्रहे भगवदंशश्च सत्त्वस्य, निन्दाग्रहौ तमसः। यत एवं त्रिधोऽतस्तादृश इत्यर्थः॥ ९८३॥ रजसेति।

निबन्धः—रजसा राजसी लक्ष्मीः कामभोगाभिवेशनात्॥ ९९॥
प्रद्युम्नं कामदेवाख्यमाधिदैविकमाश्रिता॥
स्त्रीकामनादिदोषेक्षां स्वोत्कर्षं चाऽऽह भक्तिकृत्॥१००॥

प्रकाशः—तमससत्त्वमिश्ररजःप्रधानेत्यर्थः[1]। तत्र हेतुः कामेति। ज्ञापकमाह स्त्रीति। 'स्त्रियो व्रतैरि'त्यादिनाऽन्यस्त्रीकामनादिषु दोषेक्षणं प्राहेति सम्बन्धः। भौतिकस्य तामसत्वेन तत्कामनाया अपि तथात्वाद्राजस्यास्तत्र दोषेक्षोचिता 'मत्प्राप्तय' (श्लो० २२) इत्यादिना स्वोत्कर्षम्, तर्ह्येतादृश्या भक्तत्वेन गणनाऽत्र नोचितेत्याशङ्कानिवृत्तिः 'स त्वं ममेति'श्लोकेनेति, तस्यार्थमाह भक्तिकृदिति। तेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहेन भजनात्पूर्वेभ्योप्युत्तमेति भावः॥ १००॥ रजसेति।

निबन्धः—रजसा तामसो मत्स्यो मनुश्चापि तथाविधः॥
स्वस्वभावानुसार्येव स्तोत्रं तस्यापि वर्णितम्॥१०१॥

प्रकाशः – आदावुद्देशाद्रजसः प्राधान्यम्। एवमग्रेपि। तमोमिश्ररजःप्रधान इत्यर्थः। मनोस्तथात्वज्ञापकं स्तोत्रमेवेत्याह स्वेति। लोकपालनिन्दा तमसः शेषं शिष्टस्य॥१०१॥

निबन्धः—रजसा सात्त्विकः कूर्मो ह्यर्यमा चाऽपि तादृशः॥
यज्ञात्मको वराहस्तु सत्त्वेनैव तु तामसः॥ १०२॥
भूमिर्भक्ता तथैवास्याः ज्ञानं स्तोत्रे निरूपितम्॥

प्रकाशः—वराहस्तमोयुक्तसत्त्वप्रधानः। तथैव भूरपि। भूमौ विशेषं वदन् श्लोकार्थानप्याह भूमिरिति। सत्त्वप्राधान्येन ज्ञानप्राधान्येपि मूले 'अस्खलितभक्तियोगेन' इति वाक्याद्भक्तत्वाद्भक्तिमार्गानुसार्येव ज्ञानमस्याः स्तोत्रे निरूपितमित्यर्थ॥ १०२३॥

निबन्धः—त्रिभिरत्र भजिः प्रोक्ता प्रथमे त्वेकरूपिणम्॥१०३॥
द्वितीये षट् तृतीये द्वे ते ग्राह्ये सात्त्विके यतः॥

एतादृश्या इति स्वस्मिन्नुत्कर्षमभिमन्यमानायाम्। अग्रेपीति कूर्मावतारेऽर्यम्णि च राजससात्त्विकत्वं तथा मन्त्रस्तोत्रयोश्चेत्यर्थः। शिष्टस्येति रजसः॥ १०२॥

---

1 तमस्सत्त्वमिश्ररजःप्रधानेत्यर्थः। (पाठान्तरम्।)

प्रकाशः—अत्र स्तोत्रे त्रिभिः प्रकारैरित्यर्थः। भजनं कर्मज्ञानभक्तिमार्गीयत्वेन त्रिविधम्। तत्राऽऽद्ये योगसाधितं मन एवैकं साधनं निरूपितम्। दिदृक्षव इति पदाद्भक्तिमार्गीयत्वम्। 'योगः कर्मसु कौशलम्' इति वाक्यात्कर्ममार्गानुसारित्वं द्वितीये द्रव्यादिषट्साधनान्युक्तानि। भगवति माया तत्कार्यराहित्यज्ञानं ज्ञानमार्गीयम्, नतिर्वीप्सा भक्तिज्ञापिका। तृतीये माहात्म्यज्ञानं स्वोपकारज्ञानपूर्वा प्रतिपत्तिश्चोक्ता वाक्यद्वयेन। भक्तिमार्गे त्वेत एवोपादेये इत्याह ते ग्राह्य इति। पूर्वयोर्नानासाधनवैयग्र्यान्न सात्त्विकत्वम्। यद्वा त्रिभिस्त्रिभिर्गुणैस्तमआदिभिरित्यर्थः। तामसानां हि बहिरेव दिदृक्षा। मन एवैकं साधनमुक्तम्। मथनोक्त्या क्लेशः सूचितोऽतस्तामसत्वम्। राजसानां कर्ममार्गानुसारेण भजनमिति षट् साधनान्युक्तानि। सात्त्विकानां तु पूर्वोक्तद्वयं साधनमुक्तम्। मर्यादाभक्तिस्वरूपस्य तथात्वाद् ग्राह्यत्वम्, पूर्वयोरतथात्वाद्धेयत्वं तदाह ते ग्राह्ये इति ॥ १०३½ ॥

निबन्धः--रजसा सात्त्विको रामो हनूमाँश्चापि तादृशः ॥१०४॥
अवतारस्तु रामस्य स्थितिश्चाऽप्यत्र भारते ॥

प्रकाशः—पूर्वोक्ते हेतुमाह अवतार इति। वासुदेवावतारस्तेन सत्त्वप्रधानत्वम्। कदाचिद्रामः पुरुषोत्तमावतार एवेति पद्मपुराणादवसीयते। तद्व्यावृत्त्यर्थं तुः। तेनोक्तरूपत्वं युज्यत इति भावः। अयोगोलके वह्नेरिव सङ्क्रमणं ह्यधिष्ठानेऽवतारः। अत्र चाऽधिष्ठानस्य सत्त्वप्रधानरजोरूपत्वात्तथोच्यते। स्थितिश्च भक्तिभूयिष्ठत्वेन कर्मक्षेत्रत्वेन च सत्त्वप्रधानराजसदेशे। तत्राप्यत्रार्यावर्त्ते एव ॥ १०४½ ॥

निबन्धः—अतो हनुमता सेव्यो भगवांस्तादृशो मतः ॥१०५॥
जनापवादाभीत्यादिमोहलीलाबहुत्वतः ॥

प्रकाशः—अत एव भक्तोपि विकल्पेन नरजातीयशरीरवत्त्वेन तादृशस्तेन सेव्यं स्वरूपमुक्तरूपमित्यर्थः। अन्येषां सम्मत्याऽस्माभिरपि तथोच्यत इति ज्ञापनाय मत इत्युक्तम्। हेत्वन्तरमाह जनेति। पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥ १०५ ॥

द्रव्यादिषडिति स्तुतिश्लोके हेतुपदेन क्रियाहेतवो मन्त्राः अयनपदेन देशः ईशपदेन कालो बोध्यः। अस्य प्रकरणस्य गुणस्य गुणप्रकारनिरूपकत्वादत्र मार्गप्राधान्येन भजननिरूपणं नातीवोपयुज्यत इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः यद्वेत्यादि। एवं नवाभिस्तृतीयार्थ उक्तः। चतुर्थं विचारयन्ति चतुर्भिः पूर्वोक्त इति श्रीरामस्य हनुमतश्च सात्त्विकराजसत्वे। अन्येषामित्यादि। तथा च सिद्धान्ते पुरुषोत्तमावतार एवेत्यर्थः। हेत्वन्तरमप्याहेति पुरुषोत्तमावतारत्वेपि सात्त्विकराजसभाव इत्यर्थः। पूर्वेणैवेति 'तादृशो'मत इत्यनेन ॥ १०५ ॥

निबन्धः—नारायणो नारदश्च धर्मात्मानस्तथाऽपरे ॥ १०६ ॥
तस्यैव तपसा सर्वे कृतार्था भारतेऽभवन् ॥

प्रकाशः—धर्मात्मानः शुद्धसात्त्विकधर्मरूपा इत्यर्थः। भगवतस्तपःकरणे हेतुमाह तस्यैवेति ॥ १०६ ॥

निबन्धः—जलं चात्र पवित्रं हि ततो नद्यश्च वर्णिताः ॥ १०७ ॥
सत्त्वसात्त्विकरूपत्वात्स्तुतिः सर्वस्य रूप्यते ॥
प्रियव्रतः स्वयं राज्यं रुद्रकोटीश्चकार ह ॥ १०८ ॥

प्रकाशः—नन्वत्राऽसुराणामप्युत्पत्तेः कथं साधारण्येन स्तुतिर्युज्यत इत्याशङ्क्य पूर्वोक्ता या वर्णाश्रमवत्यः प्रजास्ता दृष्ट्वा स्वस्मिन् तथात्वमदृष्ट्वा भक्त्या तत्क्षेत्रमेव सर्वे स्तुवन्तीत्याह सर्वस्येति। अत एव 'मुकुन्दसेवौपयिकम' इत्युक्तं मूले। यद्वा भोगासक्तानां देवानां कथमेवं स्तुतिस्तत्रापि सर्वेषामत आह सत्त्वेति। देवनिष्ठोयं हेतुः। सर्वस्य देववृन्दस्येति शेषः ॥ १०७ ॥ ॥ १०८ ॥

निबन्धः—अर्बुदं कोटिरित्याहुस्तद्वंशः सकलेन्तरे ॥

प्रकाशः—ननु मन्वन्तरस्य पड्विधत्वादुक्तरीत्या मनुतत्पुत्रयोरपगमे मन्वन्तरत्वं न सम्भवत्यस्येत्याशङ्क्य तयोरेव सत्त्वं नाभिप्रेतमपि तु तद्वंशतोपि तदधिकारसम्पत्तौ तत्त्वं सम्भवत्येवेत्यत्रापि तद्वंश एव सकले स्वायम्भुवमन्वन्तरे तथेति सर्वं समञ्जसमित्याह तद्वंश इति। अधिकारीति शेषः। आन्त मन्वन्तरराज्यं कृतवानिति शङ्काभावाय

नारायणावतारं विचारयन्ति धर्मात्मान इत्यादि। इदं नारायणादीनां त्रयाणां विशेषणम्। तस्यैवेति अनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया तपोऽव्यक्तगतिश्चरतीति मूले कथनात् आत्मवतां धर्मादिसिद्धिर्भगवत्तपसैव, अन्यथा भारतस्य कर्मत्वादत्र जायमानानां शुभाशुभकर्मणां पुनः पुनः प्ररोहेण नैष्कर्म्यलक्षणधर्मादीनां सिद्धिः कथमपि न स्यादिति कथमपि कृतार्था न स्युरतस्तथेत्यर्थः। एवं च धर्मरक्षकत्वादनिरुद्धावतारत्वं प्रतिभाति। व्यूहत्रयावतारस्य पूर्वमुक्तत्वादिति ॥ १०६ ॥ (मूले) जलं चेति चकारद्वयेन पर्वताः। साधारण्येनेति सर्वस्य भारतवर्षस्येत्यर्थः। पूर्वोक्ता इति भगवदुपसृताः। अत एवेति भारतवर्षस्य सात्विकसात्विकत्वात्। ननु भारतवर्षे स्थितस्य रामावतारस्याधिष्ठानसम्बन्धेन सात्विकराजसत्वकथनात्सर्वस्य वर्षस्य सात्विकसात्विकत्वं न वक्तुं शक्यमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः यद्वेत्यादि ॥ १०८ ॥ एवं चतुर्भिरूनविंशस्य प्रकरणचतुर्थस्यार्थ उक्तः, तावता जम्बूद्वीपवर्षविभागो विचारितः। अतः परं प्रासङ्गिकं त्रिभिर्विचारयन्ति नन्वित्यादि। तदधिकारसम्पत्ताविति तदाधिकारकार्यसम्पत्तौ। तथेति अधिकारी। आन्तमित्यादि। स एव

वर्षसङ्ख्योक्ता। यद्यपि मूल एव सोक्ता तथाप्यर्बुदपदस्यार्थान्तरकल्पनेनान्तराज्यकृति-शङ्काऽभूदिति तदर्थं उक्तः, अर्बुदकोटिरिति। आहुरिति प्रमाणोक्तिः ॥१०८॥

तद्वंशेप्याग्नीध्रपरम्परैव स्वायम्भुवान्तराधिकारिणी, न त्वन्येषामपीति तेषु विशेषं वदँस्तेषामन्यत्र विनियोगमाह मन्वन्तरेति।

निबन्धः-मन्वन्तराधिपतयः पुत्रास्त्वन्ये तथोद्गताः ॥ १०९ ॥
तथा द्वीपान्तरेशानाः कल्पान्तस्थायिनो मताः ॥

प्रकाशः--उत्तमादयस्त्रयस्तथाऽन्ये कव्यादयस्तथा द्वीपान्तरेशा इध्मजिह्वादयः। उद्गता राज्यं त्यक्त्वा वनं गता अपि कल्पान्तरस्थायिन इति योजना, स्वस्वाधिकारं निर्वाह्य भगवद्भजनं ततः कुर्वन्तीति भावः ॥ १०९½ ॥

ननु तत्पुत्रस्याऽविशिष्टत्वादन्यत्राऽधिकारेऽपि 'अधिकं तत्राऽनुप्रविष्टं न तु तद्धानिः' इति न्यायेनाऽत्रानधिकारित्वं न युक्तमित्यरुच्या पक्षान्तरमाह तस्मिन् काल इति।

निबन्धः-तस्मिन् कालेऽथवा ते तु तथा चक्रुरितीर्यते ॥ ११० ॥
दशकोट्यब्दराज्यं हि यथाऽऽग्नीध्रस्तथैव ते ॥

प्रकाशः--यावता कालेन मन्वन्तरसमाप्तिर्भवेत्तावन्तं कालं यथाविभागं राज्यं कृत्वोत्तरकाल इध्मजिह्वादयस्त्यागं चक्रुरिति मूल उच्यत इत्यर्थः। मूलेऽस्यार्थस्य स्फुटतयाऽनुक्तौ तात्पर्यमाह यथाऽऽग्नीध्र इति तदुक्त्यैव तेप्युक्तप्राया इति न भिन्नोक्तिरित्यर्थः ॥११०½॥

(अ. २०) अग्रिमाध्यायं विचारयँस्तत्र भूविभाजकमनुक्त्वा तेषां द्वैगुण्य-हेतुमप्यनुक्त्वा तद्विभागवर्णनप्रतिज्ञानुपपन्नेत्याशङ्क्याह भूविभाजकमिति।

निबन्धः-भूविभाजकमग्रे तु नोक्तमस्ति परं पुनः ॥१११॥
ज्योतिर्मयत्वात्स रथो यथेच्छं जायते पुनः ॥
वेगाधिक्येन वा तस्माद् द्विगुणं मानमीप्सितम् ॥११२॥

प्रकाश- तुशब्दः पूर्वव्यावृत्त्यर्थः। तथा च तस्य पूर्वमेव प्रियव्रतात्मन एवोक्तत्वात्पुनः-

---

स्त्वान्तरं निन्ये साधिकाह्येकसप्ततिमि,तितृतीयस्कन्धे कथनाद्यथाकसिंश्चित्कल्पे' मनुः स्वयमेवा-धिकारं कृतवाँस्तथा कल्पान्तरे प्रियव्रतोपीत्याशङ्काभावायेत्यर्थः। एवं च यदा मनुरेवाधिकारं कृतवाँस्तस्मिन् कल्पे प्रियव्रतो ब्रह्मचारीति प्रतिभाति। एवं सप्तभिश्चतुर्थाध्यायार्थं उक्तः। अतः परं विंशाध्यायं प्रकरणे पञ्चमं द्वाविंशतिभिर्विचारयन्ति अग्रिमाध्यायेत्यादि। प्रियव्रतात्मन इति प्रियव्रतान्तःकरणात् ॥ ११२ ॥

पदं पुनरुक्त्यापत्तेर्नोक्तमित्यर्थः। द्वैगुण्ये हेतुमाह ज्योतिर्मयत्वादिति। यथेच्छमिति पदात्प्रियव्रतेच्छैव तत्र कारणमित्युक्तं भवति। तथा च तदिच्छयैव रथचक्रस्य द्वैगुण्यात्समुद्राणां द्वैगुण्यमित्यर्थः। एकस्यैवोत्तरोत्तरं द्विगुणभवन उपपत्तिर्ज्योतिर्मयत्वादिति, नन्विच्छयैव सर्वोपपत्तौ रथद्वैगुण्यमप्रयोजकमित्यरुच्या पक्षान्तरमाह वेगेति। तावतैव कालेन पूर्वस्माद्द्विगुणक्षेत्रपरिभ्रमणं वेगाधिक्यं विना न भवति। तथा सति पूर्वस्माद्द्विगुणे क्षेत्रेऽभिघातविशेषजक्रियाजनितावयवविभागावश्यम्भावात्तथेत्यर्थः ॥११२॥

निबन्धः—जम्बूद्वीपस्य सर्वोऽपि दोषो यातो महार्णवे ॥
अतः क्षारत्वमापन्नो दैत्यानां स्थानदायकः ॥११३॥

प्रकाशः—आद्यस्याम्बुधेः क्षारत्वे हेतुमाह जम्बूद्वीपस्येति। तदभिज्ञापकमाह दैत्यानामिति ॥ ११३ ॥ फलितमाह अत इति।

निबन्धः—अत्रोऽत्र भजनं श्रेष्ठं धर्मश्चाप्युत्तमोत्तमः ॥
नामाख्यातिकरो वृक्षः प्लक्षद्वीपे निरूपितः ॥११४॥

प्रकाशः—निर्दोषत्वात्तथेत्यर्थः। अस्मिन्द्वीपे पूर्वस्माद्वैलक्षण्यमाह नाम्नेति। पूर्वस्य स्वत एवोत्तमत्वेन प्रख्यातत्वान्न तथा। तदुक्तं पूर्वं जम्बूद्वीपनामनिरुक्तिपूर्वकम्। अत्रातथात्वादन्येन प्रसिद्धिरित्यर्थः ॥ ११४ ॥

अत्र भगवद्भजनानिरूपणे हेतुमाह नाऽत इति।

निबन्धः—नाऽतः परं कर्मभूमिरतो भोगो निरूप्यते ॥
व्यवहृत्यै वर्णसञ्ज्ञा सर्वत्रोपासनाऽस्ति हि ॥११५॥
मन्त्रश्च भजनं चैव समं सर्वेषु वर्णिषु।
स्वरूपस्थितये तद्धि न तु तस्माद्गतिः परा ॥११६॥

प्रकाशः—नन्वात्राप्युपासनोक्तेः कथं न कर्मभूमित्वमत आह स्वरूपेति ॥ ११६ ॥
भगवत्त्वायेति।

निबन्धः—भगवत्त्वाय सर्वत्र सप्तभेदा निरूपिताः ॥
पृथिवी पञ्चरूपेति पञ्चस्वेव तथोदितम् ॥११७॥

अस्मिन् द्वीप इति प्लक्षद्वीपे। स्वरूपस्थितय इति ॥ ११६ ॥

प्रकाशः—सर्वत्र भूमौ प्रैयव्रतेषु च भगवाँस्तद्गुणा ऐश्वर्यादयश्च सन्तीति ज्ञापनाय तथोक्तमित्यर्थः । पञ्चस्वेव च तथोक्तौ हेतुमाह पृथिवीति । यथैतत्तथोक्तं पुरस्तात् ॥ ११७ ॥

पुष्करद्वीपे सर्वत्र द्वित्वसङ्ख्यायां हेतुमाह सङ्कल्पेति ।

निबन्धः—सङ्कल्पश्च विकल्पश्च मनसो भेदकद्वयम् ॥
अत्रोऽत्र पुष्करे भेदद्वयं पर्वतहेतुतः ॥११८॥
समुद्रावधयः सर्वे तं विना पर्वता मताः ॥

प्रकाशः—जम्बूद्वीपे कर्मेन्द्रियप्राधान्यं कर्मभूमित्वात् । इतरेषु भोगप्राधान्याज्ज्ञानेन्द्रियप्राधान्यं पूर्वाण्युपसर्जनानि । अत्र च प्रैयव्रतमनसो भूमेश्च भगवन्मनोधिष्ठानत्वेन तत्प्राधान्यात्तस्मिँश्च सङ्कल्पादेरेव भेदकत्वात्सर्वत्र भेदद्वयमित्यर्थः । अत एव भगवदासनमपीति भावः । अत एव मानसोत्तरनामाऽचलो भेदकः । तस्य चैकत्वाद्वर्षद्वयमेव भवतीत्याह पर्वतेति । पर्वतलक्षणहेतुत इत्यर्थः । भेदे पर्वतहेतुत्वत इति भावप्रधानो वा । सप्तकृत्व एव परिभ्रमणात्समुद्राः सप्तैवेत्यग्रेतनभूमौ तदभावेन पर्वता एवाऽवधित्वेन सम्मता इत्यग्रे त एवोक्ता इत्याह समुद्रेति ॥ ११९ ॥

प्रियव्रतकृतां स्थितिमुपसंहरति मर्यादेति ।

निबन्धः मर्यादैषाऽत्र परमा यथा भूमिः पुरा कृता ॥११९॥
तथैव पुत्रसम्पत्तिः प्रियव्रतकृतान्वये ॥
आवेशित्वात्तु सर्वस्य वार्ता हरिरिहोच्यते ॥१२०॥

प्रकाशः—तामेवाह यथेति । कृता प्रियव्रतेनेति शेषः । वर्षसमसङ्ख्यामात्रपुत्रजननं सत्यसङ्कल्परूपत्व एव भवति तच्चेश्वर एवेतीश्वरकृतमिदं सर्वमित्यर्थः । इदमेव परमत्वम् । नन्विध्मजिह्वमुक्त्वैवमन्येपीत्यतिदेशेनापि कथनसम्भवे प्रत्येकवार्तोक्तिरनर्थिकेत्यत आह आवेशित्वादिति । आनिष्टचरित्रत्वेनैवोक्तिरित्यर्थः । अवतारत्वव्यावर्त्तनाय तुः । अत्र प्रमाणमाह हरिरिति । इह भागवते सर्वत्राक्षरार्थत्वेनापि हरिरेवोच्यत इति तेषामतथात्वे कथनमेव स्यादिति ते तथैवेत्यर्थः ॥ १२० ॥

जीवस्वरूपे स्थित्यर्थम् । तथोक्तमिति सप्तधा वर्षादिविभजनमुक्तम् । पुरस्तादिति 'भूतप्राधान्यमत्रे'ति श्लोके । सर्वत्रेति पुत्रे वर्षे च । मूले तथैवेत्यादि, अन्वये पुत्रसम्पत्तिः प्रियव्रतसङ्कल्पकृतैवेरयन्वयः । इति तथेति जङ्गमपृथिवीनिष्ठत्वाद् द्वितीयकक्षायां गणितमित्यर्थः ॥ १२० ॥

समुद्राणां मिथो वैलक्षण्ये हेतुमाह रसा इति ।

निबन्धः रसास्त्वत्र पृथिव्यास्तु तत्र तत्र तथोद्गताः ॥
लवणो राजसः प्रोक्तः सात्विको मधुरो रसः ॥१२१॥
मदिरा तामसी प्रोक्ता कषाया बुद्धिनाशिका ॥
घृतं तु सात्विकं प्रोक्तं राजसं पय उच्यते ॥१२२॥
दधि तामसमत्रोक्तं मण्डश्च सुतरां तथा ॥
शुद्धोदकं गुणातीतमेवमत्र व्यवस्थितिः ॥१२३॥

प्रकाशः—रथचक्रेणातिपीडने तत्र तत्र स्थितः स स रसस्तेन प्रकारेणोद्गत इत्यर्थः । 'ततो हृता' इति पाठे तं तं रसं भूमेर्हृत्वा तेन तेन स स गर्तः पूरित इत्यर्थः ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

पुनस्तेषामेवोक्तिर्व्यर्थेत्याशङ्क्याह जडेति ।

निबन्धः जडजीवविभेदेन पृथिवी तु द्विधा यतः ॥
गुणत्रयमतो भिन्नं द्विधाऽत्र विनिरूपितम् ॥१२४॥

प्रकाशः—सगुणनिर्गुणभेदेन द्विधा सा । सगुणापि स्थावरजङ्गमभेदेन द्विधेत्यर्थः । घृतादित्रयं गवादिनिष्ठो रस इति तथा भगवदासनवत्त्वेन निर्गुणत्वं तद्भूमेः ॥ १२४ ॥

निबन्धः लोकालोकाचलादर्वाक्काञ्चनी भूमिरुत्तमा ॥
सार्द्धकोटिस्तथा सप्त लक्षाण्यर्धं तथैव च ॥१२५॥
अन्या भूमिर्न सौवर्णी सौवर्णीत्यपरे जगुः ॥

प्रकाशः—अथ 'ततः परस्ताद्' इत्यादिग्रन्थो विचार्यते । शुद्धोदात्परतो लोकालोकादर्वाक् सार्द्धषण्णवतिलक्षाधिकनवकोटिमाना भूर्भवति । तन्मध्ये सार्द्धसप्तपञ्चाशल्लक्षाधिककोटिमाना सौवर्णी नान्येति सिद्धान्तो भागवतस्य । अन्यथा यात्र-

---

॥ १२४ ॥ तद्भूमेरिति पुष्करद्वीपभूमेः । इति सिद्धान्तो भागवतस्येति एतद्बोधनाय ग्रन्थं किञ्चिद्व्युत्पाद्यते ।

तथा हि, पूर्वं जम्बूद्वीपविचारे 'यो वा अयं द्वीप' इतिगद्ये नियुतयोजनविशालः समवर्त्तुल इतिमानमुक्तम् । तच्च दैर्घ्यस्यैव न वर्त्तुलत्वस्य । अन्यथा दैर्घ्यस्य वर्त्तुलतृतीयांशमात्रत्वनियमेन (३३३३३) त्रयस्त्रिंशत्सहस्रत्रिशतत्रयस्त्रिंशद्योजनानि सपादक्रोशश्चेति तद्दैर्घ्यापाते इलावृतदक्षिणोत्तरभागयोर्वर्त्तमानानां भारतादिकुर्वन्तानां षण्णां नवनवसहस्रयो-

जनविशालानां वर्षाणां विचारे चतुःपञ्चाशत्सहस्रयोजनदैर्घ्यात्तेषां जम्बूद्वीपे स्थितिर्बाधिता स्यात्, एवं सति यस्मिन्नववर्षाणीत्यग्रिमगद्यारम्भवाक्यं पूर्वगद्य एव सम्बध्यते । नवसहस्रयोजनायामानीति त्वष्टवर्षाणीत्यध्याहारेणान्यथानुपपत्त्या योजनीयम् । अन्यथा षोडशसहस्रं मूल आयतस्य मेरोरिलावृते स्थितिरन्येषां च गिरीणां बाधिता स्यात् । एवं सति प्रान्तगानि चत्वारि वर्षाणि धनुराकृतीनि नवसहस्रविशालानि मध्यभागे प्रान्ततस्तु ह्रस्वानि । रम्यकहिरण्मयहरिवर्षकिंपुरुषाणि सूर्याकृतीनि मध्यभागे तावन्ति, दैर्घ्ये तु तेभ्यो दीर्घाणि । इलावृतं तु दक्षिणोत्तरयोः षट्चत्वारिंशत्सहस्रविततं पूर्वापरयोस्त्वष्टाशीतिसहस्रमिति दीर्घचतुष्कोणाकृति भवति । न च द्विद्विसहस्रपृथूनां तत्तन्मर्यादागिरीणां विद्यमानत्वाच्चतुस्त्रिंशत्सहस्रावितमिति शङ्कयम्, तन्मध्यगतस्य मेरोर्मूर्द्धि देशे द्वात्रिंशत्सहस्रविततत्वात्केसराचलादीनां तद्बहिर्भावाभावे च तत्तदुपरिवक्ष्यमाणस्य गङ्गाप्रवाहपातस्य बाधप्रसङ्गात् । अतः पूर्वोक्तमेवेलावृतमानम्, तन्मध्यं च षोडशसहस्रं मेरुणाक्रान्तं मेरोपरितः केसराचलास्त्वनुक्तोन्नाहपरिणाहा इति मूले मेरुसंसक्ता एवावष्टम्भगिरीणामुपर्येव द्विसहस्रचतुःशतविस्तीर्णतया एकैकशो दृश्यन्ते, न तु प्रत्येकं पृथवः, अत एवायुतयोजनविस्तारोन्नाहाश्चतुरो मन्दरादीनवष्टम्भगिरीनुक्त्वा तत एव त उक्ताः । एते च सौवर्णा वा मणिमया वा उपरितो मेरोर्विश्लिष्टाः पादोनतुङ्गा अर्द्धतुङ्गा वेति केसरतुल्यतया औचित्यबलेन कल्प्यते । 'अचिन्त्याः खलु ये भावास्ताँस्तर्केण प्रसाधयेदि'ति मात्स्यादौ वाक्येन तथा कल्पने दोषाभावात् । 'अलौकिकास्तु ये भावा न ताँस्तर्केण योजये'दिति निषेधस्यालौकिकविषयत्वेनाबाधकत्वादिति । तेषां च शिखरदैर्घ्यं मेरुमूर्द्धदैर्घ्यादधिकमिति तच्छिखरेष्वग्रे गङ्गाप्रवाहपातकथनादनुमीयते । अवष्टम्भगिरीणामन्तर्भूमिगतो विस्तारोऽयुतादत्यधिको मूर्द्धनि त्वीषदधिक इति मन्दरस्य मन्थानत्वात्तत्साहश्येनानुमीयते । तेषां सौवर्णत्वं च नियतम्, स गिरिस्तत्र 'बहूनमरदानवान् चूर्णयामास महता भारेण कनकाचल' इत्यमृतमन्थनेऽष्टमस्कन्धवाक्यादवगम्यते । तदग्रे जरवादयः परिस्तरणगिरयोऽष्टौ द्विसहस्रपृथुतुङ्गा द्वन्द्वशः परिस्तृता अष्टादशसहस्रायता मेरोश्चतुर्दिशं रजतमयाः । तेषां राजतत्वं च कैलासस्य राजतत्वप्रसिद्ध्या तत्साहश्येन कल्प्यते । कैलासकरवीरौ मेरोर्दक्षिणतस्तेन यत्प्रवेशात्स्त्रीभावः, स भागः कैलासकरवीरमध्यगासूपत्यकास्वेवेति प्रतिभाति । अन्यथा सर्वस्येलावृतस्य शप्तत्वे मेर्वादौ देवस्थितिर्भौमादीनामैन्द्रामराद्रिस्थानहरणार्थं गमनं च बाधितं स्यात् । अत 'इलावृते तु भगवान् एक एव पुमानि'त्यत्रेलावृतपदं तावत्तदेकदेशपरमिति न काचिदनुपपत्तिः ।

अतः परं गङ्गोत्तरणं विचार्यते । तत्र यस्मिन् कल्पे त्रिविक्रमावतारस्तद्रात्रौ वापररात्रे वा ध्रुवलोके गङ्गाया अवतरणम् ; महता कालेन युगसहस्रोपलक्षणेन दिवो

मूर्द्धन्यवततार यत्तद्विष्णुपदमाहुरि'तिवाक्यात्। तदग्रिमे कल्पे मेरूपरिब्रह्मसदने निपातः। ततश्चतुर्द्धाविभागेन गमने तु सीताचक्षुश्च निपातकृतवेगात्तत उच्छलन्ती षोडशसहस्रायतं मेरुमूर्द्धदेशमतिक्रम्य केसराचलावष्टम्भगिरिपरिस्तरणगिरिशिखरेषु पतित्वा तत उत्पत्य गन्धमादनमाल्यवतोः शिखरेषु यथायथं निपत्य तत उपरतवेगा सती भद्राश्वकेतुमालं च प्राप्योदधिं विशति। केसराचलादिशिखरेभ्योऽधोधः प्रस्रवन्ती गन्धमादनमूर्द्धनि पतित्वेति। एवं माल्यवच्छिखरान्निःपतन्ती तत उपरतवेगे'ति च वाक्याद् भद्रालकनन्दे तु मेरुशिरसः केसराचलशिखरे निपत्य मेरुमन्दरकुमुदयोरवष्टम्भगिर्योः शिरसी विहाय शृङ्गवतः परिस्तरणगिरेः कैलासस्य च शृङ्गे पतित्वा तत उत्पत्त्य यथायथं रम्यकहिरण्मयौ तन्मर्यादागिरी, हरिवर्षकिम्पुरुषौ तन्मर्यादागिरी च त्यक्त्वा भद्रा तावत् कुरुवर्षमर्यादागिरौ शृङ्गवति पतित्वा ततः सूक्ष्मवेगेनावस्यन्दमाना कुरुवर्षं प्राप्योदधिं प्रविशति। 'भद्रा चोत्तरत' इति गद्ये तथासिद्धत्वाद्, अलकनन्दा तु हेमकूटपर्यन्तमस्पृष्ट्वा हिमकूटानि हिमालयसम्बन्धीनि स्पृष्ट्वा अतिरभसतररंहसा भुवं प्राप्य भारतवर्षे भूत्वोदधिं प्रविशति। 'तथैवालकनन्दे'ति गद्ये तथा सिद्धत्वादिति। न च शृङ्गाख्यपरिस्तरणगिरौ गङ्गाया अभावः शङ्क्यः, चतुर्थस्कन्धे कैलासवर्णने 'नन्दा चालकनन्दा च सरितौ बाह्यतः तीर्थपादपदाम्भोजरजसातीवपावन' इति श्रुतिलिङ्गाभ्यां कैलासे तत्सत्ता सिद्धावन्यत्रापि तदौचित्यात्। एवं सति भगीरथस्य यो गङ्गानयनायोद्यमः स कैलासे गङ्गाप्रचयकालीनो ज्ञेयः, तन्मया महस्ते सम्यगुपपादितमिति नात्र लिख्यते।

अतः परं भूविभागो विचार्यते। तत्र मेरुमध्यादर्द्धलक्षयोजनोत्तरं क्षारोदधिः, स तु लक्षमात्रविततः, तदग्रे द्वीपा उदधयश्च, पूर्वपूर्वस्मादुत्तरोत्तरं द्विगुणास्तथा सति मेरुमध्यान्मानसोत्तरमध्यमपर्यन्तं सार्द्धकोटिः। सार्द्धसप्तलक्षाणि च भूमिर्भवति। मानसोत्तरस्योच्छ्रायस्तु तद्द्विपमध्ये मानसोत्तर' इतिगद्ये 'अयुतयोजनोच्छ्रायायाम' इति कथनादयुतयोजनः। अत्र गद्य 'आयाम'पदेनोच्छ्रायदैर्घ्यमेव परामृश्यते न तु तिरश्चीनम्, तस्य द्वीपवत्परिमण्डलत्वेनात्यधिकपरिमाणत्वात्। नापि तत्परिणाहपरम्, नवलक्षयोजनविततस्य रविरथस्य तत्र मातुमशक्यत्वात्। अत उच्छ्रायपरमेव, अतो विस्तारे दश वा द्वादश वा लक्षाणि भवन्तीति ज्ञायते। ततोऽग्रे पुष्करद्वीपभागः षड्विंशतिलक्षः। मानसोत्तरमध्यभागात्तु द्वात्रिंशल्लक्षः। ततोऽग्रे चतुःषष्ठिलक्षः शुद्धोदः। तदग्रेऽष्टकोट्येकोनचत्वारिंशल्लक्षाण्यकाञ्चनी भूः। तदग्रे सार्द्धकोटिः सार्द्धसप्तलक्षाणि काञ्चनी भूः। मानसोत्तरमेर्वन्तरस्य तावत्त्वात्। उभयं मिलित्वा सार्द्धषण्णवतिलक्षाधिकनवकोटिमाना भूः शुद्धोदलोकालोकयोरन्तराले भवति। तदेतदुक्तं इति सिद्धान्तो भागवतस्येति। एवं गणनायां मेरुमध्यादारभ्य काञ्चन्या भुवः प्रान्तभागपर्यन्तं सार्द्धद्वादशकोटयो योजनानां भवन्ति। एतावल्लोकपरिमाणम्, तदग्रे लोकालोकपर्वतः अयुतयोजनविततः

न्मानसोत्तरमेर्वोरन्तरमिति न वदेत्। पुष्करद्वीपलोकालोकयोरन्तरमिति वदेदतस्तावत्येव तथा नाऽन्येति आह अन्येति। अन्यस्मिन् पक्षे लोकालोकाचलादर्वागितिपदाल्लोकालोकनिकटस्था तावती भूः काञ्चनीति ज्ञेयम्। अत एव लोकालोकं निरूप्य काञ्चनी भूमिर्मूल उक्तेति भावः। शैवतन्त्राद्यनुरोधादन्यामपि भूमिं तथा केचिदाहुस्तत्र कल्पभेदो ज्ञेय इत्याशयेनाऽऽह सौवर्णीतीति। अस्मिन् पक्षे यावन्मानसोत्तरेत्यादिना कथनं सर्वसत्त्वपरिहृताया भूमेः ॥ १२५३ ॥

निबन्धः—तस्याः प्रमाणमेकोनचत्वारिंशन्मितानि हि ॥ १२६ ॥
लक्षाणि हि तथा चाऽष्टौ कोटयः परिकीर्तिताः ॥
मध्यस्थया स्वर्णभूम्या सार्धद्वादशकोटयः ॥ १२७ ॥

प्रकाशः—एवं सति मेरोः प्रतिदिशं लोकलोकान्तरगतासार्द्धद्वादशकोटिपरिमिता भूरिति पञ्चाशत्कोटिमिता भवतीत्याह मध्यस्थयेत्यादिना ॥ १२७ ॥

निबन्धः—एकतस्तु तथा मेरोरपरत्रापि तावती ॥
तावत्येवोभयत्रापि लोकालोकेन संयुता ॥ १२८ ॥
कटाहेन सहेत्येके पृथिव्यावरणं तु सः ॥
पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णस्ततो दश गुणाः परे ॥ १२९ ॥

प्रकाशः—केचिद्विष्णुपुराणसम्मत्या लोकालोकेन सह कटाहेन च तावतीं भूमिमाहुस्तत्कल्पान्तराभिप्रायम्। इह लोकालोकस्य मर्यादागिरित्वाल्लोकालोकाचलस्य

कोटियोजनोन्नाहः। इतो ध्रुवलोक एकोनचत्वारिंशल्लक्षयोजनोपरि' तस्यापि गभस्तयो लोकालोकोपरि गन्तुं नोत्सहन्त इति तत्परभागस्था सार्द्धद्वादशकोटियोजनमिता अलोकभूमिर्गहनान्धकारवतीति तत्र द्विजपुत्रानयनार्थं गमने रथमार्गदर्शनाय सुदर्शनस्य प्रेषणम्। तदग्रे जलमनिरुद्धन्यूहस्थानम्। तदेव मूले 'यद्बहिर्लोकालोकाचलात्ततः परस्ताद्योगेश्वरगतिं विशुद्धामुदाहरेती'त्यनेनोक्तम्। तदग्रे ब्रह्माण्डरूपा पृथिवी।

प्रकृतमनुसरामः। लोकालोकाचलादर्वागिति निबन्धोक्तौ मानमाहुः अत एवेत्यादि। शैवतन्त्रोक्तकाञ्चनीभूम्यादरपक्षे, तस्याः परिमाणं निबन्धे आहुः तस्याः प्रमाणमित्येकेन। तथा च याऽत्र अकाञ्चनीत्वेनोक्ता सापि काञ्चनीति तन्मते शुद्धोदपरपारमारभ्य यावल्लोकालोकं काञ्चनीत्यर्थः। मूलाविरोधायाहुः अस्मिन्नित्यादि। तथा च मूलोक्तकाञ्चन्यतिरिक्ताकाञ्चनी आदर्शतलोपमा न भवति, किन्तु मेर्वादिसमेत्यर्थः ।१२५३। सिद्धं भुवो मानमाहुः एवं सतीत्यादि। विष्णुपुराणपक्षात् श्रीभागवतोक्ते को विशेष इत्याकाङ्क्षाया-

---

१ "अस्मिन्" इतिपाठः।

न भूमध्यपातित्वम्। कटाहोऽपि न तथेत्याह पृथिव्यावरणमिति। स कटाहस्तु पञ्चाशत्कोटिमितः पृथिवीरूपमावरणमेवेति नाऽत्र तत्सहभावः सम्भवतीत्यर्थः।१२९॥

निबन्धः—लोकालोकस्य तूच्छ्रायः कोटियोजनसम्मितः ॥
तस्योपरि गजाः पुर्यो भगवाँश्चापि वर्तते ॥१३०॥

प्रकाशः— यद्यपि मूले स्पष्टं नोक्तं मानमचलस्य तथापि पुराणान्तरसंमत्योक्तं कोटियोजनेति। तथा चोक्तं विष्णुपुराणे। 'लोकालोकस्ततः शैलो योजनायुतविस्तृतः। उच्छ्रायेणापि तावन्ति सहस्राण्यचलो हि स' इति। अयुतसङ्ख्यानि सहस्राण्युच्छ्रित इत्यर्थः। तत्रैवं गणनाक्रमः, मेरोरेकतो जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशत्सहस्राणि तैः सह आशुद्धोदान्तं सार्द्धत्रिपञ्चाशल्लक्षाधिकं कोटिद्वयम्। ततः काञ्चनी भूः सार्द्धषण्णवतिलक्षाधिकनवकोटिमिता। एवं सार्द्धद्वादशकोट्यो भवन्ति मेरोरेकतः। एवं चतुर्दिक्ष्वतिपञ्चाशत्कोटिमिता भूर्भवति ॥१३०॥

निबन्धः—पुरुषस्य कटिर्मध्यं भूमेर्लक्षे विभावसुः ॥
ततः सन्देहराहित्ये मध्ये सूर्यो निरूपितः ॥ १३१ ॥

प्रकाशः—ननु चतुर्दशलोकात्मकब्रह्माण्डस्याऽतलभूर्लोकयोर्मध्यं (मध्यं) भवेत्। तौ च पुरुषस्य कटिजघनात्मकौ। पुरुषस्य च मध्यं कटिरेव भवति। किं च। 'भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्याम्' इति पक्षेऽग्रिमलोकस्य नाभिरूपत्वोक्तेर्भूर्त्र आकटित्वं गम्यते। एवं सति कटिरूपा भूर्भवति, रविश्च भुवो लक्षयोजनान्तर इति तस्य तन्मध्यं भवति न वेति सन्देहः। ऊर्ध्वाधोलोकानां मिथो मानवैषम्यादपि न मध्यनिश्चय इति सन्देहहेत्वनुवादपूर्वकं तन्निरूपणप्रयोजनमाह पुरुषस्येति। अर्द्धेनानुवादः। यत एवं ततो हेतोर्यः सन्देहस्तद्राहित्यनिमित्ते तथा। तदेतत् 'सूर्येण हि' इत्यादिनोक्तम् ॥१३१॥

माहुः इहेत्यादि। तथा च श्रीभागवतपक्षे अयुतवितततो लोकालोकोधिकः, मूले 'पञ्चाशत्कोटिविगणितस्य भूगोलकस्य तुरीयभागोयं लोकालोकचल' (श्लो०३८) इति योन्तर्विस्तार, एतेन ह्यलोकपरिमाणं व्याख्यातमिति च कथनान्मेरोश्चतुर्दिशं लोकालोकस्य परतश्च सार्द्धद्वादशकोटयो भवन्तीत्ययमचलोधिक इत्येको विशेषः। योगेश्वरगतिस्थलाधिक्यमपरः। तदग्रेण्डकटाहः पञ्चाशत्कोटिस्थूल इति तृतीय इत्ययं विशेष इत्यर्थः।१२९। लोकालोकः कियानित्यपेक्षायामाहुः यद्यपीत्यादि। मेरोरेकत इति आलोकालोकाचलादिति शेषः। एवमिति लोकालोकपरभागस्थां भुवमादाय। निबन्धे मूले तस्योपरि गजाः पुर्य इति। यद्यपि गद्ये पुर्यो नोक्तास्तथापि गजानुक्त्वा अग्रिमे गद्ये तेषां स्वविभूतीनां महेन्द्रादीनां लोकपालानां च विविधवीर्योपबृंहितकथनाल्लोकपालपुर्योपि ज्ञातव्या इत्यर्थः। अतः पर'मण्डमध्यगतः सूर्य'-(श्लो०४३) इत्यादिग्रन्थं विचारयन्ति नन्वित्यादि। अग्रिमलोकस्येति अन्तरिक्षलोकस्य। तस्य तन्मध्य इति विराट्पुरुषस्य नभस्तलं मध्यम् ॥१३१॥

निबन्धः—दशसाहस्रगणना पातालादिषु सत्तया ॥
महादेवान्तरं कोटयो येन स्युः पञ्चविंशतिः ॥ १३२ ॥
काञ्चीदाममणिः सूर्यः शक्तिः कुण्डलिनीति च ॥

प्रकाशः—ऊर्द्ध्वालोकमानवैषम्यधीपरिहारार्थमेव पञ्चविंशतिकोटिमानकथनम् । नन्वेवं सत्यधोलोके तावन्मानकथनमनुपपन्नमल्पत्वात्तत्राह दशसाहस्रेति । तावदपि तत्र वर्तत इत्यभिप्रायेण तथोक्तिः, 'अधिकं तत्राऽनुप्रविष्टं न तद्धानिः, इतिन्यायेन न तु तावन्मात्राभिप्रायेणेत्यर्थः । अत्र विनिगमकं वदँस्तेषां मानं कियज्ज्ञातव्यमित्याकाङ्क्षामपि पूरयन्नाह महादेवान्तरमिति । महान् देवः सङ्कर्षणः सूर्यो वा, यावता तावद्भवति तावन्मानं ज्ञातव्यमित्यर्थः । अधोलोकानां तावन्मात्रत्वे 'सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये' इति विरुद्ध्यत इति भावः । तर्ह्याचार्यैरधोलोकमानं कुतो नोक्तमिति चेद्, अत्राऽयं भावः । 'सप्त भूमिविवराः' इतिवक्ष्यमाणत्वाद् 'भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्याम्' इत्युक्तत्वाच्च भूमध्यपातित्वं तेषामिति विशेषतो नोक्तमिति । विराड्ध्याने कट्युपरिस्थितस्य तस्य स्वरूपमाह काञ्चीति । एतेन भूप्रकरणे दिविष्ठसूर्योक्तिर्न युक्तेति शङ्का निरस्ता । अत एवोद्‌र्ध्वाधोविभाजकत्वमितिभावः । 'मृतेण्ड'इत्यादिव्युत्पादनतात्पर्यमाह शक्तिरिति । सङ्घाते हि देहादिसम्वलितो जीवो मृत इव तिष्ठति । कुण्डलिनीप्रबोधे हि सुषुम्णारन्ध्रप्रवेशे क्रमेणाऽमृतत्वमापद्यते । तथा रवावुक्तत्वादयं विराजस्तथेत्यर्थः ॥ १३२३ ॥

ऊद्‌र्ध्वालोकमानेति ऊद्‌र्ध्वलोकाश्च अलोकश्च तेषां मानेत्यर्थः । तावन्मानकथनमिति एकैकशो योजनायुतान्तरेणायामविस्तारेणेति मानकथनम् । अल्पत्वादिति अन्तरस्याल्पत्वात् । तावदपीत्यादि । तथा च गद्ये अन्तरपदमवकाशपरम्, तेन ते विवरदेशायोजनायुतमितं यदन्तरमवकाशस्तेन तावद्विस्तारयामेन तद्वासिनां वासायोपक्लृप्ताः, ततोन्यो यो भागः स तु लोकान्तरगमनमार्गतया वर्त्तमानः स्वल्पावकाशो लोकत्वायोग्य इत्यर्थः । मानमिति दूरतायाः मानम् । सङ्कर्षणः सूर्यो' वेति विष्णुपुराणोक्तपक्षे कटाहस्य पञ्चाशत्कोट्यन्तःपातित्वात्सङ्कर्षणः, सिद्धान्ते तु सूर्य इत्यर्थः । विशेषतो नोक्तमिति विशेषतो विराड्ध्यानेनुपयोगे मूलगद्येषु वदेत् सूचयेद्वा तदभावात्, लौकिकपुरुषसंस्थासामान्येन तद्‌दूरत्वनैकत्व्ययोर्ज्ञातुं शक्यत्वाच्च नोक्तमित्यर्थः । अत एवेति काञ्चीदामस्थत्वादेव । एवं द्वाविंशतिभिर्विंशाध्यायः पञ्चमो विचारितः । एतावता सार्द्धोनपञ्चाशद्भिर्भूप्रकरणं समाप्तम् ॥ १३२३ ॥

अ० २१ भूप्रकरणं समाप्याऽग्रिमाध्यायत्रयेण दिवः स्थानं निरूप्यत इत्याह अत इति।

निबन्धः—अतः परं त्रिभिः प्रोक्ता द्युमर्यादा तथाविधा ॥ १३३ ॥

सूर्यस्य च तथाऽन्येषां शिशुमारस्य च क्रमात् ॥

प्रकाशः-त्रित्वे हेतुमाह तथाविधेति। सत्त्वकार्यरूपेत्यर्थः। तस्य च शुद्धमिश्रभावेन त्रिविधत्वेनाऽध्यायेष्वपि तथात्वमितिभावः। अध्यायार्थानाह सूर्यस्येति। आद्ये सूर्यस्य। द्वितीये सोमादीनाम्। शिष्टे शिष्टस्य ॥ १३३½ ॥

तत्राद्ये प्रकरणविभागमाह सूर्यस्येति।

निबन्धः—सूर्यस्य गमनं पूर्वं गतिस्थानं तथाऽपरम् ॥ १३४ ॥

रथस्य साधनस्यान्ते प्रमाणादि च रूप्यते ॥

प्रकाशः--'यन्मध्यगत' इत्यारभ्य गमनमुच्यते। ततो गतिस्थानम्। ततो रथस्य। साधनस्येति हयारुणादेरित्यर्थः। अन्ते तत्तत्प्रकरणस्यान्ते तस्य तस्य प्रकृष्टं मानं च, एवं नवकोट्य इत्यादि। 'एवं मुहूर्तेने'त्यादि। 'लक्षोत्तरमि'त्यादि ॥१३४½॥

ननु पूर्वाध्याय एव रविनिरूपणात्तद्गत्यादिनिरूपणमपि तत्रैवोचितम्। किं च 'एतावानेवे'त्यारभ्या'त्मभासे'त्यन्तग्रन्थस्य किं प्रयोजनमत आह दिव इति।

निबन्धः—दिवो मानप्रसङ्गेन सूर्यस्यात्र निरूपणम् ॥ १३५ ॥

अतः प्रसङ्गिनं प्राह मानतो ह्यतिदेशतः ॥

प्रकाशः—नाऽत्र प्राधान्येन तन्निरूपणं किं तु दिवः प्रकरणित्वात्तन्माने निरूपयितव्ये तन्निरूपणमेव तथाकृतमित्यर्थः। एतज्ज्ञापनायैव स ग्रन्थ इति भावः। अत इति।

अतः परमध्यायत्रयात्मकं द्युप्रकरणं सार्द्धोनसप्ततिभिर्विचारयन्तः सार्द्धत्रिचत्वारिंशद्भिरेकविंशं प्रकरणप्रथमाध्यायं विचारयन्तीत्याहुर्भूप्रकरणमित्यादि। तस्येत्यादि प्रथमाध्याये रजोमिश्रभावेन, द्वितीये तमोमिश्रभावेन, तृतीये शुद्धसत्वभावेनेत्यर्थः। शिष्टस्येति शिशुमारस्य। ततो गतिस्थानमिति'मानसोत्तरे'त्यारभ्य 'समामनन्ती'त्यन्तेन। ततो रथस्येति'तस्याक्ष'इत्यारभ्य गमनगतिस्थानरथप्रकरणस्यान्ते। तथा च 'यन्मध्यगत' इत्यत्रोक्तायाः सूर्यगते'र्मानमेतस्यैव प्रकरणस्यान्ते 'एवं नवकोट्य' इत्यादिनोच्यते। 'तथा मानसोत्तरे'त्यारभ्योक्तस्य गतिस्थानस्य मानमेतस्यैव प्रकरणस्यान्ते 'एवं मुहूर्ते'त्यादिनोच्यते, तथा 'तस्याक्ष' इत्यारभ्योक्तस्य रथस्य मानम् एतस्यैव प्रकरणस्यान्ते ' लक्षोत्तरमि'त्यादिनोच्यते इत्यर्थः। पूर्वाध्याय इति विंशाध्याये।

'एतेन हि' इत्यनेन सामान्यतो दिवो मानमुक्तं यद्यपि तथाप्यन्यस्य विभाजकस्य वक्तुमशक्यत्वाद्विशेषतस्तन्निरूपणं सूर्यगतिविशेषनिरूपणं विना न भवति. यतो हेतोः ॥ १३५३ ॥

इतिश्रीमद्वैश्वानरावतारश्रीवल्लभाचार्यात्मज-

श्रीमद्विठ्ठलनाथप्रभुचरणविरचितो-

निबन्धप्रकाशः

सम्पूर्णः ।

तन्निरूपणमिति गत्यादिनिरूपणम्। तथाकृतमिति एतावानित्यादिभासेत्यन्तग्रन्थेन कृतम्। तथा च पूर्वाध्याये तत्प्रयोजनाभावान्न तत्र कृतमत्र तु प्रकरणिमानज्ञापनार्थं कृतमितीहैव स ग्रन्थो युक्त इत्यर्थः। यतो हेतोरिति अतो हेतोः प्रसङ्गिनं सूर्यं प्राहेति मूलकारिकया सम्बन्धः।

इयदवध्येत्र प्रभुचरणा निबन्धं प्रकाशितवन्तः ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानदासानुदासपुरुषोत्तमविरचितस्तत्त्वदीप-

प्रकाशावरणभङ्गः सम्पूर्णः ।

(पञ्चमस्कन्धस्य विंशाध्यायः सम्पूर्णः, एकविंशाध्यायस्य प्रारम्भः)

॥ प्रथमो विभागः सम्पूर्णः ॥

श्रीमदाचार्यचरणकृतश्रीभागवतनिबन्धस्य प्रकाश एतावान् एव श्रीप्रभुचरणै-विरचितः । इतः परमाद्वादशस्कन्धं श्रीमदाचार्यचरणानां मूलकारिका एव उपलभ्यन्ते। ता गो.श्रीपुरुषोत्तमचरणविरचितया योजनया समलङ्कृत्य द्वितीयविभागे प्राकाश्यं नेष्याम इति विपश्चिद्वरा विदाङ्कुर्वन्तु ।   (चीमनलालशास्त्री)

परिशिष्टम्-(१)

॥ श्रीहरिः शरणम् ॥

अथेदं प्रस्तूयते

यत्, सुविदितमेवैतत्तत्रभवतां भवतां श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासपरिशीलनधीविभवानां समेषां विदुषाम्, यत्, श्रीभागवतं नामाद्वितीयमपूर्वं च समुद्धृतं ग्रन्थरत्नं श्रीमद्व्यासपादैः स्वीयानुभव-सागरादिति। यद्धि प्रकाशयति सकलानपि श्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यान् प्रमेयजातान्

उपक्रमः] प्रकाशते च स्वयमपि प्रमेयरूपतया श्रीकृष्णाभिन्नमूर्त्या, भक्तिरसतया, निगमागम-सारत्वतया च। उक्तमेव "निगमकल्पतरोर्गलितं फल"मित्यादिना। अनवतार-दशायां साक्षाच्छ्रीकृष्ण एव श्रीभागवतरूपेणाविर्भूतः, समाधिदशायां साक्षात्कृतश्च श्रीव्यासपादैः श्रीशुकादिपरम्परयाऽद्यदिनं यावत्साधकानामुपकाराय विराजते च।

किञ्च, भक्तिरेव श्रीभागवतरूपेणालङ्करोति धरित्रीम्। भक्तिरसस्थायीभाव एव रसात्मा श्रीकृष्णः। श्रीभागवतमेव श्रीकृष्णः। भक्तिरेव भागवतम्। भागवतमेव भक्तिः। श्रीकृष्ण एव भक्तिरसः। श्रीकृष्णः, भागवतम्, भक्तिश्चेति पदानि प्रमेयतयाऽभिन्नार्थ-

श्रीभागवतस्वरूपम्] कान्येवेति भक्तिरसायन-भक्तिमार्तण्डाद्यनेकग्रन्थाभिप्रायः, परमतत्त्वपरिशील-नप्रवणान्तःकरणानां महाभाग्यभाजनानां विपश्चिदपश्चिमानां स्वीयानु-भवश्च। अत एव भक्त्या भागवतं शास्त्रं न विद्यया न च टीकयेत्यभियुक्तोक्तिः।

अत्रेदं तत्त्वम्–भागवतस्य साधनं हि भक्तिरेव; भक्त्या यत्परात्परं फलं समुत्पाद्यते तदेव भागवतम्। तद्भागवतमेव रसात्मा श्रीकृष्णः, भक्त्याः परमफलत्वेन श्रीकृष्णस्यामिरेवोक्तत्वात्। एवं च तत्त्वतो विचार्यमाणे भक्तिभागवतश्रीकृष्णरसादिपदानामभेद एव। एतदेव शुद्धाद्वैतम्। किञ्च, भागवतं भक्तिः, भक्त्या च भागवतमित्युक्त्या "साधनं च फलं यत्र"-

पारमार्थिकं स्वरूपम्] त्युक्तेः साधनफलयोरैक्यम्। स एव पुष्टिमार्गः। तथा च श्रीभागवतमेव प्रमाणं प्रमेयं साधनं फलं चेति। एतदेव निर्वचनम् एतदेव रहस्यम्। एतदेव तत्त्वम्। एतदेव पारमार्थिकम्। "पुराणं हरिरेव सः" एतदेव श्रीमदाचार्यचरणप्रोक्तं महावाक्यम्। तदभ्यासादेव निरोधः। तदेव च फलम्। अत एवाहुर्भगवन्तो भाष्यकाराः। श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः "श्रीकृष्णं सच्चिदानन्दं दशलीलायुतं सदा। सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः" इत्यादि। श्रीकृष्णः श्रीभागवतं भक्तिश्चेति त्रितयमपि प्रमेयम्। तदेव च दशलीलापदेनाभिव्यज्यते। भक्तिमार्तण्ड–निबन्धप्रमेयप्रकरणप्रभृतिषु तथैवोपपादितमिति नाधिकं तन्यते।

श्रीभागवतस्यातिगूढार्थत्वात्प्रत्यक्षरं, प्रतिपदं, प्रतिवाक्यं, प्रत्यध्यायं, प्रतिप्रकरणं, प्रतिस्कन्धं च श्रीकृष्ण एव जेगीयते। अतएव भागवतशास्त्रं दशलीलायुतं श्रीकृष्णाभिन्नस्वरूपम्। यद्यपि, आपाततो भिन्नार्थकत्वं प्रतीयते, तथापि रहस्यवेदिनस्तु शास्त्रे, स्कन्धे, प्रकरणे,

श्रीभागवतार्थः] अध्याये, वाक्ये, पदे, अक्षरे, च प्रतीयमानमर्थमविरोधेनैकार्थतयैव विदुः, ये च तथा बोधयन्ते त एव मुच्यन्ते। तथा चाहुर्भगवत्पूज्यपादाः श्रीभागवतप्रति-पदमणिवरभावांशुभूषितमूर्तयः श्रीकृष्णवदनावताराः श्रीमदाचार्यचरणाः—

" शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे ।
एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते ॥ " इति ।

अत्रायमभिसन्धिः—शास्त्रार्थादिसप्ताप्यर्थान् एकार्थतयाऽविरोधेन जानन्, एकार्थं श्रीकृष्णं चाविरोधेन सप्तधा जानन्, मुच्यते; अविरोधेन च अप्रत्यूहेन च । नात्र मुक्तौ विरोधः सम्भवति । अतएव " भक्त्या भागवतं शास्त्रम् " ।

सप्तार्थानामेकार्थतया व्याख्यातृत्वम्

नायं सुकरः पन्थाः सर्वेषाम् । यद्यपि श्रीभागवतप्रोक्तभक्तिमार्गानुसरणं सुलभम्, तथापि तदवबोधस्तु दुर्लभ एवेति श्रीमदाचार्यचरणा एवात्र शरणम् । श्रीगुरुचरणशरणादृते भक्तिमार्गे प्रतिबद्ध एव प्रवेशः । श्रीगुरवश्च करुणावरुणालया एवेति । तैरेव—श्रीभागवतं व्याख्यातम् । प्रदर्शितश्च तत्त्वार्थदीपः, सुबोधितश्च भक्तिमार्गः सुबोधिन्या । अत एवोक्तं तैरेव पूज्यपादैः—

अर्थं तस्य विवेचितुं न हि विभुर्वैश्वानराद्वाक्पते—
र्न्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच्छ्रीपतिः ।
दत्त्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुर्यस्मादतोऽहं मुदा
गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम् ॥ इति ।

सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्णः प्रादुर्बभूव ह ।
तथात्वं येन संसिध्येत्तदर्थं व्यास उक्तवान् ॥
श्रीभागवतमत्यन्तं सर्वेषां सुखदायकम् ।
तस्यापि तत्त्वं येनैव सिध्येदिति विचार्य हि ॥
अग्निश्चकारतत्त्वार्थदीपं भागवते महत् ।
तत्रापि येन संसिध्येद्व्याख्यानं तन्निरूप्यते ॥ इति च ।

किञ्च, श्रीभागवतस्य श्रीकृष्णरूपत्वात् । श्रीकृष्णस्य परमतत्त्वेन प्रतिपादनात् । तत्स्वरूपावगतिः सर्वोद्धारप्रयत्नेन तेनैव भवितुमर्हति नान्यथेति श्रीकृष्णवदनवैश्वानरादन्यः श्रीभागवतार्थं व्याचिख्यासुरपि न याथार्थ्यावबोधने प्रभुः । एवं च श्रीमद्वल्लभाचार्याणां श्रीभागवतार्थव्याख्यानेनैव भागवताचार्यतेति ।

यत्तु, प्रस्थानत्रयव्याख्याता, आचार्यः, इति प्रवादः प्रसिद्धः, श्रीवल्लभाचार्याणां वेदव्याख्यानानि, गीताव्याख्यानं च नोपलभ्यत इति तेषामाचार्यत्वं नास्तीति काषायाम्बरः कश्चिदाह । तदतीवाज्ञानविजृम्भितम् । ये च पुनर्न्यासादेशादिग्रन्थगणनया प्रस्थानचतुष्टयव्याख्यातृतया साधयन्ति तेषामाचार्यत्वं तदपि पञ्चपर्वसु परिगणनीयम् । श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणानामाचार्यत्वं हि भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वादेव । अत एव वेदानामपि भागवताविरोधेन प्रामाण्यं प्रतिपाद्यते । न तु पुराणानामिव केवलवेदोपबृंहकतया वेदमूलकतया वा । श्रीरामानुजाचार्यादयो न केवलं भक्तिमार्गप्रवर्तकाः । अपि तु पाञ्चरात्राद्यागमोक्तोपासनाप्रवर्तकाः । अस्मदाराध्यचरणास्तु निःसाधनजनोद्धरणप्रवणा

वरणमेव राद्धान्तं बोधयन्तो निर्गुणभक्तिमार्गैकप्रवर्तकाः । अत एव तन्मते प्रमाणमूर्धन्यं प्रमेयं च भागवतमेव । व्याख्यातं च भागवतमेव । श्रुतिसूत्रादिव्याख्यानमपि श्रीभागवतार्थबोधनोपयोगितयैव । न तु भागवतव्याख्यानं वेदबोधाय । अपि तु वेदव्याख्यानं भागवतबोधार्थमेवेति । तदेव तदवतारप्रयोजनम् । एवं च श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकृतव्याख्यानादृते नान्यव्याख्यानं श्रीभागवतार्थबोधनायालमिति । प्रथिततरमेवैतत्सुबोधिन्यादिग्रन्थाध्येतॄणाम् ।

तदेतद्भागवतं तृतीयस्कन्धादेव प्रकृतमिति दशलीलार्थवेदिनामपरोक्षम् । प्रथमद्वितीययोरधिकारज्ञानलीलाप्रतिपादकत्वाद्दशविधलीलासु गणनाभावाच्चेति । निबन्धश्चैतःपूर्वमेवालङ्करोतिस्म श्रीभागवताध्येतॄणां करकमलानि । गोलोकवासि **"श्रेष्ठिनारायणदासस्य"** **"श्रेष्ठिजेठानन्दस्य"** च संरक्षितद्रव्यव्यवस्थापकैः प्राकाश्यं नीतः श्रीभागवताध्यायार्थः । पूर्वं प्रकाशितोऽपि भागवतार्थनिबन्धः श्रीकल्याणरायाणां टिप्पण्या सम्वलितस्तृतीयस्कन्धार्थ एवायं प्रकाश्यते नैः ।

प्रकृतग्रन्थप्रकाशः]

स चायं तृतीयस्कन्धः सर्गलीलार्थकः । ब्रह्मणः सत्त्वादिगुणवैषम्येन, पञ्च महाभूतानि, पञ्च तन्मात्राः, इन्द्रियाणि, अन्तःकरणं चेत्येतेषामुत्पत्तिप्रकार एवात्र प्राधान्येनोपवर्णितः । भगवतो वराहावतारः कपिलावतारश्चोपवर्णितौ । प्रसङ्गात्साङ्ख्यज्ञानं भक्तिश्च प्रतिबोध्येते । यथा मुक्तिलीलावबोधक एकादशस्कन्धो विवेचनीयविषयबाहुल्येन चकासते तथैवायं तृतीयस्कन्धः विराड्रूपबोधनेन, सृष्टिप्रक्रियाप्रतिपादनेन, आसुरसम्पर्कोद्धरित्या रसातलगमनेन, तदुद्धरणेन, कर्दमस्य तपश्चरणेन, कपिलावतारेण, तदुपदिष्टेन साङ्ख्यतत्त्वेन—तत्र प्रसङ्गात्—ज्ञानज्ञानाभासभ्रमख्यात्यज्ञानादिपदार्थपरम्परावेदनपूर्वकभक्तिमार्गोपदेशेनेत्यादि विविधविषयेन विद्योतयति विद्याविलासवेदिनां विपश्चित्प्रवराणां मानसानि । तदेतन्निखिलमपि श्रीसुबोधिन्या सुस्पष्टं सुविस्तृतं च व्याख्यातं श्रीमदाचार्यचरणैः । किन्तु तदवबोधनात्प्राक् स्कन्धार्थोप्रकरणार्थाध्यायार्थानां परमावश्यकतयाऽत्र त एवार्थाः प्रकाशिताः । अत्र हि सर्गलीलाप्रतिपादके तृतीयस्कन्धे प्रकरणत्रयम् । (१) अधिकारप्रकरणम्, (२) बन्धसृष्टिप्रकरणम्, (३) मोक्षसृष्टिप्रकरणं चेति । तत्रेमान्यवान्तरप्रकरणानि । बन्धसृष्टिप्रकरणे—(१) गुणातीतसृष्टिप्रकरणम्, (२) सगुणसृष्टिप्रकरणम्, (३) कालसृष्टिप्रकरणम्, (४) जीवसृष्टिप्रकरणं चेति चतुष्कम् । मोक्षसृष्टिप्रकरणे च (१) नैर्गुण्यमोक्षसृष्टिप्रकरणम्, (२) तत्त्वमुक्तिप्रकरणम्, (३) कालमुक्तिप्रकरणम्, (४) साङ्ख्यज्ञानान्मुक्तिप्रकरणम्, (५) साङ्ख्यस्य साधनं प्रमाणं च, (६) सगुणमुक्तिः, (७) जीवमुक्तिः, (८) सर्गाङ्गसर्वनिर्धारः, (९) सर्गफलप्रकरणं चेति नवकम् । अध्यायास्तु त्रयस्त्रिंशदेव । एतेषां सङ्गतिरेवात्र मुख्यः प्रतिपाद्यो विषयः ।

अत्र प्रतिपाद्या विषयाः]

एवमयं तृतीयस्कन्धनिबन्धः सर्वानेवोपकरोति विचारान् विचक्षणांश्च ।

अस्य मुद्रणं श्रेष्ठिनारायणदासस्य संरक्षितद्रव्यादेव सञ्जातम् । वैष्णवमङ्गलदासेन धीरजलाल सांकलियामहाभागस्य प्रोत्साहनेनास्य प्रतिलिपिर्मुद्रणार्हतया भारतमार्तण्डश्रीगट्टूलालपुस्तकालयस्थपुस्तकद्वितयसहायेन सम्पादिता । तदनु धीरजलालमहाभागैरेव विज्ञापिता प्रबन्धकाः, नियुक्तश्चाहं तत्संशोधनाय । प्रकाश्यते **नारायणदासस्य जेष्ठानन्दस्य च आसनमलतनुजन्मनोः** संरक्षितद्रव्यव्यवस्थापकैरेव ।

अस्य मुद्रणम्]

अत्र मुद्रणे प्रयुक्तं पुस्तकद्वयं पं. श्रीगट्टूलालपुस्तकालयात्सम्प्राप्तम् । अतस्तदध्यक्षाणां, प्रतिलिपिकारस्य वैष्णवमङ्गलदासस्य, नियोजकस्य धीरजलालसांकलीयामहाशयस्य च सञ्जाताया उपकृतेरत्र भूयो भूयः सबहुमानं स्मरणं परम्पराप्राप्तमेवेति ! जीवदोषान्मुद्रणालयदोषाद्वा सञ्जातं चेत्स्खलनं तर्हि क्षमाप्यन्ते विपश्चित्प्रवरा नीरक्षीरविवेकचतुराः । विरम्यते च—

उपकृतिस्मरणम्

क्षमापनं च

विदुषां विधेयेन,

हरिशङ्करेण ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितमूर्तिश्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भाविते
सप्रकाशे तत्त्वदीपनिबन्धे भागवतार्थप्रकरणे

तृतीयस्कन्धार्थः

श्रीमत्कल्याणरायविरचितया टिप्पण्या समलङ्कृतः

तृतीयस्कन्धनिबन्धनं चिकीर्षुरुक्तविवक्षितयोः सङ्गतिमाह—

अधिकारिषु साङ्गं हि श्रवणं सुनिरूपितम् ।
स्कन्धद्वयेन शेषेषु क्रियते विषयाभिधा ॥ १ ॥
त्रयस्त्रिंशदथाध्यायास्तृतीये सर्गवर्णने ।

अधिकारिष्विति । अधिकारः प्रथमस्कन्धार्थः । साङ्गश्रवणविधिर्द्वितीयार्थः । तृतीयादिदशस्कन्धेषु श्रोतव्यविषयः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं दशानां साधारणमर्थमुक्त्वा तृतीयस्कन्धार्थमाह—

त्रयस्त्रिंशदथाध्यायास्तृतीये सर्गवर्णने इति । एकदेशे सर्गप्रतिपादनव्यावृत्त्यर्थं 'त्रयस्त्रिंशदथाध्याया' इत्युक्तम् । सर्वेषां सर्ग एवार्थः "सर्गः कारण-

---

श्रीकृष्णाय नमः

तृतीयस्कन्धार्थनिबन्धविवृतौ श्रवणविधिरिति । मूले निरूपितमित्युक्तेः । सामान्यतो निरूपणमायातीत्याशङ्क्य श्रोतव्यत्वेन 'तस्माद् भारते'ति विधानादकरण फलाभावप्रत्यवायबोधनार्थं तथोक्तमित्यर्थः । अत एव "अपश्यतामात्मतत्त्व"मित्यादिना तदकर्तॄणां प्रथमत एव निन्दाकृतिरिति भावः । श्रोतव्यविषय इति । श्रोतव्यो विषयो लीलारूपः । प्रतिपाद्यते । दशभिः स्कन्धैरित्यर्थः । एतेन स्कन्धद्वयस्य सर्वैरेव स्कन्धैः सङ्गतिरत्रैव प्रतिपादिता न प्रत्येकं प्रतिपादनीयेति बोधितम् ॥ १ ॥

साधारणमिति । श्रोतव्यविषयलीलारूपमित्यर्थः । एकदेश इति । स्कन्धैकदेश इत्यर्थः । तथा सति सम्पूर्णस्य स्कन्धस्य सर्गप्रतिपादकत्वं न स्यादिति भावः । सर्वेषामित्यध्यायानामित्यर्थः । यद्यपि भूतमात्रेन्द्रियभिन्नजीवकालतत्त्वादीनामपि सृष्टिनिरूपणात् न पूर्वोक्तलक्षणकः सर्गः सर्वत्रायाति तथापि 'सर्गः कारणसम्भूति'रिति वाक्यादधिकारिभूतादिसृष्टौ मुक्तियोग्यं तादृशं जीवं सृष्ट्वाऽऽधिदैविकतत्त्वान्यपि सृष्ट्वा तादृशमाधिदैविकं मोक्षोपयोगिनमलौकिकं कालमप्युत्पाद्य भगवान्

---

१ "तथा" इति पाठः ।

स्वाभिप्रेते सविशेषे स्वोपयुक्तार्थसंयुते ॥ २ ॥

सम्भूतिः" इति वाक्यात् । सर्गश्च लौकिकालौकिकभेदेन द्विविध इति । अलौकिके त्रयस्त्रिंशद्देवा सृष्टाः सन्तो यज्ञं साधयन्तीत्यविवादम् । लौकिकेप्यष्टाविंशतितत्त्वानि चतुर्विधभूतबीजानि कालश्चेति त्रयस्त्रिंशत्प्रकारा सृष्टिर्भवति । अत एव सर्गस्य विशेषणमाह स्वाभिप्रेत इति । न तु सर्गो यः कश्चित्सृष्टिसाधारणः । तत्र स्वाभिप्रेतः पूर्वमुक्तो लौकिकालौकिकभिन्नः । तत्रापि भगवद्रूपता सर्वत्रेति विशेषः । तत्रापि

मोक्षार्थं तथा भूतादीनि सृजतीति तेषामपि तत्कारणत्वादत्र निरूपणमुचितमित्यर्थः । लौकिकालौकिकभेदेनेति । साङ्ख्यवैदिकभेदेनेत्यर्थः । उभयविधस्यापि त्रयस्त्रिंशदात्मकत्वं साधयन्त्यलौकिक इत्यादिना । अलौकिके । वैदिक इत्यर्थः । त्रयस्त्रिंशद्देवा इति । "स जातोऽत्यरिच्यत" इति श्रुतेः 'स' विराट् पुरुषो ब्रह्मा पूर्वोक्तसहस्रशीर्षादिविशिष्टात् पुरुषात् 'जातोऽत्यरिच्यत' अतिरिक्तः समृद्धस्त्रयस्त्रिंशद्देवतारूपो जात इत्यर्थः । तथा च ब्रह्मणः सकाशात् जातेन हिरण्यगर्भेण सृष्टा इत्यर्थः । त्रयस्त्रिंशदिति । "देवास्त्रिरेकादशास्त्रिस्त्रयस्त्रिंशा" इति श्रुतेर्वसुरुद्रादित्यरूपास्त्रयस्त्रिः प्रत्येकं हिरण्यगर्भैकादशेन्द्रियाधिष्ठातृत्वेनोत्पन्नैं इति त्रयाणामेकादशविधत्वात् त्रयस्त्रिंशत्सङ्ख्येत्यर्थः । यज्ञं साधयन्तीति । 'देवा यज्ञमतन्वते'ति श्रुतेरित्यर्थः । तत्रायं प्रकारः, प्रथमतः सहस्रशीर्षत्वव्यापकत्वादिधर्मविशिष्टः परमात्मा स्वराट्, ततो विराट् कमलाकारेण विशेषेण राजत इति प्रपञ्चः सूक्ष्मो भगवान् नाभिकमलात्मकस्ततो विराट् पुरुषो ब्रह्मा ततस्तदिन्द्रियाधिष्ठातारो देवास्तैस्ततो यज्ञ आधिदैविको विराट् पुरुषशरीरहविर्निष्पाद्यः कालसहितः प्रजापतिरूपः 'यज्ञो वै प्रजापति'रिति श्रुतेस्ततो यज्ञात् जातो यः साध्यर्षिकृत आध्यात्मिको यज्ञस्ततः पृषदाज्यं ततो वायव्या आरण्याः पशवस्ततो वेदा ऋगादयः स्थूलाश्छन्दांसि गायत्र्यादीनि तत आधिभौतिकहवीरूपाजाद्युत्पत्तिस्ततस्तैर्यज्ञेन ब्रह्माण्डात्मकपुरुषविधानं, "यत पुरुषं व्यदधु"रिति श्रुतेः, ततस्तस्य पुरुषस्य लोकरूपेण कल्पना "तथा लोका अकल्पयन्नि"ति श्रुतेः, एवमाधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकभेदभिन्नस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वबोधनाय" वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमि"त्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मविज्ञानं, तस्य च फलं "तमेवं विद्वानमृत इह भवती"त्यादिश्रुतिभिर्मोक्षो निरूप्यत इति मोक्षफलिका वैदिकी सृष्टिः पुरुषसूक्तोक्ता ज्ञेया । लौकिकेऽपीति । साङ्ख्यसर्गेऽपीत्यर्थः । चतुर्विधभूतबीजानीति । भगवदायुधरूपाणीत्यर्थः । मोक्षदानायाधिकारिभूतादिसृष्ट्यर्थं भगवदाविर्भावे तेषामप्युत्पत्तेः । कालश्चेति । साङ्ख्यसृष्टिहेतुभूतगुणक्षोभकभौतिकविराट्पुरुषचेष्टारूप इत्यर्थः । मूलपुरुषेच्छाशक्तिरूपस्तु "कालसंज्ञा तदा देवीमि"त्यादिना वैदिकसृष्टावेव वक्तव्य इति । अत एवेति । यत उभयविधोऽपि त्रयस्त्रिंशत्प्रकारकः सर्गो निरूपणीय इत्यर्थः । न तु यः कश्चिदिति । पुरुषसूक्तोक्तत्रयस्त्रिंशत्प्रकारापन्नाद् भिन्न आकाशादिकादिकः सर्ग इत्यर्थः । सृष्टिधारण इति । सृष्टिमात्रमेव येन सर्गेण निरूप्यते, न तु पुरुषसूक्तोक्तवद् ब्रह्मात्मकत्वं मोक्षफलकत्वं प्रपञ्चस्योच्यत इत्यर्थः । तत्रेति । तेषु नानाविधसर्गेष्वित्यर्थः । लौकिकालौकिक भिन्न इति । लौकिकं साङ्ख्यमलौकिको वेदस्ताभ्यां भिन्नः भेदयुक्त इत्यर्थः ।

स्वोपयुक्तार्थसहितो मोक्षादिफलयुक्तः। जीवस्य हि द्विधा सृष्टिः; बहिः, स्वरूपे च। बहिः सृष्टिर्लोके प्रसिद्धा। सा हि वस्तुतो जीवस्य नाशरूपत्वात्प्रलयो भवति। अतो मोक्ष एव मुख्यसृष्टिः। अधिकारिदेहव्यतिरेकेण स न भवतीति मोक्षार्थमुत्पत्तिरपि निरूप्यते। तत्र गृहस्थस्यैव मुक्तिः सन्दिग्धेति दम्पत्योर्मुक्तिनिरूपणम्। तत्र गृहस्थस्य

वस्तुतस्तु प्रकारभेदेऽपि भगवल्लीलारूपत्वादेक एवेति भावः। **तत्रापि**ति। उभयविधसर्गेऽपीत्यर्थः। **भगवद्रूपते**ति। सर्गे ये कारणत्वेनोक्ता ब्रह्मकर्दमादयस्तेऽपि भगवतः सर्गलीलोपयोगित्वेन तदङ्गभूता भूमिकाननद्रुमादय इव लीलारूपा इति तेष्वपि भगवद्रूपत्वं लीलायाः स्वरूपात्मकत्वादेतावानस्मिन् सर्गे **विशेषो**ऽन्यत्र सर्गाङ्गभूतानां जीवत्वमेवेति भावः। **तत्रापी**ति। एवं पूर्वोक्तो लीलारूप उभयविधसर्गः, तत्रोपयुक्तो मोक्षादिरूपोर्थः पुरुषार्थो मोक्षदानार्थमेव भगवता लीलाकरणात् तत्सहित इत्यर्थः। नन्वत्र सर्गलीला निरूप्या तन्मध्ये फलत्वेनापि मोक्षनिरूपणे स्कन्धार्थे सर्गलक्षणेऽतिव्याप्तिः स्यादित्याशङ्क्याहु**र्जीवस्य ही**ति। जीवा हि भगवतोऽक्षरांशत्वेन च णसंलग्ना उपर्येवावस्थिता न तु भगवत्यन्तर्ने वा प्रपञ्चे बहिः, एवं सति यदा भगवतः सृष्टीच्छा तदा तानक्षरात्मकचरणाद् विस्फुलिङ्गवद् व्युच्चरितान् स्वस्माद् **बहिः** स्थूलरूपे प्रपञ्चे पृथक्तया स्थापयित्वा स्वप्राप्तिसाधनानि कारयित्वे'ष उ एवे'ति श्रुतेः, पश्चात् स्वात्मन्यन्तःप्रपञ्चे विषयानुभवमिव स्वानन्दानुभवं कारयितुमानन्दरूपेण स्वसमान् जीवान् सृजति प्रपञ्चसर्गवन्मोक्षसर्गोऽपीति पूर्वावस्था त्वक्षररूपतैव। तत्र प्रपञ्चेऽक्षरनिष्ठतायां ज्ञानमार्गेण पुनरक्षरप्रवेशेन सच्चिदानन्दरूपतासम्पत्तिरिति व्युच्चरणसमये चिदंशत्वेऽपि प्रवेशसमये पूर्ववत् पूर्वावस्थाप्राप्तिः, भक्तिमार्गेण पुरुषोत्तमनिष्ठत्वे पुरुषोत्तमप्रवेशेनाक्षरोत्तमनिरवध्यानन्दानुभवो विषयभोगप्रकारेण, तथा च येषां स्वानन्ददित्सा यदर्थं लीलाकृतिस्तान् मोक्षसर्गयोग्यान् कर्तुं दैवोत्तमान् जीवान् प्रपञ्चोऽधिकारिशरीरनिष्पत्तये सृष्टान् करोतीति मुख्यो मोक्षसर्ग एवेति सर्गस्कन्धे तन्निरूपणेऽपि न स्कन्धार्थाव्याप्तिरितिभावः। वस्तुतस्तु प्रपञ्चसर्गः सर्वत्वेन व्यवह्रियमाणो मोक्षसर्गहेतुत्वापर्यवसानतः सर्गः। पूर्वं तु **जीवस्य** यत् स्वरूपमक्षरात्मकं तददर्शनहेतुत्**वात् प्रलय** एवेति **न मुख्य**सर्गत्वमिति मोक्षसर्गस्य साधनलभ्यत्वश्रवणान्न भगवल्लीलात्वमित्याशङ्क्य तस्वे उपपत्तिमाहुः **गृहस्थस्यैवे**ति। "त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशु"रिति "सन्न्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वा" इति श्रुतेश्च सन्न्यासाभावात् न गृहस्थस्य मुक्तिर्वेदमार्गेण, "गृहस्थ एतां पदवी"मित्यादिना सप्तमस्कन्धे पञ्चदशाध्याये भक्तिमार्गप्रकारेण **मुक्ति**कथनात् **सन्दिग्धे**त्युक्तम्। **दम्पत्यो**रेति। कर्दमदेवहूत्योरित्यर्थः। एतेन प्रमाणबलविचारेण मुक्त्ययोग्यत्वेऽपि तदर्थं स्वयमेव कपिलरूपेणाविर्भूय मोक्षं दत्तवानित्येतस्य मोक्षस्य भगवल्लीलात्वमिति बोधितम्। ननु निःसाधनस्य मोक्षोक्तौ वेदविरोध इत्याशङ्क्याहु**स्तत्र गृहस्थस्ये**ति। गृहस्थस्य मोक्षसाधनरहितस्य **मुक्ता**वन्येषां भगवद्वाक्यरूपवेद इव भगवदाविर्भावसाम-

---

१ भो° इतिपाठः आदर्शद्वय उपलभ्यते।

शुक्तौ भगवत्सन्तोषः प्रयोजकः । तस्यापि[1] भक्तिः, ज्ञानं, योगाश्चाऽऽज्ञाकरणं च । तस्मादेतत्सर्वं सर्गमध्य इति स्वोपयुक्तार्थेत्युक्तम् ॥ २ ॥

प्रसिद्धिविरोधमाशङ्क्याह–

लोके सर्गविसर्गौ हि यादृशौ नेह तौ मतौ ॥
किन्तु तौ सार्थकौ वाच्यौ तेन स्कन्धद्वयं ततम् ॥ ३ ॥

लोके सर्गविसर्गाविति । सार्थकौ पुरुषार्थपर्यवसायिनौ । तेनैकैका लीला स्वतन्त्रेति प्रत्येकमेकैकस्कन्धवाच्यता, तेन स्कन्धद्वयविस्तरः ॥ ३ ॥

तत्रापि मैत्रेयविदुरसम्वादप्रकारेण लीलाकथनमुचितमित्याह–

लीलाद्वयस्य श्रवणात्सिद्धः क्षत्ताऽधिकारतः ।
किं पुनः सकलश्रौतेत्यतस्तस्य कथा ततौ ॥ ४ ॥

लीलाद्वयस्येति ॥ ४ ॥

थिकभक्तस्य भगवत्तोष एव मुक्तिप्रयोजक इति परोक्षापरोक्षव्यवस्थया वेदस्वसन्तोषाभ्यां मुक्तिदानान्न वेदविरोध इति भावः । ननु भगवत्सन्तोषोऽवतारदशायां सर्वेषु कथं न जायत इत्याशङ्क्याहुस्तस्यापीति । प्रभुसन्तोषस्यापि भक्तिः प्रयोजिका "भक्त्यैव तुष्टिमभ्येती"तिवाक्यादित्यर्थः । ननु भक्तिः कथं सेत्स्यतीत्याशङ्क्याहुर्ज्ञानं योग इत्यादि । ज्ञानं भक्तिसाधनं सर्वत्र स्पष्टमेव । योगोऽपि चित्तवृत्तिनिरोधात्मा स्वरूपध्यानसहित इति भक्तिसाधनमेव। आज्ञाकरणं कर्मस्थितिः। सापि चित्तशुद्धिहेतुत्वादङ्गीकृतस्य भक्तिजनकैवेति । एतत् सर्वं स्वमातरमुपदिशतः कपिलस्य वाक्यसमूहेनावगन्तव्यमिति दिक् । सर्गमध्य इति । मोक्षसर्गमध्य इत्यर्थः । प्रपञ्चसर्गमध्ये भक्तिज्ञानादीनामनुपयोग इति भावः ॥ २ ॥

प्रसिद्धीति । लोकप्रसिद्धेर्विरोधमित्यर्थः । लोके मोक्षसर्गत्वेनाप्रसिद्धेरिति भावः । पुरुषार्थपर्यवसायिनाविति । स्कन्धद्वयेनोच्यमानौ सर्गविसर्गौ भगवल्लीलात्वात् पुरुषार्थत्वेन पर्यवसायिनौ पर्यवसानवन्तौ स्वतःपुरुषार्थरूपावित्यर्थः । अत एव मूले सार्थकावित्युक्तम् । अर्थसहितावेव न तु भेदेनार्थसाधकौ । लौकिके तु तावेतद्विलक्षणाविति नात्रनिरूपणीयत्वेन सम्मतौ भगवल्लीलारूपत्वाभावादिति भावः । तेनेति । प्रत्येकं पुरुषार्थपर्यवसायित्वेनेत्यर्थः । स्वतन्त्रेति । अन्यानुपजीवनेन फलसमर्पकत्वादिति भावः । एकैकस्कन्धवाच्यतेति । स्वफलसहितलीलायाः प्रत्येक श्रीभागवतावयवत्वादित्यर्थः । तेनेति । येन हेतुना सर्गविसर्गयोः सजातीयत्वेऽपि नैकेन स्कन्धेन निरूपणं प्रत्येकं फलसाधकत्वात् तेनैव हेतुना लीलाबाहुल्यबाधायैतयोः स्कन्धयोर्विस्तर इत्यर्थः॥ ३॥

लीलाकथनमिति । शुकस्य तद्वाक्येन कथनमुचितं सूतस्येव स्वतस्तयोरुत्तमत्वात्, स्वापेक्षया लीलायुग्मश्रवणेनैव कृतार्थत्वादिति भावः ॥ ४ ॥

---

१ "भक्तिज्ञानं इतिपाठः । २ तथा ।

सर्गलक्षणमाह—

तत्र सर्गो रजोभाजो लीला कारणजन्मदा ।
देवस्य तु द्विरूपत्वात्कारणानां त्रिरूपतः ।
पञ्चधा सा स्वतो द्वेधा बन्धमोक्षविभागतः ॥ ५ ॥

तत्रेति । "भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः । ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्" इति मूले लक्षणम् । तत्र गुणवैषम्यं रजसैव, तस्यैव सृष्टिकारणत्वात् । ब्रह्मण इति सन्देहाभावाय । भगवत इति भूतमात्रेन्द्रियधियो देहरूपाः, कार्या अपि भवन्तीति कारणजन्मदा लीलेत्युक्तम् । एवं व्याख्यानस्यार्थान्तरमभिप्रेतम् । रजोभाजोऽपि लीलासृष्टिर्मुख्यब्रह्मणोऽपि लीला । कालत्वेन कालस्यापि सृष्टिर्लीला ।

सर्गलक्षणमिति । तत्र सर्गो रजोभाजो लीला कारणजन्मदेत्यर्थः । अस्यार्थः, भगवतस्तत्र प्रपञ्चे स्वात्मनि वा बन्धमोक्षाभ्यां वा लीला सर्गस्तत्रापि रजोभाजो रजोगुणस्वीकर्तुर्विहारार्थत्वात सृष्टेस्तत्र तदुपयोगित्वेन रजोगुणस्वीकारस्यावश्यकत्वात् सृष्टिश्च नानाविधा विधेया, तत्र लोक इव चित्तविक्षेपैः साधनम्, स च रजोगुणकार्यं इत्यतस्तत्स्वीकार आवश्यकस्तत्रापि कारणजन्मदा लीला न तु भूतादिमात्रोत्पत्तिदा, कारणानि तु कालजीवतत्त्वानि वर्तन्त इति तेषामपि सृष्टौ सङ्ग्रहः ॥ ४ ॥

नन्वेतल्लक्षणं मूलोक्तलक्षणाद् विलक्षणमिति तेन विरोध इत्याशङ्क्याहुस्तत्र गुणवैषम्यमिति । गुणानां सत्त्वादीनां समभावेन वर्तमानानां वैषम्यसम्पादकः क्षोभकतया रजोगुण इति मूलस्थगुणवैषम्यपदेन विवृतौ तद्धेतुभूतो रजोगुण एव गृहीत इति न विरोध इत्यर्थः । रजसैवेति । सत्त्वतमसोः स्वतः स्थिरत्वादिति भावः । तस्यैवेति । सृष्टिर्हि मनसा, तच्च विक्षिप्तमेव तत्साधकम् । स च रजोगुणकार्य एवेति गुणत्रये स एव तथेत्यर्थः । ननु रजोगुणस्यैव सृष्टिकारणत्वेन प्रसिद्धत्वाद् ब्रह्मणि संशयः स्यात साङ्ख्यमत एवेत्याशङ्क्याहुर्मूले ब्रह्मण इति । शुद्धब्रह्मशब्दस्यैव जगत्कारणत्वेनोक्तत्वादित्यर्थः । नन्वेवं मूलोक्तप्रकारेण ब्रह्मणो रजोगुणस्य च कारणत्वमायाति न मुख्यतया ब्रह्मणः, तथा सति जगतो नैककारणत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याहुः सन्देहाभावायेति । कारणद्वयमेकस्य न सम्भवतीति तच्छ्रवणे सन्देहः स्यात् कस्य कारणतेति तदभावाय 'रजोभाज' इत्यनेन गुणवान् भगवानेव कारणत्वेनोक्त इति । तदेवात्र सिद्धमनूदितं भगवत इत्यनेनेत्यर्थः । ननु भूतमात्रेन्द्रियधियामिति यथाश्रुतमपहाय सामान्यभाषया कारणजन्मदेति कथने किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याहुः कार्या अपीति । भूतमात्रेन्द्रियधियामिति विशिष्यकथने ता अस्मदादिसङ्घातेषु प्रतीयमानाः कार्या अपि भवन्तीति विसर्गमध्यस्थानामत्र निरूपणात् 'सर्गः कारणसम्भूति'रिति वाक्यं विरुद्धयेतेत्यर्थः । तथा च लक्षणमतिव्यापकं भवेदिति भावः । एवं व्याख्यानस्येति । मूलोक्तलक्षणवाक्ये

लुप्तं आदर्शद्वयेपि ।

जीवोऽपि कारणमिति तस्यापि स्वरूपस्थितिः सृष्टिप्रयोजनत्वेन सर्गमध्यपातिनी भवति । अगुणवैषम्याद्ब्रह्मणोऽपि जन्मेति व्याख्यानार्थं कारणानां जीवानां जन्म द्यति खण्डयतीति व्याख्यानम् । अतः प्रकरणानि विभजते देवस्य तु द्विरूपत्वादिति । गुणातीतसगुणभेदेन कारणानां तत्त्वजीवानां त्रयो भेदास्तेन पञ्चधा पञ्च प्रकरणानि भवन्ति । एकप्राधान्येऽन्यस्य विभूतित्वमिति स्थितिः । यथा तत्त्वसृष्टिर्गुणातीतविभूतिः,

---

गुणवैषम्यपदेन गुणानां त्रयाणां वैषम्यं येन रजोगुणेनेति रजोगुणस्तेन तद्वान् लक्ष्यते तथा 'भूतमात्रेन्द्रियधिया'मित्यनेन कारणसामान्यमुच्यत इत्येवं व्याख्यानस्येत्यर्थः । अर्थान्तरमिति । पूर्वोदितब्रह्मकारणत्वसंशयसर्गलक्षणाव्याप्तिपरिहाररूपस्यार्थस्योक्तत्वादिति भावः । तमेवार्थं विशदयन्ति रजोभाजइति । हिरण्यगर्भरूपेण जातस्येत्यर्थः । मुख्येति । चतुर्मुखोत्पत्तिकारणभूतस्येत्यर्थः । कारणत्वेन सङ्गृहीतानामुत्पत्तिमाहुः कालत्वेनेति । कालो हि नित्योऽखण्डदण्डायमानो व्यापकस्तस्य स्वरूपत उत्पत्तिरनुपपन्नेति कलनात्मकधर्मेणैव तस्यापि सृष्टिः । एतेन लीलार्थं सर्गं कुर्वता भगवता स्वेच्छारूपे क्रियारूपे वा काले कालत्वमुत्पादितमिति बोधितम् । कालस्य कारणत्वं प्रलयकाले सृष्ट्यभावाद्बोध्यम् । जीवोऽपीति । जीवस्य मोक्षार्थं मुख्यतया सृज्यत्वात् तस्य बन्धमोक्षसर्गयोः कारणत्वमित्यर्थः । तस्यापीति । कालवत् जीवत्वेन धर्मेणेत्यर्थः । किं जीवत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः स्वरूपस्थितिरिति । अक्षरांशत्वेन पूर्वं तदभिन्नस्य स्वरूपेण स्वस्य रूपेण स्थितिरेव जीवत्वम् । तेन धर्मेण तस्यापि सृष्टिरित्यर्थः । ननु स्वरूपस्थितेः कथं सर्गत्वं पूर्वमभेदेऽपि जीवरूपेणैव तत्र सत्त्वादित्याशङ्क्याहुः सृष्टिप्रयोजनत्वेनेति । स्वरूपस्थितेः प्रयोजनं सृष्टिरेव सृष्ट्यर्थमेव स्वस्मात् पृथक्करणादतः सा सर्गमध्यपातिनीति । तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यत इति न्यायेन स्वरूपस्थितिरपि सृष्टिरेवेत्यर्थः । नन्वत्र सर्गे भगवदवतारावुक्तौ तयोर्मोक्षप्राप्यत्वेन जीवादिवत् कारणत्वाभावात् कथं सर्गे प्रवेश उचित इत्याशङ्क्याहुरगुणवैषम्यादिति । मूलेऽकारप्रश्लेषेणागुणवैषम्यपदेन रजोगुणभिन्नकेवलसर्वोद्धारार्थं भगवदिच्छामात्रेण ब्रह्मणः श्रुतिसिद्धपराकाष्ठापन्नस्य जन्म प्राकट्यमित्येवम्प्रकारेण व्याख्यानार्थं व्याख्यानसिद्ध्यर्थं टीकायामपि 'कारणजन्मद' इत्यत्र कारणानां सृष्टिमुख्यकारणभूतानां जीवानां जन्म पूर्वजन्म द्यति खण्डयति एतादृशी सर्वोद्धारार्था स्वावतारप्रकृतिरूपापि लीलापि सर्ग इति सिद्ध्यत्वित्येवमत्रास्माभिर्व्याख्यातमित्यर्थः । अत इति । यतः कारणसामान्यजन्मैव सर्ग इति सिद्धमतस्तानि पुनर्बन्धमोक्षार्थभेदेन दशविधानीति तथा प्रकरणान्यपि विभज्यन्तइत्यर्थः । देवस्य त्विति । तुशब्देनान्येषां सगुणत्वेनैकरूपत्वमेवेत्यर्थः । तेनेति । भेदपञ्चकेन सृष्टिः पञ्चधेत्यर्थः । पञ्चप्रकरणानीति । सर्गस्कन्धे सृष्टेः पञ्चविधत्वात् तथा प्रकरणानि भवन्तीत्यर्थः । नन्वत्र पञ्चविधसर्गलीलैव नोच्यते मध्ये मध्येऽन्येषामपि सर्गाणां कथनात् यथा गुणातीतसृष्टिमध्ये तत्त्वसृष्टिरेवमग्रेऽपीत्याशङ्क्याहुरेकप्राधान्येऽन्यस्य विभूतित्वमिति । अत्र हि भगवतः पुरुषोत्तमस्य लीला सर्ग उच्यते न तु परम्परासर्गो यः कश्चित्, स च भगवत्स्वरूप एव वाच्यो लीलात्वात् सूर्यकिरणवत् । न हि सूर्यकिरणा असूर्यात्मका भवितुमर्हन्ति ।

यथा सगुणसृष्टिर्विसर्गरूपा ब्रह्मप्रभृतीनामुत्पत्तिः, यथा वा दशविधा लीला कालस्य सृष्टिः, यथा तत्त्वानां लीला गुणसृष्टिः साङ्ख्यप्रकरणोक्ता, यथा जीवसृष्टिर्मतान्तर-भाषया, एवं पञ्चविधापि लीला सर्गरूपा बन्धमोक्षविभेदेन द्विरूपा, सगुणस्य मोक्ष-

---

अत एवैतल्लीलाश्रवणे भगवच्छ्रवणसिद्धिरेवं सति 'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय' इति वाक्याद् विभूतिरूपधारणमेव पुरुषोत्तमलक्षणमिति तल्लीलायामपि सूक्ष्मरूपायां स्वविस्ताररूपविभूतिधारणं वक्तव्यमिति यत्र लीलायां सूक्ष्मभावेन निरूपितायामग्रे तदनुगत एव विस्तारस्तत्र तद्विभूतिरूप-मिति सविभूतिकलीलानिरूपणमित्यर्थः। विस्तरस्यैव विभूतित्वं 'विभूतेर्विस्तरो मया' 'नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे' इति गीतावाक्यैरेव विधीयते **यथे**ति पञ्चमाध्याये 'भगवानेक आसेदमग्र' इत्या-दिनाऽध्यायसमाप्तिपर्यन्ता **गुणातीतात्** पुरुषोत्तमात् साक्षात्सृष्टिरुक्ता, तस्याः षष्ठाध्याये ब्रह्माण्डो-त्पत्तिपूर्वकं तदन्तर्गततत्त्वसृष्टिर्विभूतेर्विस्तर इत्यर्थः। पञ्चमषष्ठाध्यायाभ्यामिदं प्रकरणं समाप्तमिति भावः। **यथा सगुणसृष्टिरि**ति। सप्तमाध्याये ३–७–३० "सृष्ट्वाग्रे महादादीनी"त्यारभ्याष्ट-माध्यायान्ते ३–८–३२ 'तर्ह्येव तन्नाभिसर' इति वाक्याद्धिरण्यगर्भोत्पत्तिपर्यन्तं या **सगुणात्** स्वीकृतरजोगुणाद् भगवतो **विसर्गरूपा** "तेभ्यो विराजमुद्धृत्ये"ति वाक्यम्। एतस्याः सृष्टेर्विभू-तिमाहुर्**ब्रह्मप्रभृतीनामुत्पत्ति**रिति। अर्थात् सा सृष्टिरियं विभूतिरित्यर्थः। नवमाध्याये ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य स्तुतिमभिधाय दशमाध्याये सम्पूर्णेनाध्यायेन ब्रह्माणमारभ्य देवासुरसर्गपर्यन्तमेषामुत्प-त्तिविसर्गरूपसगुणसृष्टिमित्यर्थः। यथा वेत्येकादशाध्याये ३–११–१ "चरमः सद्विशेषाणा-"मित्यारभ्य "इति ते वर्णितः क्षत्तरि"त्यन्तं कालसृष्टिस्तस्या अग्रे द्वादशाध्याये "वेदगर्भोऽथ यथास्राक्षीदि"ति वाक्यात् कालाधीनस्य हिरण्यगर्भस्य **दशविधा लीला** तामिस्रादिसनकादिरुद्र-मरीच्यादिवाग्ग्रीहारवेदधर्मच्छन्दोमन्वाद्युत्पादनरूपा विनैव तपः स्वेच्छया मनआदिभ्यउत्पादनाल्लीला कालसृष्टेर्विभूतिरित्यर्थः। **यथा तत्त्वानामि**ति। साङ्ख्यप्रकरणोक्तानां **लीला** तत्त्वैर्नानाविधपदार्थ-सर्जनरूपा साङ्ख्यप्रकरणोक्तायाः पूर्वोक्तगुणसृष्टेर्भिन्नाया विभूतिरित्यर्थः। **साङ्ख्यप्रकरणोक्ते**ति। विसर्गरूपगुणसृष्टिभेदार्थमुक्तमित्यर्थः। **जीवसृष्टिरि**ति। जीवसृष्टिस्तु सनकाद्युत्पत्तावेवोक्ता काल-सृष्टिविभूतिनिरूपणे। अथवा त्रयोदशाध्याये तत्कारणभूतयज्ञवराहोत्पत्त्यर्षिस्तुतिनिरूपणेनैवोक्ता पुनः षडध्याय्यां **मन्तातरभाषया** निरूपणं तद्विभूतिरूपमित्यर्थः। **बन्धमोक्षभेदेन**। पञ्चस्वपि प्रकरणेषु बन्धनमोक्षभेदेन सृष्टिप्रतिपादनादित्यर्थः। तत्र सर्वत्र बन्धः सर्गः स्पष्ट एव। मोक्षसर्गनि-रूपणार्थं तत्साधनसाधकत्वं मोक्षसाधकत्वं च निरूपयन्ति **सगुणस्ये**ति। विसर्गरूपस्य **सगुणस्य** सर्गस्य भगवतो **मोक्षलीलया** स्वात्मनि सर्जनरूपाया **योगः** सम्बन्धः भगवता मोक्षार्थं स्वेनोत्पादितानामेव मोक्षलीलासम्बन्धात्, अतो मोक्षलीलायोगो मोक्षे प्रथमसाधनत्वान्मोक्षरूप इत्यर्थः। **गुणातीतस्ये**ति। गुणातीतसर्गस्य षष्ठाध्यायान्ते 'यतो प्राप्य निवर्तन्ते वाचश्चे'[1]तिवा-

---

1 तिर्वि॰ इति आदर्शद्वयेऽस्ति।

लीलायोगः, गुणातीतस्य ज्ञानं, कालस्य भक्तिः, तत्त्वानां मोक्षः, जीवस्य वैराग्यमिति। तस्मादर्थभेदेन दशप्रकरणानि भवन्ति। तदाह बन्धमोक्षविभागत इति ॥ ५ ॥

तान् भेदान् स्पष्टयति–

गुणातीतात्सृष्टिरेका सगुणाद् ब्रह्मणाऽपरा ॥ ६ ॥
कालो जीवस्तथा नाम तत्राऽपीशेच्छया भवः

गुणातीतादिति। तत्त्वानां वक्तव्यत्वेऽपि नामसृष्टेः परिग्रहार्थं नामेत्युक्तम्। तेषां पूर्ववत्स्वातन्त्र्यं वारयति तत्रापीशेच्छया भव इति न केवलं कालादेः॥६½॥

ननु सर्गे भूम्युद्धारस्य कुत्रोपयोगस्तदाह–

सर्वाधारस्वरूपा या तदर्थं भुव उद्धृतिः ॥ ७ ॥

सर्वाधारस्वरूपा या इति। भूम्युद्धारः सर्वसृष्ट्युपयोगी सर्वेषामाधारभूतः साधारणः। तेन बन्धलीलान्ते निरूपितः। जीवप्रकरणं व्यर्थमित्याशङ्क्याह मुक्तोऽपि

क्येन **ज्ञानं** फलत्वेन निरूप्यत इति तस्यापि मोक्षसाधनत्वान्मोक्षरूपत्वमित्यर्थः। **कालस्य भक्तिरिति**। कालसृष्टावप्येकादशाध्यायान्ते 'नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न' इत्यादिवाक्यैः, 'तदाहुरक्षरं ब्रह्मे'तिवाक्यप्रतिपादिताक्षरस्य भगवद्धाम्नो माहात्म्यप्रतिपादान्माहात्म्यज्ञानमप्यंशतो भक्तिः, सैव फलत्वेन निरूप्यत इति तस्या अपि, मोक्षसाधनत्वात् तद्रूपत्वमित्यर्थः। **तत्त्वानामिति**। साङ्ख्यप्रकरणोक्तानां तत्त्वानां त्वन्ते **मोक्ष** एव प्रतिपाद्यत इति स्पष्टमेव मोक्षरूपत्वमित्यर्थः। **जीवस्य वैराग्यमिति**। जीवप्रकरणं षड्भिरध्यायैर्मतान्तरभाषया प्रतिपाद्यते, तत्र शापानन्तरं राजसानामुभयविधानां सनकादिजयविजयप्रभृतीनां पश्चात्तापेन वैराग्यमेव सिद्धमिति तस्यापि मोक्षसाधनत्वान्मोक्षरूपत्वमित्यर्थः। **तस्मादिति**। यस्मात पञ्चस्वपि सर्गेषु मोक्षलीलायोगज्ञानभक्तिमोक्षवैराग्यरूपाणामर्थानां मोक्षरूपाणां प्रतिपादनात् पञ्चापि प्रकरणान्यर्थभेदेन दश भवन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

तानिति। दशभेदान् मूले स्पष्टयतीत्यर्थः। **नामसृष्टेरिति**। अत्र हि भवत्रलीलारूपः सर्गः स च उभयविधोऽपीति नामसर्गोऽपि प्रतिपादनीयस्तत्र नाम्नां शब्दात्मकत्वेन तन्मात्रारूपत्वात् तत्त्वेषु प्रवेशयोग्यत्वेन तत्सृष्टयैव **तत्परिग्रह** इति तत्त्वानां स्पष्टत्वेन प्रतीयमानत्वादस्पष्टानां नाम्नामेव निरूपणार्थं **नामेत्युक्त**मित्यर्थः। **तेषामिति**। गुणातीतसगुणसृष्टिसमुत्पादिततत्त्वानामित्यर्थः। **पूर्ववदिति**। पूर्ववत् तत्कारणभूतब्रह्मस्वरूपवदित्यर्थः। अवतारादिषु स्वस्यैवेशत्वेन पारतन्त्र्याभावादिति भावः। **न केवलमिति**। **कालादे**रेव न किन्तु गुणातीतसगुणसृष्टिस्थानामपीत्यर्थः ॥ ६½ ॥

ननु सर्ग इति। द्वादशाध्यायैः प्रतिपादिते बन्धसर्ग इत्यर्थः। भूम्युद्धारस्य मोक्षसर्गोपयोगित्वाभावादिति भावः। **सर्वसृष्टीति**। भूम्यैव देहादिनिर्माणात् सर्वसृष्ट्युपयोगित्वं भूमाववस्थापनात् **सर्वाधार**त्वमित्यर्थः। **तेनेति**। बन्धलीलोपयोगित्वेनेत्यर्थः। **जीवप्रकरणमिति**। बन्धलीलाभाग इत्यर्थः। मोक्षोपयोगिजीवसृष्टेर्मोक्षप्रकरण एव कथनीयत्वादिति भावः। **मुक्तोपीति**। तत्र प्रकरणे मुक्तानामपि

मुक्तोऽपि जायते जीव इति शापकथा तता ॥ ७½ ॥

जायत इति । मुक्तिर्गौणीति केचित् । वस्तुतस्तु सनकादयो मुक्ता एव पूर्वसिद्धज्ञाना एवोत्पन्ना अग्रे ज्ञानोपदेशाभावात् । तथा वैकुण्ठवासिनामपि भक्तानां मुक्तानामीश्वरेच्छया सम्भवः । अतः शापकथा । एकः कर्ता अपरो विषय इति ॥ ७½ ॥

उपपत्तिरनेनोक्ता फलार्थं प्रक्रियान्तरम् ॥ ८ ॥

मतान्तरेण हि फलं राजसत्वान्निरूप्यते ।

एवं जीवोत्पत्तावुपपत्तिरेवोक्ता, न त्वयं प्रकारो भागवताभिमतस्तेषां जीवानां मोक्षार्थं प्रक्रियान्तरं साङ्ख्यप्रकरणम् । मतान्तरेण फलनिरूपणे हेतुमाह राजसत्वादिति ॥ ८½ ॥

बन्धनिरूपणाद् बन्धप्रकरण एव तन्निरूपणमिति भावः । **मुक्तिर्गौणीति** । **केचित्** मुक्तिं सनकादीनां जयविजययोश्च सगुणां वदन्ति परममुक्तानां पुनर्जन्मकथने श्रुतिविरोधः स्यादिति भावः । **वस्तुतस्त्विति** । **सनकादयः** परममुक्ता एवान्यथा नारदादीनामिवैषामपि ज्ञानोपदेशः स्यात् । शुकवज्जन्मान्तरोत्पन्नज्ञानत्वभावाच्च **सिद्धज्ञाना**मेवोत्पत्त्या तद्धर्मसम्बन्धाभावात् **मुक्ता** एवेत्यर्थः । एतेन ज्ञानमार्गीया मुक्तिरेतेषूक्ता प्रह्लादावतारेण भक्तिं दत्त्वा तन्मार्गीयां मुक्तिं दातुं पुनर्जन्मकरणमिति भावः । **तथा वैकुण्ठेति** । सनकादिवज्ज्ञानाभावेऽपि जयविजययोः सेवार्थं भगवल्लोकस्थित्या 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशा'दिति न्यायेन मुक्तत्वमेवेत्यर्थः । एतयोरपि राजसयोः सगुणत्वे जाते गुणातीतमुक्तिदानाय पुनर्जन्मेति बोध्यम् । ननु मुक्तानां जन्मकथने 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुतिविरोध इत्याशङ्क्याहुः **ईशेच्छयेति** । 'यः सर्वज्ञ स सर्वशक्ति'रित्यादिश्रुत्या भगवतः सर्वसमर्थत्वेन प्रतिपादनादन्यथाकर्तुं सामर्थ्यमपि श्रुतिप्रतिपादितमिति मर्यादयाऽनावृत्तिरेव प्रमेयबलेन पुष्ट्या मुक्तानां विशेषानुग्रहेण सेवार्थमावृत्तिरिति न विरोध इत्यर्थः । **अत इति** । यत उत्पादने भगवदिच्छात एव शापसम्बन्धिनी ज्ञानिनां भक्तयोश्च कथेत्यर्थः । अन्यथा मुक्तानां शापदातृत्वं रजोगुणसम्बन्धादनयोश्च तथाभूतयोर्वैकुण्ठद्वाःस्थयोस्तद्विषयत्वं न स्यादिति भावः । उभयेषां शापाभावेन कथं कथायास्तत्सम्बन्धित्वमित्याशङ्क्य सम्बन्धं विवेचयन्ति **एक** इत्यादिना ॥ ७½ ॥

एवं जीवोत्पत्ताविति । एवमनेन प्रकारेण रजोगुणमाविर्भाव्य ज्ञानं भक्तिं च सगुणां विधाय लीलार्थं स्वयमवतरन् विशेषानुग्रहाय मुक्तानपि जीवानुत्पादयतीति तथा भगवदिच्छारूपोपपत्तिरेव तदुत्पत्तावुक्तेति जीवप्रकरणमुपपत्तिप्रकरणमित्यर्थः । **न त्वयमिति** । कथं मुक्तानामुत्पत्तिरित्यत्र युक्तिरेवेच्छारूपा मतान्तरभाषयोक्ता **न तु श्रीभागवतस्य** समाधिभाषारूपस्या**भिमतोऽयं प्रकारो** मुक्तोत्पत्तौ किन्तु स्वावतारवल्लीलार्थं तदुपयुक्तानां **मुक्तानां** लक्ष्म्यादीनां भगवदिच्छया भगवता सह जन्म न तु शापादिनेत्यर्थः । एतेन प्रकरणस्यास्य ज्ञानिभिर्भक्तानां शापनिरूपणेन भक्तेरनुत्कर्षप्रतिपादनवत् न समाधिभाषात्वमिति ज्ञेयम् । **तेषामिति** । ज्ञानित्वेनाक्षरात्मकवैकुण्ठबहिर्द्वारवर्तित्वेन साक्षात्पुरुषोत्तमसेवाभावात् सगुणत्वाच्च मतान्तरीयाणां **जीवाना**मित्यर्थः । **प्रक्रियान्तरमिति** । प्रकारान्तरमित्यर्थः । कः प्रकार इत्याकाङ्क्षायामाहुः **साङ्ख्यप्रकरणमिति** । मारणादिना सङ्घातात

तथा सति फलवैषम्यमाशङ्क्याह—

फले हि नास्ति वैषम्यमितीशस्योद्भवाभिधा ॥ ९ ॥
उपपत्तौ फले चैव तेनावतरणद्वयम् ।
क्रियाज्ञानविभेदेन कर्माधीनाऽन्यथा भवेत् ॥ १० ॥

फले हि नास्तीति । यत ईश एवोद्भूय तत्रापि फलं प्रयच्छति । अतोऽस्यां लीलायामवतारद्वयम्, क्रियावतारो वराहो, ज्ञानावतारः कपिल इति । ननु सृष्टौ किमर्थमवतारस्तत्राह कर्माधीनाऽन्यथाभवेदिति ॥ १० ॥

नन्वपूर्वं निरूप्यते यन्मुक्तानां पुनरुत्पत्तिरिति तत्राह—

मुक्तोऽपि यदि नोत्पत्तिरुत्पन्ने मुक्तिरेव वा ।
तदा कृष्णेच्छया सृष्टिरित्यर्थो हि विरुध्यते ॥ ११ ॥

मुक्तेऽपीति । तदा ईश्वरत्वं व्याहतं भवेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

सृष्टिः सफलेति स्पष्टयति—

स्त्रीपुंसमुक्तिकथनात्तदर्थं सृष्टिकृद्धरिः ।

पृथक्करणेनैवैतेषां स्वप्रापणं न तु लीलास्थभक्तानामिव सशरीराणामेव स्वपदप्रापणमिति भावः । ननु तेष्वपि प्रभासीयकथया तथात्वं प्रतीयत इति चेत्, न; तस्या व्यामोहलीलात्वेन तदर्थमेव तथा प्रदर्शनात् । अत एव 'नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमय'मिति प्रभुवाक्यम् । अन्यथा 'व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेव'मिति वाक्यं विरुद्धयेतेति भावः । नन्वेतेषामपि सर्गलीलामध्यपातित्वात् कथं लीलास्थप्रकारेण फलप्रापणमुचितम् । ननु शरीरपार्थक्यकरणरूपसाङ्ख्यप्रकारेणेत्याशङ्क्य राजसत्वेन सगुणत्वात् तादृशशरीरवत्त्वेन तथा फलसम्बन्धायोग्यत्वादन्तर्गृहगोपिकावच्छरीरनिवर्तनप्रकारेण फलप्रापणमित्यर्थः ॥ ८½ ॥

फले वैषम्यमिति । भगवत्प्राप्तिरूपे फले सगुणदेहत्वेन जघन्याधिकारित्वाद् वैषम्याशङ्केति भावः । **यत ईश एवेति** । आविर्भूय फलदाने इच्छैव प्रयोजिका न त्वधिकार इत्यर्थः । **तत्रापीति** सगुणदेहवत्स्वपीत्यर्थः । **अत इति** । यतोऽवतारं विना क्रोधवतां दैत्यानां स्त्रीशरीरस्य देवहूतिजीवस्य च सगुणदेहत्वात् न मुख्यमुक्तिसम्भवोऽतोऽत्र क्रियाज्ञानाभ्यामवतारद्वयं वराहकपिलरूपमित्यर्थः । **क्रियावतार इति** । यज्ञात्मकत्वादिति भावः । **ज्ञानावतार इति** । कर्दमज्ञानस्यैव देवहूतिकृपया तद्रूपेण प्रकटत्वादिति भावः । **ननु सृष्टाविति** । बन्धमोक्षभेदेनोभयविधसृष्टावित्यर्थः । **किमर्थमिति** । अनवतीर्यार्प्युभयविधकृतेर्भगवति सम्भवादित्यर्थः । **कर्माधीनेति** । यदि भगवान् नाविर्भवेत् तदा प्रमेयबलेन फलदानाभावादितरसृष्टिवदियमपि **कर्माधीना फले भवेत्**, तथा च सगुणदेहानां विपरीतसाधनवतां न मुख्यफलं सेत्स्यतीति भावः ॥ १० ॥

अपूर्वमिति । श्रुतावश्रुतत्वादिति भावः । **ईश्वरत्वमिति** । उच्चतया स्थितानां स्वेच्छया हीनभावकरणे तथा स्थितानामुच्चतासम्पादन एवेश्वरत्वमन्यथा तद् **व्याहतं भवेदित्यर्थः** ॥ ११ ॥

सृष्टिः सफलेति । इयं मोक्षसृष्टिः फलरूपाप्युभयोर्दम्पत्योर्भोगं कुर्वतोरेव मोक्षसिद्धेर्भोगरूप-

ऐहिकामुष्मिकफलं मोक्षं प्रीतः प्रयच्छति ॥ १२ ॥
तस्मात्सृष्ट्यवतीर्णस्तु भजेत हरिमादरात् ।

स्त्रीपुंसेति । किमत्र स्कन्धार्थे फलितमित्याशङ्क्याह ऐहिकामुष्मिकफलमिति ॥ ११½ ॥

ननु साङ्ख्यप्रकरणे तदनुसारिणी सृष्टिः कथं नोक्ता, तत्राह–

साङ्ख्येन मुक्तिकथनात्सृष्टिः समान्यतोदिता ॥ १३ ॥
तामसी राजसी चैव सात्त्विकीति क्रमात्त्रिधा ।
गुणसृष्टेस्तन्मतत्वाद्गौणत्वान्न विरुध्यते ॥ १४ ॥

साङ्ख्येनेति । सामान्यतो मता या काचिद्वक्तव्येत्युक्ता । उदितेति सन्धिरार्षख्यापकः । अत एव गौणी तदविरोधार्थं निरूपिता ॥ १४ ॥

ननु कर्दमस्य मुक्तौ साधनं नोक्तमिति चेत्तत्राह–

ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वान्मुक्तिर्भोगादिसंयुता ।
उपदेशेन च परा चतुर्भिर्नवभिः क्रमात् ॥ १५ ॥

ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वादिति । उपदेशेन स्त्रीमुक्तिः ॥ १५ ॥

फलसहितेत्यर्थः । किमत्रेति । मोक्षस्य भोगसाहित्यनिरूपणेन स्कन्धार्थे सर्गलीलारूपे किं फलितं फलतः किं निरूपितं जातमित्यर्थः । ऐहिकेति । यो मोक्ष ऐहिकामुष्मिकफलरूपो भोगप्रकारेण परमानन्दानुभवरूपस्तं भगवानेव स्वयं प्रीतः प्रयच्छतीति तदभीप्सुभिर्भगवान् भजनीय इति सर्गे पर्यवसानतो भक्तिरेव फलितेत्यर्थः ॥ १२½ ॥

तदनुसारिणीति । तत्त्वमात्रसृष्टिः साङ्ख्योक्तैवात्र तत्प्रकरणे वाच्येति कथं पद्मकल्पप्रकारेण सृष्टिनिरूपणमित्यर्थः । सामान्यत इति । साङ्ख्यप्रकरणेन मोक्षसर्ग एव निरूप्यते स बन्धसर्गोऽतस्तत्र तथा तात्पर्याभावाद् या काचिद् वक्तव्येति पद्मकल्पप्रकारिकैवोक्तेत्यर्थः । सन्धिरार्षख्यापक इति । सामान्योदितपदयोर्लोकादसिद्धः सन्धिरयं सर्गः आर्ष इति ख्यापकः आर्षं ऋषेर्भावः कर्म वा तस्य ख्यापक इत्यर्थः । एतेन पद्मोत्थितेन 'ऋषिमाद्यं न बध्नाती'ति वाक्याद्दषिणा ब्रह्मणा कृता सृष्टिरत्रोक्ता न साक्षाद् भगवत्कृता सोक्तेत्यर्थः । ननु मुख्यसृष्टिमपहाय गौणसृष्टिकथने किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याहुरत एवेति । यतः प्रकरणमिदं साङ्ख्यस्य तच्च गौणं तन्मतस्य गुणसृष्टिनिरूपकत्वात् तेन सहाविरोधार्थमत्र मुख्यसृष्टिमपहाय गौणी सृष्टिर्निरूप्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु कर्दमस्येति । बन्धप्रकरणीयजीवप्रकरणे दैत्यानां निःसाधनमुक्तिः प्रतिपादितेति, मोक्षप्रकरणे ससाधना सा प्रतिपादनीयेति देवहूतावुपदेशसाधनसत्त्वात कर्दमस्य कथं तन्नोक्तमित्यर्थः। ज्ञानस्येति । पूर्वमेव कृतयुगे ' तावत् प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे । दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपु'रिति वाक्याद् भगवत्प्रसादेन ज्ञानस्य मोक्षसाधनसाक्षात्कारात्मकज्ञानस्य सिद्धत्वादिदानीं देवहूतिवन्न साधनकथनमित्यर्थः । उपदेशेनेति । साक्षादवतीर्णकपिलोपदेशसामर्थ्येन,

चतुःप्रकरणी स्थौल्ये सौक्ष्म्ये तु दशधा मता ।
अधिकारस्तथा सृष्टिरुपपत्तिः फलं तथा ॥ १६ ॥

तेन क्रमात्प्रकरणचतुष्टयं भवति । दश प्रकरणानि पूर्वं निरूपितानि । स्थूलानि गणयति अधिकार इति ॥ १६ ॥

पञ्चधा सृष्टिरुक्ता हि तृतीया तु द्विधा मता ।
चतुर्थी तु त्रिधा प्रोक्ता दशैते सृष्टिसञ्ज्ञताः ॥ १७ ॥
अधिकारस्ततो भिन्नः स्कन्धद्वययुतः परः ॥ १७½ ॥

पञ्चधा सृष्टिः पूर्वमेवोक्ता । चतुर्णामेव दशधात्वमिति । तत्र सृष्टिः पञ्चविधा, उपपत्तिर्द्विधा । त्रिधा मुक्तिः । एवं त्रयाणां दश भेदाः । अधिकारस्तु ततो भिन्नः, तस्य स्कन्धद्वयोपयोगात्, स्कन्धद्वयमेकं प्रकरणवत्; तेन षष्ट्यध्यायाः सर्गविसर्गयोः । अधिकारे चतुष्टयमिति । भगवतः कला निरूपिता भवन्ति ॥ १७½ ॥

न ज्ञानादिनेत्यर्थः । ज्ञानयोगभक्त्यादिकथनं तु देवहूतेस्तेन मार्गेण मुक्तिः, पुष्टिमार्गप्रकारेण तन्मुक्तेः 'किञ्चिच्चकार वदनं पुत्रविश्लेषकातर'मिति वाक्यात् । अत एव सर्गनिर्णये पूर्वमुक्तं 'राजवत् कुत्रचित् कृष्ण' इति ॥ १५ ॥

प्रकरणचतुष्टयमिति । अधिकारसृष्ट्युत्पत्तिमुक्तिभेदेनेत्यर्थः । स्थूलानि गणयतीति । सौक्ष्म्ये सृष्टिप्रकरणान्येवार्थभेदेन दशविधान्युक्तानीति सङ्ख्यासिद्धेर्न गणना, यतः स्थूलानि चतुर्विधानि गणयतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

पूर्वमेवेति । 'गुणातीतात् सृष्टि'रित्यादिनेत्यर्थः । प्रकरणसङ्ख्याधिक्याभावाय चतुर्णामेवार्थभेदैर्दशविधात्वमाहुश्चतुर्णामेवेति । अधिकारादिचतुर्णामेवार्थभेदैर्दशधात्वमित्यर्थः । नन्वधिकारमिश्रणेन सृष्ट्युपपत्तिमुक्त्याद्यर्थभेदगणन एकादशधात्वमायातीत्याशङ्क्याहुरधिकारस्ततो भिन्न इति । सृष्ट्यादिप्रकरणेभ्यो भिन्नः सर्गविसर्गोभयोपयोगान्न विदुराधिकारस्य सत्त्वे मात्रे प्रवेशो येन तत्प्रकरणसङ्ख्यां वर्धयत्यतो भिन्न एव प्रकरणेभ्यो वाच्य इति भावः । ननु तृतीयस्कन्धोक्तस्याधिकारस्य कथं चतुर्थस्कन्धीयस्वतन्त्रविसर्गलीलाङ्गत्वं स्कन्धभेदादुपपद्यत इत्याशङ्क्याहुः स्कन्धद्वयमेकमिति । प्रकारभेदेन फलभेदेन चोभाभ्यां सृष्टेरेव प्रतिपादनादित्यर्थः । नन्वेवं स्कन्धभेदोऽनुपपन्न एकार्थप्रतिपादकत्वादिति चेत् तत्राहुः प्रकरणवदिति । यथा प्रकरणानामेकस्यैवार्थस्य प्रकारभेदेन प्रतिपादनादेकार्थप्रतिपादनेऽपि भेदस्तथा स्कन्धयोरपीत्यर्थः । तेनेति । अधिकारस्य भिन्नत्वप्रतिपादनेनेत्यर्थः । सर्गविसर्गयोरिति । तावद्भिरेव तदुभयप्रतिपादनादिति भावः । अधिकार इति । उभयविधलीलाश्रवणाधिकारविषये अध्यायचतुष्टयमित्यर्थः । स्कन्धद्वयाध्यायसङ्ख्यासूचितमर्थमाहुर्भगवत इति । तथा च कलाज्ञानेन विदुरस्य तद्द्वारा भगवद्ज्ञानाद्धृदये सर्वदा भगवत्प्रकाशः सर्वसन्देहनिवृत्तिश्च भविष्यतीति बोधितम् ॥ १७½ ॥

एवं प्रकरणार्थं निरूप्य अधिकारेऽध्यायचतुष्टयमिति तत्र प्रथमाध्याये यादृशोऽधिकारः सम्पन्नस्तं प्रतिपादयितुमाह—

प्रतिबन्धो गृहासक्तिः शुद्धिस्तीर्थटनं मता ॥ १८ ॥
बाह्या हरिकथाश्रुत्या तथा चाऽऽभ्यन्तरी मता ।
कृष्णप्रसादयुक्तश्चेदधिकारी परः स्मृतः ॥ १९ ॥

प्रतिबन्ध इति । प्रतिबन्धनिवृत्तिः शुद्धिस्तीर्थाटनमिति । भगवदीयत्वेऽपि त्रयो गुणा अधिकाः तेन पूर्वस्माद्विशिष्टो यं प्रथमः । तस्य भगवत्कथाश्रवणं चेत्ततोऽप्युत्तमो भवति । तत्राऽप्यान्तरश्चेद्भगवद्गुणो भवति तदा तृतीयः । भगवत्कृपायां चतुर्थ इति । भगवदीयत्वेऽपि चतुष्टयं चेत्परमोऽधिकारी भवति । बाह्या शुद्धिर्द्विधा,

---

प्रकरणार्थमिति । दशविधप्रकरणार्थमित्यर्थः । अधिकार इति । अधिकारप्रकरण इत्यर्थः । तत्रेति । तस्मिन् प्रकरण इत्यर्थः । यादृशोऽधिकार इति । अधिकारे प्रकारचतुष्टयं द्विविधबाह्यशुद्धिकं कथाश्रवणभगवत्कृपारूपमस्तीति तन्मध्ये यादृक्प्रकारकः प्रथमाध्याये सम्पन्नः स प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । प्रतिबन्धनिवृत्तिरिति । मूले 'प्रतिबन्ध'पदेन तन्निवृत्तिरुच्यते अधिकारनिरूपणे तन्निरूपणादत एव 'गृहासक्ति'रिति तद्विशेषणं, तस्या मोक्षफलकमार्गे सर्वथा निर्वर्तनीयत्वात् । न हि गृहासक्ता पारमार्थिकफलार्थं यतन्ते प्रत्युतान्यान् वारयन्ति, भगवल्लीलाश्रवणं तु त्यक्तगृहासक्तानामेव सम्भवतीति तथेति भावः । शुद्धिस्तीर्थाटनमिति । गुणाधायिका बाह्या शुद्धिरित्यर्थः । अन्यथा प्रतिबन्धनिवृत्तेरनिष्टनिवृत्तिरूपशुद्धित्वेम तथोक्तिर्न स्यादिति । भगवदीयत्वेऽपीति । यद्यपि विदुरपरीक्षितोर्भगवदर्थसर्वपरित्यागाद् भगवदीयत्वमविशिष्टं तथापि विदुरे तीर्थाटनभगवद्गुणान्तरत्वभगवत्कृपारूपगुणत्रयमस्तीति तेन गुणत्रयाधिक्येन हेतुना श्रवणदशायामेव प्रथमोऽसम्पन्नश्रवणः पूर्वस्मात् परीक्षितो विशिष्ट इत्यर्थः । परीक्षिति तु न तीर्थाटनं नापि श्रवणात् पूर्वमेवोद्धवादवगतगुणस्य विदुरस्येव हृदि गुणस्थितिर्नापि विदुर इव निरुपाधिका कृपा, किन्तु तन्मातृकृपया तद्रक्षार्थं प्रवृत्तस्य जगति भागवतप्राकट्यार्थं च सेति न विदुरसमत्वमिति भावः । तस्येति । भगवदर्थसर्वत्यागकर्तुर्भगवदीयस्येत्यर्थः । ततोऽपीति । अश्रुतभगवच्चरिताद् भगवदीयादित्यर्थः । एतेन विदुरे भगवदीयत्वं भागवतश्रवणात्पूर्वमेव भगवत्कथाश्रवणमस्तीति द्वितीयोऽधिकारीत्यर्थः । तत्रापीति । कथाश्रवणेऽपि, यदि ते गुणा हृदये वसन्ति तदा ततोऽप्युत्तमस्तृतीय इत्यर्थः । 'गुण' इत्येकवचनं तु उद्धवोक्तानां गुणानां सर्वेषां कुशलप्रश्नोत्तरार्थत्वेनैकरूपत्वावगमायेत्यर्थः । भगवत्कृपायामिति । यदग्रे कथनायातिगूढश्रीभागवतार्थो भगवता मैत्रेयस्याग्रे उद्धवाय कथित इति विदुरे परीक्षिदपेक्षयाऽधिका कृपेत्यर्थः । नन्वेवं परीक्षिदर्थे समाधौ व्यासायापि साक्षाच्छ्रीभागवतं भगवता प्रोक्तमिति तस्मिन्नपि तथाविधा सेति विदुरे किमाधिक्यमेतदंश इति चेन्न, मैत्रेयो हि नोद्धवश्रावणीयश्रवणाधिकारा पुष्टिमार्गीयत्वाभावात् । तादृशोऽपि श्रावित इति विदुरकृपयाधिकारानधिकारस्फूर्तिरपि भगवतो गतेति तस्मिन्नेव महती कृपेत्यर्थः । भगवदीयत्वेऽपीति । गृहस्थितिपक्षेण भगवत्सम्बन्धित्वेऽपीत्यर्थः । चतुष्टयमिति ।

दोषनिवृत्तिरूपा गुणाधायिका च। तत्र प्रथमाध्यायार्थः, गृहासक्तिरेव प्रतिबन्धः। अतस्तन्निवृत्तिर्वक्तव्येति शेषः ॥ १९ ॥

ननु क्षत्रियाद् भगवदीयाच्छूद्रः कथमधिकारी ततोऽप्युत्तमो वा कथं तत्राह—

शतं वर्षाणि शूद्रत्वं पश्चाद्राजन्यताऽस्य हि।
तावत्क्षत्ता ततो मन्त्री तस्मात्कृष्णसभोज्यता ॥ २० ॥
अतोऽधिकारस्तस्याऽत्र यथायुक्तं तु जीवनम्।

शतं वर्षाणीति। "शापाद्वर्षशतं यमः" इति वाक्यात्। शतवर्षपर्यन्तं शूद्रत्वम्। अन्यथा ब्रह्मबीजस्य मुख्यशूद्रत्वं नोपपद्येत, राजत्वार्थं प्रार्थितत्वात्। क्षत्रियत्वमेव पश्चात्। अत एव मन्त्रादाह्वानम्। तस्या शूद्रत्वे हेत्वन्तरमप्याह कृष्णसभोज्यतेति।

प्रतिबन्धनिवृत्त्या चतुष्टयेत्यर्थः। **परम** इति। सर्वोत्तम इत्यर्थः। एतेन परीक्षिति प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवास्ति नाग्रिमगुणत्रयमस्तीति न तथात्वमिति बोधितम्। **दोषनिवृत्तिरूपे**ति। शुद्धेः संस्काररूपत्वेन तस्य च दोषनिवृत्तिरूपत्वात् तथात्वमित्यर्थः। अत एवासंस्कृता अशुद्धी इत्युच्यन्त। पृथक्शुद्धिपक्षस्तु **गुणाधायिकां** तामभिप्रेत्य यथा 'मन्त्रपूतं जलं पित्रे' दित्यादौ। **तत्रे**ति। उभयोर्वाह्य शुद्धयोरित्यर्थः। **प्रथमे**ति। प्रतिबन्धनिवृत्तिरूपेत्यर्थः। ननु प्रतिबन्धान्तरमत्र कुतो नोक्तमित्याशङ्क्याहु**र्गृहासक्तिरेवे**ति। सर्वप्रतिबन्धमूलत्वादिति भावः। अत एव एवकारः तदभावे सर्वेषामप्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः। **शेष** इति। मूलस्य शेषग्रन्थोऽयमित्यर्थः ॥ १९ ॥

विदुराधिकारमाक्षिपन्ति **ननु क्षत्रियादि**त्यादिना। क्षत्रियादर्जुनपौत्रत्वेन भगवत्सम्बन्धात् **शूद्रो** जातिहीनकुलासम्बधश्च **कथमधिकारी**त्यर्थः। **ततोऽप्युत्तमो वे**ति कदाचिद् भगवद्भजने कुलसम्बन्धो न प्रयोजक इति भावेन तदीयत्वाद् भवेदधिकारितामात्रं उत्तमत्वं जातिर्हीनस्य कथं सम्भवतीत्यर्थः। **शतवर्षपर्यन्तमि**ति। श्रीभागवतश्रवणावसरे शापप्रयुक्तशूद्रत्वस्य निवृत्तत्वादिति भावः। **अन्यथे**ति। व्यासाद् ब्रह्मवित्त्वेन पराशरोत्पन्नत्वेन च ब्राह्मणादुत्पन्नस्यास्य शूद्राच्छूद्रां समुत्पन्न इत्येवंविधं मुख्यशूद्रत्वं ब्रह्मबीजस्य नोपपद्येतेति भावः। कदाचित् क्षत्रियत्वं सम्भाव्येतेत्यत्र हेतुतामाहु **राजत्वार्थ**मिति। व्यासवीर्यस्य **राजत्वार्थं** तन्मात्रा **प्रार्थितत्वात्** क्षत्रियत्वं सम्भाव्येतेत्यर्थः। **क्षत्रियत्वमेवे**ति। व्यासस्य राजभावेन राजपुत्रोत्पत्त्यर्थं प्रवृत्तत्वेन तत उत्पन्नस्य पश्चाच्छापप्रयुक्तशूद्रत्वनिवृत्त्यनन्तरं क्षत्रियत्वमेवेत्यर्थः। **अत एवे**ति। क्षत्रियत्वाभावे मन्त्रे यज्ञविवाहादावेतस्याह्वानं न स्यादिति भावः। **हेत्वन्तरमपी**ति। यद्ययं शूद्रः स्यात् तदा कृष्णः साम्प्रतं क्षत्रकुलावतंसस्तेन सह भोजनं न कुर्यात्, अतो न शूद्र इत्यर्थः। नन्वेवं शूद्रगृहे सेवादौ भगवतो भोजनमनुपपन्नमिति चेत्, न; **सभोज्यता** समभावेन भोजनमेव निषिद्धं न त्वैश्वर्यभावेन तदन्नस्वीकारः। अन्यथा 'यो मे भक्त्या प्रयच्छती'ति सामान्यवचनमयुक्तं स्यात्। अत एव गोवर्धने गोचारणलीलायां पुलिन्दीसमर्पितसकलपदार्थस्वीकारः। भक्त्या प्रयच्छतीति भगवद्ग्रहणे भक्तेरेव प्रयोजकत्वं न वर्णादिधर्माणामिति बोध्यम्। विदुरगृहे पूर्वमभोजनं तु क्षत्रियपाण्डवादिवैमनस्याभावेनावतारधर्मस्थापनार्थ-

अतः क्षत्रियत्वात्तस्याऽधिकारः ब्रह्मबीजत्वं चाऽधिकप्रयोजनम् । ननु स शतवर्षाण्येव जीवतीत्यभिप्रायेण कथं न शाप इत्यभिप्रायेणाह यथायुक्तमिति । जीवनं तु युक्त्या तस्य बहुकालं लक्ष्यते । स हि धृतराष्ट्रसमानो दुर्योधनसमानो भीमः । ततोऽपि कनिष्ठोऽर्जुनः । तत्समानः कृष्णः । तत्र च "पञ्चविंशाधिकशतम्" इति वाक्यम् । अतः सार्धं शतं वा तस्य जीवनं भवति ॥ २०½ ॥ *

एवं चतुर्णामर्थमुक्त्वा प्रथमाध्यायार्थमाह—

अपमानाद्धि निर्विण्णो विशुद्धस्तीर्थसेवया ॥ २१ ॥
क्षत्ता सत्सङ्गतः प्रीतः प्रश्नत्रितयकृद्धरेः ।
सामान्येन विशेषेण कुशलं चरितं तथा ॥ २२ ॥

अपमानाद्धि निर्विण्ण इति । स्वतो निर्विण्णः कदाचिदागच्छेदपि । अतो हेतुपूर्वको निर्वेदः साधनीयः, स चेन्निर्विण्णोऽन्यत्र तिष्ठेत्पुनरासक्तिर्भवेत् । अतस्तीर्थ-

---

मिति दिक् । नन्वेवं क्षत्रियत्वेनैवोत्तमत्वसिद्धौ ब्रह्मबीजत्वं विदुरे व्यर्थमित्याशङ्क्याहुर्ब्रह्मबीजत्वमिति । ब्रह्मबीजत्वमधिकधृतराष्ट्रायोपदेशदानरूपं प्रयोजनं यस्य तादृशमित्यर्थः । क्षत्रियस्योपदेष्टृत्वाभावादिति भावः । ननु स इति । 'शतायुर्वै पुरुष' इति श्रुतेर्जीवनं शतवर्षावध्येव भवतीति शतवर्षपर्यन्तं शापदानं यावज्जीवाभिप्रायेणेति यावज्जीवं शूद्रत्वात् कथं पश्चात् क्षत्रियत्वमित्याशङ्कार्थः । यथायुक्तं त्विति । विदुरस्य जीवनं न श्रुतिसिद्धं किन्तु यथायुक्तं यथा यथावद् युक्तिसिद्धं भगवल्लीलार्थं तदुपयोगिभक्तत्वेनावतीर्णत्वाद् यावल्लीलादर्शनं तत्स्थितिरिति न तस्य जीवने श्रुतिसिद्धव्यवस्था, पुष्ट्या तद्बाधात् । अन्येषां तु मर्यादा रूपा सेत्यर्थः । बहुकालमिति । श्रुतिसिद्धजीवनकालाधिककालमित्यर्थः । युक्तिमेवाहुः स हीति । व्यासस्यैकस्मिन्नेव दिने धृतराष्ट्रादिमातृप्रार्थनया राज्यार्थकपुत्रोत्पत्त्यर्थं प्रवृत्तत्वादिति भावः । दुर्योधनसमान इति । 'गदायुद्धे तुल्यवयोबला'विति वाक्यादित्यर्थः । तत्समान इति । वयसा तथात्वादिति भावः । तत्र चेति । कृष्ण इत्यर्थः । वाक्यमिति । वाक्यवशादेवमुच्यते । वस्तुतस्तु 'जयति जननिवास' इत्यादिवाक्यैः स सर्वदैव सर्वलीलाविशिष्टः सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति ज्ञेयम् । अत इति । यतः सपादशतवर्षपर्यन्तं भगवद्दर्शनमेव ततः पूर्वं तत्पितृसमत्वात पञ्चविंशति वर्षाणि पुत्रोत्पादनक्षमताहेतुभूतान्यधिकानि भविष्यन्तीति सार्द्धं शतं तस्य जीवनमित्यर्थः । वाशब्दोऽनादरे । कदाचित् पञ्चविंशतिवर्षेभ्यः पुरैव पुत्रोत्पत्तिसम्भवादिति भावः ॥ २०½ ॥

चतुर्णामिति । मिलितानां तेषां समुदायेनार्थमुक्त्वेत्यर्थः । अध्यायार्थमिति । प्रत्येकमाहेत्यर्थः । कदाचिदिति । यदा शुद्धिविशेषोदयेन दयाद्युत्पत्तिरित्यर्थः । अत इति । यतः अहेतुकनिर्वेदे पुनरागमनसम्भावनेत्यर्थः । हेतुपूर्वक इति । निर्वेदस्य किञ्चित् कारणं कल्पनीयमित्यर्थः । नन्वेवं हेतुपूर्वकनिर्वेदे विदुरस्य धृतराष्ट्रोपदेशाय कथं पुनरागमनमिति चेत्, न; हेतोर्दुर्योधनस्य निवृत्तत्वेन तस्य च पाण्डवगृहे सत्त्वेन च भगवदीयगृहत्वात् तदागमनमिति जानीमः । साधनीय इति । यथान्ये तिरस्कुर्युस्तथा वचनादिकं वक्तव्यमित्यर्थः । स चेदिति । हेतुपूर्वकेनापि निर्वेदेन निर्विण्ण इत्यर्थः । अन्यत्रेति । यदर्थं निर्वेदस्तदसम्बन्धिदेश इत्यर्थः । पुनरासक्तिरिति । भगवदीयत्वे सत्यपि पूर्वोक्त-

---

* १ कारिकात्मकश्चतुर्थ स्तबकः ।

सेवैव कर्तव्या । तत्रापि तीर्थे देवताबुद्धिस्तदैव सेवा भवति । तत्रापि कामनाभावाय विशुद्ध इति । क्षत्तेति । पूर्वमेव जितेन्द्रियता सिद्धा । सत्सङ्ग उद्धवसङ्गः, तेनैव प्रीतः, न तु प्रश्नार्थम् । तत्र प्रश्नत्रयं कृतवान् । भगवतः कुशलप्रश्नः सर्वेषां कुशलप्रश्नमिषेण भगवतः सामान्यप्रश्नश्चरितप्रश्नश्चेति । तदाह सामान्येनेति ॥ २२ ॥

उत्तरे क्रमेण उत्तराभावात्प्रकारमाह—

गुणत्रयासिद्ध्या मुख्याधिकारासिद्धेरित्यर्थः । अत इति । यतस्तीर्थसेवयैव गृहाद्यासक्तिनिवृत्तिस्तेषामन्तःकरणशोधकत्वादित्यर्थः । मूले 'तीर्थसेवये'ति भिन्नं पदं न विशुद्धौ करणत्वबोधकमतस्तीर्थसेवया युक्तो भवेदित्यर्थः । अन्यथा कामनाभावरूपविशिष्टशुद्धेस्तीर्थासाध्यत्वात् करणत्वानुपपत्तिः, तीर्थानां नानाविधफलजनकताबोधकपुराणवाक्यैः कामनाजनकत्वात् । अत एव महाभारते 'यज्ञास्तीर्थानि चे'ति वाक्येन यज्ञानां तीर्थानां च समनोक्ता । एवकारेण न तत्रान्यतः प्रतिग्रहादिकं कर्तव्यमिति बोधितम् । तत्रापीति । तीर्थसेवायामपि तीर्थे देवताबुद्धिर्न जलबुद्धिः कार्या । अन्यथा माहात्म्यज्ञानप्रेमानुरूपाकृतिः सेवेति देवताबुद्ध्यभावे तदभावात् सा न सम्भवेदतः सेवोक्तयैवैतत् सूचितमित्यर्थः । ननु तीर्थसेवयैव शुद्धिसिद्धेः पुन'र्विशुद्ध' इतिविशेषणं व्यर्थमित्याशङ्क्याहुस्तत्रापीति । विशिष्टशुद्धिस्त्यागोत्तरं तद्विषयककामनाभाव एव । अन्यथा 'मिथ्याचारः स उच्यत इति वाक्यात् तथात्वं भवेदित्यर्थः । पूर्वमेवेति । अधिकारसिद्धौ प्रथमकारणत्वात् । अजितेन्द्रियस्य कामनासहस्रोदयात् निवृत्तिमार्गाधिकारासिद्धिसम्भावनाभावादित्यर्थः । उद्धवसङ्ग इति । उद्धवसङ्गस्यैवाधिकारहेतुत्वादित्यर्थः । सत्सङ्गो द्विविधः प्रेमहेतुर्ज्ञानहेतुश्च । तत्र प्रेमहेतुरधिकारसम्पादकः । तादृशेन तेन प्रेमोत्पत्त्या श्रवणाधिकारसिद्धेः । न ह्यनुत्पन्नप्रेमा भगवच्चरितं श्रोतुमर्हति । भक्तिवृद्ध्युपायत्वेन श्रवणादीनां पूर्वं भक्त्यङ्कुरस्थितिबोधकत्वात् । ज्ञानहेतुस्तु श्रवणसाधको यथा मैत्रेयसङ्ग इत्यर्थः । तेनैवेति । उद्धवसङ्गेन भगवति प्रेमोत्पादकेनैव प्रीतः भगवति प्रीतियुक्तो जातः । अत एव मूले 'हरेः प्रश्नकृदि'त्युक्तम् । अन्यथा स्वसन्देहवारणार्थकप्रश्नान्तरं कुर्यादिति भावः । न तु प्रश्नार्थमिति । प्रश्नार्थं प्रीतौ प्रश्नमेव कुर्यात् नतूद्धवे गते तद्विरहेण । वस्तुतो भगवद्विरहेण रोदनं कुर्यादतः सत्सङ्गेन भगवति प्रीतिः न तु प्रश्नकरणार्थमिति भावः । भगवतः कुशलप्रश्न इति । 'कच्चित् पुराणौ पुरुषा'वित्यनेन भगवत एव साग्रजस्य विशेषेण प्रश्न इत्यर्थः । सर्वेषामिति । 'कच्चित् कुरूणां परम' इत्यारभ्य 'सौम्यानुशोचे तमधः पतन्त'मित्यन्तैर्वाक्यैः सर्वेषां वसुदेवोग्रसेनादीनां प्रश्नमिषेण सामान्यतो भगवतो भगवत्कुशलमेव पृष्टं तत्कुशलेनैव तदीयकुशलात् । चरित्रप्रश्नश्चेति । 'सोऽहं नृणा'मित्यारभ्य 'वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्ते'रित्यन्तेन चरित्रप्रश्न इत्यर्थः ॥ २२ ॥

क्रमेणोत्तराभावादिति । विशेषप्रश्नस्य भगवद्विषयकस्य पूर्वमेव 'कृष्णद्युमणी'त्यादिनोत्तरादन्तिमचरित्रस्य मध्ये कथनात् सामान्यभगवत्कुशलप्रश्नस्य सर्वविषयकस्य चतुर्थाध्याये 'अथ ते तदनुज्ञाता' इत्यादिनोत्तरात् नात्र प्रश्नक्रमेणोत्तरमित्यर्थः । प्रकारमाहेति । पूर्वं विशेषोत्तरमन्ते

अन्तिमं मध्यतः कृत्वा द्वयोः सम्बन्धकारणात् ।
मारणे प्राप्तदोषस्य भक्तोद्धारेण वारणम् ॥ २३ ॥

अन्तिमं मध्यतः कृत्वेति । अन्तिमं चरित्रं मध्यतो विशेषप्रश्नोत्तरमुक्त्वा सामान्योत्तरमनुक्त्वा मध्ये चरित्रमुक्तम् । "कृष्णद्युमणिनिम्लोचे" इति विशेषोत्तरं "राजँस्त्वयाऽनुपृष्टानाम्" इति सामान्योत्तरम् । मध्ये भगवतश्चरित्रं च द्विविधमपि निरूपितमित्यर्थः तत्र हेतुः, **सम्बन्धकारणा**दिति । भगवतश्चरित्रकथनव्यतिरेकेणोत्तरासम्भवात्सम्बन्धे कारणम् । ननु भगवतश्चरित्रं नेदं समीचीनं भक्तानां बन्धूनां मारणादतः कथमधिकारसिद्ध्यर्थं तच्चरित्रमुक्तमित्याशङ्क्याह **मारणे प्राप्तदोषस्येति** । यद्यपीश्वरत्वान्न दोषस्तथापि प्रतीत्या दोषसम्भवेऽपि ते सर्वे भक्तास्तेन प्रकारेणोद्धृता इति दोषनिवृत्तिः ॥ २३ ॥

सामान्योत्तरं चरित्रोत्तरमन्तिममपि मध्ये कृत्वेत्यर्थः । मूले स्थानानि निर्दिशति **कृष्णद्युमणी**त्यादिना । नन्वेक एव प्रश्नो भगवतस्तदीयानां भवतु भगवन्तमारभ्य सर्वेषां कृष्णनिरूपणाच्च । **चरित्रप्रश्नस्तु द्वितीय** इति । प्रश्नद्वैविध्यकथनमनुपपन्नमित्याशङ्क्यैतल्लीलासम्बन्धिप्रथमस्कन्धोक्तं प्रश्नभेदबोधकं वाक्यमुदाहरन्ति, **राजंस्त्वयानुपृष्टाना**मिति । 'राजंस्त्वयानुपृष्टाना'मित्युपक्रम्य 'निघ्नतां मिथ' इत्यन्तेन वाक्येन तेषां प्रकारान्तरेणोत्तरकथनेन च भिन्नतया प्रश्नविषयत्वनिरूपणात् । अत्र तद्वाक्यं निश्चायकं नास्तीति सन्देहः स्यादिति तत्रत्यमभिहितम् । **द्विविधमपी**ति । 'यन्मर्त्यलीलौपयिक'मित्यारभ्यां'सेसु नाभायुधमापतन्त'मित्यन्तेन ग्रन्थेन माहात्म्यबोधकं वसुदेवस्य वाक्यमित्यारभ्याध्यायपर्यन्तं प्रीत्युत्पादकं च **चरितं निरूपित**मित्यर्थः । यद्वावतारसामयिकं व्यामोहकं चाथवोत्पादकं संहारकं चेत्यर्थः । **तत्रे**ति । द्विविधचरित्रनिरूपणमित्यर्थः । **उत्तरासम्भवा**दिति । पृष्टं हि भगवतो भक्तानां च कुशलं तदुत्तरं तेषु विद्यमानेषु तैरेव भवति परोक्षे तु तच्चरित्रैरेव सम्भवतीति विशेषसामान्यभेदेनोत्तरद्वयनिरूपणार्थमुत्तरद्वयमध्य एकैकस्य प्रत्येकं हेतुत्वार्थमुभयविधचरित्रं निरूपितमित्यर्थः । **सम्बन्धे कारण**मिति । प्रश्नस्योत्तरेण **सम्बन्धे** चरित्रमव **कारणं** तथा च कारणत्वात् तथा निरूपितमिति भावः । **नेदं समीचीन**मिति । **भक्तानां बन्धूनां** लोकसम्बन्धेन सम्बद्धानां चरित्रं 'सञ्जह्रे स्वकुल'मितिवाक्याद् भगवतैव मारणं तत 'न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्यैर्वेदविरुद्धं बन्धूनामर्थे स्वयं क्लेशसहनस्य लोकसिद्धत्वाद् भक्तरक्षकत्वात् प्रभोर्भक्तिमार्गविरुद्धं चेति **न समीचीन**मित्यर्थः । अधिकारो हि श्रवणादौ, स च स्वस्य शक्तत्वेन स्वानुकूलचरित्रश्रवणेन भवति । भक्तरक्षकचरित्रश्रवणेनैव स्वस्येदृशः प्रभुः श्रोतव्य इति बुद्ध्युत्पत्तेः । तथा च नेदृशं चरित्रमधिकारसिद्धिप्रतिकूलत्वाद्वाच्यमित्यर्थः । **ईश्वरत्वा**दिति । अन्यथा कर्तुं समर्थत्वादित्यर्थः । अत एवैकादशे 'नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चित्' इति भगवद्वाक्यम् । **न दोष** इति । 'तेजीयसां न दोषाय' इति वाक्यादिति भावः । **प्रतीत्ये**ति । शास्त्रतो दोषाभावेऽपि बोधितेऽपि लोकदृष्ट्या स्वतः सदोषया दोषाः प्रतीयन्ते मृतकदाहकब्रह्मविव, तथा भगवत्यपि तया **दोषसम्भवे**ऽपीत्यर्थः । **तेन प्रकारेणे**ति । 'वृक्षमूलमुपाविश' दितिवाक्याद् वैष्णवेषु प्रविश्यान्तररमणार्थमवतारलीलासम्बन्धमनेन निवर्त्य स्वयं च मूलरूपो भूत्वा तेषां नित्यलीलास्थानसम्बन्धं कारितवानितीतोऽप्युद्धार एवायमिति भक्ताहितकर्तृत्वदोषनिवृत्तिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

---

१ इत्यर्थं इत्यादर्शद्वयेऽपि लभ्यते ।

२

ननु तथापि विदुरः परीक्षिदपेक्षया कथमुत्तमो भगवदीयत्वस्य तुल्यत्वादित्याशङ्क्याह–

सेवनात् कृष्णदेवस्य तदाज्ञाकरणादपि ।
माहात्म्यस्य श्रुतत्वाच्च श्रेष्ठ उत्तमतो ह्ययम् ॥ २४ ॥
अतस्तस्य कथा प्रोक्ता कृष्णविश्वासदायिनी ॥ २४½ ॥

सेवनादिति । पूर्वं भगवत्सेवा तेन महती कृता । तदाज्ञाकरणं पाण्डवानां रक्षा । विशेषतो भगवन्माहात्म्यश्रुतिश्च । एतद्धेतुत्रयं परीक्षिति नास्तीति ततोऽप्ययमुत्तमः । उत्तमत्वं कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह कृष्णविश्वासदायिनीति । विश्वासस्याभिज्ञापिका निःशङ्कं प्रवृत्तिः ॥ २४' ॥'

एवं प्रकरणार्थमुपपाद्य द्वितीयाध्यायार्थमाह–

तथापीति । यद्यप्येवं पूर्वोदितप्रकारेण परमाधिकारी तथापीत्यर्थः । भगवदीयस्येति । भावप्रधानो निर्देशः भगवदीयत्वस्येत्यर्थः । अत्रायमाशयः । भक्तेषु भगवदीयत्वमेव तरतमभावेनाधिकारो न धर्मान्तरमन्यथा ‘ केवलेन हि भावेने’त्यादिवाक्यानि विरुद्ध्येरन् । तथा च धर्मान्तरसत्त्वेऽपि विदुरे परीक्षिति भगवदीयत्वं तत्तुल्यमिति सम्यक्कथनमुचितं कथं तत उत्तमत्वकथनमित्यर्थः । पूर्वमिति । त्यागात् पूर्वं पाण्डवकार्याय भगवति धृतराष्ट्रसमीपमागते स्वगृहे समुत्तीर्य भोजनादिभिर्महती दास्यभावेन सेवा कृतेति भगवदीयत्वेप्याधिक्यमित्यर्थः । परीक्षिति तदभावात् न तथात्वमिति भावः । तदाज्ञाकरणमिति । भगवदाज्ञया विदुरेण पाण्डवरक्षा लाक्षागृहादौ गूढतन्मन्त्रज्ञापनात् कृता तथा च तस्मिन्नाज्ञादानाद् भगवदीयोत्तमत्वं परीक्षिति तदभावान्न तथात्वमिति भावः । विशेषत इति । श्रीभागवतश्रवणतः पूर्वमेवाद्धवमुखादिदानीमेव विशेषतो धर्मधर्मिभेदेन भगवन्माहात्म्यमग्रिमश्रवणे भावविशेषसम्पादकं विदुरेण श्रुतं न परीक्षितेत्यस्य ततोप्युत्तमत्वमित्यर्थः । एतद्धेतुत्रयमिति । पूर्वोक्तमुत्तमहेतुत्रयमित्यर्थः । उत्तमत्वमिति । लीलोत्तमत्वं कदाचिदानन्दविशेषोदयायोपयुज्येतापि श्रोतुरुत्तमत्वमन्येषां कुत्रोपयुज्यत इत्यर्थः । कृष्णविश्वासेति । विदुरस्य निःसाधनस्योत्तमत्वं भगवत्कृतमेव प्रमेयबलेन न साधनान्तरकृतं परीक्षिदादीनामिव क्षत्रियत्वभगवत्सम्बन्धित्वादिभिस्तथा च तत्कथाश्रोतॄणां हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यतीति प्रकारेणास्माकमपि साधनरहितानां सर्वं प्रभुरेव सम्पादयिष्यति न साधनान्तरेण सेत्स्यतीत्यत्रेम्प्रकारको विश्वासः एतत्कथाश्रुत्या भविष्यतीति तत्रेतदुत्तमत्वं उपयोक्ष्यत इति भावः । ननु परीक्षित्कथापि भगवद्विश्वासदायिकैव भगवतैव तत्र गर्भरक्षामारभ्य सर्वसम्पादनात् को विशेषोऽस्यामित्याशङ्क्याहुर्विश्वासस्येति, निःसंशयप्रवृत्तिर्हि विश्वासस्याभिज्ञापिका विचारे मतिगतौ हि तदभावात् । तथा च परीक्षिच्चरित्रश्रवणे तदुत्तमत्वं स्वाभाविकमवगत्य स्वस्य च हीनत्वं निश्चित्य श्रवणेऽपि तादृशाधिकाराभावात् न फलिष्यतीति सर्वेषां प्रवृत्तिर्न भविष्यति । विदुरकथाश्रवणेऽधिकारोत्तमत्वमपि भगवतैव सम्पाद्यमिति भगवति विश्वासात् निःसंशया प्रवृत्तिर्भविष्यतीति मुख्यतया विश्वाससम्पादकत्वमेतत्कथया इति भावः ॥ २४½ ॥

एवमिति । प्रथमाध्यायार्थनिरूपणेनापि विदुराधिकारः सर्वोऽपि प्रकरणार्थ एव प्रतिपादित

इति ४ कारिकात्मकः पञ्चमः स्तवकः ।

द्वितीये तु तथाऽध्याये समान्योत्तरमुच्यते ॥ २५ ॥
तदर्थं हरिमाहात्म्यमार्थिकं कृतमेव च ।

द्वितीय इति । विशेषमाहात्म्यमेव प्रश्नस्य जीवपरत्वे सामान्यमाहात्म्यं भवति । तदैवमर्थः । भगवत्प्रश्नो जीवानां साधारणप्रश्नः, विशेषप्रश्नस्तु तत्तन्नाम्ना अतो भगवतोऽन्यशेषत्वात्तत्र विश्वासार्थं भगवत आर्थिकं माहात्म्यं प्रथमम्, पश्चात्कृतं निरूप्यते ॥ २५½ ॥

तस्योत्तराङ्गत्वमाह—

कृतं यद्यप्युत्तराङ्गं साम्यात्सम्बन्धतोऽपि तत् ॥ २६ ॥
अत्रोक्तं फलसिद्ध्यर्थमुद्धवप्रेम चोच्यते ।

कृतमिति । तृतीयाध्याये चरित्रमुक्तमिति । तत्साम्यादिदमप्युत्तरशेषत्वेनोच्यते। कथया कथा सम्बध्यत इति हेत्वन्तरम् । नन्वेवं सति किमत्र कथानिरूपणेनेत्याश-

---

इत्यर्थः । ननूत्तरनिरूपकद्वितीयाध्यायादिषु भगवन्माहात्म्यचरित्रादिकमेवोच्यते तत्र कथं सामान्यविशेषभावः भगवन्माहात्म्यादेः सर्वदा विशेषरूपत्वात् । नहि भगवन्माहात्म्यं कदाचिदपि सामान्यं सम्भवतीत्याशङ्क्याहुर्विशेषेति । भगवतो विशेषमाहात्म्यमेव न कदाचित् सामान्यं परन्तु 'समो मशकेन समो नागेन चे'ति श्रुते'र्बहु स्याम् प्रजायेये'ति श्रुतेश्च स्वरूपमिव माहात्म्यमप्यन्यसम्वलितं सामान्यं भवतीति प्रकृतेर्भिन्नतया प्रश्नाकरणात 'कुशलं शूरगेह' इत्यनेन जीवसम्बन्धित्वेन प्रश्नकरणात प्रश्नस्य जीवपरत्वेन तदुत्तररूपं भगवन्माहात्म्यमपि तत्सम्वलितमेव निरूपितं न पृथगिति तत्तथेत्यर्थः । **तदैवमिति** । यदेवं व्याख्या तदेत्यर्थः । **भगवत्प्रश्न** इति 'कच्चित् पुराणा'वित्यनेन कृतो भगवत्प्रश्नोऽपि जीवनसम्बन्धित्वेन प्रश्नकरणात् **जीवानामेव साधारणः** समुदायरूपेण सर्वेषामेव-प्रश्नो भगवत्कुशलेनैव सर्वेषां कुशलात् सामान्येन विशेषेणेति मूलस्थक्रमोऽप्येवं सङ्गच्छते वस्तुतो भगवान् न पृष्ट एव अन्यथोद्धवः स्वरूपनियुक्तः स्वरूपमेव साक्षात्स्वयमनुभूयमानं वदेदिति भावः । **अन्यशेषत्वादिति** । सर्वसाधारण्येन प्रश्नादिति भावः । **तत्रेति** । उत्तर इत्यर्थः । अपृष्टत्वादार्थिकभगवन्माहात्म्याकथने विदुरस्य केवलस्वरूपपरत्वाभावेन भगवति सर्वोत्कृष्टत्वेनोच्यमाने विश्वासो न भवेदिति भावः । **प्रथममिति** । चरित्रनिरूपणात् **प्रथमं** निरूप्यत इत्यर्थः । **कृतमिति** । चरित्रमित्यर्थः ॥ २५½ ॥

तस्योत्तराङ्गत्वमिति । चरित्रनिरूपणेनैवानवतारदशायामुत्तरसम्भवात् तदङ्गत्वमित्यर्थः । नन्वेमुत्तरमध्ये माहात्म्यनिरूपणं न सङ्गच्छते तदङ्गत्वाभावादित्याशङ्क्याहुस्तत्**साम्यादि**ति । तृतीयाध्याये तु केवलं चरित्रमेवोक्तं द्वितीयाध्याये माहात्म्यसहितं भगवता वयमेतादृशचरित्रेणास्मदर्थं कृतेन रक्षिता इति चरित्रत्वसाम्यात् तदप्युत्तरशेषमेवाङ्गसम्बद्धत्वादिति भावः । **कथया कथेति** माहात्म्यसहितचरित्रनिरूपणे, एतादृशमाहात्म्यसहितो भगवान् देवक्यां जातश्चरित्राणि कृतवानिति । कथयोः परस्परं सम्बन्धे हेत्वन्तरमित्यर्थः । **किमत्र कथानिरूपणेनेति** । अत्र द्वितीया-

ङ्क्याह—अत्रोक्तमिति। द्वितीयाध्याये विश्वासार्थं भगवत्कृतं फलमुक्तम्, तच्चरित्रेऽपि यथा भवति तदर्थं तत्सम्बद्धमुक्तम्। भगवतो वार्ताकथनमध्यायार्थः। तत्रोत्तराङ्गद्वयम्। विश्वासार्थं माहात्म्यम्। कथाया अपि तथात्वं च। पूर्वाङ्गमेकम्। परमा भक्तिः। अभक्तोक्ते सर्वथा न विश्वास इति उद्धवप्रेम चोच्यते ॥ २६½ ॥

तत्र श्लोकान् विभजते—

षड्भिस्तथैकेन पुनर्दशयुक्सप्तभिस्तथा ॥ २७ ॥
दशभिश्च क्रमादत्र चत्वारोऽर्था निरूपिताः ॥ २७½ ॥

षड्भिरिति। विशेषस्य कुशलस्य। चतुर्थाध्याये उत्तरं श्लोकद्वयेन। तद्दोषपरिहाराय पुनर्भक्तोद्धारे विंशतिः। अविद्यमाने भक्तोद्धारे चत्वारि वाक्यानीति

ध्याये माहात्म्यबोधके वसुदेवस्य देवक्यामित्यारभ्य केवलकथारूपचरित्रनिरूपणे किं प्रयोजनं तादृशचरित्रस्य तृतीयाध्याये निरूपणीयत्वादित्यर्थः। **द्वितीयाध्याय** इति। द्वितीयाध्याये विदुरस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन बोधनीये भवति विश्वासार्थमेतादृश एव वस्तुतो भगवानिति निश्चयार्थं भक्तेषु भगवत्कृतं फलमुक्तं तथा च ततो माहात्म्यावगमाद् विश्वास इति भावः। **तच्चरित्रेऽपीति**। द्वितीयाध्याये माहात्म्यबोधके केवलचरित्रकथनं यथा भक्तेषु भगवत्कृतफलनिरूपणेन माहात्म्यावगमाद् भगवति विश्वासस्तथा न चरित्रेऽपि भवतीति तदर्थं विश्वासार्थं केवलचरित्रमपि द्वितीयाध्याये माहात्म्यबोधकचरित्रेण सम्बद्धमुक्तमित्यर्थः। **वार्ताकथन**मिति। पूर्वाध्याये 'वार्तां सखे कीर्तय' तिप्रश्नादत्रोत्तरनिरूपकाध्याये वार्ताकथनमध्यायार्थ इत्यर्थः। **तत्रे**ति। वार्ताकथन इत्यर्थः। **विश्वासार्थ**मिति। भगवति विश्वासयुक्ते हि तादृशेन वार्ता वाच्या स च विश्वासो वक्तृनिष्ठः, श्रोतृनिष्ठोपेक्ष्यस्तत्र श्रोतृविश्वासाय वार्ताकथनस्य **पूर्वाङ्गं** वक्तृनिष्ठा **परमा भक्तिः**। अभक्तकथिते स्वयमतादृशो मद्वञ्चनायैवं वदतीति बुद्ध्युदयादविश्वासोत्पत्तेः। वक्तुर्विश्वासायोत्तराङ्गद्वयं श्रोतृनिष्ठमपेक्षितं तदैव वार्ताकथनेन श्रोता सम्पन्न इति विश्वासोदयात्। तच्च माहात्म्यं भगवदीयं वार्ताश्रवणफलरूपं तच्छ्रवणे तत्राक्षेपाभावात्। तथा कथया अपि भगवत इव तादृशमाहात्म्यवत्त्वं स्वरूपसमत्वमिति यावत्। तथा च वार्ताकथनोत्तरं श्रोतुरेतद्द्वयावगतिसिद्धौ वक्तुः सम्पन्नं वार्ताकथनमिति विश्वासः। एतद्द्वयाभावे कथितापि सा अकथितैवेति तदभाव इत्यर्थः ॥ २६½ ॥

तत्रेति। द्वितीध्याय इत्यर्थः। **षड्भिरि**ति। षड्भिरुद्धवप्रेमैकेनोत्तरं सप्तदशभिर्माहात्म्यं **दशभि**श्चरित्रमेवं क्रमेण **चत्वारोप्यर्थो निरूपिता** इत्यर्थः। **विशेषकुशलस्ये**ति। तत्तन्नाम्ना यादवकुशलप्रश्नस्येत्यर्थः। **श्लोकद्वयेने**ति। चतुर्थे 'अथ ते तदनुज्ञाता' इत्यारभ्य तद्द्वयेनेत्यर्थः। **तद्दोषे**ति। स्वकुलसंहृतिरूपदोषपरिहारायेत्यर्थः। **अविद्यमाने**ति। अवतारदशायामपि भगवत्समीपे अविद्य-

तृतीयेऽष्टाविंशतिभिश्चरित्रं केवलं कृतम् ॥ २८ ॥
विशेषस्योत्तरं तुर्ये श्लोकाभ्यां विंशतिः पुनः ।
भक्तोद्धारेऽविद्यमाने चत्वार्येकं वियोजकम् ॥ २९ ॥
द्वयोराज्ञाप्रसिद्धयर्थं पञ्च सन्देहवारणे ।
चतुर्भिः सङ्गमश्चेति षडर्थाः क्रमतोदिताः ॥ ३० ॥

शेषः । एकं वियोजकम् । " इति सह विदुरेण " इति । उभयोरुद्धवविदुरयोः । सन्देहनिवृत्तिः परीक्षितः । चतुर्भिर्गुरुशिष्यसङ्गमः । विद्यमानो भक्त उद्धवः । अविद्यमानो विदुरः । एतदकथने क्रूरत्वादभजनीयः स्यात् ॥ २९ ॥ ३० ॥

माना ये भक्तास्तानुद्धवमैत्रेयद्वारोद्धर्तुं तयोरन्योपदेशाय स्वज्ञानस्थापनबोधकानि 'इत्युद्धवादुपाकर्ण्ये' त्यारभ्य 'मर्त्यलोकं जिहासते' त्येतानि चत्वारि वाक्यानीत्यर्थः । विद्यमानभक्तानां तु 'वृक्षमूलमुपाविश' दिति वाक्यात् । स्वप्रवेशेनैवोद्धृतत्वेनोपदेशानपेक्षणादिति भावः । एकमिति । 'इति सह विदुरेणे' त्येकं पद्यं तयोर्वियोजकमित्यर्थः । वियोजनप्रयोजनं तु मैत्रेये विदुराय त्वया वाच्यमिति भगवदाज्ञायाः प्रकर्षेण सिद्धिरिति बोध्यम् । अन्यथोद्धवसहस्थितौ परमप्रेमोदयेन भगवति भावेन लय इव स्यादिति भावः । उभयोरिति । भगवांस्तु स्वरूपेणोद्धवे गुणैर्विदुरे च प्रविष्ट इति न तद्वार्तोपरमे न तद्वियोजकं पद्यमेतदिति भावः । सन्देहनिवृत्तिरिति । परीक्षितः सन्देहसहिता तन्निवृत्ति'र्निधनमुपगते' ष्वित्यारभ्य 'हरिमीजे समाधिने' त्यन्तैः पञ्चभिर्वाक्यैरित्यर्थः । गुरुशिष्यसङ्गम इति । उपदेशादानादुद्धवो न गुरुः, किन्तु मैत्रेय एव; शिष्यो विदुरस्तयोः सङ्गमो 'विदुरोऽप्युद्धवाच्छ्रुत्वे' त्यारभ्य ' यत्र मित्रासुतो मुनि' रित्यन्तैश्चतुर्भिर्वाक्यैरित्यर्थः । नन्वेतच्चरित्रेण भगवता विद्यमानाविद्यमानोभयविधभक्तोद्धारः कृत इति कथं ज्ञेयमित्याशङ्क्याहुर्विद्यमान इति । उभयोरवतारसामयिकभक्तत्वेऽपि तत्समये भगवत्सन्निधौ विद्यमान उद्धवोऽविद्यमान विदुरस्तयोः स्वतो मैत्रेयद्वारा चोद्धारात् तथाभिप्रायो ज्ञातव्य इत्यर्थः । एतेन भगवत्परोक्षवर्तिनां भगवदाप्तभगवदीयोपदेश एव साधक इति सूचितम् । एतदकथन इति । भगवति विद्यमानाविद्यमानोभयविधभक्तोद्धारकत्वाकथन इत्यर्थः । क्रूरत्वादिति । परोक्षस्थितभक्तोद्धाराकर्तृत्वेन तेषु दयाभावात् । क्रूरत्वेनेदानीन्तनैरभजनीयः स्यात् । तथा च सर्वभजनीयत्वेन सर्वेश्वरत्वं भगवति न स्यादिति भावः ॥ ३० ॥

---

१ इति ३ कारिकात्मकः षष्ठः स्तबकः ।

एवं श्रोतुरधिकारं निरूप्य वक्तुरधिकारमाह—

मैत्रेयस्यापि वक्तृत्वं श्रवणाज्ज्ञापनान्मतम् ॥
अत एव हरिस्तस्य सङ्गं चक्रे स्वसिद्धये ॥ ३१ ॥

मैत्रेयस्यापीति । श्रोतर्येवाऽनुप्रवेशः । ननु वक्तुः प्राधान्याद्भिन्नतया निरूपणमुचितं, तत्कथं श्रोतृशेषत्वमित्याशङ्क्याह अत एवेति । न हि मैत्रेयकृपया मैत्रेयो निकटे स्थापितः, किन्तु विदुरकृपया । अतो भगवन्मार्गे भक्त एव श्रेष्ठो नाऽन्य इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

एवं चतुर्भिरधिकारं निरूप्य श्रोतरि सिद्धे मुख्यसृष्टिं निरूपयतीत्याह—उभयोर्भेदक्रमाह—

अधिकारेऽथ संसिद्धे द्वाभ्यां सृष्टिर्निरूप्यते ।
तत्त्वकार्यविभेदेन गुणातीता द्विधा हि सा ॥ ३२ ॥

अधिकार इति । तत्त्वकार्यविभेदेनेति । कार्यं पुरुषशरीरम् । गुणातीता द्विधा हि सृष्टिः । अग्रे उभयोः कारणत्वाद् द्वयं कारणत्वेनैव निरूपितम् ॥ ३२ ॥

वक्तुरधिकारमिति । विदुराधिकारे परम उक्ते तद्वक्तृत्वेन मैत्रेयस्यापि तादृशमधिकारमाहेत्यर्थः । श्रोतरीति । विदुरमात्रश्रवणार्थं विदुरं हृदि समानीय मैत्रेये तं भावयित्वा भगवता ज्ञापनादित्यर्थः । प्राधान्यादिति । ज्ञानस्य सिद्धत्वेन श्रोतुर्मुख्यत्वादित्यर्थः । भिन्नतयेति । तथैवाध्यायचतुष्टयेनेत्यर्थः । श्रोतृशेषत्वेनेति । गौणशेषत्वेन मुख्यस्य कथनमनुचितमिति भावः । भक्त एवेति । मूले 'स्वसिद्धय' इत्यनेन स्वः स्वीयो भक्तस्तस्य सिद्धय ज्ञानाय प्रभुणा तत्सङ्गकरणाद् भक्तिमार्गे भक्त एव श्रेष्ठो हीनोऽपि नान्य उत्कृष्टोऽपीत्यर्थः । तस्य च भक्तत्वं 'सेवनात् कृष्णदेवस्ये'त्यादिना पूर्वमेव निरूपितं मैत्रेये तदभावाद् वक्तृत्वेऽपि गौणत्वमेवेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

चतुर्भिरधिकारमिति । श्रोतृवक्तृभेदेनोभयविधमधिकारमित्यर्थः । मुख्यसृष्टिमिति । गुणातीतसृष्टिमित्यर्थः । उभयोरिति । गुणातीतसृष्टिरूपैकार्थनिरूपकत्वेप्युभयोरध्याययोर्भेदक्रमर्थद्वयमाहेत्यर्थः । पुरुषशरीरमिति । पुरुषावतारशरीरमेवात्र सृष्टावाधिदैविकतत्त्वकार्यं न विसर्गरूपभौतिकतत्त्वादिकमित्यर्थः । द्विधा हीति । व्यष्टिसमष्टिभेदेनेत्यर्थः । तत्त्वानि व्यष्टिस्तन्निर्मितपुरुषशरीरं समष्टिरिति ज्ञेयम् । अग्र इति । सगुणसृष्टावित्यर्थः । उभयोरिति । तत्त्वतत्कार्यरूपव्यष्टिसमष्ट्योरित्यर्थः । कारणत्वेनैवेति । तत्त्वैः पुरुषशरीरात्मकभूतनिर्माणं तेन च सर्वत्र प्रविष्टेन क्षोभोत्पादनात् तत्रैवेन्द्रियमात्रादिभौतिकनिर्माणमुक्तमिति कारणत्वेनैव तद् द्वयमत्र प्रकरण उक्तमित्यर्थः । एतेनैतल्लीलायाः 'सर्गः कारणसम्भूति'रिति वाक्योक्तं सर्गरूपत्वमपि समर्थितम् ॥ ३२ ॥

१ कारिकात्मकः सप्तमः स्तबकः ।

तत्र तत्त्वेषु सन्देहाभावात्समष्टेः कारणत्वं साधयति—

समष्टेः कारणत्वं हि कर्माणि प्रति वर्णिनाम् ।
प्रश्नत्रयं तृतीये तु द्वैविध्यं प्रथमे पुनः ॥ ३३ ॥
षड्भेदा नाऽवतारे हि साधनेनोपसंहृतिः ।
द्वयोरपि विभेदेन प्रकटे ह्येक एव तु ॥ ३४ ॥
जन्मादयः प्रवेशश्च प्रकारद्वयमेव च ।

समष्टेरिति । एवं प्रकरणाध्यायार्थं निरूप्य विचारमारभते । तत्र प्रथमं विदुरस्य प्रश्नः "सुखाय कर्माणि" (३-५-२) इति पञ्चदशभिः श्लोकैः । तत्र किं पृष्टमिति विचारणीयम् । उत्तरत्वेन भगवल्लीलामाह उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपाम् । ततस्तदनुरोधेनैकः प्रश्नः कर्तव्य इति भवति तदभावाद्विचारः । तत्र प्रथमं कर्मफले सन्देहः, फलार्थं विहितानि कर्माणि क्रियमाणानि विपरीतं फलं साधयन्तीत्येकः प्रश्नः । तत्रांशत्रयमस्तीत्याह कर्माणि प्रति वर्णिनामिति । नैतानि कर्माणि लौकिकानि; किन्तु वैदिकानि ।

तत्त्वेष्विति । व्यष्टिरूपेष्वित्यर्थः । **सन्देहाभावादिति** । विसर्गरूपत्वसंशयाभावादित्यर्थः । **समष्टेरिति** । पुरुषशरीरस्येत्यर्थः । **एवं प्रकरणेति** । प्रकरणस्य गुणातीतस्यैवमनेन प्रकारेणाध्यार्थं **निरूप्य** सगुणप्रकरणादौ प्रश्ननिरूपकपञ्चदशवाक्यानां सम्बन्धिनं प्रश्ननिर्धारकं **विचारमारभत** इत्यर्थः । **तत्रेति** । पञ्चदशसु श्लोकेष्वित्यर्थः । **भगवल्लीलामिति** । 'अथ ते भगवल्लीला' इतिवाक्यादिति भावः । **उत्पत्तीति** । 'विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था' इतिवाक्यादित्यर्थः । **ततस्तदिति** । **तदनुरोधेन** लीलारूपैकोत्तरानुरोधेन प्रश्नोऽप्येक एव तद्विषयकसंशयजनकः कर्तव्य इति विचारे क्रियमाणेऽर्थो भवतीत्यर्थः । **तदभावादिति** । एकप्रश्नाभावादित्यर्थः । **तत्रेति** । विचारे क्रियमाणे भगवल्लीलोत्तरकं प्रश्नत्रयं सेत्स्यतीति तन्मध्ये **प्रथममित्यर्थः** । **विहितानीति** । वेदेन फलकारणत्वेन बोधितानीत्यर्थः । तथा च तादृशानां तेषां विपरीतफलसाधकत्वं प्रत्यक्षसिद्धं न सम्भवतीति भावः । **तत्रेति** । कर्मविषयकप्रश्न इत्यर्थः । **अंशत्रयमिति** । कथं सुखार्थं क्रियमाणानां सुखासाधकत्व बोद्दिश्य भेदेन दुःखाभावासाधकत्वं कथं वार्थः । तथा च कर्मभिर्वैदिकैरपि जायमानं सर्गादि सुखमन्ते पातात् न सुखमिति प्रश्नकर्तुरभिप्राय इत्यर्थः । **किन्तु वैदिकानीति** मूले । 'सुखाये'ति चतुर्थ्या सुखमात्रार्थत्वेन तेषां प्रश्नविषयत्वोक्तेः । **अन्यथेति** । लौकिककर्मोक्तावित्यर्थः । **भ्रान्तस्येति** । लौकिककर्माणि धनार्जनादीनि भ्रान्त्यैव भवन्ति पूर्वं तत्सिद्ध्यनिश्चयात् । तथा च भ्रान्तस्य शैत्यार्थिनो वह्नौ तापार्थिनो जलादौ प्रवृत्तस्य यथा फलविपर्यये फलाभावे न किञ्चिद् दूषणं तत्र तत्फलाभावात् तथा लौकिककर्ममात्रस्य भ्रमप्रतिपन्नत्वेन तत्र निष्फले प्रवृत्तौ फलाभावे न किञ्चिद् दूषणमित्यर्थः । **अत इति** । यतो लौकिकेषु कर्मसु सुखहेतुत्वं सम्भावयितुमप्यशक्यं विपरीतानुभवादतो वर्णिनां त्रैवर्णिकानां तानि वैदिकानि

अन्यथा भ्रान्तस्य फलविपर्यये न किञ्चिद्दूषणम् । अतो वर्णिनामेव कर्माणि प्रति प्रश्नत्रयम् । कथं सुखं न जायते दुःखाभावो वा उद्देश्यभेदेन ? कथं वा सङ्कलितं दुःखं जायत इति ? अथ यदि कर्ममार्ग एतादृश एव तदा प्राणिना किं कर्तव्यमिति प्रथमः प्रश्नः । तत्र यद्युत्तरं भगवद्भजनं कर्तव्यमिति, तत्रापि भजनमपि कर्मेति, येन प्रकारेण कृतं भगवत्प्रीतिजनकं भवति तं प्रकारं कथयेति द्वितीयः प्रश्नः । अवतारचरितप्रश्नस्तृतीयः । अवतारव्यतिरेकेण कृते चरित्रे प्रश्नचतुष्टयम्—उत्पत्तिस्थितिप्रलया नानात्वमिति । कार्यप्रश्नः पञ्चमः । सर्वत्र भिन्नप्रकारकरणहेतुः प्रश्नः षष्ठः । एवमवतारचरित्रेण सह सप्त भवन्ति । एवं सति प्रश्नत्रयं भवति । जीवकर्माणि द्विविधानि, स्वार्थानि भगवदर्थानि चेति । भगवत्कर्माणि च तृतीयानि, तत्सामान्यतः प्रतिजानीते प्रश्नत्रयं भवति । एतत्पदं पूर्वेणापि सम्बध्यते वर्णिनामित्यनेन तद् द्योतितं प्रश्नप्रथमश्लोकार्थत्वेन, साधारण्येन च प्रतिज्ञा । प्रश्नत्रयमिति ।

प्रत्यंशभेदेन प्रश्नत्रयं वस्तुतस्त्वेक इत्यर्थः । **उद्देश्यभेदेनेति** । उद्देश्यतावच्छेदकभेदेनैव दुःखाभावस्य भिन्नत्वं वस्तुतस्तु सुखदुःखाभावरूपेणैक एव भगवानित्यर्थः । अत एव 'त यथा यथोपासते तथैव भवती'तिश्रुतिः । **असङ्कल्पित**मिति । कर्मफले कामः कारणं तत्र तद्धेतुभूतदुःखविषयकसङ्कल्पस्याप्यभावे कथं तदुत्पत्तिरित्यर्थः । **कर्ममार्ग एतादृश** इति । सुखभ्रमात् प्रवृत्तानां दुःखसाधक इत्यर्थः । **किं कर्तव्य**मिति । लौकिकं कर्तव्यमथवा तूष्णीं स्थातव्यमित्यर्थः । **प्रथमप्रश्न** इति । अंशत्रयसहितो वैदिककर्मविषयकः प्रश्न इत्यर्थः । **भगवद्भजन**मिति । यदि त्वयैवमुत्तरं देयं यत्रास्ति परमानन्दस्तादृशमपि कर्मास्ति भगवद्भजनरूपं तत्कर्तव्यमिति परं तदपि **कर्मेति** क्रियारूपं तस्यापि प्रकारो ज्ञातव्यो भजनं बाह्यमान्तरं वा त्यागेनात्यागेन वा पुरुषोत्तमस्य साक्षाद् विभूतीनां च कर्तव्यं कीदृश **भगवत्प्रीति**साधकमिति येन प्रकारेण कृतं तद्भजनमपि फलं जनयति तत्प्रकारनिरूपको मार्गो वाच्य इति 'तत् साधुवर्यादिश वर्त्म शं न' इत्यनेन **द्वितीयः** प्रश्न इत्यर्थः । **अवतारेति** । 'करोति कर्माणीत्यनेन तृतीय इत्यर्थः । **अवतारव्यतिरेकेणेति** । प्रपञ्चे समागमनव्यतिरेकेण तदा स्वस्थानस्थितेनैव चरित्रकरणादित्यर्थः । **प्रश्नचतुष्टय**मिति । 'यथा ससर्जाग्रे संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते यथा पुनः स्वे स्व इदं निवेश्य शेत एक एतदनुप्रविष्टो बहुधा यथासीदि'त्यादिभिरुत्पत्तिस्थितिप्रलयप्रवेशसूचितनानात्वविषयकं प्रश्नचतुष्टयमित्यर्थः । **कार्यप्रश्न** इति । 'क्रीडन् विधत्त' इतिश्लोकेन भगवदवतारचरित्रप्रश्न इत्यर्थः । **पञ्चम** इति । भिन्नतया कथनं पूर्वेषां प्रश्नानां कारणविषयकत्वेन सजातीयत्वबोधनाय । **सर्वत्रेति** । प्रपञ्चे पदार्थेषु भिन्नप्रकारेण कारणं भगवता न त्वेकेन प्रकारेणेत्यत्र यो हेतुस्तत्त्वभेदरूपस्तद्विषयको 'यैस्तत्त्वभेदै'रित्यनेन कृतः षष्ठ इत्यर्थः । **एवमिति** । एतेऽनवतारचरित्रप्रश्नाः षडवतारचरित्रेण सहभूताः **सप्त** प्रश्ना **भवन्ती**त्यर्थः । एतेन यावन्त्यनवतारचरितानि तान्यवतीर्योऽपि लीलासृष्टौ करोतीति बोधितम् । पर्यवसितमर्थमाहुरे**वं सतीति** । पञ्चदशस्वपि श्लोकेषु **जीवकर्माणि** भगवत्कर्माणि च पृष्टानि तत्र जीवकर्माणि **द्विविधानि स्वार्थानि** स्वफलसाधकानि **भगवदर्थानि** स्वतन्त्रसेवासाधकानि **भगवत्कर्माणि** तच्चरित्राणीति त्रयाणां प्रश्नात् **सामान्यतः प्रश्नत्रय**मित्यर्थः । **एतत्पद**मिति । एतत्पदस्थं प्रश्नत्रयमिति **पूर्वेण** कर्माणि

तृतीये भगवत्कार्यप्रश्ने अवतारानवतारभेदेन द्वैविध्यम् । तत्राऽनवतारप्रश्ने षट् भेदाः, स एव प्रथम इति प्रथमे पुनरित्युक्तं । पश्चादवताराः । उद्देशेन ग्रहणसन्देहं वारयति नाऽवतारे हीति । अतोऽनभिव्यक्तभगवत एव षट् प्रश्नाः कृता उपसंहारेऽपि निरूपिताः "यानीश्वर कीर्तय तानि मह्यम्" (३-५-१६) इति । गृहीतावतारस्य च तेन भगवत्कर्मस्वेव द्विविधेष्वपि तस्योपसंहार इति तत्रैवोत्तरमुक्तमिति न दोषः । यतः

व्रतिवर्णिनामित्यनेनापि देहलीदीपन्यायेन **सम्बध्यत** इत्यर्थः । नन्वेवं सम्बन्धे को हेतुस्तत्राहुर्व**र्णिना**मिति । वर्णिनां हि कर्माणि त्रिविधानि भवन्ति सत्त्वादिगुणैर्वर्णभेदेन च शूद्रस्य कर्माभावात् स्मार्तानां शूद्रेषु विहितानां कर्मत्वेनागणनात् । तथा च तान्येव त्रिविधानि प्रति **प्रश्नत्रय**मित्यर्थः । ननु जीवस्वार्थकर्ममात्रविषयप्रश्नत्रयं क्वापि नास्तीत्याकाङ्क्षायामाहुः **प्रश्नप्रथमे**ति । 'सुखाय कर्माणी'ति **प्रथमश्लोके** सुखाभावदुःखाभावाभावदुःखसम्बन्धित्वेन कर्मस्वेव प्रश्नत्रयकरणादित्यर्थः । सति भगवदर्थकर्मप्रश्नद्विविधभगवच्चरित्रप्रश्नैः सह **षट्** प्रश्ना भवन्ति । तथा च षड्गुणा भगवल्लीलैव पृष्टेति सर्वेषामेकमेवोत्तरं लीलानिरूपणमिति भावः । नन्वेवं 'प्रश्नत्रयेथ सम्पन्ने' इति प्रतिज्ञानुपपत्तिरित्याशङ्क्याहुः **साधरण्येने**ति । चस्त्वर्थः । प्रतिज्ञा तु सामान्यतस्त्रयः प्रश्ना भवन्तीति साधारण्येन सामान्यप्रकारेणेत्यर्थः । अत एवाभासेऽपि 'सामान्यतः प्रतिजानीत' इत्युक्तम् । नन्वेवं प्रश्नत्रयपक्षेऽपि भगवच्चरित्रस्य द्विविधत्वाच्चत्वारः प्रश्ना भवन्तीति प्रतिज्ञानुपपत्तिस्तादवस्थ्यैवेति चेत् तत्राहुरवतारेति । **अवतारानवतारभेदे**नैव **द्वैविध्यं** वस्तुतस्तूभयोरुभयत्र सत्त्वाद् भगवच्चरित्रत्वेनैकत्वमित्यर्थः । **स एव प्रथम** इति । स एवानवतारविषयकप्रश्न एव पश्चादेव स्वसृष्टजीवोद्धाराय स्वेच्छया भक्तकृपया वा प्राकट्यात् **प्रथम** इत्यर्थः । **उक्त**मिति । मूल इत्यर्थः । **पश्चादवतारा** इति । सृष्ट्यर्थं षड्विधपूर्वोक्तलीलाकरणानन्तरमेवेत्यर्थः । **उद्देशेने**ति उद्देशो-नाममात्रेण कीर्तनम् । तथा च चरित्राण्येव षड्विधानीति तेषामत्र प्रश्नेषु **ग्रहण**मिति यः **सन्देह**स्तमित्यर्थः । **नावतारे**ति । अवतारे तु दशविधलीलातदवान्तरभेदैश्च चरित्राणामनन्तत्वादिति भावः । **अत** इति । यतोऽवतारभेदानन्त्यमतोऽन**भिव्यक्तस्यैव षट् प्रश्ना**स्तत्र षण्णामेव चरित्राणां सत्त्वादित्यर्थः । ननु तथापि भगवल्लीला सर्वत्र प्रश्नोत्तरत्वेन न युज्यते प्रथमत एव जीवकर्मणां पृष्टत्वादित्याशङ्क्याहुरु**पसंहारेऽपी**ति । भगवत्प्रश्ना एवोपसंहारे निरूपिता इति तस्य प्राबल्यमिति जीवकर्मणां सुखासाधकत्वं दुःखसाधकत्वं भगवत्कर्मणामेव सुखसाधकत्वमित्येतदभिप्रायेण तन्निरूपणमित्यर्थः । नन्वन्ते 'यानीश्वर' इतिवाक्ये 'यानी'तिसामान्योक्त्या जीवरूपेणापि यत् करोति तत् पृष्टमिति न भगवत्कर्मस्वेवोपसंहार इत्याशङ्क्याहु**र्गृहीतावतारस्ये**ति । अस्मिन्नेव पद्ये 'गृहीतगुणावतारस्ये'ति भगवद्विशेषणादिति भावः । **तेने**ति येन हेतुना अनवतारावतारभेदेन भगवच्चरित्राण्येव पृष्टानीति तेष्वेवोपसंहारादुपक्रमस्यार्थविचारे दुर्बलत्वात् **तत्रैव** भगवच्चरित्र एवा'थ ते भगवल्लीला' इत्यादिनो**त्तरमुक्त**मिति न प्रश्नोत्तरवैषम्यदोष इत्यर्थः । ननूपक्रमे जीवकर्मणामेव पृष्टत्वात् प्राथम्येनोपक्रमस्य पूर्वमीमांसान्यायेन प्रबलत्वाच्च तत्रैवोत्तरदानमुचितमिति तदभावात् प्रश्नोत्तरवैषम्यदोषो यथास्थित एवेत्याशङ्क्याहु**र्यतः साधन** इति ।

साधने जीवकर्तृककर्मणि नोपसंहृतिः । हेत्वन्तरमपि द्वयोरपि विभेदेनेति । 'तदस्य कौषारव' (३-५-१५) इति । "स विश्वजन्मस्थिती" ति (३-५-१६) । इदानीं प्रश्नान् गणयितुं प्रथम उद्देशप्रकारेण एक एव प्रश्न इत्याह प्रकटे श्लोक एव त्विति । प्रकटोऽवतारः । अप्रकटे षड्भेदान् वदति जन्मादय इति । उत्पत्तिस्थिति-प्रलयाः यथा " ससर्जाग्रे " इत्यादिना । प्रवेशनानात्वे एकत्वेन गणिते । तदनन्तरं प्रकारद्वयप्रश्नः, " यैस्तत्त्वभेदैः, " " येन प्रजानामि"ति ३-५७ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

एवं भगवत्कर्मप्रश्नेषु क्रियमाणेषु पूर्वयोरुत्तरं न वक्तव्यमिति स्वरुच्या शास्त्र-निर्धारेण च निरूपयतीत्याह—

हेतूक्त्या शास्त्रनिर्धारो भक्तत्वज्ञापनाय हि ॥ ३५ ॥
स्वरुचिश्चापि तत्रैव षट्सु सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

हेतूक्त्या शास्त्रनिर्धार इति । "कस्तृप्नुयात् " इति (३-५-११) चतुर्भिः

जीवकर्तृककर्माणि साधनं भगवत्कर्माणि फलं मोक्षाधिकस्वतन्त्रपुरुषार्थरूपत्वात्, तथा च साधन-फलयोर्मुख्यता फल एवेति मुख्ये फले उपसंहारात् तस्यैव प्राबल्यम् । अनयोर्बलाबलनिर्णयेऽर्थबला-बलसत्त्वमेव नियामकम् । अन्यथा ' ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्युपक्रम्यान्ते ' य एवं वेदे'त्युपनिषदि'-त्यनेन जीवे उपसंहाराद्‌पनिषदां जीवपरत्वमेव स्यात् । प्रकृते तु जीवकर्मणां साधनत्वेनोक्तफलतो हीनत्वादुपक्रमे तन्निरूपणे तस्यापि न प्राबल्यमिति भावः । हेत्वन्तरमपीति । अनवतारावतारभेदेन भगवच्चरित्रेष्वेवोपसंहार इत्यत्र द्वयोश्चरित्रयोः कथारूपकृतिरूपयो'स्तदस्य कौषारव ' 'स विश्व-जन्मस्थिती'तिश्लोकाभ्यामन्ते भेदेन प्रश्नादयमप्येको हेतुरन्यथा ' यानीश्वर ' इतिसामान्यभाषयैव प्रश्नः कृतः स्यात्, न भेदेनत्यर्थः । इदानीमिति । प्रश्नान् निर्द्धार्य पञ्चदशसु श्लोकेषु कति प्रश्ना इति तान् गणयितुं लीलारूपोत्तरे सन्देहाभावाय प्रथमे सर्वकारणरूपे सृष्ट्यर्थं स्वत एवाविर्भूते उद्देश-प्रकारेण नाममात्रेण कीर्तनरूपेण एक एव प्रश्नः अवतीर्णचरित्रमात्रमुद्दिश्य प्रश्नकरणादिति भावः । प्रकटोऽवतार इति । एतेन भक्त्या तत्तदर्थप्रकटस्य भावेन स्वानन्ददायकत्वलक्षणचरित्रप्रश्नो न भवती-ति बोधितम् । अप्रकट इति अनवतीर्णेन तु परोक्षरसानुभवायान्तर्हित इत्यर्थः । प्रवेशनानात्व इति । प्रपञ्चमुत्पाद्य तत्र प्रवेशानन्तरमेव भगवत एकस्य नानात्वस्फुटीभावात् कारणकार्यभावेन मृद्घ-टादीनामिव तयोरेकत्वेन गणनेत्यर्थः । प्रकारद्वयेति । 'यैस्तत्त्वभेदैः ' ' येन प्रजाना'मिति वाक्याभ्यां लोककल्पनभेदकरणप्रकारौ पृष्टावित्यर्थः ॥ ३४ ॥

एवमिति । उपसंहारे मुख्यतयोभयविधभगवच्चरित्रप्रश्नेषु क्रियमाणेष्वित्यर्थः । पूर्वयोरिति । जीवानां स्वार्थभगवदर्थककर्मणोरित्यर्थः । न वक्तव्यमिति । श्रोतुर्मम रुच्यभावाच्छास्त्रनिर्द्धारा-च्चेत्यर्थः । हेतूक्त्येति । 'परावरेषा'मित्यनेन स्वस्य भगच्चरित्रश्रवणे तृप्त्यभावकथनेन तत्रैवा रुचिरुक्ता ।

प्रश्नैर्हेतूक्तिः। अनेनैव शास्त्रनिर्धारः। गृहासक्तिर्दुःखात्मकं संसारं प्रयच्छति। कर्माणि तु गृहासक्तिकार्याणि। अतो दुःखजनकत्वमुचितमेवेति। ननु स्वयं पृष्ट्वा स्वयमेव कथमुत्तरयतीत्याशङ्क्याह भक्तत्वज्ञापनाय हीति। भक्तो हि कर्मणामसारतां ज्ञात्वा भगवद्धर्मेषु रमते ततः कर्मप्रश्नस्तस्याऽयुक्तो भवति। एवं ज्ञापनेन स्वस्य भक्तत्वम्। रुच्यापीत्याह स्वरुचिश्चापीति। "परावरेषाम्" (३-५-१०) इति श्लोकेन स्वरुचिरुक्ता। 'मह्यमि'त्युपसंहारे पि। नन्ववतारचरित्रमपि नोत्तरे निरूप्यत इत्याशङ्क्याह षट्सु सर्वं प्रतिष्ठितामिति। स्थितावतताराणां प्रवेशं मन्यते। पुरुषे वाऽनुप्रवेशः॥ ३५६॥

'कस्तृप्नुयान्' 'मुनिर्विवक्षुः' 'सा श्रद्दधानस्य' 'तान् शोच्यशोच्या'निति चतुर्भिः श्लोकैः कथायामेव सुखसाधकत्वरूपहेतूक्त्यान्येषां दुःखसाधकत्वमेवेति शास्त्रार्थनिर्द्धारो विदुरस्येत्यर्थः। ननु गृहं हि लोके सुखसाधकं तदासक्तिनिवर्तकत्वेन कथं कथायाः सुखसाधकत्वमिति हेतुरयं व्यभिचारीत्याशङ्क्याहुर्गृहासक्तिरिति। दुःखात्मकमिति। अहन्ताममतयोरेव दुःखत्वात्। अन्यथा जीवोऽक्षरात्मक इति स्वानन्द च सर्वदानुभवेदित्यर्थः। नन्वेतावता कर्मणां दुःखसाधकत्वं कथं निश्चितमित्याशङ्क्याहुः कर्माणि त्विति। गृहासक्तेरव कार्यरूपाणि कर्माणि तदभावे विरक्तस्य सर्वत्यागेन मोक्षसाधकवर्त्मनि प्रवेशादित्यर्थः। अत इति। यतो गृहासक्तिमूलकानि कर्माणीत्यर्थः। उचितमेवेति। दुःखात्मककारणजन्यानां तेषां गृहासक्तिपोषकत्वादिति भावः। त्यागः सुखात्मक इति। सुखपोषकत्वमेव। दुःखात्मकगृहादि त्यागस्य सुखरूपत्वात्। अत एव 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशु'रिति श्रुतिः। नन्वेवं सति स्वयमेव पूर्वं कर्माणि किमर्थं पृष्टवान् पृष्ट्वा वा किमिति तदुत्तरं दत्तवानित्याशङ्क्याहुर्भक्तत्वेति। 'सुखाय कर्माणि करोति लोक' इतिप्रश्नस्यान्यार्थं करणात् स्वयमेव तदुत्तरदानेन कर्मण्यसारतावगमबोधनान्मह्यमित्यनेन स्वनिश्चयज्ञापनाच्च स्वस्य भक्तत्वमेव ज्ञापितमन्यथाऽभक्ताय भगवदीयो न भगवच्चरित्रं वदेदिति भावः। ननु भक्तत्वमेवानेन कथं ज्ञापितं ज्ञानिनोऽपि कर्मण्यपसारताप्रतीतिरित्याशङ्क्याहुर्भगवद्धर्मेष्विति। भगवद्धर्मेषु भगवत्कथाश्रवणादिषु भक्ता एव परमानन्दं प्राप्नुवन्ति न ज्ञानिन इत्यर्थः। अत एवोक्तमाचार्यैर्निरोधलक्षणे 'ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निश'मिति। तत इति। यतोऽयं भक्तोऽतस्तस्य स्वनिमित्तं कर्मप्रश्नो न युक्त इत्यर्थः। एवं ज्ञापनेनेति। एवमनेन प्रकारेण प्रश्नस्वरूपज्ञापनेन यद् भक्तत्वं ज्ञापितं तत् न शास्त्रार्थज्ञानेन माहात्म्यज्ञानात् किन्तु प्रेम्णापीति ज्ञापयितुमाहू रुच्यापीति। रुचिस्तु 'परावरेषा'मिति श्लोकेनैवोक्ता। तत्रापि प्रेम्णा आधिक्यज्ञापनाय शास्त्रार्थज्ञानज्ञापकश्लोकचतुष्टयात् पूर्वमेव रुचिरुक्तेति भावः। मह्यमिति। कदाचिदन्यार्थं प्रश्नोत्तरकथनेऽपि 'यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्य'मित्यत्रान्ते 'मह्य'मितिकथनान् मदर्थं तूभयविधभगवच्चरितान्येव कथयेत्यभिप्रायेण 'मह्य'मित्युपसंहारोऽपि भक्तत्वज्ञापक इत्यर्थः। ननु मैत्रेयेणानवतारसामयिकलीलाषट्कमेवोत्तरे निरूपितमित्यवतारचरित्रप्रश्नः स्वार्थोऽपि नोत्तरित इत्याशङ्क्याहुः स्थिताविति। षट्सूत्तरेषु या स्थितिलीलोक्ता तन्मध्य एवावतारतच्चरित्रप्रवेशादित्यर्थः। अयमभिप्रायः। सत्त्वाधिष्ठानेन भगवदवताराभावे स्थितिर्न भवति। 'स त्वं त्रिलोकस्थितये बिभर्षी'ति वाक्यात्। अत एव जगत्स्थित्यर्थं नारायणावतारेण तपःकरणम्॥ ३५६॥

ननु "तत्साधुवर्योदिश वर्त्म शं नः" (३-५-४) इति प्रश्नोऽनुपपन्नः, प्रश्ने वा उत्तरे वा समानाभावादित्याशङ्क्य समाधत्ते-

इष्टे प्रसिद्धान्यहेतोर्भगत्प्रीणनेऽपि च ॥ ३६ ॥
उत्तमे पथि संप्रश्न आद्यावेतौ यथोत्तरम् ।

इष्ट इति । इष्टे सुखदुःखाभावे भगवत्प्रीणने वा प्रसिद्धहेतोरभावादन्यो हेतुर्वेक्तव्य इति लोकोपकारार्थं प्रश्न उचितः । अत एवाद्यावेतौ सर्वसाधारणौ लोकोपकारार्थं स्वार्थं च यतनीयामिति । नन्वस्योत्तराभावात्कथं प्रश्न इति तत्राह यथोत्तरमिति । यथावदुत्तरम् । उत्तरवाक्ये प्रथमत एव "लोकान् साध्वनुगृह्णता" (३-५-१८) इति प्रशंसायाः कृतत्वात् । तृतीयोत्तरेणैवाऽऽद्योत्तरं यथावदुक्तमित्यर्थः ॥ ३६½ ॥

तत्र हेतुः-

उत्तरत्वेन कथनादुत्तरं कर्मणि स्थितम् ॥ ३७ ॥
अतः सभाजनं तस्य तेनैवोत्तरमाद्ययोः ।

उत्तरत्वेन कथनादिति । तदेव स्पष्टयति उत्तरं कर्मणि स्थितम् । भगव-

---

नन्वेवं 'तत्साधुवर्योदिशे'त्यनेन मार्गप्रश्नो व्यर्थः । कर्मप्रश्नस्य लोकार्थत्वेन स्वस्य भक्तत्वज्ञापकत्वात् । न च लोकार्थमेवायं प्रश्न इतिवाच्यम् । 'पूर्ववल्लोक' इति प्रश्नवाक्य कथनात् प्रत्युत 'न' इति स्वार्थत्वेन कथनाच्च । न च मार्गप्रश्नो लीलारूपेणोत्तरेण पूर्यत इति वाच्यम् । उत्तरे लीला एव निरूप्यन्त न तु तच्छ्रवणादि येन प्रश्नोत्तरयोः समानं वाक्यं भवेदतोऽनुपपन्न एवायं प्रश्न उत्तराभावादित्यर्थः । इष्ट इति । सुखदुःखाभावरूपे इष्टे लोकानां प्रसिद्धो यो वेदादौ कर्मरूपो हेतुः स तु प्रत्यक्षविरोधान्न सम्भवतीत्यन्य एव तत्र हेतुर्वाच्यस्तथा भगवत्प्रसादेऽपि तस्य 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति' 'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाये'त्य दिवाक्यैरतः कर्मपरा भगवन्मार्गाज्ञानात् कथं सुखवन्तो भविष्यन्तीति तेषु दयया तदर्थं तदनन्तरमव्यवधानेन मार्गप्रश्न इत्यर्थः । अत एव सर्वाभिप्रायेण 'न' इति बहुवचनम् । अन्यथा चरित्रप्रश्ने मह्यमिति वदत्रापि एकवचनमेव वदेदिति भावः । अत इति । प्रश्नवाक्यविचारेण सर्वार्थविवैतौ प्रतीयेतातस्तथेत्यर्थः । आद्यावेताविति । भगवद्भक्तानां दयालुत्वेन प्रथममन्योपकारविचारस्योचितत्वादित्यर्थः । लोकोपकारार्थमिति । तदेव दयासिद्धेरिति भावः । स्वार्थं चेति । स्वार्थे प्रयत्नाभावे स्वात्मनि करुणानां सिद्ध्येदिति भावः । अत एव 'नृदेहमाद्य'मिति श्लोके 'आत्मह'त्यनेन तस्यात्मघातित्वमुक्तम् । अस्येति । लोकार्थप्रश्नस्येत्यर्थः । उत्तराभावादिति । उत्तरे लीलाकथनरूपे भगवन्मार्गाकथनादित्यर्थः । कथं प्रश्न इति । अविचार्य प्रश्नकरणं विदुरेऽतिचतुरे न सम्भवतीति केन प्रकारेण प्रश्न इत्यर्थः । यथावदिति । प्रश्नो यथा येन प्रकारेण तद्वत्तेनैवोत्तरनिरूपणात् प्रथमत एव 'लोकान् साध्वनुगृह्णते'तिप्रशंसाकारणाच्चरित्रविषयकतृतीयप्रश्नोत्तरेण लीलाकथनरूपेणैव श्रीभागवतरूपत्वेनोक्तेन लोकोपकारस्योपकारत्वप्रकारेणोत्तरं निरूपितमित्यर्थः ॥ ३६½ ॥

तत्रेति । उभयोपकारकथनमित्यर्थः । उत्तरत्वेनेति । पृष्टस्य सर्वस्य निःसन्दिग्धताया असिद्धौ

चरित्रकथने पर्यवसितम् । अत एव सभाजनम् । तदुत्तरेणैव आद्ययोरप्युत्तरमिति । दुःखाभावः सुखावाप्तिः कथाश्रवणादेव । तेनैव भगवानपि तुष्यति ॥ ३७½ ॥

नन्वत्र भक्तानां स्तुतिः कुत्रोपयुज्यते तत्राह—

कार्यसृष्टौ स्वतन्त्रत्वं तेषां वारयितुं स्तुतिः ॥ ३८ ॥
विशेषतस्तु कथनं ब्रह्मणोऽपि सुदुष्करम् ।
श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं किञ्चिदुक्तमिति स्थितिः ॥ ३९ ॥

कार्यसृष्टौ स्वतन्त्रमिति । पौत्रोत्पत्तौ पुत्राणामिव न प्रकृते तत्त्वानां स्वतन्त्रता । ननु सामान्यतो निरूपणं प्रकृतोपयोगि भारतादावप्येतावच्छ्रुतत्वादित्याशङ्क्याह विशेषतस्तु कथनमिति । तर्हि कथनस्य किं प्रयोजनं तत्राह श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थमिति । श्रवणकीर्तनादेर्विषय एतादृश इति ज्ञापनार्थः ॥ ३९ ॥

लीलाकथनस्योत्तरत्वमेव न स्यादिति भावः । तदेवेति । उत्तरत्वमेवेत्यर्थः । भगवच्चरित्रकथन इति । भागवतरूपत्वेन भगवच्चरित्रे कथिते सर्वेषामेवोपकाराल्लोकविषयकस्तद्विषयकप्रश्नस्योत्तरं भगवच्चरित्र एव पर्यवसितमित्यर्थः । अत एवेति । यतः प्रश्न एतादृशः कृतो यत्र भगवल्लीलातिरिक्तं नोत्तरत्वेन वक्तुं पतत्यतः 'साधु पृष्ट'मित्यनेन प्रश्नकर्तुः सभाजनमभिनन्दनमित्यर्थः । तदेव विवृण्वन्ति तदुत्तरेणैवेति । चरित्रप्रश्नोत्तरेणैवेत्यर्थः । आद्ययोरपीति । कर्मभगवन्मार्गविषययोः प्रश्नयोरित्यर्थः । आद्ययोरुत्तरं येन प्रकारेण भवति तं प्रकारमाहुर्दुःखाभाव इति । उत्तरत्वेन निरुपितेन तच्छ्रवणं सिद्धमर्थात् तथा च लीलाश्रवणमेव दुःखाभावसुखरूपोभयपुरुषार्थसाधकं स एव च मार्ग इत्युभयोरुत्तरमप्यनेन जातमित्यर्थः । ननु लीलाश्रवणस्य कथं मार्गत्वमित्याशङ्क्याहुस्तेनैवेति । श्रवणेनैव भगवान् तुष्यति 'शृण्वतां स्वकथा' इति वाक्यादित्यर्थः ॥ ३७½ ॥

नन्वत्र प्रकरणे देवतारूपाणां पुरुषशरीरकारणभूततत्त्वानां स्तुतेः कुत्रोपयोगः सृष्ट्यात्रनुपयोगादित्याशङ्क्याहुः पौत्रोत्पत्ताविति । यथा पौत्रोत्पत्तौ पौत्रोत्पत्तिविषये पुत्राणामेव स्वातन्त्र्यं न पितुस्तमपृष्ट्वैव स्वेच्छया पुत्रोत्पादनयत्नकरणात् तथा तत्त्वानामपि स्वकार्योत्पादने स्वातन्त्र्यं भविष्यतीति शङ्का स्यात् तदभावार्थं स्तुतिनिरूपणेन तदधीनत्वमुक्तमित्यर्थः । प्रकृतोपयोगीति । प्रकृतं गुणातीतसृष्टिस्तदुपयोगि सामान्यतो निरूपणं एतावद् यावदत्रोच्यते तावत् भारतविष्णुपुराणादावपि श्रुतत्वादत्र विशेषतो निरूपणं कर्तव्यमित्याशयेनाशङ्क्येत्यर्थः । ब्रह्मणोऽपीति । मूले ब्रह्मणश्चतुर्मुखत्वतादृक्सामर्थ्यवत्त्वेऽपि भगवल्लीलाया अनन्तत्वाद् यावदुच्यते तावत् स्वल्पमेवेति तस्यापि विशेषतो निरूपणं सुदुःकरमित्यर्थः । तर्हीति । विशेषतो निरूपणाभावे कथनस्यैवात्र किं प्रयोजनं सामान्यतो निरूपणस्य सर्वत्र भारतादिषु सत्त्वेन तत एव श्रवणसिद्धेरित्यर्थः । श्रवणकीर्तनादेरिति । 'तस्माद् भारते'तिपद्ये श्रवणादिविधिः प्रतिपादितस्तत्र श्रवणादेर्विषयः सर्गादिरेतादृशः श्रीभागवतोक्त एतदानुपूर्वीविशिष्टो न भारताद्युक्तस्तत्र लीलारूपत्वेन सर्गादीनामप्रतिपादनादतस्तद्विषयस्वरूपज्ञापनार्थो मैत्रेयस्यैवं प्रकरेण सर्गकथनाभिप्राय इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

---

* इति ९ कारिकात्मकोष्टमः स्तबकः ।

अवतारचरित्रस्याऽनन्तर्भावमाशङ्क्याह—

सर्वावतारबीजत्वात्पुरुषेणैव तत्कथा ।
गुणातीतात्सृष्टिलीला द्वयेनैव निरूपिता ॥ ४० ॥

सर्वावतारबीजत्वादिति । अध्यायद्वयार्थमुपसंहरति गुणातीतादिति ॥ ४० ॥

सगुणां तु त्रयेणाऽऽह पूर्वपक्षाधिकत्वतः ।
ततः कारणसम्भूतिः स्तुतिस्तस्य फलावधिः ॥ ४१ ॥

सगुणा तु लीला त्रिभिः । सृष्टिभगवतोर्मध्ये गुणानामधिकारत्वात् । ते हि पूर्वपक्षत्वेनैव मतान्तरभाषया सिद्धा निरूप्यन्त इति ज्ञापयितुमाह पूर्वपक्षाधिकत्वत इति । अत्रापि कारणसम्भूतिः कार्यसम्भूतिरित्यध्यायद्वयम् । तत्र

अवतारचरित्रस्येति । उत्तरे षड्विधलीलानिरूपणे स्थिताववताराणां तद्धेतुत्वेनान्तर्भावोऽवतारचरित्रस्य साधुपरित्राणदुष्टविनाशहेतोर्युद्धादिरूपस्य तु कुत्रान्तर्भावः, मुक्तिदातृत्वेन प्रलये स्थितशरीरादिनाशनान्न स्थितावुत्पुन्नस्य धर्मसहितस्य रक्षणे चान्तर्भावायोग्यत्वात् । अत एव नानात्वकार्यप्रकारभेदप्रकारादिप्रश्नविषयचरित्रेषु च नान्तर्भावः । सर्वेति । 'पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवा'निति श्लोके पुरुषनिरूपणं कृतं तत्कथा च मायायां वीर्याधानरूपोक्ता । तथा च स सर्वावतारबीजमे'तन्नानावताराणा'मिति वाक्यादतस्तत्कथानिरूपणेन सर्वावतारकथा निरूपितेति भावः । अध्यायद्वयार्थमिति । पञ्चमषष्ठाध्यायार्थमित्यर्थः ॥ ४० ॥

त्रिभिरिति । अध्यायैरित्यर्थः । नन्वत्र पूर्वसर्गात् को विशषोऽत्रापि भगवत एव मूलत्वप्रतिपादनादित्याशङ्क्याहुः सृष्टिभगवतोरिति । सृष्टिः कार्यं भगवान् कर्ता तयार्मध्ये 'भगवानेक आसेद'मिति वाक्यान्न कोऽपि स्थितः । पूर्वसृष्टैः भगवत एवासहायकर्तृत्वादेतत्सृष्टौ तु गुणा एव भगवतः कर्तृत्वेऽधिकाररूपा इति तदस्वीकारे केवलस्य कर्तृत्वाभावादिति गुणवत्त्वं सृष्टिप्रयोजकमत्रेति पूर्वसर्गाद्विशेष इत्यर्थः । ते हीति । मतान्तरभाषया साङ्ख्यशास्त्रसिद्धा गुणा निरूप्यन्ते वेदे भागवते च समाधिभाषया भगवति गुणसम्बन्धस्यानुक्तत्वात् तेऽपि पूर्वपक्षवाक्येष्वेव निरूप्यन्ते न सिद्धान्तवाक्येषु तेषां परमतत्वसिद्धज्ञापनायेत्यर्थः । ननु तथापि 'सेयं भगवतो माये'त्यादिनाग्रे मायया भगवच्छक्त्या गुणसम्बन्धस्य सिद्धान्तवाक्येषु वक्तव्यत्वेन तद्दूषणात् पूर्वोक्तगुणातीतसृष्टिनिरूपणमनुपपन्नमित्याशङ्क्याहुः पूर्वपक्षाधिकत्वत इति । अत्र प्रकरणे सगुणसृष्टावपि पूर्वपक्षाणामेवाधिकत्वं न सृष्टेर्विसर्गरूपसगुणसृष्टित्वं साङ्ख्य इव मायागुणैः सृष्ट्यनिरूपणात् किन्तु भगवद्गुणावतारब्रह्मरूपरजोगुणसाहित्यमेवेति गुणातीतसृष्टिसमानत्वमेव, सगुणत्वोक्तिस्तु स्वगुणरजःप्राकट्येन तत्साहित्यमादायेत्यर्थः । अयमर्थ । एते त्रयोऽपि सत्त्वादयः सच्चिदानन्दानामंशभूता भगवत एव, तत्र सति सत्त्वं, चिति रजः, तम आनन्दे, तेषामेवावतारा ब्रह्मविष्णुशिवाः प्रपञ्चे फलदानाय

कारणं ब्रह्मा, कार्यं सर्वं जगत्। तत्कालशेषत्वेन निरूपणीयमिति स्तोत्रमेव कार्यत्वेन निरूप्यते सफलम् ॥ ४१ ॥

एवं सामान्यतस्त्रयाणामध्यायानामर्था निरूपिताः । अधुना विचार्यन्ते । नन्वियं लीला विसर्गे न सर्ग इत्याशङ्क्याह—

एतद्विभूतिरूपत्वादन्येषां न विसर्गता ।
साधारण्ये न कथनं प्रकृते नोपयुज्यते ॥ ४२ ॥
अतो विभूतिरूपेण सर्वेषां विनिरूपणम् ।
यादृशो हि विसर्गोऽत्र स चतुर्थे विविच्यते ॥ ४३ ॥

त एव बहुविधसर्गेषु मायासृष्टौ कदाचिन्मायया परिगृहीतास्तद्गुणा उच्यन्ते यथा भगवत ऐश्वर्यादयो विभूतिरूपेषु स्थितास्तद्गुणास्तथा च तत्सृष्टौ न मूलभूतसृष्टित्वमुच्यते विभूतिकार्येषु मूलभूतकार्यत्वमिव, वस्तुतस्तु ब्रह्मवादे सर्वं मूलकार्यं तथापि लीलायां भेदस्तत्तद्रूपेण करणात् प्रकृते तु सर्गलीलेयं मूलरूपेण भगवच्छब्दवाच्येनोच्यते श्रोतव्यत्वनेति न तादृशसगुणसृष्टिनिरूपकत्वमस्य प्रकरणस्येति पूर्वपक्षरूपेणैव तेषां गुणानां निरूपणमिति भावः। **अत्रापी**ति। अस्मिन् सगुणप्रकरणेऽपि गुणातीतप्रकरणवदेव कारणकार्यसृष्टिरेवोच्यते न विसर्गरूपा सगुणसृष्टिरित्यर्थः । तस्यां विभूतिरूपायां सत्त्वादिभेदेन सनकादिमरीच्यादिमहादेवादीनां त्रिगुणानामेव सृष्टेर्निरूपणीयत्वादिति भावः। **कारणं ब्रह्मे**ति। रजोगुणसहितो भगवानेवेत्यर्थः। **स्तोत्रमेवे**ति। यद्यपि ब्रह्मकार्यं सर्वमेव त्रिगुणात्मकं जगत् तथापि तदत्र कार्यत्वेन न निरूप्यते विसर्गनिरूपणापत्तेरतस्तत् सृष्टिकारणरूप ब्रह्म-**स्तोत्रमेव कार्यत्वेन निरूप्यते**, तदग्र एतद्विभूतिनिरूपणार्थं कालप्रकरणे कारणभूतकालशेषत्वेनैव तदधीनाद् ब्रह्मणो निरूप्यत इति न कुत्रापि मुख्यविसर्गनिरूपणमिति सर्वप्रकरणेषु सर्गनिरूपणं निष्प्रत्यूहं सेत्स्यतीति भावः । ननु स्तोत्रस्य कार्यत्वोक्तिरनुपपन्ना ब्रह्मणा कृतत्वेऽपि न जगत्सृष्टिरूपत्वमित्याशङ्क्याहुः **सफलमि**ति । स्तोत्रमात्रमेव नात्राध्याये निरूप्यते किन्तु तत्फलमग्रे क्रियमाणजगत्प्रकाशनं 'व्यज्येदं कञ्जनाभस्तिरोदध' इति वाक्यान्निरूप्यत इति सूक्ष्मप्रकारेण सर्वापि सृष्टिर्ब्रह्मणो हृदयागता निरूपितेति तद्विशिष्टं स्तोत्रं सृष्टिरूपत्वात् कार्यरूपमेवेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

त्रयाणामिति। सप्तमाध्याये पूर्वपक्षत्वेन गुणनिरूपणं मायाया भगवच्छक्तित्वनिरूपणेन नान्यगुणसम्बन्ध इति तदंशस्य जीवस्य विक्षेपशक्तिरूपया मायया विक्षेपात् तद्गुणसम्बन्धे 'स वै निवृत्तिधर्मेणे'त्यादिना तन्निवर्तकोपायज्ञानभगवत्कृतभक्त्यादिकमुक्तं तथाष्टमे कारणभूतब्रह्मोत्पत्तिरुक्ता नवमे तत्कार्यरूपं सृष्टिसहितं स्तोत्रमुक्तमिति **सामान्यतस्त्रयाणामध्यानामर्थो निरूपिता** इत्यर्थः। **अधुना विचार्यन्त** इति। एते त्रयोऽप्यर्थाः पूर्वोक्तसर्गरूपत्वदृढीकरणाय पूर्वपक्षसिद्धान्ताभ्यां विचार्यन्त इत्यर्थः । इयमिति । एतत्प्रकरणोक्तेत्यर्थः। **विसर्गमध्य** इति । कारणभूतब्रह्मस्वरूपनिर्णयपूर्वकं चतुर्मुखोत्पत्तिनिरूपणेऽपि सृष्टेर्ब्रह्मकृताया एव निरूपणादित्यर्थः । **प्रथमसृष्टस्वरूपमि**ति। 'एतच्छ'ब्देन नाभिकमलस्थितब्रह्मसहितं सर्वजगत्समष्टिरूपं तदात्मकं मूलभूतपुरुषावताररूपमुच्यते,

एतद्धि भूतिरूपत्वादिति। एतदिति प्रथमसृष्टिस्वरूपपुरुषरूपमुच्यते। अन्येषां ब्रह्मादीनामस्ति विभूतित्वं, ब्रह्मादीनामस्ति च विसर्गता । उभयोः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह साधारण्येन कथनमिति। भागवतं हि सारोद्धारात्मकमुत्तमाधिकारसहितं च । तेन पुराणान्तरसाम्येन न विसर्गत्वेन निरूपणीयम्। तर्हि विसर्गो न वक्तव्य इत्याशङ्क्याह यादृशो हि विसर्ग इति। तस्य न विभूतित्वं सम्भविष्यतीति भावः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

गुणातीता सृष्टिलीला मैत्रेयेण स्वत एव निरूपिता भगवदाज्ञया। तावता

तथा च तत्कार्यभूतानां करणत्वेनोक्तानामपि ब्रह्मादीनां मूलभूतविभूतिरूपत्वमेवेति विभूतिरूपविसर्गनिरूपणमेव न मुख्यविसर्गनिरूपणमित्यर्थः । अत एवा**न्येषां** ब्रह्मप्रकृतीनां विभूतिरूपत्वं न ब्रह्मण इत्याशङ्क्य तस्यापि मूलरूपं विभूतित्वमेवेत्यभिप्रायेणाहु**र्ब्रह्मादीना**मिति । ननु ब्रह्मणः सर्वकारणस्य कथं विभूतिरूपत्वमित्याशङ्क्याहु**रस्ति चे**ति । गीतायां विभूत्यध्याये 'यच्चापि सर्वभूतानां बीज'मिति वाक्येन तस्यापि तत्त्वेन निरूपणादिति भावः। ननु विभूतित्वेऽपि कार्यरूपत्वाभावात् कथं विसर्गता स्वत एव जातत्वादित्याशङ्क्याहु**र्विसर्गते**ति । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व'मिति वाक्यात् तथात्वमपीत्यर्थः । **उभयो**रिति । यदि ब्रह्मादीनां विसर्गत्वं तदा सर्गस्कन्धे सर्गविसर्गयोर्निरूपणे **किं प्रयोज**कमित्यर्थः । **भागवतं ही**ति। 'सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृत'मिति वाक्यादत्र भागवते सर्गादीनां **सारोद्धार** इति सर्गादिषु यः सारांशः साक्षात्पुरुषोत्तमलीलारूपो मोक्षरूपसर्गादिरूपः स गृहीत इति स यादृशः स्वविभूतिसहितो भगवानेव तादृशोऽत्र निरूप्यत इति पुराणान्तरे सर्गादीनां यत् साधारण्येन स्वविभूतिं विहाय केवलं तन्मात्रनिरूपणं तत्रोपयुज्यत इत्यर्थः । किञ्चात्र श्रोत्रधिकारवैशिष्ट्यादपि **न साधारण्येन कथनं** घटत इत्यभिप्रायेणाहु**रुत्तमाधिकारसहितं चे**ति । अत्राधिकारी परमोत्तम एव प्रतिपादितः परीक्षिद्विदुरश्चान्येषां निरूपणं त्वेतदुत्तमतावगत्यर्थमिति तादृशेषु सर्वोत्तममेव सर्गादिकं वक्तव्यमित्यर्थः। **तेने**ति । येन हेतुना भागवतं सारोद्धाररूपमधिकारश्चोत्तमस्तेन न **पुराणान्तर**समतयात्र सर्गादिकं निरूप्यमित्यर्थः । **विसर्गत्वेने**ति । किन्तु सर्गविभूतित्वेनेत्यर्थः । **तर्हि विसर्ग** इति। विसर्गस्य सर्गविभूतित्वे तस्यात्र निरूपणाच्चतुर्थस्कन्धे स्वातन्त्र्येण तन्निरूपणं न कार्यमित्यर्थः । **यादृशो ही**ति । विसर्गोऽपि सर्गवत् साक्षाद्भगवल्लीलारूपः विभूतिकः, तस्य धर्मादयः पुरुषार्थो विभूतयस्तथा च तत्सहितश्चतुर्थस्कन्धे चतुर्भिः प्रकरणैर्निरूप्यत इति **तस्य** स्वविभूतिसहितत्वान्न **विभूतित्वं सम्भविष्य**त्यत्र तु तदनिरूपणाद् विभूतिरूपत्वमेवेति भावः ॥ ४३ ॥

ननु मैत्रेयेण भागवतं तु सप्तमाध्यायमारभ्यैवोक्त'मथापि कीर्तयाम्यङ्ग यथामति यथाश्रुत'मिति वाक्यात्। तथा चाध्यायद्वयीयकथा न भागवते प्रवेक्ष्यतीत्याशङ्क्याहुः **स्वत एवे**ति। विशिष्य विदुरप्रश्नाभावेऽप्यनुचितत्वमप्यविचार्य **भगवदाज्ञ**योद्धवश्रवणसमयप्राप्तया **स्वत एव** भगवदुक्तगुणातीतसर्गरूपा पराकाष्ठापन्ना लीलोक्तेति भगवदुक्तत्वाद् भागवत एव प्रवेक्ष्यतीति भावः । ननु तथापि कथनमनुचितं प्रश्नाभावे स्वस्य सापेक्षतादोषसम्भवादित्याशङ्क्याहु**स्तावते**ति। न हि सामा-

विदुरस्याकाङ्क्षायां असमाप्तौ[1] सर्वसन्देहवारकं भागवतमेवेति सूतवत् शुकवद् भागवतमेवोपक्षिपति । तत्राऽस्य परम्परा शेषात्सङ्कर्षणात् । तथा सति ब्रह्मादिक्रमेण नाऽऽगतमिति कथं भागवतमित्याशङ्क्याह–

कृष्णोक्तं तु पुराणं हि श्रीभागवतमुच्यते ।
अयमर्थस्त्वन्यमुखान्नोद्भविष्यति कर्हिचित् ॥ ४४ ॥

कृष्णोक्तमिति । भगवता प्रोक्तं भागवतम् । गीतादीनामपि भागवतत्वमेव, परं न पुराणत्वम् । न ह्यन्यो भगवल्लीलां जानातीत्यभिप्रायेणाऽऽह अयमर्थ इति ॥ ४४ ॥

न्यतोऽप्यश्रुते भगवत्याकाङ्क्षा श्रोतुरिति तदाकाङ्क्षोत्पादनार्थमेव भगवदुक्तं सूक्ष्मतमं भागवतमुक्तं तदपि भगवदाज्ञयेति वस्तुतो भगवतैवोक्तमन्यथा तद्विस्ताररूपभागवतश्रवणाकाङ्क्षा न भवेदतस्तावता गुणातीतसर्गनिरूपणेन तस्याकाङ्क्षायामग्रे भागवतनिरूपणं सेत्स्यतीति विदुरार्थमेव तन्निरूपणान्न मैत्रेयस्य सापेक्षतादोषः सम्भविष्यतीति भावः । अत एवाग्रिमप्रकरणारम्भे साकाङ्क्षताज्ञापिकैव विदुरस्य पूर्वपक्षकृतिरन्यथोपेक्षैव कृता स्यादिति भावः । **समाप्ताविति** । गुणातीतप्रकरणसमाप्तावित्यर्थः । **सर्वसन्देहवारकमिति** । एतच्छ्रवणेन विदुरस्याकाङ्क्षोत्पन्नेत्यवगत्य भगवद्रूपमेव **भागवतं** ‘ भिद्यते हृदयग्रन्थि’रिति श्रुतेः **सर्वसन्देहवारक** न जीवबुद्धिरिति तदेव वक्तव्यत्वेन विदुरस्याग्रे ‘ अथापि कीर्तयामी’ति वाक्येनो**पक्षिपति** समीपे उपस्थापयतीत्यर्थः । ननु स्वातन्त्र्येण कथने काव्यादीनामिव स्वबुद्धिपरिकल्पितत्वमेव भवेन्न भगवद्रूपत्वमित्याशङ्क्याहुः **सूतवच्छुकवदिति** । ‘ सोऽहं वः श्रावयिष्यामि ’ ‘ एवमेतत् पुरा पृष्टः ’ ‘ अधीतवान् द्वापरादा’वित्यादिवाक्यैः सूतशुकाभ्यां यथा न स्वातन्त्र्येणोक्तं तथा मैत्रेयेणापि न स्वातन्त्र्येणोक्तमित्यर्थः । ननु तथापि मैत्रेयोक्तस्य न भागवतत्वं शेषपरम्परयाऽप्राप्तत्वात् । ब्रह्मादिपरम्परया प्राप्तस्यैव तत्त्वादित्याशङ्क्याहु**र्भगवता प्रोक्त**मिति । ‘ भागवत’शब्दो न रूढः पुराणविशेषे किन्तु यौगिकः । तथा च तेन प्रोक्तमित्यधिकारकाण्प्रत्ययेन भगवत्प्रोक्तत्वं तस्य शब्दस्यार्थः । अतः सर्वासु परम्परासु भगवत्प्रोक्तत्वमेतन्न व्यभिचरतीति मैत्रेयोक्तस्य ब्रह्मपरम्परातिरिक्तपरम्परागतस्यापि भागवतत्वमित्यर्थः । नन्वेवमस्य शब्दस्य यौगिकत्वे तमादाय गीतादिष्वपि तथा व्यवहारः स्यादित्याशङ्क्याहु**र्भागवतत्वमेवेति** । अन्यथा तद्विस्तारत्वमस्य सर्वथा भेदे न स्यादिति भावः । नन्वेवं व्यवहारो न दृश्यते गीतादिष्विति रूढ एवायं शब्दो निरुच्यतामित्याशङ्क्याहु**र्नपुराणत्वमिति** । गीतायां वस्तुतो भागवतत्वमेव तत्सूक्ष्मरूपत्वात् तथापि पुराणगणनायां विस्पष्टतया पुराणरूपेऽस्मिन्नेव भागवतशब्दप्रयोगेण तत्रैव व्यवहारो गीतायां पुराणरूपत्वाभावेन न तथा व्यवहार इति भावः । वस्तुतस्तु व्यवहारेऽपि तथा न दोष इति ज्ञेयम् । ननु व्यासोक्तेऽस्मिन् मूलतो भगवत्प्रोक्तत्वमादाय भागवतशब्दो निरूप्यते तथा च रूढो व्यासस्य भगवदवतारत्वेन तत्प्रोक्तत्वाद् यौगिको वा सर्वपुराणस्मृतिसाधारण उच्यतामित्याशङ्क्याहु**रयमर्थ** इति मूले । **न ह्यन्य** इति व्यासो हि कलावतारः पुरुषोत्तम-

---

१ ‘ समासौ’ पाठः ।

नन्वत्र परम्परायां पराशरान्मैत्रेयस्याध्ययनम् । स तु विष्णुपुराणमाहेति प्रसिद्धिस्तस्मादस्य न भागवतमित्याशङ्क्याह—

वैष्णवादिपुराणानि तच्छेषाणीति निश्चितम् ।
सर्वतोमुखमेमद्धि तदर्थं शेषतः कथा ॥ ४५ ॥
अर्थमात्रप्रधानत्वान्न दूषणमिहाऽण्वपि ।

वैष्णवादिपुराणानीति । "त्रयोविंशति वैष्णवम्" इति । त्रयोविंशतिसहस्रपरिमितं पुराणं भिन्नमेव, तद्व्यासेनैव कृतम् । "अष्टादशपुराणानाम्" इति वाक्यात् ।

धर्मवेत्तैव तद्धर्मज्ञानावतारत्वान्न स्वरूपवेत्ता भागवतं लीलानिरूपकपुरुषोत्तमस्वरूपमेवेति तन्निरूपणं 'स्वयमात्मनात्मान'मिति वाक्यात् तज्ज्ञेनैव कर्तव्यमिति मूलभूतभगवत्प्रोक्तत्वमादायात्र भागवत शब्द इत्यर्थः । अत एव पूर्वमुक्तं निबन्धे 'ईशवाक्यं तु तस्यापि दुर्बोधं भजनाद् ऋत' इति ॥ ४४॥

ननु तथापि मैत्रेयोक्तस्य न भागवतत्वमायाति एतत्परम्परायां पराशरतोऽध्ययनेन तेन च लोकप्रसिद्धयाँ विष्णुपुराणाध्यापनात् पुराणमेतद् विष्णुपुराणं वैष्णवमेवेत्यर्थः । **प्रसिद्धिरिति** । लोकप्रसिद्धिरेवेत्यर्थः । वस्तुतस्तु पराशरसंहिता भिन्नैवेत्यग्रे वाच्यमिति भावः । **तच्छेषाणीति** । पुराणसङ्ख्यागणनप्रस्तावे **त्रयोविंशतिसहस्र**श्लोकपरिमितं **विष्णुपुराणं** पराशरोक्ताद् **भिन्नमेवै**तस्याल्पत्वात् । अत एव तद्विस्तारोऽप्यत्र स्कन्धद्वयेनैव जातस्तस्माद् व्यासकृतमेव न पराशरकृतं लोकप्रसिद्धिस्तु भ्रमात् । तथा च वैष्णवादिसर्वेषां व्यासकृतानां पुराणानां दशलक्षणलक्षितश्रीभागवतीयपञ्चलक्षणप्रतिपादकत्वात् तच्छेषत्वमेव भागवतवद् भगवत्परम्परासिद्धत्वाभावान्न मुख्यत्वमित्यर्थः । अन्यपुराणानां परम्पराप्राप्तत्वाभावायाहुर्व्यासेनैव **कृत**मिति । व्यासेन स्वज्ञानबलेन प्रादुर्भावितमित्यर्थः । अन्यथा पुराणत्वं न स्यात्, पुरा न नवं पुराणमिति निरुक्तेः । श्रीभागवतं तु तेनापि समाधौ परम्परया प्राप्तमिति स्वज्ञानसामर्थ्येन कृतत्वादन्येषां पुराणानां तच्छेषत्वं युज्यत इति भावः । ननु विष्णुपुराणं तु लोकप्रसिद्ध्या पराशरेण परम्परया प्राप्तमेवास्तु तस्य व्यासकृतत्वे किं प्रमाणमित्याशङ्क्याहुर**ष्टादशे**ति । एतस्य व्यासकृतत्वाभावे'ष्टादशपुराणाना'मिति वाक्ये सङ्ख्यानुपपत्तेः । नन्वेवमष्टादशपुराणान्तर्गतत्वेन श्रीभागवतस्यापि व्यासकृतत्वमेवायातीति सर्वमुख्यत्वसिद्धिरिति चेन्न महाभारतान्तर्गतगीतावदष्टादशपुराणान्तर्गतत्वेऽपि मुख्यत्वोपपत्तेः । दशलक्षणलक्षितत्वाच्च । नन्वस्याष्टादशपुराणान्तर्गतत्वमेवासम्भवि महाभारतकरणानन्तरमेतत्करणात पुराणानामष्टादशानां तु भारतात् पूर्वमेवा'ष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुत' इति वाक्येन करणादिति चेन्न अष्टादशस्वेव भागवतमस्ति सूक्ष्मं वृत्रासुरवधोपेतत्वादिलक्षणं परं तत् पञ्चलक्षणमेवैतस्माद् भिन्नम् । अत एव तत्र धर्मविस्तरवर्णनमुक्तं प्रकृते तु भक्तिः प्रतिपाद्यत इति मूलरूपस्यावताररूपे प्रवेशवदेतस्यापि परम्पराप्राप्तस्याधिकलक्षणयुक्तस्य तत्र प्रवेश इति न भेदो नाप्यभेद

इयं तु पराशरसंहिता भिन्नैव। पराशरो हि भागवतं श्रुत्वा मैत्रेयाय तथा बोधितवान्। तस्मात्तदपि भागवतमेवेति न कोऽपि विरोधः। ननु तथापि परम्परा भिन्नैवेति कथं भागवतमिति चेत्तत्राह सर्वतोमुखमिति। भगवतो हि स्वरूपं (भगवतैव)

इति सर्वमुपपद्यते सङ्ख्यादिकमिति न वाक्यविरोध इत्यर्थः। ननु तथाप्येककर्तृत्वमेवायातीति कथमेतन्मुख्यतोपपत्तिरिति चेत् कृष्णावतारे मूलरूपप्रवेशेन सर्वावतारमुख्यत्ववदेतस्य भगवदाविष्टतदवतारव्यासकृतस्य तत्र प्रवेशेन तन्मुख्यत्वसिद्धेः। कृष्णावतारेऽभेदप्रतीतिवदत्राप्यभेदप्रतीतिः। अत एवाचार्यैः प्रथममेव 'भक्तिजनिकां संहितामारभमाण' इति संहितात्वमेवोक्तं पश्चादेव पुराणप्रवेशात् पुराणत्वं, खिलस्य हरिवंशस्य भारतप्रवेशाद् भारतत्वमिव। किञ्च सर्वेषामेव पुराणानां धर्मप्रतिपादकत्वमेव स च धर्मो वैदिको वाक्यानि च तत्र व्यासैर्वैदिकान्यवोपनिबद्धानि, नापूर्वरचना। तथा च स्त्रीशूद्रादीनां धर्मानधिकारिणां न तैः कार्यसिद्धिस्त्रयी तु श्रुतिगोचरा न भवतीति कथं धर्मसिद्धिस्तेषां भविष्यतीति कृपया स्त्रीशूद्रादीनामर्थे सर्ववेदार्थोपबृंहितं लौकिकचरित्रनिरूपकं न त्वनवतारसामयिकभगवल्लीलारूपवेदार्थसर्गादिपञ्चलक्षणबोधकं भारतं कृतवान्, ततोऽपि कलौ न विस्तरो धर्मज्ञानेऽपि कलौ देशादिषट्साधनाभावाद् धर्मासिद्धेः। अत एव व्यासस्य शोकः सर्वोद्धारार्थं पुराणभारताद्युपायकरणेऽपि कलौ तदनुद्धारात् तथा चावतारदशायां निःसाधनजनोद्धृतये भक्तादुःखेन मूलरूपप्राकट्यवदत्रापि व्यासदुःखेन परमकृपालुः श्रीभागवतरूपेण स्वप्राकट्यं कृतवान् परं त्ववताररूपे तत्प्रवेशवदत्रापि पुराणरूपे तस्मिन् प्रवेश इति नानुपपत्तिः काचित्। अत एवाचार्यैर्मङ्गलाचरणीयप्रमथश्लोके 'भक्तिश्च स्वतन्त्रं शास्त्रं रूपं च लोके प्रकव्यति य' इत्युक्तम्। एतद्भेदानवगमात् तद्वाक्यमात्रमवलोक्य भ्राम्यन्ति विद्वांसोऽपीति सर्वमनवद्यम्। अत एवैतस्या'म्बरीषशुकप्रोक्त'मितिवाक्ये शुकप्रोक्तत्वं लक्षणमुक्तम्। 'यदीच्छसि भवक्षय'मित्यनेन मुक्तिसाधकत्वं चोक्तम्। अन्यस्य तु व्यासकृतत्वमेव न शुकोक्तत्वम्। अन्यथान्यव्यावर्तकं 'शुकप्रोक्त'मिति विशेषणं न वदेत्। अत्र व्यासोक्तिः कीरवदर्थज्ञानाभावेन शब्दमात्रानुवादिकैव अर्थप्राकट्याय अतएवास्मदाचार्यवर्यावतारः। भगवद्वाक्यत्वादवताररूपस्य व्यासस्य भजनाभावेन पूर्वं तदर्थानवबोधः। अत एव परीक्षिच्छ्रवणावसरे भजनसिद्ध्यर्थमेव श्रोतृत्वम्। एतेन व्यासस्य कीरस्येव श्रवणसमये स्वकृतत्वस्फूर्तिरपि नासीदिति सूचितम्। **इयं** त्विति। पराशरेण मैत्रेयं प्रत्यभिहिता भागवतार्थनिरूपिका संहितेत्यर्थः। ननु पराशरसंहिताया भागवतार्थत्वेन किं विनिगमकमित्याशङ्क्याहुः **पराशरो हीति**। साङ्ख्यायनवदनाद्यनन्तपरम्पराप्राप्तं भागवतं श्रुत्वैव मैत्रेयाय पराशरसंहिताकथनात् तथात्वमित्यर्थः। **तथेति**। भागवतार्थत्वेन तस्मै पराशरो **बोधितवा**नित्यर्थः। ननु तथापि नास्य भागवतत्वं भगवच्छब्दवाच्येन परमकाष्ठापन्नेन प्रोक्तत्वाभावादित्याशङ्क्याहुर्**न कोऽपीति**। सङ्कर्षणस्यापि तद्विभूतित्वेन भगवत्त्वादिति भावः। **परम्पराभिन्नेति**। तथा च कारणभेदात् कार्यमपि भिद्येतेति परम्पराद्वयसिद्ध्योर्भागवतयोरपि भेदः स्यादिति भावः। **भगवतो हीति**। लीलाविशिष्टं भगवत्स्वरूपं यत्र निरूप्यं तत्र यादृशं रूपं निरूपणीयं तादृशरूपेण **भगवतैव तद्** वक्त

भागवते वक्तव्यम् । तद्भगवान् स्वयमेव कदाचिद्वदति । कदाचित्सङ्कर्षणो वासुदेवस्यैव तत्त्वं वदति, " तत्त्वमतः परस्य " इति वाक्यात् । ननु तत्र वाक्यानुपूर्वी विसदृशी तत्कथमनयोरेकत्वं तत्राऽऽह अर्थमात्रप्रधानत्वादिति । सर्गादयोर्था यादृशा भागवते विवक्षितास्त एव पराशरवक्तृकेऽपि सन्तीति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ ४५½ ॥

केचित्पुनः सूक्ष्मं भागवतं भगवद्ब्रह्मसम्वादपरम्परया समागतं द्वितीयस्कन्धमात्रम् । स्थूलं तु दशस्कन्धात्मकं शेषतः समागतमिति । तं पक्षं दूषयति—

स्थूलसूक्ष्मविभेदेन केचिदाहुर्मृषैव तत् ॥ ४६ ॥

पञ्चमादन्यवत्कृत्वा तया शास्त्रविरोधतः ।

स्थूलेति । पञ्चमस्कन्धादिकं न पराशरेणोक्तं, नापि व्यासः पराशराच्छ्रुत्वा

शक्यामिति । स्वतः स्वविभूतिरूपो वा **भगवानेव वदतीति** भगवत्प्रोक्तत्वेन भागवतमेवेत्यर्थः । **स्वयमेवेति** यदा मूलरूपं तल्लीलाविशिष्टं परोक्षे भक्तानां बोधाय वक्तुमिच्छति तदा स्वयमेव तादृशाधिकारिणे वदति, यथोद्धवाय । यदा पुनरवताररूपविवक्षा तदा तादृग्रूपेण, यथा नारायणो ब्रह्मणे । यदा वा विभूतिरूपमुक्तिदानादिकार्यविवक्षा तदा विभूतिरूपेण, यथा सङ्कर्षणः सनत्कुमाराय । तथा च सर्वत्र तत्तद्रूपैर्भगवानेव वक्तेति सर्वथास्य भगवत्प्रोक्तत्वमेवेत्यर्थः । **कदाचिदिति ।** यदा **'तत्त्वमतः परस्ये'तिवाक्यात्** सङ्कर्षणादग्रिमस्य वस्तुतोऽपि तदंशित्वात् परस्य **वासुदेवस्य तत्त्वं** विवक्षितं भवति तदा ' सात्त्विकेषु तु कल्पेषु यः शेते सलिले हरिः । वासुदेवः स विज्ञेयस्तस्यांऽशोनन्त उच्यत' इति वाक्यात् तस्य सङ्कर्षणांशित्वेन तत्तत्त्वस्य तदंशभूतेन सङ्कर्षणेनैव वक्तुमुचितत्वात् तदा तद्द्वारैव **वदतीत्यर्थः । ननु तत्रेति ।** पराशरसंहितायामेतन्मूलत्वेनोच्यमानायामित्यर्थः । **विसदृशीति ।** विलक्षणेत्यर्थः । **कथमनयोरिति ।** पराशरसंहितारूपमैत्रेयोक्तभागवतयोरित्यर्थः । **सर्गादय इति ।** श्रीभागवतस्य शब्दार्थभेदेनोभयविधस्य पूर्वं हृदये भगवत्स्थितिभक्तिदानरूपफलद्वयकथनाद् भक्तेर्मुख्यफलत्वेन तद्द्वयोक्तार्थस्यैव प्राधान्यं भगवद्भजनवत्, तथा च श्रीभागवते **सर्गादयः** पुरुषोत्तमलीलारूपा **अर्था** यावद्भेदभिन्ना **विवक्षिता** वक्तुमिष्टास्तादृशा एव **पराशरवक्तृके** तत्संहितारूपे भागवते **सन्ती**त्यर्थैक्यादुभयोरैक्यमित्यर्थः । शब्दभेदस्तु वेदशब्दवदस्यापि फलविशेषबोधनाय । अत एव पूर्वमुक्त'मेतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै ध्रुव ' इति । यथा वेदधारणेन नारायणता तथैतद्धारणेन कृष्णता भवतीत्यर्थः । तथा चावान्तरफलं परमफलं श्रीभागवतादेव भवतीति परोक्षे प्रकटो भगवानेवेदमिति भावः । एवं भगवदुक्तस्य ब्रह्मोक्तस्य सङ्कर्षणोक्तस्य च भागवतस्य सूक्ष्मता सूतोक्तशुकोक्तमैत्रेयोक्तानां तद्विस्तृतिरूपाणां स्थूलरूपतेति सिद्धम् ॥ ४५½ ॥

केचिदिति । ब्रह्मोक्तं द्वितीयस्कन्धमात्रं स्वांशसहितं सूक्ष्मं स्कन्धमात्रपरिमितत्वादग्रे दशस्कन्धात्मकमे'वमेतत् पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान् किले'ति तृतीयारम्भे शुकवाक्याद् ब्रह्मोक्तसूक्ष्मस्य मैत्रेयोक्तं स्थूलमिति तयोरुभयोः शुकेनानुवादादेवं स्थूलसूक्ष्मविभागमाहुरित्यर्थः । **तं पक्षमिति ।** पूर्वोक्तं ' केचिदि'त्यारभ्योक्त पक्षमित्यर्थः । **पञ्चमेति ।** स्थानादिलीलानिरूपकं पञ्चममारभ्य स्कन्धा-

पञ्चमादिकं कथयति । तथा सति ' कस्मै येन पुरे ' ति श्लोकोक्ता समाप्तौ परम्परा विरुध्येत् । मध्ये च मैत्रेयप्रवेशो व्यर्थः स्यात् । अतः सर्वतोमुखत्वख्यापनार्थमेव अर्थप्राधान्यविवक्षया शेषकथा निरूपितेति निश्चयः ॥ ४६३ ॥

एवं दूषणसमाधानमुक्त्वा प्रकृते सङ्गतिमाह—

गुणातीतात्सृष्टिकथा स्वत उक्ताऽतिगोप्यतः ॥ ४७ ॥
कृष्णाज्ञया तन्मुखतः श्रुतत्वान्न स्वतन्त्रता ॥

गुणातीतादिति । एतत्पाराशरमुखान्न श्रुतमिति किमत्र मूलमित्याकाङ्क्षायामाह कृष्णाज्ञया तन्मुखत इति । अनेन मैत्रेयस्य कृष्णमुखादेव भागवतश्रवणमिति

ष्टकमित्यर्थः । **न पराशरेणेति** । मैत्रेयकथने बीजं हि पराशराच्छ्रवणं, तत्र पराशरेण तु स्वसंहितायां सर्गविसर्गावेवोक्तौ न स्थानादिकमिति तच्छिष्यस्य तदुक्तानुवादकस्य मैत्रेयस्य कुतः स्थानादिवक्तृत्वमिति मैत्रेयोक्त दशस्कन्धात्मकं श्रीभागवतं स्थूलमित्युक्तिः परेषां न घटत इत्यर्थः । ननु व्यासस्य पराशरोत्पन्नस्य तत एव श्रुत्वा स्थानादिकथनमिति तेषामपि पराशरोक्तत्वात् तच्छिष्यत्वेन तत्रापि मैत्रेयकथनं सम्भाव्येतेति पूर्वोक्तैव स्थूलसूक्ष्मव्यवस्थेत्याशङ्क्याहुर्**नोपीति** । व्यासोऽपि न पञ्चमस्कन्धात्मकं पराशराच्छ्रुत्वा वदति । अन्यथा ' कस्मै येन पुरा प्रोक्ते'त्यनेन द्वादशस्कन्धे श्रीभागवतसमाप्तौ ब्रह्मनारदपरम्परा व्यासोक्तावुच्यमाना बाधिता भवेत् । अतो न व्यासोक्तौ न पराशरपरम्परेत्यर्थः । **मध्ये चेति** । यदि व्यासः पराशरादुपश्रुत्य वदतीत्युच्येत तदा व्यासोक्तत्वेनैव सम्पूर्णस्य पराशरवक्तृकत्वं भविष्यतीति तदर्थं मध्ये मैत्रेयप्रवेशो व्यर्थः स्यात, व्यासेनैव तत्कार्यकरणादित्यर्थः । **अत इति** । यतोऽत्र श्रीभागवते परम्पराबाहुल्यमतः श्रीभागवतस्य **सर्वतोमुखत्वं** भगवत इव सर्वतः प्रादुर्भाववत्त्वं तज्ज्ञापनार्थं बहुत्वमुक्तमित्यर्थः । ननु सर्वतोमुखत्वं भगवतोऽपि न मूलरूपेण तस्य स्वेनैव निरूपणात् स्वत एव प्रादुर्भावकरणात् कुतः पुनस्तद्रूपस्य श्रीभागवतस्य सर्वतोमुखत्वमित्याशङ्क्याहुर्**अर्थप्राधान्येति** । **अर्थस्य** श्रीभागवतार्थस्य **प्राधान्यं** मुख्यत्वं तद्विवक्षया मूलत्वेनास्यामपि परम्परायां **शेषस्य** सङ्कर्षणस्य **कथा निरूपितेत्यर्थः** । अन्यथार्थस्य साधारणत्वे जीवत एव परम्परा प्रोक्ता स्यादिति भावः । तथा च यथा हिरण्यगर्भोऽनन्तो वा बहुभिर्मुखैः पूर्वं वेदमवादि तस्य सर्वतोमुखत्वज्ञापनायान्यस्य तद्वक्तृत्वासम्भवात् स्वयमेव तथा निरूपितवांस्तथा भगवानपि भागवतार्थमत्यलौकिकं स्वयमेवान्यवक्तृत्वासम्भवात् स्वविभूतिरूपैस्तस्य सर्वतोमुखत्वज्ञापनायोक्तवानिति भावः ॥ ४६३ ॥

प्रकृते सङ्गतिमिति । गुणातीतकथायाः स्वत उक्तत्वेन भगवतोक्तत्वाभावात् प्रकृते भागवते सङ्गतिर्न स्यादित्याशङ्क्य तामाहेत्यर्थः । **स्वत उक्तेति** । मूले **गुणातीतसृष्टिकथायाः** परम्पराभावा**दतिगोप्यत्वेन** गूढार्थे सामान्यतोऽपि ज्ञानाभावेन प्रश्नासम्भवात् कृष्णाज्ञया प्रश्नाभावेऽपि सा **स्वत उक्तेत्यर्थः** । ननु तथापि मैत्रेयस्य कथने भगवदाज्ञासत्त्वाद् दोषाभावेऽपि कथमेतस्य भगवत्प्रोक्तत्वाभावेन कथं भागवतत्वमित्याशङ्क्य हुर**नेनेति** । ' आश्रृण्वतो मा'मित्युद्धववाक्याद् विदुरार्थं भगवता मैत्रेयो भागवतं श्रावित इति भगवन्मुखतः श्रुतत्वेन तत्प्रोक्तत्वाद् भागवतत्वमित्यर्थः । **कृष्णमुखादेवेति** । प्रथमतः सूक्ष्मरूपश्रीभागवतश्रवणे भगवन्मुखात् सम्पन्ने पश्चात् तद्विस्ताररूपस्या-

निरूपितम् । भगवान् आदिरूपेण ब्रह्मणे प्रोवाच, अवतीर्य तु मैत्रेयोद्धवाभ्याम् । उद्धवात्परम्परा न स्पष्टा । मैत्रेयो विदुराय प्रोवाच ॥ ४७½ ॥

इदमत्यन्तशुद्धचित्तस्य फलजनकम् । विदुरस्तु नैवंविध इत्याह–

अत्यन्तशुद्धचित्तस्य युक्तिर्नाऽपेक्ष्यते क्वचित् ॥ ४८ ॥
इति वक्तुर्न सन्देहः श्रोतुस्त्वस्तीति संशयः ।

न्यतः श्रवणं श्रुतश्रवणमिवेत्यश्रवणमैक्यभिप्रायेणैवमुक्तमित्यर्थः । अतः परमवतीर्णानवतीर्णस्वरूपभेदेन सर्वत्र भागवते भगवत्प्रोक्तत्वं विशदयन्ति **भगवानिति** । **आदिरूपेणेति** । येन रूपेण जगत्कारणभूतेन **ब्रह्मणे** वेदमवादीत् तेनैव रूपेण श्रीभागवतमप्युक्तवानित्यर्थः । एतेन श्रीभागवते तुल्योत्पत्तिकतया वेदतुल्यत्वमपि सूचितमिति भावः । **अवतीर्य त्विति** । अनवतीर्णेनैव केवलेनैतत्प्राकट्यकरणे वेदतुल्यतया तदुपयुक्तानां द्विजानामेव तदुपयोगः स्यात् तथा चास्य न सर्वोद्धारकत्वं सिद्ध्येदिति स्वयं निःसाधनानां स्त्रीशूद्रादीनामर्थे मूलरूपेणावतीर्यापि भागवतं **मैत्रेयोद्धवाभ्यामुक्त**वानित्येतस्य सर्वोद्धारकत्वंसिद्धिरित्यर्थः । भगवता तूभययोः कथनं साक्षात्परम्परया श्रीभागवतेन सर्वोद्धाराय तत्र मैत्रेये परम्परोद्धवे साक्षात् तथाकरणमिति ज्ञेयम् । अत एवोद्धवं प्रत्य'तो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठ'त्वितिभगवद्वाक्यम् । **न स्पष्टेति** । विदुरार्थे मैत्रेयमिव शिष्यं भगवानुद्धवं नाज्ञापितवान् कस्याप्यर्थे सर्वलोकार्थत्वेनोद्धवाज्ञापनादुद्धवैर्यः श्रीभागवतं स्वहृदय एव स्थापयति कस्याप्यग्रे न वदति तादृशमन्विष्य स्वतः कृपया कथनाद् ये शृण्वन्ति ते मूकशर्करावत् स्वयमेवानुभवन्तीति नोद्धवपरम्परा स्पष्टेत्यर्थः । वस्तुतस्तूद्धवे स्वयं भगवानाविष्टो भक्तिबीजरक्षणायेति सद्भूमौ बीजावापे तदुपायैस्तत्राङ्कुरोत्पत्तिवदङ्गीकृतजनहृदये उद्धववार्ताश्रवणेन तदागतौ भक्तिबीजावापे भगवद्गुणश्रवणादिभिरुपायैर्भक्त्यङ्कुरप्रेमाद्युत्पत्तिरिति नोद्धवस्य साक्षादुपदेष्टृत्वं किन्तु हृदये प्रविश्य भगवद्भक्तितत्स्वरूपप्रकाशकत्वमिति **न परम्परा स्पष्टेति** भावः । अत एव 'नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यून' इत्यनेन सर्वथा स्वसमत्वमभिधायाग्रे स्वज्ञानग्राहकत्वमुक्तं 'अतो मद्वयुनं लोक'मित्यनेन; तथा च यथा भगवतः स्वप्रकाशकत्वं तद्धृदयं प्रविश्य तथैवास्यापीति भक्तिरूपेणावतीर्णो भगवानेवोद्धव इति साक्षादुद्धारकत्वं तस्मिन् युज्यत इति भावः । अत्र परम्परां स्पष्टयति **मैत्रेय** इति ॥ ४७½ ॥

ननु भागवतं सर्वसन्देहनिवृत्तिरूपफलजनकमिति भगवन्मुखाच्छ्रवणे मैत्रेयस्य सन्देहाभाववन्मैत्रेयाद् विदुरस्य न सन्देहाभावः प्रत्युत संशयोत्पत्तिरिति कथमुत्तमवक्तृमुखाकर्णितमपि भागवतं न फलजनकं जातमित्याशङ्क्य श्रोतरि सच्छ्रवणमात्रेण मुख्यबोधजनकाधिकारन्यूनतामाह **नैवं विध** इति । यथा मैत्रेयः परमशुद्धचित्तो व्यामोहकलीलाकरणोद्युक्तप्रभुस्वरूपदर्शनेऽप्यव्यामुग्धः स्वस्थचित्ततया भगवदुक्तश्रवणात् तथोद्धवतस्तादृशचरित्रश्रवणेपि शोकाविष्टत्वान्न विदुरः शुद्धचित्त इति श्रीभागवतमपि न तस्य सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वसन्देहनिवृत्तिरूपफलजनकं जातमित्यर्थः । अत एवास्मदाचार्यैः श्रीभागवतमुख्याधिकारनिरूपणे पूर्वं विपरीतादिभावनारहित इत्युक्तं 'विरागोक्तो

अत्यन्तशुद्धचित्तस्येति । अनेन भागवतानां बहुत्वमपि ज्ञापितम् । भगवदीयो यः कश्चिद्भगवता प्रोक्तं कथयति तदेव भागवतमिति, सामान्यलक्षणम् ।४८½।

युक्त्या पदार्थनिर्धारो लौकिकः । भागवतार्थस्त्वलौकिक इति । तथाऽप्यधिकाराभावे सोऽर्थो न स्फुरतीति सन्देहे जाते तन्निराकरणमवश्यं कर्तव्यम् । तत्र यावता यो मन्यते तथा तस्मै निरूपणीयमिति स्थितिः । तथा मैत्रेयोऽपि विदुरबुद्धिमाश्रित्य समाधत्ते । तत्र पूर्वपक्षं सिद्धान्तश्चाह—

गुणातीतात्सृष्टिकथा सर्वथा नोपपद्यते ॥ ४९ ॥
कार्यकारणवैजात्याल्लोकहेतोरभावतः ।
निरुपाधिकरूपे हि सन्देहद्वयमीरितम् ॥ ५० ॥

विपरीतादिभावनारहितः सुहृदि'तिश्लोके । तथा च विदुरे श्रवणात् पूर्वं सर्वथा विपरीतभावना न निवृत्तेति फले विलम्बो युक्त्यादिकथनरूपो वक्तृप्रयासश्च जात इति भावः । सुहृत्त्वं तूद्धवे सर्वोपकारकत्वादपकारिज्येष्ठभ्रातुरुपकारकरणाद् विदुरे च ज्ञेयम् । विपरीतभावनायाः पूर्वमनिवृत्तेरुद्धवतो न्यूनता । अत एव पुनर्धृतराष्ट्रोद्धारार्थं गतो विदुरो 'नावदेयत् सकरुण' इतिवाक्यादियं वार्ता शोकजनिकेति स्वयं तथा ज्ञात्वा युधिष्ठिरादिभ्यो नोक्तवांस्तथा च कश्चिदंशो विपरीतभावनायाः स्थित एव । अत एव तस्य प्रभासे शोकहेतुभूते देहपरित्याग अलौकिकशरीरनिष्पत्त्यर्थकः, अन्यथोद्धव इवानेनैव देहेन हृदि प्रभुमनुभवन् वियोगेन सर्वदा तिष्ठेदिति भावः । अनेनेति । परम्परात्रयकथनेनेत्यर्थः । तथा च यथा भगवान् यो यथा वदति यथा वा ध्यायति तथा भवति नानावादानुरोधित्वाद् 'यद्यद्धिये'तिवाक्याच्च तथा भागवतमपि तत्तदधिकारानुसारेण तत्र तत्र प्रकटीभवतीति भगवत इवैकत्वेऽपि तस्या बहुरूपत्वमिति भावः । सिद्धं सामान्यतोर्थमाहुर्भगवदीय इति । अनेन भागवतार्थः शब्दान्तरेणापि निरूपितो भगवदीयैर्भागवतरूप इति बोधितम् । अत एव पराशरसंहितायां भागवतत्त्वम् सामान्यलक्षणमिति । विशेषलक्षणं तु शब्दात्मकत्वे सति सर्वोद्धारार्थप्रकटसाकारभगवत्स्वरूपत्वमित्यर्थः ॥ ४८½ ॥

लौकिक इति । स्वबुद्ध्या ब्रह्मनिरूपणमिवेत्यर्थः । 'तं त्वौपनिषद'मिति श्रुतेस्तस्य वेदैकसमधिगम्यत्वादिति भावः । अलौकिक इति । व्यासहृदयेऽपि भगवत इव समाधावेव प्रकटत्वादित्यर्थः । ननु मैत्रेयः किमिति ज्ञाततत्स्वरूपो लोकनीतिमनुसृत्य युक्तिभिस्तत्संशयं निराकृतवानित्याशङ्क्याहुस्तथापीति । अधिकाराभाव इति । विदुरस्य तथा चित्तशुद्ध्यभावान्मुख्याधिकाराभाव इत्यर्थः । सोऽर्थ इति । यो मैत्रेयहृदये भासते मुख्याधिकारात् स इत्यर्थः । अवश्यमिति । भगवता विदुरार्थं स्वस्याज्ञप्तत्वान्नोपेक्षणीय इत्यर्थः । ननु तथापि समाहितिं विदुरस्य भगवदुक्ते किमिति संशयः क्रियते मन्तव्यमेवेति । प्रकारेण कुतो न कृतवानित्याशङ्क्य श्रोतृवक्त्रोर्लोके रीतिरीदृशी मुख्यार्थस्फूर्त्य-

गुणातीतादिति । यथा बालः पुरुषस्य निषेकाज्जन्माज्ञात्वा भोजनमेहनावेव पश्यन्, तत्रापि कथां कल्पयन्, तदप्यनुपपन्नमिति संशयी भवति । तत्र वक्ता बालं यथाकथञ्चिद्बोधयति, वस्तुतस्तु न स सिद्धान्तः । किन्तु, यथा निरूपितं "भगवानेकं आसेदम्" ३-५-२३ इति स एव सिद्धान्तः । विदुरस्य संशये हेतूनाह कार्यकारणवैजात्यादिति । कारणं गुणरहितम् । कार्यं सगुणमिति । लोकहेतुश्च कामः । एवं गुणातीते सन्देहद्वयम् ॥ ५० ॥

भात्रेन युक्तिभिरनिरूपणे तस्याविश्वासः स्यादिति ज्ञापनाय लोकस्थितिं निरूपयन्ति **तत्र यावतेति**। **यावता** निरूपणेन **योऽधिकारी** येन प्रकारेण **मन्यते** जानाति तावता **तस्मै** तेन प्रकारेण **निरूपणीय**मित्यर्थः। **तथेति**। लोकरीत्यनुसारेणेत्यर्थः। **विदुरबुद्धि**मिति। गुणातीतस्य वस्तुत उपाधिसम्बन्धाभावे न सगुणत्वं सम्भवतीति पूर्वपक्षकर्तुर्विदुरस्य बुद्धिस्तामेवाश्रित्य 'सेयं भगवतो माये'त्यादिनोपाधिसम्बन्धं वदन्नेव तस्या भगवच्छक्तित्वेन तदभेदात् नित्यसम्बन्ध एव, न जीववद् व्यामोहार्थं, भगवतः सकाशात् प्रकटाया भेदेन व्यामोहिकायाः संसारसिद्ध्ये आगन्तुकः सम्बन्ध इत्यनया रीत्या **समाधत्त** इत्यर्थः। अन्यथा शुद्धब्रह्मवादप्रकारेण भगवच्छक्तेर्मायायास्तद्रूपत्वमेव वदेदितिभावः। **तत्रेति**। सगुणप्रकरण इत्यर्थः। ननु तथापि पूर्णज्ञानो मैत्रेयः स्वज्ञानानुसारेणैव किमिति नोक्तवान् कुतस्तद्बुद्धिमाश्रित्येत्याशङ्क्य बालदृष्टान्तेन विदुरस्य तथा कथनश्रवणानधिकारं निरूपयन्ति **यथेति**। **अज्ञात्वेति**। बालकस्य निषेकज्ञानाभावादित्यर्थः। **भोजनमेहने एवेति**। **यथा बालः** भोजनं तथा मेहनं जन्महेतुभूतेन्द्रियं च प्रत्यक्षतः स्वस्मिन् **पश्यन्** निषेकमज्ञात्वा **तत्रापि** पितर्यपि **तथा** तयोरेव पुरुषोत्पत्तौ कारणत्वं **कल्पयन्** स्वतः पुरुषोत्पत्त्यभावात् **संशयी भवति**, को वदद भवति कारणं न वेति, तथा विदुरोऽपि सर्वमिदं भगवत्सामर्थ्येन जायत इत्यज्ञात्वा स्वस्मिन् प्रयत्नं गुणसम्बन्धं च **पश्यन्** सर्वत्र तयोरेव कारणत्वं **कल्पयन्** भगवतो गुणातीतत्वे कथं कारणतेति तत्र **संशयी** जात इत्यर्थः। तथा च बालकानुभवसंशयौ यथाऽज्ञानकृतौ तथैतस्यापि शुद्धब्रह्मवादाज्ञानकृतावेवेति भावः। **यथा कथञ्चिदिति**। निषेकप्रकारो बालस्याग्रे वक्तव्य इति **वक्ता** तत्समाधानं मुख्यवार्तामाच्छाद्य तथा मैत्रेयोऽपि स्त्रीसम्बन्धवन्मायासम्बन्धेन सर्वमुत्पद्यत इतिप्रकारेण करोति, बीजं तु भगवत्सामर्थ्यं तद्रूपत्वं वाऽमुख्याधिकारित्वान्न वदतीत्यर्थः। **वस्तुतस्त्विति**। बालबोधकसङ्गोपितवाक्याप्रतीतार्थवन्नायं मुख्यः **सिद्धान्त** इत्यर्थः। **स एवेति**। यो गुणातीतप्रकरणे '**भगवानेक आसे**'त्यादिभिः सर्वरूपेण भगवानेवेदं भेदे तु कर्तृत्वं कार्यत्वमिति तदभावात् 'स एव सर्व'मिति यः सिद्धान्तः स एवेत्यर्थः। नन्वेवं कर्तृत्वमवास्तवमेवायाति तथा सति कर्तृत्वबोधकानन्तश्रुतिस्मृतिविरोध इति चेन्न स्वस्य सूक्ष्मस्य परमानन्दरसरूपस्य लीलयानुभवार्थं तदधिष्ठानस्थूलप्रपञ्चरूपेण प्रकटीकरणस्यैव कर्तृत्वात्। अत एव श्रुतिः 'असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात् तत् सुकृतमुच्यत' इति 'यद् वै तत्सुकृतम्' 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' एतदर्थस्तु इदं परिदृश्यमानं जगद् वै निश्चयेन तदभिन्न-

१ "भगवतानेक" इतिपाठः।

तत्परिहारार्थं यदि सोपाधिक एव जगत्कर्ता निरूप्यते तदा पूर्वोक्तदोषपरिहारो भवति। तथापि तदेव न सम्भवतीति तृतीयो दोषः समायातीत्याह—

त्वादग्रे प्रपञ्चरमणेच्छातः पूर्वमसत् भेदेनाविद्यमानमासीत् ततः प्रपञ्चरमणेच्छातः सत् भेदेन विद्यमानमजायत। नन्वेवमसतः सत्ता 'कथमसतः सज्जायेते'तिश्रुत्यन्तरविरुद्धा कथं घटत इत्याशङ्कयाहुस्त'दात्मान'मिति। तद् ब्रह्मैव स्वयं मायाद्यसहायमेव 'कदाचित् सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दन' इति न्यायेनात्मानं स्वस्वरूपमेवाकुरुत स्वक्रियाशक्तिं स्वस्मिन्नेव योजितवान् स्थूलरूपभवनाय यस्मात् तस्माद्धेतोस्तद् ब्रह्मैव सुष्ठु समीचीनं सुतरामाधिक्येन वा कृतं यस्य तादृशमुच्यते। न ह्यन्यः स्वक्रियां स्वस्मिन् योजयितुं शक्तः। नन्वेवं स्वस्य स्थूलरूपकरणे किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह 'रसो वै स' इति य आत्मानं स्वयामकुरुत प्रपञ्चरूपेण स रसात्मा स्थायिभावरूपः अतः स्वस्वरूपानन्दानुभवार्थं रसस्य साधिष्ठानस्यैवानुभवयोग्यत्वादधिष्ठानं प्रपञ्चरूपं स्वात्मानं कृतवान् तत्र स्वांशान् जीवान् नायिका इव स्थापितवान् ततस्तेषां स्वरूपभूतानामेव पत्नीवदर्धशरीररूपाणां रसात्मकस्वस्वरूपप्रवेशनेन स्वानन्दानुभवं कारितवान्। अत एव ततः 'पतिश्च पत्नी चाभवता'मिति श्रुत्यन्तरेण स्वस्यैवोभयरूपत्वमुक्तम्। तथा च सर्वसामग्रीसहितं रसात्मकं स्वस्वरूपमेव क्रीडेच्छया प्रकटितवानित्युक्तम्। ननु प्रपञ्चप्राकट्यमस्तु परं तस्मिन् रसात्मकमूलरूपप्रादुर्भावे किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह **रसं ह्यीति**। अयमंशभूतस्तिरोहितानन्दोऽयथांशत्वेनाल्पत्वादल्पानन्दस्तदीयोऽहमिति स्फूर्तिजनितानन्दवान् जीवो रसं स्थायिभावरूपमेव लब्ध्वा प्रकटं प्राप्यैवानन्दी भवति भगवत्समानः पूर्णानन्दवान् भवति। योषेव सर्वसौख्ये सत्यपि पुरुषरसमनुभूयेति स्वसमानतासम्पादनेन पुष्टिमार्गीयमुक्तिदानार्थमेव सर्वरूपेण स्वात्मकरणमिति भगवतो मुख्यसर्गलीलेयं मोक्षरूपेत्यर्थः। **विदुरस्य संशय** इति। गुणातीतस्य कर्तृत्वमुपपद्यते नवेत्येवंरूप इत्यर्थः। **कारणं गुणरहित**मिति। गुणातीतसृष्टिप्रकरणे तथैव प्रतिपादितत्वादित्यर्थः। **कार्यं सगुण**मिति। जगतस्त्रिगुणात्मकत्वस्य प्रतीतिसिद्धत्वादित्यर्थः। **लोकहेतुरिति**। यत् कामयते जनस्तत् करोतीति कामस्यैव लोके कार्यविषयकोद्यमहेतुत्वेन सिद्धत्वादित्यर्थः। **एवमिति**। कार्यं कथं कारणविजातीयं कथं वा हेत्वभावे कार्यमिति **गुणातीते** कारणभूते कारणत्वविषयकं **सन्देहद्वय**मित्यर्थः॥ ५०॥

तत्परिहारार्थमिति। एतत्सन्देहद्वयपरिहारार्थमित्यर्थः। **सोपाधिक एवे**ति। मायावादिरीत्येत्यर्थः। **तथापी**ति। सोपाधिकत्वाभ्युपगमे सन्देहपरिहारेऽपि **तदेव** ब्रह्मैवोपाधिसम्बन्धे तन्मतरीत्यापि **न सम्भवति** किन्तु तदा जीव इति जगत्कर्तुर्जीवत्वापत्तिरूपस्**तृतीयो दोष आयातीत्**यर्थः। दोषद्वयं तु तस्मिन्नकारणत्वाकर्तृत्वरूपं सन्देहद्वयेन पूर्वमेव निरूपितमिति भावः। **एतस्येति**। जगत्कर्तुः

सोपाधित्वे परीहारस्तदेव न भवेदिति।
तृतीयो ब्रह्मगः सिद्धो जीवेऽप्येवमभेदतः ॥ ५१ ॥

सोपाधित्व इति। एतस्य दूषणस्य समाधानाभावात् तृतीयो ब्रह्मणः सिद्ध इत्युक्तम्। इदमेव दूषणं ब्रह्मणो जीवभावेऽपि ॥ ५१ ॥

मायासम्बन्धे निरूपयितुं शक्ये हि दुर्भगत्वादिकं सम्भवतीति एतयोः समाधानं मायासम्बन्धे निरूपयितुं शक्ये सति तत्कार्ये च निरूपयितुं शक्ये सति भवतीत्याह—

मायासम्बन्धकार्ये हि परिहार्ये तयोः क्रमात्।
प्रथमस्य परीहारः षष्ठ्या नित्यतयोदितः ॥ ५२ ॥

मायासम्बन्ध इति। एवमेका शङ्का ब्रह्मगा अपरा जीवगेति। पूर्वपक्षं

सोपाधित्वे जीवत्वापत्तिरूपस्य **दूषणस्ये**त्यर्थः। **समाधानाभावा**दिति। मायासम्बन्धेन **ब्रह्मणो** जीवभावं वदतो मायावादिनो न समाधानमस्य दूषणस्य तदंशजीववादिनस्तु मायायास्तच्छक्तित्वेन तत्सम्बन्धेऽपि न तस्य जीवभावोंऽशित्वादिति समाधानस्य सत्त्वादतस्तन्मये परिहाराभावाद् वज्रलेपायितोऽयं दोष इति सिद्धमित्युक्तमित्यर्थः। **इदमेवे**ति। गुणातीतप्रकरणे 'आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षित' इति वाक्येन तस्यैवात्मनात्मनो भगवतः स्वेच्छयात्मत्वमुक्तं तत्रापि **ब्रह्मणो जीवभावे** सोपाधिकत्वं सिद्ध्येदिति ब्रह्मत्वमेव न स्यादिति पूर्वोक्तमेव **दूषण**मित्यर्थः ॥ ५१ ॥

मायासम्बन्ध इति। जीवेऽपि ब्रह्माभेदतोऽब्रह्मत्वापत्तिभिया **मायासम्बन्ध** एव वक्तुं शक्यस्तस्याज्ञत्वादिहेतुत्वेनाब्रह्मत्वापादकत्वात् तथा च तदभावे ब्रह्मण एव जीवभावे तस्मिन् मायासम्बन्धकार्यं दुर्भगत्वकर्मक्लिष्टत्वादिकं च कथं **सम्भवति**। अतो ब्रह्मजीवयोरभेदे मायासम्बन्धो ब्रह्मणि जीवे मायाकार्यसम्बन्धोऽनयोः क्रमेण परिहार्यत्वमन्यथोभयोर्ब्रह्मत्वं न स्यादिति भावः। सन्देहद्वयस्य विषयभेदं निरूपयन्ति **एव**मिति। **एके**ति। जगत्कर्तृत्वाय मायासम्बन्धे ब्रह्मत्वं न स्यादित्यर्थः। **जीवगे**ति। तस्यैव जीवभावे तदभिन्नत्वेन मायाकार्यस्य तत्रावक्तव्यत्वाद् दुर्भगत्वादिकं कथं सम्भवतीति ब्रह्मणि जीवे च शङ्काद्वयमित्यर्थः। **पूर्वपक्ष**मिति। पूर्वपक्षस्तु गुणातीतसर्गे हि सर्वस्य ब्रह्मात्मकतोक्ता सा न घटते। जडस्य सगुणत्वेन कारणविजातीयत्वात्, न हि विजातीयं तदात्मकं भवति पटस्य मृदात्मकतापत्तेः। ब्रह्मणः कार्यसजातीयत्वार्थं सोपाधिकत्वस्वीकारे मायासम्बन्धेनाब्रह्मत्वापत्तिः। तादृशतदात्मत्वेऽपि न ब्रह्मात्मकतासिद्धिः। मायासम्बद्धस्य तस्याब्रह्मत्वात्। जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वे मायाकार्यदुर्भगत्वाद्यनुपपत्तिः। तदर्थं तत्र मायासम्बन्धस्वीकृतौ ब्रह्मत्वासिद्धेः। जीवब्रह्मणोर्भेदस्वीकृतावंशांशिभावेन तदात्मकत्वसिद्धावपि क्लेशाद्यनुपपत्तिः। ब्रह्मांशस्य स्वतः क्लेशाद्यसम्भवात्। मायासम्बन्धे तु स्वीक्रियमाणे ब्रह्मात्मकत्वमेव तस्य न स्यात्। तस्माद् गुणातीत-

---

१ "मायासम्भवे" इतिपाठः।

निरूप्य सिद्धान्तं निरूपयति प्रथमस्य परीहार इति। "सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते" ३-७-८ इति भगवतो मायायाश्च नित्य एव सम्बन्धः षष्ठ्या निरूपितः ॥ ५२ ॥

नन्वेवं सति भगवत्त्वहानिः स्यादित्याशङ्क्याह—

भगवत्त्वाविरोधित्वं प्रकृत्यैव च सूचितम्।
असमासात् प्रधानत्वं तेन नोपाधिसम्भवः ॥ ५३ ॥

भगवत्त्वाविरोधित्वमिति। भगवत्पदेनेत्यर्थः। ननु विक्षेपशक्तिपक्षेऽपि भगवत्त्वाविरोध उपपद्यत इत्याशङ्क्याह असमासात्प्रधानत्वमिति। भगवतो मायेति पदद्वयस्याऽसमासादेकार्यत्वाभावः। तेन न मायावैशिष्ट्यं भगवतः, किन्तु, सा पृथगेव दासीवत्तिष्ठतीत्युक्तम् (भवति) ॥ ५३ ॥

एवं भगवति परिहारमुक्त्वा जीवे परिहारमाह—

द्वितीयस्य परीहारे विरोधात्कार्यबाधनम्।
विरोधमात्रमाहोस्विदाद्ये सेयं द्दशिर्यतः ॥ ५४ ॥

द्वितीयस्येति। भगवतो मायेति पदद्वयेनैव प्रथमस्य परीहारः। द्वितीये पक्षं विकल्पयति विरोधात्कार्यबाधनं, आहोस्विद्विरोध एवेति। आद्ये समाधानं सेयं

सृष्टिः स्वात्मसृष्टिः सर्वथानुपपन्ना। किञ्च कर्तृत्वमपि तादृशेऽसम्भवि। कामाभावात्। तत्सत्त्वे सगुणत्वापत्तेः। तदभावे लोक इव प्रयत्नानुपपत्तिः। अतः सगुणस्यैव कर्तृता वाच्या न शुद्धब्रह्मणः। नित्य एवेति। भगवदाकारत्वेनैव जलशैवालवत्सर्वदा तिष्ठतीति तथेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

भगवत्त्वहानिरिति। मायावृतत्वे कारागृहावृतपुरुषवदसमर्थत्वं स्यादित्यर्थः। प्रकृत्येति। न हि भस्मना वृतो वह्निरदाहसमर्थो भवति। तदपसारणे सर्वदाहसामर्थ्यात् तद्वदत्रापि भगवत्पदेनैव सामर्थ्यं वाच्यमित्यर्थः। विक्षेपेति। ननु भगवत्त्वं विक्षेपशक्तिपक्षेऽप्युपपद्यते। तद्वैशिष्ट्येऽपि सदोषोऽपि राजराजेतिवत् शक्त्या तथात्वेऽपि न भगवत्त्वं विरुद्ध्यत इति चेन्न; एतदुपपत्तावपि न प्रधानत्वोपपत्तिः। उभयोर्वैशिष्ट्येन समत्वात्। आवरणपक्षे तु दूरे स्थितदासीवदावारयतीति प्रधानत्वमुपपद्यत इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

विरोधादिति। ब्रह्मरूपे जीवे मायाकार्यस्य दुर्भगत्वादेर्विरोधात्[1] कार्यमेव मिथ्याभूतमिति कल्प्येत। जगदप्रतीतिप्रसङ्गात्। न च शुक्तिरजतवन्मायया सेति वाच्यम्। अविद्यया जीवत्वमिति जीवानां तत्प्रतीतेर्निवारयितुं शक्यत्वात् तदपगमे जीवत्वमेव नेति न प्रतीतिः। ननु प्रतीतमेव

---

१ विरोधो वेति पाठः।

दृश्येत इति । कार्यबाधनं कर्तुं न शक्यते संसारस्याऽसिद्धत्वात् । नन्वेतदेव न स्यादित्युच्यत इति चेद्भगवन्मायया तदुपपत्तिरिति बुध्यताम् ॥ ५४ ॥

तथापि युक्तिविरोध इति द्वितीयपक्षे समाधानमाह—

द्वितीये भूषणं तस्या विरोधो न तु दूषणम् ।
विरुद्धकार्यसम्बन्धस्तत्कृतस्तेन वर्ण्यते ॥ ५५ ॥

द्वितीय इति । कथं भूषणमित्याशङ्क्याह विरुद्धकार्यसम्बन्ध इति । मायया हि विरुद्धं कार्यं दृश्यते । शिरश्छिद्यते जीवति । अन्त्राणि निष्कास्यन्ते स्वस्थश्चेति ॥ ५५ ॥

नन्वत्रापि कोपपत्तिरित्याकाङ्क्षायामाह—

विरोधोऽपि प्रतीत्यैव न वस्तुनि यतो बृहत् ।
दर्शनं ज्ञानिनोप्येवं जीवे सर्वस्य नेश्वरे ॥ ५६ ॥
इति दृष्टान्ततस्तस्य स्वप्ने भेदो निरूपितः ।
तन्निवृत्तिप्रतीकारो दुर्लभस्तेन तत्कथा ॥ ५७ ॥

विरोधोपि प्रतीत्यैवेति । सर्वभवनसमर्थत्वाद्ब्रह्मणस्तच्छक्तित्वान्मायायाश्च तथात्वम् । अयमात्मविपर्यय ईश्वरस्य कार्पण्यादिः स्वरूपे ज्ञाते न भविष्यतीत्याशङ्क्याह दर्शनं ज्ञानिनोऽप्येवमिति । यस्तु जीवे ज्ञानी जीवस्वरूपाभिज्ञः जीवस्वरूपं तु सर्वावस्थासु भासत एव, ईश्वरस्वरूपमेव परं न भासते । अतः स्वप्नद्रष्टा भगवानेवेति तेन सह स्वस्याऽभेदज्ञानात्स्वशिरश्छेदः स्वप्ने भासते । वस्तुतस्तु जीवस्वाप्नशरीरस्य शिरश्छेद ईश्वरेण दृश्यते, स्वयं च तदभेदात्पश्यति । सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरेव भेददर्शनम् । शारीरात्मा प्राज्ञेनाऽत्मना सम्परिष्वक्तोऽन्वारूढ इति भेदेन निरूपणात् । ब्रह्मविदस्तत्र

निषिद्ध्यत इति चेत् संसारस्येति । सिद्धत्वादनादिसिद्धत्वात् । कथमनादिसिद्धत्वमित्याहुः नन्विति । एतदेवेति । सिद्धत्वमेवेत्यर्थः । भगवन्माययेति । प्रपञ्चोत्पत्त्यनुकूलया सर्वभवनसमर्थरूपया माययैव संसारः सम्पादितो जीवनामिति तद्विषयसिद्ध्यर्थं भगवतैव कार्यतामुत्पादितमिति न तद्बाधः कर्तुं शक्यः ॥ ५४ ॥

द्वितीय इति । जीवे मायया युक्तिविरुद्धकार्योत्पादनं स्वस्वरूपप्रकाशकत्वेन भूषणमेवेत्यर्थः ॥ ५५ ॥

स्वप्नद्रष्टा भगवानेवेति । स्वप्ने जीवस्य प्राज्ञेनात्मनासम्परिष्वक्तत्वादित्यर्थः । समुपसर्गे वा न वा भेदो बोधितः । वस्तुतस्तु नाभेदः परिष्वक्तत्वादित्यर्थः । तेन सहेति । अभेदज्ञानादिति । अभेदाभ्यासादित्यर्थः ॥ ५६ ॥, ५७ ॥

भेदेनाऽनुभवः। अन्यस्य त्वबोधस्तदाह इति दृष्टान्तत इति। स्वप्नदृष्टान्तेन सत्ये भगवत्स्वरूपे देहाद्भेदो निरूपितः। तत्र द्रष्टा भगवानेवेति। तर्हि शिरो जीवस्येत्यत्र किं प्रमाणम्? तत्र द्वितीयो दृष्टान्तो यथा जले चन्द्रमस इति। यस्तु देहादिसंसारे जलप्राये अहमिति मन्यते तस्यैव कर्म्मादिर्न त्वाकाशस्थस्य। अतो भेदेऽपि जीवस्यैव तच्छिरः। अस्याऽनर्थस्य निवृत्तिः स्वतो भवतीति तन्निवृत्त्युपाय उच्यत इत्याह तन्निवृत्तिप्रतिकार इति, "स वै निवृत्तिधर्मेण" (३-७-१२ इत्यादिना॥५६॥५७॥

मार्गद्वयेनानर्थनिवृत्तिः भक्तिमार्गेण ज्ञानमार्गेण च। तत्र प्रथमे शनैस्तिरोभाव इति मैत्रेयाभिप्रायः। सर्वतिरोभावस्तु भगवत्साक्षात्कारे। तदा न स्वप्नदर्शनम्। जागरणेऽपि न देहादावात्मबुद्धिः, किन्तु सुषुप्तिवत्सर्वदा ब्रह्मानन्दानुभवः। तत्र प्रथमपक्षे मुक्तिर्वक्तव्येति मैत्रेयः कैमुतिकन्यायेन "अशेषसंक्लेशशमम्" ३-७-१४ इति श्लोकेन निरूपयतीत्याह—

निदर्शनं सुलभं साधनं च गूढा सूक्तिस्तेन वै तत्प्रकाशः।
तदुक्तं वै दर्शनं यन्न भेद्यं सेवाहेतुः शास्त्रनिष्ठेयमाद्या॥ ५८॥

निदर्शनं सुलभमिति। दृष्टान्तोऽत्र सुलभः। सर्वेषामेव भगवद्गुणानुवादे परमानन्दानुभवात्। साधनं च सुलभं सर्वत्र सतां भगवद्गुणकीर्तनस्य नित्यत्वात्। चकारान्नात्र देशाद्यपेक्षा। नन्वेवं सति कथं न सर्वेषामनर्थो निवर्तते तत्राह गूढा सूक्तिरिति। समीचीना भगवच्चरित्रोक्तिः, गूढा गुप्ता। तेनैव हि भगवत्प्रकाशः स च दुर्लभ इति न सर्वमुक्तिः अत एव भक्तिमार्गो दुर्लभ इति तद्दर्शनमुक्तम्। ज्ञानमार्ग उक्तः। तदपि तदेव दर्शनम्। यन्न भेद्यमात्मनो भेदं न भासयति। एवं मार्गद्वयस्यापि सेवा हेतुः। भगवत्सेवया द्वयमपि प्राप्यत इति। सापि सेवा शास्त्रनिष्ठा पञ्चरात्रोक्ता न स्वेच्छया यथाकथञ्चित्कृता। इयमाद्या प्रथमत एवं कर्तव्या। पश्चाद्भगवत्प्रसादे तदुक्तप्रकारेण स्वेच्छयापि सेवा भवतीत्यर्थः॥ ५८॥

अयं सिद्धान्तो ज्ञातव्य इत्येवाभिप्रेत्य सर्वं पृष्टमित्याह—

तदर्थमेव सकलं पृष्टं दुर्लभसङ्गतः।
अतोऽपि न विसर्गत्वमन्यशेषाद्यवीयसाम्॥ ५९॥

तदर्थमेवेति। अनेन सर्गत्वमेव समर्थितमित्याह अतोऽपि न विसर्गत्वमिति। यवीयसां ब्रह्मादीनां सृष्टिकर्तुर्भगवतो विभूतिशेषत्वात्। एवं पूर्वपक्षाध्याये विभूतिज्ञानार्थं प्रश्नः समर्थितः॥ ५९॥

तत्र प्रथमपक्ष इति। ज्ञानपक्षे शनैस्तिरोभावे युक्तिप्रकारो वक्तव्य इत्यर्थः। कैमुतिकन्याय इति। यत्कथयैवं तत्साक्षात्कारः कथं नेत्यर्थः॥ ५८॥

१ एतावत्येवोपलब्धेयं टिप्पणी।

श्रीकृष्णः।

परिशिष्टम्-(२)

द्वितीयतृतीयचतुर्थस्कन्धानामवशिष्टं निबन्धकठिनांशविवेचनम्।

आविर्भूते प्रथमे भागे यावदधिगतमिदं विवेचनं तावत्त्वाविर्भावितम्।
परमवशिष्टं परिशिष्टे प्रकटीक्रियते।
अतोत्रेदं विवेचनं पूर्णतयाविष्कृतमिति मन्यामहे।

(स्कं. २) का. ३४. ७४तमे पृष्ठेनुसन्धेयम्।

अग्रे नवमाध्यायार्थोक्तौ ब्रह्मणोपि हरिर्मूलमितिकारिकाव्याख्याने एषा उपपत्तिः कथागता इति, ब्रह्मणा हि नारदं प्रति यत् निरूपितं तत् न स्वतः किन्तु वैकुण्ठे सर्वं भगवति दृष्ट्वा भगवदुपदेशं च प्राप्य निरूपितमिति ब्रह्मवाक्यानां स्वस्य ब्रह्मणश्च भगवद्वाक्यं भगवांश्च मूलमित्येवं कथयाऽस्मिन् प्रकरणे निरूपणादस्य प्रकरणस्योपपत्तिरित्यर्थः।

(स्कं. ३) का. ८२, ११०तमे पृष्ठेनुसन्धेयम्।

तृतीयस्कन्धे दशमाध्यायार्थोक्तौ यद्येक एव पद्मकल्प इत्यादि। नवमाध्याये सात्त्विकत्वप्रार्थनानिरूपकश्लोके 'यथाह स्रक्ष्यामि पूर्ववदिदमि'तिवाक्यात् पूर्वमपि ब्रह्मणा चतुर्मुखेनैव सर्वं जगत् सृष्टमितिज्ञायते, तस्य पूर्वसृष्टस्य पुनः पद्मे लयः, अतो निरूप्यमाणादपि कल्पात् पूर्वं पद्मकल्प एव, अतः अनेन लोकान् प्राक् लीनान् अनेन पुनः कल्पितासीत्येवमर्थः पूर्वोक्तवाक्यैकवाक्यतयाऽवसीयते, अतः पद्मकल्पैकत्वे इदं वाक्यं नोपपद्यतेऽत एतद्वाक्यसमर्थनाय पद्मकल्पबहुत्वं निरूपितम्, पद्मकल्पबहुत्वसमर्थकेन तथाज्ञानकथनेन किं सिद्धमिति पुनः शङ्का, तस्या उत्तरं पद्मतः सर्वसम्भेदमुक्तवानिति पूर्वप्रलयोपि पश्चात्, अग्रे सर्वोत्पत्तिरपि ब्रह्मणस्तथा ज्ञानमपि पद्मं दृष्ट्वेतिपद्यादेव सर्वसम्भेदकथनार्थं द्वितीयपद्मकल्पकथोक्तेत्यर्थः।

(स्कं. ४) का. ८५. १९३तमे पृष्ठेनुसन्धेयम्।

चतुर्थस्कन्धे अष्टमाध्यायार्थोक्तौ धर्मार्थमवतीर्णोपीति कारिकातात्पर्यं प्रकरणादावेवैतन्निरूपणेन पूर्वोक्तं निवृत्त्युपयोगित्वं समर्थितमिति, स्त्रिया जडीकृतेन पित्रा ध्रुवावमाननिरूपणेन ध्रुवस्य पितादिषु तद्राज्ये च न स्वीयत्वाग्रहः, किन्तु, स्वस्यालौकिकलौकिकार्थसाधके भगवति तद्भजने च स्वीयत्वाग्रहः, एवं निवृत्त्युपयोगित्वम्।

(स्कं. ४) का. ११८. २०४ तमे पृष्ठेनुसन्धेयम्।

अग्रे त्रयोदशाध्यायार्थोक्तौ कल्पोत्कलौ तस्य पुत्रौ इतिकारिकाभासे—ननु ज्येष्ठयोर्वैराग्ये को हेतुरिति ध्रुवस्य प्रथमा स्त्री शिशुमारपुत्री भ्रमिस्तस्या ज्येष्ठपुत्रः कल्पः, द्वितीया स्त्री वायुपुत्री इला, तस्या ज्येष्ठपुत्र उत्कलः, एवमुभयोर्ज्येष्ठत्वं, न तु भ्रमिपुत्राद् वत्सरादुत्कलस्यापूर्वजत्वेन ज्येष्ठत्वम्, तथा सति मध्ये राज्यदशाया'मुत्पन्नो वत्सर'इतिवाक्यं विरुद्ध्येत।

(स्कं. ४.) का. २२४, २५३तमे पृष्ठेनुसन्धेयम् ।

अग्रे एकोनत्रिंशध्यायार्थोक्तो मनसानुभवाच्चापि कर्मास्तित्वं विनिश्चितमिति कारिकाव्याख्याने एकेन मनोनिरूपणं त्रिभिरनुभवस्येति, श्रीभागवतस्थेन एकेन श्लोकेन 'मन एव मनुष्यस्ये'त्यनेन । अग्रे जन्म प्राप्स्यतः मोक्षं प्राप्स्यतश्च मनुष्यस्य पूर्वरूपशंसकत्वेन मनोनिरूपणम्, तेन मनोनिरूपणेनापि कर्मास्तित्वस्यैव निश्चयः, संसारावेशभगवदावेशरूपकर्मणैव पूर्वरूपज्ञापकत्वं यतस्तस्य, न तु केवलस्येति । अग्रिमैस्त्रिभिः श्लोकैरदृष्टमश्रुतं चे'त्यादिभिर्मनसोऽनुभवो निरूप्यते, तेनापि कर्मास्तित्वस्य निश्चयः, मानसानुभवस्यापि कर्मोपस्थापितत्वात् । तथा हि, ननु पूर्वजन्मसु इन्द्रियैरनुभूतानामेवार्थानां स्वप्ने कर्मणानुभवो मनसि भवतीतियदुक्तं तन् न सम्भवति, स्वप्नेऽत्यन्तासतामपि कर्मणां मनस्यनुभवसम्भवान् न तेनेन्द्रियैः पूर्वजन्मस्वनुभवः साधयितुं शक्यते, इदानीं कर्मणा भ्रान्तिमात्रेण मानसानुभवेपि अनुभवविषयाणामत्यन्तासत्त्वादित्याशङ्क्य इदानीन्तनमानसानुभवेन पूर्वजन्मीनानुभवं पूर्वोक्तं दृढीकर्तुं युक्त्याऽनुभवविषयपरार्थसत्तां साधयति नारदः—अदृष्टेत्यादि, अदृष्टाश्रुतवस्तुनः क्वचित्केन मानसानुभवेन वस्तु यादृमनुभूतं तादृशमस्तीत्यनुमन्तव्यम् । ननु तादृशवस्तुनः अत्यन्तासत्त्वे कथमनुमानं स्यात् तत्राह 'देशकालक्रियाश्रय'मिति स्वदेशे एकपादानां मनुष्याणामभावेपि क्वचित् तादृशा अपि सन्ति, कालेषु अनुत्पद्यमाना अपि वर्षाकाले विचित्रजीवा उत्पद्यन्ते, मनुष्यैर्घटके निधाय साक्षात् हस्तितोलनासम्भवेपि कयाचित् क्रियया तदपि सम्भवति । यथा वा पीतश्यामयोर्हरिद्राकज्जलयोर्योगे हस्तिवर्णः । एवमेकेन श्लोकेन पूर्वानुभवविषयवस्तुनः सत्त्वे तदनुभवे च साधिते, इदानीं मानसोऽनुभवः कर्मणेति सिद्धम्, एवं पूर्वानुभूतानां मानसानुभव उक्तः । द्वितीयश्लोकेन 'सर्वे क्रमानुरोधेने'त्यनेन इदानीमनुभूतानां कर्मणां मानसोऽनुभव उक्तः । एवं द्वाभ्यां लौकिकं कर्म साधितम् । तृतीयश्लोकेन 'सत्त्वैकनिष्ठे' इत्यनेन युगपदखिलजगदनुभवो मानसः अलौकिककर्मणेत्युक्तम् । अत्र राहुचन्द्रदृष्टान्तेन दूरत एव सर्वं जगदनुभूयते न तु मनसि जगतः सङ्गः, तस्य सत्त्वैकनिष्ठत्वेन भगवत्पार्श्ववर्तित्वात् । एवं कर्मसाधनार्थं त्रिभिर्मानसोऽनुभवो निरूपितः ।

इति श्रीभागवतार्थनिबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

॥ इति प्रथमं परिशिष्टं समाप्तम् ॥

॥ श्रीवल्लभपादपद्मरेणुः शरणम् ॥

आवरक चित्र

गोस्वामी श्रीगोपीनाथजी महाराज द्वारा प्रेरित तथा श्रीगोकुलदास कापडिया द्वारा चित्रित श्रीवल्लभ चरित्र चित्रावली में से गोस्वामी श्रीराजकुमारके संग्रहमें से साभार

